'विचार-दर्शन' के लेखक स्वर्गीय श्रीशिवचन्द्रजी भरतिया।

☞ Philosophy of Gita begins where the English Philosophy ends.

—*Paul Deussin.*

विषय-सूची।

निवेदन.

प्यारे पाठक !

'विचारदर्शन' आप की सेवा में समर्पित है। हमें खेद है कि यह पुस्तक उस रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी जिस में कि इस के लेखक महोदय का विचार था। अभी इस के दो ही फ़ार्म छपे थे कि श्री भरतियाजी का स्वर्गवास हो गया। भरतियाजी हमसे अकसर कहा करते थे कि इस पुस्तक का रूप रंग, छपाई, वाइन्डिङ्ग, चित्र आदि सब कुछ वर्नाक्युलर प्रेस में अद्वितीय होंगे। यदि भरतियाजी जीवित रहते तो निश्चय ही यह पुस्तक जिस प्रकार से कि विषय प्रतिपादन शैली तथा अपने विषय में निराली है उसी प्रकार से वाहिरी रंग ढङ्ग में भी अद्वितीय होती। दुख है कि अन्तिम समय में रोग की भयंकरता के कारण श्री भरतियाजी हमें इस के सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श भी नहीं दे सके कि हम कुछ तो उन की अभिलाषा पूर्ण कर सकते। जितना हम रख सकते थे उतना इस पुस्तक के छपाने में ध्यान रखा गया है। किन्तु यह हमें निश्चय है कि हम भरतियाजी की इच्छा को सर्वांश में पूर्ण नहीं कर सके हैं।

इस पुस्तक का विषय, लेखशैली और भाषा आदि हम जैसे नोसिखोंके लिये सर्वथा नई हैं। प्रूफ़ देखने का काम हमारे सुपुर्द था। हमें शङ्का है कि हमारे पूरा प्रयत्न

करने पर भी इस में बहुत सी भूलें रह गई हैं। संभव है कि कई भूलें ऐसी हों जिन के कारण कहीं २ भाव भी शायद कुछ परिवर्तित्त हो गये हों। किन्तु आशा है कि पाठक इसके लिये हमें क्षमा करेंगे। यथाशक्ति हमने शुद्ध किया है किन्तु अधिक शुद्ध करने-भाषा-मुहावरों-के परिवर्त्तन करने में पुस्तक का सर्वथा ही रूपान्तर हो जाने का भय था, इस कारण अपनी समझ से अधिक काम न लेकर हमने स्वर्गीय भरतियाजी की अपनी ही भाषा और भावों के प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है और इस बात की पूरी चेष्टा की है कि इस में कोई ऐसा परिवर्त्तन न हो जाय जो उन के विचारों के विरुद्ध हो। पुस्तक कैसी है, भाषा कैसी है, लेखशैली तथा भाव कैसे हैं इन बातों का निर्णय पाठक स्वयम् ही कर लें। हम इस सम्बन्ध में कोई सम्मति देने में असमर्थ हैं।

यह पुस्तक अभी अधूरी है। इतने २ बडे तीन भाग लिखने का भरतियाजी का विचार था। खेद है कि दो भाग इनके साथ ही लोप हो गये।

पुस्तक जिस रूप में सहृदय पाठकवृन्दों की सेवा में उपस्थित की जाती है आशा है कि आप इसे अपनायंगे।

अन्त में हमें बम्बई के प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशक श्री हरिप्रसाद भगीरथजी का धन्यवाद करना भी आवश्यक है। इस सर्वथा कुसमय में-जब कि यूरोपीय महाभारत के कारण कागज़ आदि आवश्यक सामग्री का दूने तिगुने भाव पर भी मिलना तक कठिन हो रहा है-आपने इस

बृहद् ग्रन्थ के प्रकाशित करने की उदारता दिखाई है। निश्चय ही भरतियाजी की आत्मा आज अत्यन्त सुखी होगी और आप को स्वर्ग में भी धन्यवाद देती होगी।+

ता० २० अगस्त }
सन् १९१६ ई० }

विनीत,
द्वारिकाप्रसाद सेवक,
सम्पादक "नवजीवन,"

☞+ इस पुस्तक का हर प्रकार का हक श्री भरतियाजी हरिप्रसाद भागीरथजी की दूकान के मालिक श्री ब्रजवल्लभ हरिप्रसादजी को दे गये हैं। अब वह ही इस के स्वत्वाधिकारी।

श्रीयुत शिवचन्द्रजी भरतिया।

हिन्दी भाषा के योग्य लेखक तथा कवि श्रीयुत शिवचन्द्रजी भरतिया का जन्म सं० १९१० वि० के चैत्र मास में हैद्राबाद राज्यान्तर्गत कन्नड ग्राम में एक प्रसिद्ध अग्रवाल वैश्य कुल में हुआ था।

आप के दादा गंगारामजी और पिता बल्देवजी का परिवार बड़ा पुराना था और निवासस्थान जोधपुर राज्य में डिडवाना ग्राम था। आप के पिता ने वैश्य जाति की परम्परानुसार व्यापार वाणिज्य से अच्छी सम्पत्ति संग्रह करली थी। आप लक्षपति प्रसिद्ध व्यापारी थे तथा आप का दूर दूर तक वडा नाम था। अपने ४ भ्राताओं में शिवचन्द्रजी सब से वडे थे। शिवचन्द्रजी जब कुछ वडे हुये तो सब से प्रथम आप को आप की मातृभाषा मराठी पढाई गई। पश्चात् संस्कृत की शिक्षा आपने प्राप्त की। कुछ शिक्षा पाकर आपने कुल प्रथानुसार व्यापार को संभाला। बहुत दिनों तक आपने यह काम किया और अच्छी सफलता प्राप्त की। किन्तु शीघ्र ही आप का आप के बन्धुओं से मनोमालिन्य हो गया, जिस के कारण भारतियाजी को यह धंधा छोड देना पडा और आपने हैद्राबाद राज्य में वकालत करने का विचार किया। तैयारी करलेने के पश्चात् वकालत की परीक्षा देने आप हैद्राबाद गये थे कि पीछे आप के पिता का देहान्त

हो गया और तीनों बन्धुओं ने–जो उस समय पिताजी के पास उपस्थित थे–सारी सम्पति आपस में बांट ली; जैसे कि शिवचन्द्रजी कोई चोथें भाई थे ही नहीं। पीछे ही आप का प्रिय पुत्र रोगी हो कर परलोक सिधार गया। पुत्र के खेद में भरतियाजी की स्त्री भी मर गई। आप बहुत दुखी हो कर खाली हाथ ईश्वर भरोसे यात्राको निकले। इसी यात्रा में आपने "देवदुर्विलास वा शोककानन" नामक पुस्तक लिखी। कुछ समयके पश्चात आपने जन्मस्थान कन्नड पहुंच कर आप वकालत करने लगे। यहां ही आपने अपना द्वितीय विवाह सं० १९५२ वि० में किया।

भरतियाजी का सारा जीवन दुखपूर्ण है। विशेप-कर पारिवारिक क्लेश आपको असाधारण रूप से सहन पडे। इनके कई पुत्र और पुत्रयां वडे हो होकर मृत्यु का ग्रास वन गये। इन का सव लेन देन छपन्ना काल में डूव गया और व्यापार में वहुत घाटा हुआ, तव भरतियाजी वकालत छोड इन्दौर चले आये। आपने इन दुखों का सविस्तर वर्णन "कालप्रभाव" नामक कविता में किया है। यह कविता इस पुस्तक के परिशिष्ट भाग में प्रकाशित की गई है।

आप इन्दौर राज्य के कई मुहकमों में उच्च पदों पर कई वर्षों तक काम करते रहे। जिस मुहकमें भी आप रहे उसी में आपने कुछ न कुछ सुधार और उन्नति ही की। इस कारण इस राज्य में भरतियाजी का वडा मान होने लगा था।

मृत्यु से कई वर्ष पूर्व ही आप नोकरी से पृथक हो गये थे और साहित्यसेवा ही अपने शेष जीवन का एक मात्र कर्त्तव्य बना चुके थे।

इस बीच में आपने मराठी, मारवाडी, संस्कृत और हिन्दी में कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिख कर प्रकाशित कीं। मारवाडी भाषा में तो आप की पुस्तकों से पूर्व की विरली ही कोई और पुस्तक होगी। एक प्रकार से आप मारवाडी भाषा के सब से पहले लेखक समझे जाते हैं। फाटका जंजाल, केसर विलास और बुढापा की सगाई आदि मारवाडी भाषा की पुस्तकोंने मारवाडी समाज में बड़ी जागृति उत्पन्न करदी है। इन पुस्तकों के सहस्रों के कई २ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इन पुस्तकों में आपने जिस योग्यता के साथ घरू भाषा में मारवाडी समाज की सामाजिक कुरीतियों का भांड़ा फोडा है, वह आप जैसे अनुभवी विद्वान का ही काम था। यह सब की सब पुस्तकें सत्य २ घटनाओं के आधार पर ही लिखी गई हैं।

मराठी और गुजराती भाषा के उत्कट विद्वान होने पर भी आप हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक और कवि थे। आप के ही परामर्श से "वैश्योपकारक" नामक हिन्दी भाषा का सचित्र मासिक पत्र कलकत्ते से निकला था, जिसका सम्पादन भी आप बहुत दिनों तक करते रहे थे।

भरतियाजी वेदान्त पक्ष के समर्थक थे। विधवाविवाह आदि सामाजिक सुधारों के आप बड़े पक्षपाती थे। इन्दौर राज्य के भूतपूर्व दीवान राय बहादुर नानक चन्दजी सी० आई० ई० के पुत्र के पुनर्विवाह में आप एक खास सहायक थे।

आप की ४ दर्जन के लगभग रचित भिन्न २ भाषाओं की छोटी बड़ी पुस्तकों में हिन्दी भाषा में "सूर्यचक्र-वेध" और "विचारदर्शन" यह दो पुस्तकें बड़े महत्व की हैं। दोनों वेदान्त दृष्टि से लिखी गई हैं। "विचारदर्शन" भरतियाजी की विद्वता, गहरे अनुशीलन, दीर्घकालिक अनुभव, बहुभाषाविज्ञता, विस्तृत पठन और कठिन परिश्रम का फल है। आप इसे कम से कम हिन्दी साहित्य में अद्वितीय सुन्दर छपाई और बाइन्डिङ्ग आदि के साथ प्रकाशित करना चाहते थे। किन्तु कराल कालने उन की इस अन्तिम इच्छा को भी पूर्ण नहीं होने दिया।

"विद्रोह संहार" (The End of Sedition) नामक पुस्तक को—जो कि पूर्ण लिखी रखी है—वायसराय हिन्द और मध्य भारत के एजेन्ट गवर्नर जनरल साहिबने बहुत पसन्द किया है।

अभी तक हमें भरतियाजी की लिखी हुई भिन्न ४२ पुस्तकों के नाम उन के कागजात आदि की खोज से ज्ञात हुये हैं:—

१७ हिन्दी ।

१ सूर्यचक्रवेध ।
२ विचारदर्शन ।
३ प्रवासकुसुमावली ।
प्रथम गुच्छ ।
४ प्रवासकुसुमावली ।
द्वितीय गुच्छ ।
५ विज्ञानपाशुपत ।
६ कालप्रभाव ।
७ जीवनकला ।
८ अब क्या करना चाहिये
९ विद्रोह संहार नाटक ।
१० शोककानन ।
११ भारतपरिक्रमण ।
१२ दम्पतिधर्मविज्ञान ।
१३ अग्रवालप्रबोध ।
१४ नवलकथा ।
१५ ओंकारविनन्ती ।
१६ दीनविधवा नाटक ।
१७ स्वरोदय ।

१३ मराठी ।

१८ गीतार्थपद्यावली ।
१९ पतिविलास नाटक ।
२० सिद्धेन्दुचन्द्रिका ।
२१ अनुताप-तीर्थ-शतक ।
२२ मानसलहरी ।
२३ करुणागीत ।
२४ स्फुट-पद्य-रत्न-माला ।
२५ आर्य्यलहरी ।
२६ काव्यमञ्जरी ।
२७ सुभाषित-पद्य-संग्रह ।
२८ विंशतिमंत्रसाधन ।
२९ कृष्णकेली नाटक ।
३० फ़ारसी भाषेचें शुद्ध
मराठी व्याकरण ।

९ मारवाड़ी ।

३१ केसरविलास नाटक ।
३२ फाटका जंजाल नाटक ।
३३ बुढ़ापा की सगाई नाटक
३४ कनकसुन्दर ।
३५ मोतियां की कंठी ।
३६ वैश्यप्रबोध ।
३७ विश्रान्तप्रवासी ।
३८ संगीत मान कुँवर नाटक
३९ बोधदर्पण ।

३ संस्कृत ।

४० श्रीगुर्वाष्टक ।
४१ राज्याभिषेकप्रशस्ति ।
४२ राज्यारोहणप्रशस्ति ।

उपरोक्त ४२ पुस्तकों में से १, ३, ४, ६, १८, ३२, और ३३ संख्या की पुस्तकों की कुछ २ प्रतियां विक्रयार्थ उपस्थित हैं और ३१, ३४, ३५ संख्या की पुस्तकों की तृतीय वा चतुर्थ आवृत्ति छप रही हैं। द्वितीय संख्या का "विचारदर्शन" आप के हाथ में है। १, २ पुस्तकें अपूर्ण और १, २ पूर्ण लिखी मिली हैं। शेष ३० के लगभग पुस्तकों की एक भी प्रति उपस्थित नहीं है। भरतियाजी के पुस्तकालय आदि में बहुत ढूंढ़ने पर भी शेष पुस्तकों की एक भी प्रति हाथ की लिखी या छपी हुई नहीं मिली जिस का कि हमें बहुत दुख है। ज्ञात नहीं कौन पुस्तक छपी थी और कौन नहीं।

उपर्युक्त पुस्तकों के सिवाय भरतियाजी ने पचासों कवितायें और लेख संस्कृत, मराठी, हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी और अंग्रेजी आदि भिन्न २ भाषाओं में लिखे थे। किन्तु उन के कागज़ात में केवल २, ३ गद्यपद्य लेख हमें मिल सके हैं।

भरतियाजी का पुस्तकालय आदि आवश्यक सामान कई वार पारिवारिक क्लेशों के कारण नष्ट भ्रष्ट हो गया था। बहुतसी मूल्यवान् पुस्तकें आदि आप के निजी संवन्धीयों ने आप की अनउपस्थित में वेच भी खाई थीं। इसी अव्यवस्था के कारण बहुत खोज करने पर भी हमें कई आवश्यकीय चीज़े प्राप्त नहीं हुई हैं।

आप की पुस्तकों में जो अधूरी हैं उन का तो पूर्ण होना अति कठिन है। हां जो प्रेस में हैं या जो पूर्ण लिखी रखी हैं अथवा जो सर्वथा समाप्त हो चुकी हैं—यदि उन

की एक २ प्रति भी मिल गई तो उन सबके शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जायगा।

भरतियाजी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। वह बहुत कम बीमार हुआ करते थे। १५,१५ घंटे लगातार लिख पढ सकते थे। आप बहुत दिनों तक योग सिद्धियों का भी अभ्यास करते रहे थे जिस के कारण आप के दिल और दिमाग़ अन्तिम समय तक पूर्ण स्वास्थ्य रहे। यदि ३ दिन प्रथम से सन्निपात के आक्रमण के कारण उन की आवाज़ बन्द न हो जाती तो वह अन्तिम स्वांस तक अवश्यही बोलते रहते।

गतवर्ष भरतियाजीने बम्बई, दहली, हरीद्वार, मथुरा, प्रयाग, गया, आदि की यात्रा की थी। इसी यात्रा में आप का स्वास्थ्य बिगड़ गया। आप को संग्रहणी के भयंकर रोगने आदबाया। इन्दौर के प्रसिद्ध वैद्यों और डाक्टरों की चकित्सा बड़े ध्यान के साथ हुई। आप के २,४ कृपा पात्र मित्रोंने आप की यथाशक्ति सेवा कर के अपना कर्त्तव्य भी पालन किया किन्तु काल बली से किसी की न बसयाई। १२ फ़रवरी सन् १५ ई० को इन्दौर में ६१ वर्ष की आयू में मध्य भारत के इस प्रतिभाशाली साहित्यसेवी का स्वर्गवास हो गया। मृत्यु से कई दिन पूर्व जब कि आप की दशा एक दिन बहुत बिगड़ गई और आप जीवन से निराश हो गये तो आपने निम्न कविता लिखाई:—

जब कूंच का डंका बजावेंगे हम
जाहिरा सब को रुला देंगे हम
अपना जनाज़ा बनावेंगे हम
केसर कस्तूरी चन्दन में जलावेंगे हम
" विचारदर्शन " में लीन हो जांयगे हम
विष्णुपुरी के मीन बन जांयगे हम

शोक कि इस से आगे वह कुछ न बोल सके और उन की दशा अधिक बिगड़ गई।

द्वारिकाप्रसाद सेवक।
सम्पादक "नवजीवन."

श्री

विश्वधर्म की विजयहो ।

॥ श्री ॥

विचार-दर्शन ।

जिस को
अपना, अपने कुल का,
अपने धर्म का, अपनी जाति का,
अपने देश का,
एवं
अपनी मातृ-भाषा का
कुछ भी आदर और अभि-
मान न हो,
वह कभी,
इस पुस्तक को,
छू कर इसे अपवित्र न करे ।

शिवचन्द्र भरतिया ।

॥ श्री ॥

सदुत्सर्ग।

शिखरिणी।

कहां से आई थी—श्रुति-मधुर आवाज़ गहरी ?
परावाणी-वीणा-रणरणरणत्कार—लहरी।
भरी है, पूरी जो चितिमय महाशक्ति हिय में—
समर्पूं ऐसी मैं, कृति यह किसे प्राणलय में ?

उसी मूलाधार प्रणयनपराशक्ति चिति से—
हुई थी जो प्राप्त प्रणव-मधुरालाप-कृति से।
समर्पूं पीछी मैं यह कृति उसे—क्यों न अब ही ?
रुकेगा पृथ्वी में फिर यह सदुत्सर्ग न कहीं !

॥ ॐ तत्सत् ॥

महदष्टपदी
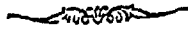
ॐकार	ॐ नाम है ईश्वर का पवित्र,
श्रीकृष्ण	था कृष्ण का योग महाविचित्र ।
बुद्ध	थी बुद्ध की शान्ति दया अपार,
महावीर	था वीतराग प्रभु वीर सार ॥
क्राइस्ट	क्राइस्ट का सत्य अतुल्य आज,
ज़रथोस्त	था अग्निरूपी ज़रथोस्त-काज ।
शंकराचार्य	सद्धर्म था शङ्कर का विशाल,
मक्कामदीना	ईमान्नबी का सच था कमाल ॥

॥ श्री ॥

ॐ प्रवचनम् ।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिहस्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रति गरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्र-मनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्न-वानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥

विजयरथ ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत !

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।

योग का रहस्य

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता ।
योगिनो यत-चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

बुद्ध-प्रवचनं ।

फंदनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं ।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो व तेजनं ॥
दुन्निग्गहस्स लहुनो यथ्थकाम निपातिनो ।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दंतं सुखावहं ॥
चंदनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी ।
एतसं गंधजातानं सीलगंधो अनुत्तरो ॥
" सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा ।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धानसासनं ॥"
सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना ।
सुखा संघस्स सामग्गि समग्गानं तपो सुखो ॥

न ब्राह्मणस्सेतदकिंचि सेय्यो,
यदा निसेधो मनसो पिये हि ।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति,
ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ॥
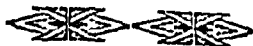
महावीर-प्रवचन ।

नाणं सणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा ।
अगुणस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि असोक्खस्स निव्वाणं ॥

पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो ।
मेरुव्व वाएण अकंपमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥

कोवमणो जुवराया, को वा रायाइ रज्जपब्भ सो ।
जइ जग्गिओसि संपइ, परमेसर पएस चे अन्नो ॥

दुक्खाण खाणी खलु रागदोसो
ते हुंति चित्तंसि चलाचलंसि ।
अज्झप्प जोगेण चएइ चित्तं
चलत्त मालाणिअ कंजरुव्व ॥

क्राइस्ट-प्रवचन ।

I am God and there is none like me.

Ye are the light of the world. A city that is set on an hill cannot be hid.

What? came the word of God out from you? or came it unto you only?

This is my commandment, That ye love one another, as I have loved you.

The things which are impossible with man are possible with God.
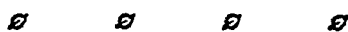
Let every Soul be subject unto the higher powers. For there is no power but of God: the powers that be are ordained of God.

Rest in the Lord, wait for him and he shall give thee the desires of thine heart.

॥ श्री ॥

श्रीशंकराचार्य-प्रवचन ।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः
समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्वस्य हि बन्धमुक्ति-
र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥

कर्मभिरेव न बोधः प्रभवति गुरुणा विना दयानिधिना ।
आचार्यवान्हि पुरुषो वेदेत्यर्थस्य वेदसिद्धत्वात् ॥
ज्ञानं तदेवममलं साक्षी विश्वस्य भवति परमात्मा ।
संबध्यते न धर्मैः साक्षी तैरेव सच्चिदानन्दः ॥

निरस्तातिशयानन्दः सत्यः प्रज्ञानविग्रहः ।
सत्तास्वलक्षणः पूर्णः परमात्मेति गीयते ॥

॥ श्री ॥

ॐकार-पंचक ।

——>o<——

वसन्ततिलका ।

ॐकाररूप परमेश्वर को प्रणाम—
सद्भक्तियुक्त करता परमुक्ति पाने ।
है अष्टधा प्रकृति-भूत जगत् समग्र,
भावानुरूप करता, सब को विचार ॥ १ ॥

है चित्त एक रचनात्मक सृष्टि-कारी,
संकल्प मात्र रचता यह दृश्य सारा ।
होता विचार जग में सब का निदान,
है देह मुग्ध, कुछ भी न विचार मात्र ॥२॥

ॐकाररूप घटना जग की बनी है,
है पूर्ण नाम उस ईश्वर का यथार्थ ।
हैं तीन अक्षर जहां—वह अर्धमात्रा—
है चित्कला, वह विचार-निरोध-गम्या ॥ ३ ॥

ॐकार का रटन है करता सुगम्य,
सद्भाव—चित्कलन के उदयानुसार ।
संवित्ति-वेदन मनोरथ देखता है,
हो पूर्ण त्वन्मय वहां—सदसद्विचार ॥ ४ ॥

ॐ ॐ सदा परम ॐ प्रभु ॐ विशाल,
ॐ सामगान, शुभ ॐ, श्रुति गीत ॐ है ।
ॐ है चराचर विचार अमोघ-शक्ति,
ॐकार मात्र सब है—प्रभु ॐ पवित्र ॥ ५ ॥

॥ ॐ तत्सदोम् ॥

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत् ।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्त्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाग्मन्ये परिम्लानताम् ॥

ø ø ø. ø

सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः
सूतेऽम्भःकमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत् ।
किंवाभ्यर्थनयाऽनया यदि गुणोऽस्त्यस्यां ततस्ते स्वयं
कर्त्तारः प्रथनं न चेदथ यशः प्रत्यर्थिना तेन किम् ॥

विचार-दर्शन ।

॥ ॐ ह्रीं ॐ ॥

प्रस्तावना ।

॥ श्री ॥

विषय-सूची ।

آیۃ الکرسی مترجم مع فضائل و خواص

بسم الله الرحمن الرحیم

الله لا اله الا هو الحی القیوم لا تاخذه سنة ولا نوم له ما فی السموت وما
فی الارض من ذا الذی یشفع عنده الا باذنه یعلم ما بین ایدیهم وما خلفهم
ولا یحیطون بشیء من علمه الا بما شاء وسع کرسیه السموت والارض و
لا یؤده حفظهما وهو العلی العظیم لا اکراه فی الدین قد تبین الرشد
من الغی فمن یکفر بالطاغوت ویؤمن بالله فقد استمسک بالعروة
الوثقی لا انفصام لها والله سمیع علیم الله ولی الذین امنوا یخرجهم من
الظلمت الی النور والذین کفروا اولیئهم الطاغوت یخرجونهم من
النور الی الظلمت اولئک اصحب النار هم فیها خلدون

आयतुल कुरसी।

प्रस्तावना ।

सा मां सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च ।
विश्वमन्यं निविंशते यदेजति
विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

—ऋग्वेद, मं० १०, सू० ३७

जिस से-पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिन, रात का प्रसार होता है। जिस से प्राणिमात्र को विश्राम मिलता है, प्राणिमात्र का विचलन होता है, सर्वदा जल का स्पन्दन होता है और नित्य सूर्य का उदय होता है—वह सत्योक्ति मेरा परिपालन करे।

'प्रस्तावना' शब्द में—'स्तु' धातु है जिस का अर्थ स्तुति—प्रार्थना करना है। उस को 'प्र' उपसर्ग लग के 'प्रस्ताव' शब्द बना, जिस का अर्थ, आरम्भ, प्रसंग, समय है। इस में 'घञ्' प्रत्यय होता है और इस शब्द को 'घञ्' की जगह 'णिच्' और 'यच्' दो प्रत्यय लग कर 'प्रस्तावना' शब्द बनता है—जिस का अर्थ, किसी विषय का प्रारम्भ करना है। अर्थात् आजकल जिस को अंग्रेज़ी में Pre—प्रि—प्रथम और face—फ़ेस—मुख—प्रथम—मुख—आ मुख—Preface प्रिफ़ेस कहते हैं और ग्रन्थारम्भ के पहिले ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ लिखने का—उद्देश्य, कारण,

इतिहास, घटना आदि कुछ लिखता है उस को–'प्रस्तावना' कहते हैं। सुतरां–इस का मूल अर्थ–किसी प्रस्ताव का करना–किसी विषय का आरंभ करना है। साहित्यदर्पण की टिप्पणी में इस की व्याख्या की है कि–"विषेयैथैव संकल्पो मुखतां प्रतिपद्यते। प्रधानस्य प्रबन्धस्य तथा प्रस्तावना मता।"–अर्थात् प्रधान विषय के संकल्प का निदर्शन करना ही प्रस्तावना है।

आजकल पुस्तक के आरम्भ में, ऐसी छोटी मोटी–चाहे दो चार ही पंक्तियां क्यों नहों–'प्रस्तावना' लिखना ही चाहिये। जो अपनी पुस्तक के आरम्भ में 'प्रस्तावना' लिखता नहीं–वह ग्रन्थकार ही नहीं! और जो ग्रन्थ या पुस्तक पर टाइटल–मुखपृष्ठ–लिखता नहीं–लगाता नहीं–वह ग्रन्थकार तो क्या, ग्रन्थकार के ग्रन्थों का भार उठानेवाला जानवर तक नहीं!!

बहुधा नियम है कि–प्रस्तावना में मूल ग्रन्थ का विषय नहीं लिखा जाता, मूल विषय के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव, इतिहास या उद्देश लिखा जाता है। किन्तु मूल विषय का विवरण या प्रतिपादन नहीं होता एवं मूल विषय में कभी प्रस्तावना नहीं लिखी जाती अथवा उस का निर्देश ही होता है।

इस प्रकार प्रस्तावना की व्याख्या देख कर और आजकल के कितने ही संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, बंगाली, हिन्दी, उर्दू अनेक ग्रन्थ पुस्तकों को देख कर–प्रस्तावना लिखने का निश्चय तो दृढ़ हुआ किन्तु 'विचारदर्शन' में बड़ा भारी विचार का अदर्शन होने लगा कि–इस पुस्तक की प्रस्तावना कैसी और क्या लिखें? जब

इस पुस्तक का विषय ही प्रस्तावना रूप है तो–फिर प्रस्तावना की प्रस्तावना ही क्या हो सकती है ? आद्यो-पान्त समूचा ग्रन्थ का ग्रन्थ ही प्रस्तावनारूप है तो–प्रस्तावना की प्रस्तावना ही क्या लिखी जाय ? तथापि–क्या किया जाय–अगर प्रस्तावना नहीं लिखते हैं–तो ग्रन्थकार ही नहीं कहलाते ! एवं उस ग्रन्थ का कुछ महत्व ही नहीं रहता !! क्यों कि–"प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भाव-सदृशं प्रियम्। आत्मशक्तिसमं कोपं कुर्वाणो न विनश्यति।" प्रस्ताव के समान वाक्य, सद्भाव के समान प्रीति और आत्मशक्ति के समान क्रोध करनेवाले का कभी नाश नहीं होता। अतः इस नीतिवचन का अवश्य ही स्वीकार करना हुआ।

पूर्वकालीन ग्रन्थों के देख ने पर, जांचनेपर एवं विचारने पर–किसी वैदिक, आध्यात्मिक, शास्त्रीय, पौरा-णिक ग्रन्थों में कहीं प्रस्तावना लिखी हुई दृष्टिगोचर हुई और न किसी ग्रन्थपर टाइटल–पेज ही नजर आया। किन्तु नाटकों में, मंगलाचरण–नान्दी हो जाने पर, कई प्रकार की प्रस्तावनायें अवश्य देखने में आती हैं–"चित्रै-र्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा।"–परस्पर आक्षेप युक्त निजकार्यानुरूप जुदे जुदे चित्रविचित्र वाक्यों से जो मिली हुई रहती है–उस को आमुख–Preface अर्थात् प्रस्तावना कहते हैं। किन्तु यह पुस्तक तो नाटक है नहीं या उस प्रकार की कोई कथा नहीं या और कोई ऐयारी, शृंगारादि रसात्मक, अद्भुत उपन्यास ही है। किन्तु प्रस्तावनारूप, प्रस्तावनामय, प्रस्तावनात्मक है।

आज कल एक और भी नई प्रथा प्रचलित हुई है कि–जिस को अपना ग्रन्थ अधिक आदरणीय कराना होता है–वह एकाध प्रख्यात उपाधिधारी पुरुष से अपनी पुस्तक की प्रस्तावना लिखवाकर उस के विज्ञापन में, साभिमान हो कर सब को ज़ाहिर करता है कि–इस पुस्तक की प्रस्तावना अमुक अमुक प्रमुख पुरुष ने लिखी है। इस लिखने का मतलब यही होता है कि–जब इतने बड़े विद्वान्–बी. ए., एम्. ए., बी. एल., जस्टिस, आनरेबल ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखी है तो–यह पुस्तक बहुत ही अच्छी उपादेय और संगृहणीय होगी–इस में संशय नहीं। फिर चाहे वह पुस्तक कैसी ही क्यों न हो। भला यह ऐसी प्रस्तावना लिख जाने पर भी–प्रस्तावना पूरी नहीं होती ! ग्रंथकार को तो फिर अपनी तरफ़ से कुछ न कुछ और भी राम कहानी लिखना ही होती है !!

मैंने भी इसी प्रथा का अनुकरण करना चाहा और बड़ी उत्सुकता से एक अपने मित्र के पास–कि जिन के आगे पीछे कितने ही ए. बी. सी. डी. अक्षर ही नहीं बहुधा सब वर्णमाला की वर्णमाला ही लगी हुई थी–गया। उन को समय न था तो भी मैंने किसी प्रकार–इस पुस्तक का अगला पिछला, एवं बीच बीच का भाग सुनाया। अध्यात्म विद्या, वेदान्त आदि शब्द जहां जहां आते थे तो वे झट अपना मुंह फेर कर कह देते थे कि–क्या तुम्हें सूझा है, जो तुम ऐसा बेकार ग्रन्थ लिख रहे हो–इस वेदान्त-ही ने तो हमें और हमारे देश को अकर्मण्य बना रक्खा है ! किन्तु बहुतसा भाग और ग्रन्थ का आशय सुनकर

अन्त में झट उन के मुंह से निकल ही पड़ा कि–ऐसी पुस्तक की इस वक़्त बड़ी भारी आवश्यकता है! इस के पढ़ने से तो मनुष्य अवश्य ही कर्मवीर, विश्वधर्मी और विश्वप्रेमी बन सकता है। उस वक़्त वहां और भी एक दो महाशय उपस्थित थे। उन में से एक ने तो चकित हो के पूंछा कि क्या मनुष्य ईश्वर के तुल्य शक्तिमान् है? जो तुमने उस को 'कर्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्तुम्' कह डाला है! दूसरे ने कहा कि–इस में तुमने सिद्धियों का जाल ही क्यों फैलाया है? क्या इस विंशति शताब्दी में उक्त सिद्धियों का साध्य होना संभव है? क्या तुम मैनपुरी की सती की बात नहीं जानते? सती की चिता को किसी का आग लगाना साबित न होने पर भी–'सैंकडों आदमियों के देखते देखते आप से आप आग चिता में भड़क उठी' तो भी प्रयाग के सुयोग्य बेरिस्टर माननीय मोतीलाल हरू के बड़ी योग्यता से बहस करने पर भी–हाईकोर्ट के माननीय जजोंने कहा–"क्या हम यह मानलें कि आग आप से आप लग गई? क्या इस बीसवीं सदी में आप हमें ऐसी बात पर विश्वास करने को कहते हैं?" इस पर तीसरे ने कहा भाई, ऐसा होना बिलकुल संभवनीय है, किन्तु समय के फेर से अब हमें उन के लिये भ्रम हो रहा है। इस प्रकार समालोचना होते होते आख़िर सब की सम्मिलित राय से ठहरा कि किताब का मज़मून उमदा है।

ऐसी सब की राय सुनते ही मुझे बड़ा आनन्द हुआ और उत्साह एवं विनय के साथ मैंने अपने मित्र से कहने का साहस कर ही लिया कि–'प्रिय महाशय! अगर आप

को पुस्तक का विषय पसन्द है तो–इस की मुझे आप प्रस्तावना लिख दें।' सुनते ही मेरे मित्र चौंक उठे और कहने लगे कि–क्या तुमने अभी पुस्तक की प्रस्तावना लिखी नहीं ? मैंने नम्र भाव से उत्तर दिया कि–हां अभी लिखी नहीं ! उन्हों के 'क्यों लिखी नहीं ?–ऐसा प्रश्न करने के पहिले ही मैंने कह डाला कि–' प्रस्तावनारूप, प्रस्तावनामय, प्रस्तावनात्मक-ग्रन्थ की प्रस्तावना ही क्या होती है–मैं नहीं जानता, इसी लिये तो मैं आप से अनुरोध कर रहा हूं।'

मेरे मित्र झट मज़ाक़ में आकर ज़ोर से हंसते हुए कहने लगे कि–' भाई, तुम मारवाड़ के रहनेवाले, मारवाड़ी वनिये–इस लिये पहिले तो तुह्मारी यह जन्म भाषा ही नहीं, फिर तुम्हें इस भाषा के लिखने का अधिकार ही क्या था ?' इस पर मैंने कहा कि–' नहीं नहीं, हमारी अग्रवाल जाति की ख़ास उत्पत्ति आग्ररोहा से है, जो ख़ास पंजाव प्रान्त की भूमि में है, और ख़ास जहां की भाषा हिन्दी ही है।' और मैं ने यह भी बड़े ज़ोर के साथ कहा कि–' मित्रवर ! आप की जन्म–भाषा मध्य भारतीय–नीम हिन्दी–'रांगड़ी ' होने पर भी आपने अंगरेज़ी भाषा पर इतना अधिकार जमा लिया है कि, वेचारी रांगडी भाषा को अर्धचन्द्रप्रदान कर बोलना चालना, लिखना लिखाना, पढ़ना पढ़ाना सब अंगरेज़ी भाषा ही में करते हैं ? यहां तक कि–एक दिन वृद्धा माता मुझे कहती थीं कि–'देखो भैया, हमारा बाबू तो–घर में भी सब से अंगरेज़ी ही में बातचीत करता है ! हमारी जैसी वे पढ़ी

लिखी बुढ़िया तुम्हारी अंगरेज़ी फंगरेज़ी क्या जाने ? हम उस को कहने जाती हैं तो—उलटा वह आंखें निकाल कर कहता है कि—बस अब तुम्हारी रांगड़ी फांगडी को अलग करो—क्या हम अब साहब बन कर भी तुम्हारी गन्दी नीम हिन्दी में बातचीत करें ? नानसन्स् फ़ानसन्स—कुछ का कुछ कहता है तो—क्या यह बात सच है ?' हमारे साहब खूब हंसे और कहने लगे कि—'मित्र, वेशक अब हमारी भाषा, जन्मभाषा, गर्भभाषा तो क्या देवभाषा भी अंगरेज़ी है !' तुम नहीं देखते कि—'अब हम पगड़ी, साफ़ा, धोती, जूता अलग रख के हेट, कोट, पटलून, बूट, नेकटाइ पहन कर जन्टलमेन बन गये ?' ऐसी बाबू साहब की बातें सुनकर मैं भी चकरा कर चुप हो गया और मन ही मन कहने लगा कि—'अब बाबू साहब ठीक तो पकड़ में आ गये—अब खूब ज़ोर के साथ हम अपनी हिन्दी भाषा पर के अधिकार का जवाब दे सकते हैं।' झट मैं सीधा बैठ गया और बड़े प्रेम से दिल्लगी के साथ कहने लगा कि—'कहिये बाबू साहब, आप का देश अंगरेज़ी नहीं, आप का जन्म अंगरेज़ी नहीं, आप की जन्मभाषा अंगरेज़ी नहीं, आप का खानपान अंगरेज़ी नहीं, और आप की पोशाक अंगरेज़ी नहीं, फिर आप को क्या मजाज़ है, हक़ है, अधिकार है जो आप बेचारी अपनी मातृभाषा 'रांगडी' अर्ध हिन्दी का त्याग कर के पूरे पूरे नकली अंगरेज़ बन गये ?' तो—फिर मेरा अपनी पूर्वजों की ख़ास हिन्दी भाषा पर क्यों अधिकार नहीं, क्यों वह मेरी देश भाषा नहीं और क्यों वह मेरी जन्मभाषा भी नहीं ?

झट हमारे दोनों की पलकें नीचे गिर पड़ीं और विचारदर्शन के दर्शन में हम दोनों लीन हो गये! कुछ देर के वाद मेरी आखें प्रफुल्लित हुई और सीधे वाहु में स्फुरण होने लगा। इस शुभ चिन्ह को देख कर मुझे एक वात की अचानक याद आकर मैं एकदम ज़ोर से हंस पड़ा! मेरे मित्र की पलकें खुलीं और गम्भीर मुद्रा से उसने कहा कि–'भाई क्षमा करो!' यह सुन कर मैं और भी ज़ोर से हंसा! मित्र ने देखा कि यह क्या है? झट मेरा हाथ पकड़ के कहने लगा कि, 'क्या नींद में हो, या स्वप्न में हो या वेहोशी में हो?' मैंने चौंक कर कहा 'नहीं नहीं–कौन कहता है कि–मैं नींद में, स्वप्नमें या वेहोशी में हूं? कभी नहीं। मैं जान वूझ कर ही–अचानक एक सत्य घटना की याद आते ही–आनन्द में लीन हो कर खूब ज़ोर से हंस पड़ा–भगवान् का–ख़ुदा का वड़ा ही कृतज्ञ और शुक्र गुज़ार हूं कि उस की कृपा से उस की मेहर से आज अपनी मित्रता, दोस्ती क़ायम रह गई। वरना उस का आज यहीं अन्त आ गया था!' सुनते ही मेरे मित्र का मुख, कमलसा खिल पड़ा और पूनम के चान्दसा चमकने लग गया! मित्र की जिज्ञासा–आतुरता वढी, देर के साथ ही इन्तिज़ार वढा और हृदय की व्याकुलता देख पड़ी–जलदी में कह पड़ा कि–'कहो कहो' क्या वात है कि–जिस से तुम्हारा–'अज़ सद् कावा ए यक दिल वेहतर स्त'–दिल–रंजीदा होने के वदले खुश हो गया?' मैं ने कहा–'भाई साहव, वात तो वड़ी ही नाज़ुक और दिल्लगी की है। उस को सुनकर आप खूब हसेंगे और शायद इस खुशी

में–कहीं ख़ुशी के वदले रंज न पैदा हो जाय और कहीं वना वनाया वच्चों का खेल न विखर जाय ?'

मित्र को वड़ा ही अंदेशा हुआ और साथ ही पशोपेश भी हुआ कि ऐसी कैसी नाज़ुक वात है कि–जिस से रंज में ख़ुशी और ख़ुशी में रंज हो–वात तो वडी टेढी मालूम होती है–ख़ैर उसे जानना ही चाहिये–चाहे सो हो–यह आन्तरिक भाव मेरे मित्र के श्वासप्रश्वास में व्यक्त हो के मुझे मूर्तिमान दीख पड़ता था। उस वक़्त मैं ने डाक्टर क्लिनेर और डाक्टर पेट्रिक ओडोनेल की–Dicyanine Screen डायसिआनिन् स्क्रीन और एक रसायनिक तख्ती लगाई थी–जिस के द्वारा यह Atmosphere का Aura तेजोवलय और Vital Spark मुझे खुला दिखाई दे रहा था। मैं ने सोचा कि–जो हो, अव मित्र का ज़ियादह इन्तिज़ार वढ़ाना मुनासिव नहीं–चाहे इस में वेइज़्ज़ती हो, फज़ीहती हो या शर्मिन्दगी ही हो–इस के सिवा तो और कोई कुछ नहीं कह सकेगा कि–'इस पुस्तक का लेखक महामूर्ख है, वेवक़ूफ है और वेकार है'–ख़ैर इस प्रकार ऐटमोस्फीयर पर ऐटमोस्फीयर का हमले पर हमला हो ही रहा था कि उतने ही में मैंने अपने मित्र से–वड़ी ही उदारता से, वड़ी ही सरलता से, वड़ी ही ख़ुशी से झट कह दिया कि–सुनो प्यारे मित्र–'मेरी एक हिन्दी कविता की पुस्तक कि जिस के आदि में यह एक अवतरण का अन्तिम वाक्य था–Poets must have at thier heart one grand aim to serve their native country.–उस की समालोचना में किसी एक नामी पत्रिका

के सम्पादक ने लिखमारा था कि–'ग्रन्थकर्त्ता की जन्म-भाषा हिन्दी नहीं है'–बस भाई, बात तो इतनी ही है–इस का हिसाब ही क्या था। आजकल की हिन्दी भाषा किस की जन्मभाषा है? उस वक़ चुप हो कर मैं ने भी इस का मन ही मन उत्तर दे डाला कि–"नहीं है तो न सही–तुम्हारी भी तो, हिन्दी, जन्मभाषा कब है? फिर तुम्हें–किसी की जन्मभाषा हिन्दी है या नहीं–कहने का हक़ ही क्या है।

बस, इतना सुनने की देर थी–'अर्थभारवतीवाणी भजते कामपि श्रियम्'–इस कवि के वचन को एक तरफ़ रख के मेरा मित्र बिलकुल ही जामे से बाहर हो गया और खिल खिला कर हंसते हुए कहने लगा कि–वाह भाई, इस समालोचक सम्पादक ने तो बड़ी बहार कर दी, बलिहारी है उस की, शुक्र है, शुक्र है, धन्य है, धन्यवाद है–इस वक़ उस ने हमारी बड़ी ही सहायता की–क्यों कहिये–अब तो साबित है न?–तुम्हारी जन्मभाषा हिन्दी नहीं!–मेरे मित्र ने उस सम्पादक का अभिनन्दन करते हुए, मुझे लज्जित करते हुए और अपना सिक्का जमाते हुए–बड़े ज़ोर के साथ कहा।

किन्तु क्षण ही में, उसी क्षण–यह ज़ोर, यह भाव, यह सिक्का–गुम हो गया, नष्ट हो गया और लुप्त हो गया। मित्र शान्त हो के सीधा बैठ गया और लंबी ठंडी सांस खींच कर कहने लगा कि–प्यारे, बड़ा ही अफ़सोस है कि–ख़ैर पूरी न सही–अधूरी ही क्यों न हो–रांगड़ी-नीमहिन्दी हमारी जन्मभाषा Mother-tongue का

हम ने क्या उपकार किया ? उस को पूरी Perfect हिन्दी बनाना हमारा धर्म था—वह तो एक तरफ़ ही रहा, उस अधूरी ही को बिलकुल ही नीचे गिरा दिया !—ऐसा अफ़सोस करते करते मेरे मित्र उठ कर अन्दर चल दिये। मैं तो इस घटना को देख कर बिलकुल अवाक् हो गया और आखें मुंद कर सोचने लगा और कुछ दृश्य दिखाई देता है—उतने ही में अन्दर से नौकर दौड़ता हुआ आया और कहने लगा—'आप को बाबू साहब यह कागज़ का पुट्टल ले कर बुला रहे हैं' मैं नौकर के साथ साथ ही अन्दर चला गया। देखता हूं तो बाबू साहब ने कोट पटलून क़मीज़ टोपी अलग कर के एक सादी धोती और सदरा पहन रक्खा है और खुले सिर दरी पर बैठे हुए हैं! मैं इस अपूर्व दृश्य को देख कर बहुत घबराया। मैं कुछ बोलना चाहता ही था उतने ही में बाबू साहब ने मेरा हाथ पकड़ कर बड़े प्रेम से कहा कि—'आओ मित्र, मेरे गले से लगो और इन कोट, पटलून, बूट, नेकटाइ को तुम अपने हाथ से जलादो।' यह सुन कर मैं बड़ा ही चकित हुआ, ग़ज़ब हो गया और बदहवास हो गया ! बाबू साहब के मुंह से एकदम निकल पड़ा कि—"बिलकुल सच है, सत्य है, सत्य सत्य है—शेर का चमड़ा पीठ पर डाल कर नक़ली शेर बनने की अपेक्षा तो असली गधा रहना ही बेहत्तर है। इन कोट, पटलून, बूट, हेट पहनने के लिये तो हमें ख़ास यूरोप अमेरिका ही में जन्म लेना चाहिये। विष्णुपुराण की उक्ति के अनुसार—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

ऐसी हमारी मातृभूमि—हमारी ही अकेलों की नहीं—जेकोलियट क्रूफ्मर और कौसिन आदि अनेक यूरोप अमेरिकावासियों के कहने के अनुसार World's cradle Cradle of human race Cradle of humanity,—जगत् की जननी, मनुष्यजाति की जननी, मनुष्यत्व की जननी, सब की आद्य जननी स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूत—भारत मा के उदर में जन्म ले कर हम ने क्या किया? हाय हाय! जिस हमारी मातृभूमि के भूतकाल का Revival पुनरावर्त्तन—पाश्चात्य अपनी पश्चिम की भूमि के भविष्यकाल में चाह रहे हैं आज उसी मातृभूमि के भविष्यकाल में पश्चिम के वर्त्तमानकाल का Revival हो रहा है—यहां तक कि—हमारे धर्म, कर्म, आचार, विचार, खानपान, रहनसहन, भेष, साहित्य, विद्या, शास्त्र, भाषा, जाति देश सब के सब बदल गये तो भी जिस क़दर हमारे भूतकाल के सद्गुण, सत्स्वरूप, सच्चरित्र का पुनरावर्त्तन उधर हुआ—उधर के, उस के उद्योग, कलाकुशलता, प्रयत्न, महत्वाकांक्षा आदि के वर्त्तमानकाल का—इधर, हज़ारवें तो क्या लाखवें हिस्से का भी परावर्त्तन नहीं हुआ।"—ऐसा कहते कहते मित्र के दोनों नेत्रों की नीचे की पलको की कोरों पर हिरकणीकी सी बहुत ही बारीक अश्रुकणा चमक उठी! उस के सामने मुफ

से देखा नहीं गया, झट मेरी आंखों की पलकें गिर पड़ी और चहुं ओर अंधेरा छा गया । उतने ही में उन का छोटा लड़का एक छोटीसी पुस्तक हाथ में लिये हुए आ कर उन के पास बैठ गया और अपनी वाल-लीला का कोमल भाव दिखाते हुए कहने लगा कि—'देखो वावा ! यह कैसी अच्छी पुस्तक है ? मुझे वड़ी प्यारी और सुहावनी लगती है । लो, इस को देखो ।' वावू साहव ने वड़ी उत्सुकता से उस पुस्तक को हाथ में लिया । हाथ में लेते ही उस के टाइटल पेज के—'महात्यागी वीर भ्राता लक्ष्मण'—नाम पर, उसी अश्रुकण से, चमकते हुए, नेत्रों में से—पहलूदार सुन्दर हीरों के समान वड़े वड़े दो अश्रु-विन्दु वन कर—गिर पड़े और उन के चहुं ओर किरणें निकल कर उन का Aura ओरा वन गया । वावू साहव के लड़के ने पुस्तक का कवर उलट दिया और झट अपने मृदु मधुर स्वर से यह अलापना शुरू कर दिया—

घर घर वन्धु-विरोध विषम सम—
देख हृदय अति खिन्न हुआ ।
स्वार्थजनित हिंसा कुठार से—
आशा अंकुर छिन्न हुआ ॥
कुटिल काल के वक्र चक्रमें—
पड भारत अव भिन्न हुआ ।
शुचि संयुक्त "राम लक्ष्मण"—
यह पावन शब्द विभिन्न हुआ ॥
निज भाई को दुखित देख—
जिस के न नेत्र से नीर चुआ ।

तो वह मातृगर्भ से भू पर—
गिरते ही हा! क्यों न मुआ!॥

बन्धु ही न हो जगमें किसने—
सिद्धि देविका चरण छुआ?।

भाई से हो विलग अकेला—
सुखी जगत् में कौन हुआ?॥

यह अलापाना क्या था—हृदय का गद्गद होना था अश्रु का गिरना था एवं अश्रु का पूर बहना था! मैं ने भी झट अपने आंसुओं को पूंछ कर बडे ऊंचे स्वर से कह दिया कि—

"सकल मिल लगावें कण्ठ से कण्ठ आज,
हिलमिल सब सारें एक का एक काज।"

अहाहा! उन बिन्दुओं के किरणों ने बड़ा ही अपूर्व काम किया। उन के परमाणुओं ने समान आकर्षण कर के सब की समानता कर दी। झट मैंने अपनी जेब से एक पोस्टकार्ड निकाल कर उसी पुस्तक के 'समर्पण' वाले पृष्ठ पर रख दिया। 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि'— इस कवि कुलगुरु कालिदास के वचनानुसार जन्मान्तर का मातृभाषा का भाव उपस्थित हो के अन्तर्ध्वनि का चमत्कार हुआ। रांगड़ी—नीम हिन्दी आज पूरी हुई! जिस हिन्दी का शब्द तो क्या, जिस का अक्षर भी देखना पसंद नथा आज उसी हिन्दी का कार्ड बाबू साहब, पूर्व कथित सब घटना को भूल कर, बड़े ही चाव के साथ पढ़ने लग गये—

" महाशयजी—आप का पत्र आया धन्य है हिन्दी प्रेमियों को—हम तभी प्रसन्न होंगे जब भारत में घर घर हिन्दी से भिन्न दूसरा अक्षर देखने में न आवेगा । यह आप का उद्योग अपूर्व है । उद्योग 'न भूतो न भविष्यति' के सदृश्य है । इस वास्ते आप दो पुस्तक हम को विचार-दर्शन भेजना । ग्राहक रजिष्टर में लिख रखना । दः पताः— स्वामी हरिनामदासजी । गुरु दरवार श्री साधु वेलातीर्थ— सक्कर सिन्धु । अखाड सुदी १५ सं० १६७० "

कार्ड का पढ़ना समाप्त होता ही है—इतने में वावू साहव की वृद्ध माता हमारे पास अकस्मात् आ कर वावु साहव की वलैयां लेने लगीं और मेरे नज़दीक वैठ कर अत्यन्त वत्सलभाव से, कृपाकटाक्ष से एवं आशीष भरी वाणी से कहने लगीं कि—'भैया, जीते रहो, उमर दराज़ हो, जुग जुग जीओ—आज तुमने वडा भारी काम किया जो हमारे ववुवा के मुंह से अपनी वोली का कागज़ वचवाया !' वावू साहव अपनी मा के चरणों पर गिर पड़े और अत्यन्त नम्रभाव से क्षमा, प्रार्थना करने लगे कि—'मा ! मैं वहुत वड़ा अपराधी, अन्यायी, अधम पापी हूं । मैं ने मातृभाषा का द्वेष कर के आत्मघात किया है ! मा क्षमा करो ! मा ! मा ! मेरी प्रिय मा ! मैं ने हिन्दीभाषा का निरादर कर के देशद्रोह किया है ! मेरा उद्धार करो ! इन पवित्र चरणों की शपथ है कि—मा ! मैं आज से कभी सिवाय हिन्दी के कुछ न वोलूंगा, कुछ न लिखूंगा और कुछ न पढूंगा । कभी वूट, कोट, पटलून, क़मीज़, हेट, नेकटाइ का स्पर्श तक न करूंगा ।'—कैसा यह

जादू का तमाशा है ? मैं तो इस घटना को देख कर दंग हो गया और बाबू साहब को मा के चरणों से हटा कर मैं ने अपना 'विचारदर्शन' मा के पवित्र चरणों पर रख दिया। मा ने बड़े ही हर्ष से, बड़े ही अनुग्रह से—उस को उठा कर मेरे हाथों में दे कर प्रत्यक्ष विचार का दर्शन करा दिया और कहा कि—

" वैश्यवर्य ! त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवांछितः।
तं प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति॥ "

मासो माही मा—फिर ज्ञान होने में क्या देर थी, हिन्दी भाषा जन्म भाषा होने में क्या देर थी और संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगाली, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषा में—' विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् '—इस भवभूति के वचनानुसार वश होने में क्या देर थी ?

जगदम्ब, जगज्जननी, विश्वव्यापिनी, विश्वमाता का ऐसा अनुग्रह होते ही मैं ने विचारदर्शन का सहर्ष, अत्यन्त नम्र भाव से स्वीकार कर लिया और मैं उस चितिशक्ति, चिन्मूर्त्ति, बिन्दुरूपा, अर्धमात्रा आत्मकला के चरण-कमलों पर गिर पड़ा और उच्च स्वर से—

" विद्याः समस्ता स्तव देवि ! भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैत-
त्का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥ "

कहते हुए अपने घर चला आया ! हिन्दी का विजय हुआ और साथ ही बन्धुभाव का उदय हो के कवि कुलगुरु कालिदास का कहना सत्य हुआ—

" उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥ "

क्यों नहीं ? प्रसाद होने पर फिर क्या देर है ? भगवान् श्रीकृष्ण के कहने के अनुसार—'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'—फिर सब दुःखों की हानि होने में क्षण का भी विलम्ब नहीं होता।

चाहे पृथ्वी भर की हिन्दी भाषा पर कोई अपनी सत्ता समझे, चाहे उस पर अपने अकेले ही का कोई स्वत्व समझे, या चाहे किसी अकेले ही ने पृथ्वी भर की हिन्दी को खरीदलिया हो, चाहे किसी अकेले ही ने उस का बयनामा लिखवा लिया हो, और चाहे किसी अकेले ही ने उस की रजिस्टरी ही करवाली हो तो भी—मैं ने तो घर आते ही—अत्यन्त साहस के साथ, अत्यन्त ज़ोर के साथ, अत्यन्त उत्साह के साथ—हिन्दी में इस अपूर्व, अद्भुत, चमत्कारिक घटनात्मक प्रस्तावना को लिख ही डाला ! चाहे अब कोई इस का मालिक, इस का धनी, इस का ठेकेदार, इस का 'मनोपली' वाला—मुझ से इस का जवाब मांगे, जवाबदावा मांगे या जी में आवे सो मांगे—मुझे लिखना था सोतो मैं ने लिख ही डाला !

अब मैं इन मालिक, धनी, ठेकेदार, और मोनापाली वालों से दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ निम्न लिखित आंग्ल कवि की पोइट्री में कहता हूं कि—

" The moving Finger writes and having writ
Moves on; nor all thy Piety nor wit
Shall lure it back to cancel half a line
Nor all thy tears wash out a word of it—"

गतियुक्त अंगुली लिखती है और लिख चुकी है और लिख रही है—उस की आधी पंक्ति को भी मिटाने के लिये तुम्हारी पवित्रता और बुद्धि उस को ललचा नहीं सकती एवं उस के एक शब्द को भी तुम्हारा अश्रुपूर नहीं धो सकता। अर्थात् उस आत्मकला के प्रसाद—प्रसन्नता के अनुसार जब अदृष्ट की लेखनी द्वारा इस के अक्षर, शब्द, वाक्य निकले हैं तो—एकवार एक अक्षर उस में से निकलते ही वह वज्रलेप होना ही चाहिये। उस का फिर कभी खण्डन मण्डन नहीं हो सकता। गंगा के नज़दीक झोंपड़ी बना कर, या निद्रा का त्याग कर, या बूट कोट पटलून पहन कर, या अचकन चपकन—धोती साफ़ा पहन कर, या बड़े सम्पादक बन कर,या ख़ुद लार्ड मेकाले बन कर—किसी ने कितनी ही तपश्चर्या की, या करुणा प्रार्थना की, या कड़ी समालोचना की, या किसी की हिन्दी जन्मभाषा न की या Piety and wit पवित्रता और बुद्धि की कमाल की तो भी—इस आत्मकला की अदृष्ट लेखनी द्वारा लिखी हुई एक पंक्ति को भी कोई मिटा नहीं सकता या विचारदर्शन के पूरे मूर्त्तिमान् दृश्य लेख पर से चाहे कोई अपने अश्रु-बिन्दु, अश्रुबिन्दु की धारा, अश्रुधारा का महापूर भी बहा दे, तो भी, उस के एक टूटे फूटे अक्षर का धुल जाना तितर बितर हो जाना या बह जाना कभी संभव नहीं या

कभी क़रीने कयास ही नहीं । कलामे क़लन्दरी के सजींदा अल्फ़ाज़ों के मुवाफ़िक़—

" आँ ज़माँ सूफ़ी कि दर सिफ़्वत् रसीद
जुम्ले आलम् वेख़बर गुम्गश्तः दीद ।
गर सख़ुन् गोयन्द न तुवद् मानई
वाज़र मोहताज अन्द सुई सानई ॥ "

जव सूफ़ी—ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्म की अवस्था को पहुंच जाता है—ब्रह्ममय—सर्वं खल्विदं ब्रह्म हो जाता है, तव सब संसार का लय हो जाता है । उस वक़्त उस के मुंह से जो सख़ुन्—कलाम, शब्द, अक्षर निकलते हैं उन का अर्थ उपर्युक्त मालिक, धनी, ठेकेदार, मोनापलीवालों की अर्थात् वहिर्मुखों की समझ में नहीं आता जो अन्तर्मुख होते हैं अर्थात् जिन्हों ने अपने में अपने को जाना है—ब्रह्म को जाना है उन सख़ुन्—कलाम, शब्द और अक्षरों का अर्थ उन्हीं के समझ में आता है । क्या कोई इस का रहस्य, इस का भेद, इस का गूढ़ जान सकता है ? मौलाना रूम कहते हैं—" मन् काफ़िरे ख़ुदायेम् ख़ुदा काफ़िरे मा । मन् मुर्शिद ख़ुदायेम् ख़ुदा मुर्शिद मा ।" अर्थात् मैं ख़ुदा को पैदा करनेवाला हूं और ख़ुदा मुझ को पैदा करनेवाला है । मैं ख़ुदा का मुर्शिद—गुरु हूं और ख़ुदा मेरा मुर्शिद है ।

वस, हो गया, फ़ैसला हो गया, जजमेन्ट सुना दिया गया !—हिन्दी का कोई एक ही मालिक है, न धनी है, ठेकेदार ही है । हिन्दी की 'मोनापली' किसी ईश्वरने, किसी ईश्वर के पुत्र ने, किसी ख़ुदाने, किसी वुध ने, किसी महावीर ने, किसी ज़रतुश्त्र ने किसी को नहीं दी है । यह महत्वपूर्ण,

यह प्रधानमन्तव्य, यह मारके का फ़ैसला, यह इम्पारटेन्ट जजमेन्ट-इसी नाचीज़, ख़ाकसार, लघु से लघु आप के चरणसेवक ने कराया है-हिन्दी किसी अकेले ही की नहीं, हिन्द की तीस करोड प्रजाही की नहीं, बल्कि, पृथ्वी भर की प्रजा की है। उस पर सब का समान स्वत्व है, सब का एकसा हक़ है और सब की पूर्ण सत्ता है। वह सब की देशभाषा है, जन्मभाषा है, मातृवाणी है, माथ्रवानी है, मादरी ज़वान् है और मदरटङ्ग है। आप का एक कमतरीन् गुलाम, आप का एक लघुसेवक-आप सब सज्जनों की, आप सब साहबों की सेवा में, ख़िदमत में-बड़े ज़ोर से पुकार कर, चिल्ला कर निवेदन करता है, गुज़ारिश करता है कि-वह अपनी प्यारी मातृभाषा, जन्मभाषा, मादरीज़वान् हिन्दी के लिये जानो माल से, तनमनधन से, एक पद पर, एक पैर पर उस की सेवा के लिये, उस की परिस्तिश् के लिये कमर कस कर तैयार है।

आइये मेरे प्यारे मित्रो, आइये मेरे प्रिय देशभाइयो, आइये मेरे आत्मीय विचारदर्शको-सब मिल कर अपने हृदय से हृदय मिलावें, कंठ से कंठ लगावें और बांह से बांह भिड़ावें-अपनी भारतजननी का, अपनी मदरलेण्ड का, अपनी मातृभाषा का, अपनी हिन्दी जन्मभाषा का-उद्धार करें, उदय करें, जयजयकार करें और उस का सर्वत्र प्रसार करें।

याद रक्खो, कभी न भूलो-कभी न कभी हिन्द की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही होगी-इस वक़् चाहे वह कैसी ही हो-अपूर्ण हो, मुग्ध हो, अबोध हो, अधूरी हो, गन्दी हो,

रांगड़ी हो—वही आप की नेत्री, ज्ञानदात्री, पूज्य, समर्थ Venerable efficient Nurse धात्री होगी । चाहे आप अंग्रेज़ी, फ्रेंच, लेटिन, फ़ारसी, अरबी कोई भी भाषा सीख पढ़ कर बड़े पण्डित, ज्ञानी, धन कुबेर क्यों न हो जायं, तो भी—

> भाखाः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं,
> दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
> सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
> कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

सिवाय अपनी मातृभूमि के, सिवाय अपनी मातृभाषा के—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' और प्रिय पवित्र जननी के आप कुछ भी नहीं होते ! !

कारण ।

'हिन्दी मेरी जन्मभाषा नहीं'—ऐसा सारटिफिकट मिल जाने पर, सरकारीकाम की अधिकता हो जाने पर, एवं कुछ गृहस्थी आपत्तियां आ पड़ने पर—वहुत दिनों से चित्त पर उदासीनता छाई हुई थी और शरीर पर उस का वहुत ही वुरा परिणाम भी हो रहा था—वृत्तान्त पर से आगे इस का परिचय होगा—अतः मैं अपनी मातृभाषा की, जन्मभाषा की, हिन्दी की सेवा से विमुख था तो भी कभी कभी कुछ कविता लिख ही डालता था । पुत्र कुपुत्र हो जाता है, मा को भूल भी जाता है तो भी वात्सल्यपूर्ण दयामयी मा पुत्र को कब भूल सकती है ?

ईसवी सन् १९१२ की जुलाई की सरस्वती में—ब्रिटिश गायनानिवासी एक कृतविद्य भारतीय ब्राह्मण पुंगव

श्रीयुत रामनारायण शर्मा एल्. एम्. एस्. का लिखा हुआ 'आत्मा और अन्तःकरण' शीर्षक लेख निकला। उसे देख कर मुझे साश्चर्य दुःखित होना पड़ा क्यों कि-इस वक्त पहिले ही हमारी अध्यात्मविद्या रसातल में जा रही है-उस पर यह एक नास्तिकभाव का आवरण पडते हुए देख कर किस श्रद्धास्पद आस्तिक महानुभाव की आत्मा और अन्तःकरण, मन, प्राण, व्यथित न होंगे ? उक्त लेख में रामनारायण शर्माजी ने आत्मा को-"आत्मा कोई वस्तुविशेष या ईश्वरदत्त शक्तिविशेष नहीं, किन्तु हमारी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञानों की एक गठरी है-It is the *Sumtotal* of the impressions that the brain receives through the various sensory channels.-कह कर आगे उस की व्याख्या की और अन्तःकरण को भी सिद्ध किया। जिस को पढ़ कर कट्टर से कट्टर नास्तिक ही क्या-जिस को पृथ्वी पर कोई भी ईश्वर नहीं या धर्म ही नहीं-वह भी हंस पड़ेगा।

वेद,वेदान्त, उपनिषद्, शास्त्र, व्यास, कपिल, वसिष्ठ, शंकराचार्य आदि भारतीय तत्त्वज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी, महात्मा और प्लेटो, कान्ट, शोपनहोर, हेगेल, हक्सले, टिंडाल, डारविन, रामफ़े, वालेस, मोक्षमूलर, स्पेन्सर आदि पाश्चात्य तत्वज्ञानी पण्डित और आधुनिक भारतीय तत्व-ज्ञानी स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ प्रभृति के 'आत्मा' की व्याख्या करने में, उस का परिचय कराने में एवं उस के प्रतिपादन करने में-ज्ञान की, अनुभव की एवं अभ्यास की पराकाष्ठा हुई, परमावधि हुई, सीमा हुई तो

भी किसी को कुछ भी उस का पता चला या न. अभ्यास हुआ या भान ही हुआ—'न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्र-तारकं, ने मा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः ?'—इस प्रकार—'Unknown and unknowable' को पण्डित रामनारायणजी ने सब को मात कर दिया और झट—आत्मा को '*Sumtotal*—गठरी' बना कर जगत् को चकित कर दिया ! और भारत के बड़े बड़े महात्माओं को मूर्ख बना डाला ! 'इन पुरातन शास्त्रानुयायियों से यदि हम आत्मा, मन और प्राण की परिभाषा पूछें तो ये लोग सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते । केवल कबीर की एक आध साखी, या दादू का कोई दोहा, या सुन्दरदास का कोई कवित सुना कर टालमटोल कर देते हैं । वास्तव में इन लोगों को आत्मा, मन और प्राण इन तीनों का भेद अच्छी तरह ज्ञात नहीं ।'

वाह खूब !—' It cannot be denied that the early Indians possessed a knowledge of the true God. All their writings are replete with Sentiments and expressions, noble, clear, severely grand, as deeply conceived as in any human Language in which men have spoken of their God.' इस को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्राचीन भारतीय लोग सत्य ईश्वर का ज्ञान रखते थे । किसी मानवी भाषा में लोग अपने ईश्वर के लिये बोलते हैं—उन सब में—उन के सब लेख विचारों से परिपूर्ण हैं और उन के उद्गार श्रेष्ठ, स्पष्ट, गम्भीर उन्नत हैं ।

'Remarkable is the precision with which the immortality of the soul and its existence when separate from the body, is expresed in the sacred writings of the Hindus, and not merely as a philosophical proposition but as a doctrine of religion. In this respect the Hindus were far in advance of the philosophers of Greece and Rome who considered the immortality of the soul as problematical.' हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों में आत्मा का अमरत्व एवं शरीर से अलग होने पर उस का अस्तित्व केवल तत्वज्ञान की रीति से ही नहीं समझाया गया है वल्कि धार्मिक तत्वों से भी समझाया गया है, यह श्रेष्ठता ध्यान देने योग्य है—अर्थात् हिन्दू लोग ग्रीस और रोम देशों के तत्वज्ञानियों से वहुत वढ़े चढ़े थे—जो आत्मा के अमरत्व को अनिश्चित मानते थे। ये फ्रेडरिक स्केगेल और जान स्टर्जेना के Wisdom of the Ancient India और Theology of the Hindus नामक पुस्तकों के लेखानुसार एवं उपर्युक्त हमारे यहां के— 'That soul cannot be gained by speeches, not by understanding, not by Shrutis Vedas or Sciences. Only the suplicant self can obtain him, Him, who reveals to him His own nature (truth, wisdom &c.)'—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न वहुना श्रुतेन। येमैवैप वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैप आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। मुण्डकोपनिषद् की

उक्ति के अनुसार–'The nature of Philosophers'–के फ़िलासफ़रों को–तत्वज्ञानियों को–' वास्तव में इन लोगों को आत्मा, मन और प्राण इन तीनों का भेद अच्छी तरह ज्ञात नहीं।

' अणोरणीयान्महतो महीयान् ' और ' इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।'–जो लघु से लघु और बड़े से बड़ा है। इन्द्रिय-ग्राह्य विषय इन्द्रियों से श्रेष्ठ हैं, उन विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से आत्मा महान् श्रेष्ठ है–अर्थात् इन सभों से आत्मा परे है। श्रुति भी इस आत्मा को अगम्य, अचिन्त्य, ज्ञानाऽज्ञान से पर कह कर मुग्ध होती है–' अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'–जो ज्ञेय एवं ज्ञात है उस से आत्मा भिन्न है और जो अज्ञात है उस से भी आत्मा भिन्न है अर्थात् पर है–' यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।'–जो वाणी की शक्ति से पर हो कर भी जिस के लिये वाणी की प्रवृत्ति होती है–वही ब्रह्म–आत्मा है–ऐसा तू जान। वैसे ही–'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः'–अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।' जो आत्मतत्व ज्ञेय नहीं–ऐसा जानता है–वही आत्मज्ञानसंपन्न है एवं जो ऐसा जानता है कि–' मैंने आत्मतत्व को जाना ' अर्थात् आत्मा को ज्ञान का विषय किया तो वह उस को यथार्थ नहीं जानता। देखिये, ईसा की छटी शताब्दी ही में इटली में सात समुद्र पार बैठे हुए सेन्ट आगस्टाइन ने इस का कितना सम्यगनुवाद किया है–उस के लिये Edward Caird

ने अपने 'The evolution of religion' में लिखा है कि—"St. Augustine is uttering a truth when he says that the Devine being sciendo ignoretur et nesciendo cognoscitur. "When we would say we know him, He is hid from us; when we declare that we know him not, he is revealed to us."—सेन्ट आगस्टाइन का कहना सत्य है कि—"जब हम कहते हैं कि, हम उस को जानते हैं तो वह हम से छिपा हुआ है और जब हम स्पष्ट कहते हैं कि, हम उस को नहीं जानते तो वह हम में प्रत्यक्ष भरा हुआ है।"

ऐसी दशा में हमारे डाक्टर साहब ने—पूर्व और पश्चिम के बड़े बड़े फ़िलासफ़रों को—तत्वज्ञानियों को हज़ारों वर्ष यत्परोनास्ति प्रयत्न करने पर भी आज तक 'आत्मा' का पता नहीं चला, उस को क्षण ही में एक अपने छोटे से लेख में बिना टालमटोल के प्रत्यक्ष कर दिया—इस लिये उन का धन्यवाद किया जाय उतना ही थोडा है! अब हमें पुरातन शास्त्रानुयायियों के समीप जाकर आत्मा, मन और प्राण की परिभाषा पूंछने की कोई आवश्यकता रही नहीं। अब हमें उन के असन्तोषजनक उत्तर सुनने की जरूरत नहीं रही और अब हमें उन अज्ञों से आत्मा, मन, और प्राण का भेद जानने की दरकार ही नहीं रही!

'जब से वैज्ञानिकशास्त्र का विस्तार होने लगा और विज्ञान की शाखायें संसार के कोने कोने में फैलने लगीं तब से इन उलझनों को सुलझाने का मार्ग खुलासा गया। इस समय आत्मा के विषय में सारे संसार के विज्ञानवेत्ता

एकमत हैं।'—देखिये, अब आप का 'विज्ञान' इन उलझनों को कैसे सुलझा सकता है? आप अगर नूतन Metaphysical point of view—से आत्मा को सिद्ध करना चाहेंगे तो—वैज्ञानिक तत्वों के अनुसार प्रथम आप को जड़ मूलद्रव्य की रासायनिक शक्ति से आत्मा की उत्पत्ति मानना होगी, जिस से द्रव्य और शक्ति का अस्तित्व, आत्मा से पहिले था—यह सिद्ध होगा। जब बुद्धि किसी वस्तु को ग्रहण कर सकती है तब उस का अस्तित्व होता है। आत्मा तो बुद्धि से बहुत दूर है, बुद्धि वहां पहुंच सकती नहीं और आत्मा ही की सत्ता से बुद्धि को वस्तुग्रहण-शक्ति प्राप्त होती है—अर्थात् आप का विज्ञान जड़ मूल-द्रव्य से आगे जा ही नहीं सकता—इसी लिये वह अपूर्ण-दशा में है। विज्ञान भौतिक जगत् के लिये कदाचित् नया या अपूर्व पदार्थ होगा किन्तु आत्मा के जानने में असमर्थ है—इस के लिये कुछ भी शंका नहीं है। प्रो० वालेस, डारविन, स्पेन्सर, रामभे और आचार्य जगदीशचन्द्र बसु आदि विज्ञानवेत्ताओं ने क्या किया है और क्या कर रहे हैं? उन को अगर विज्ञान द्वारा आत्मा का पता लग जाता तो फिर वे क्यों नहीं उलझनों सें सुलझ जाते और आत्मज्ञ आत्मपथदर्शक बन के सारे संसार का उद्धार कर देते? कोई आत्मा को सोल कहता है तो कोई रुह कहता है तो कोई मन कहता है तो कोई बुद्धि कहता है तो कोई 'Unknown and unknowable' ही कहता है! क्या यही संसार भर का एकमत है?

आगे शर्माजी कहते हैं कि–' आत्मा कोई वस्तु नहीं। न दीपक की ज्योति के समान वह कोई आन्तरिक प्रकाश है जिस की खोज योगीलोग करते हैं; न कोई अनाहद (बेहद नहीं अनाहत) नाद है जिसे सुनने का प्रयत्न, आंखें बन्द कर के और एकाग्र चित्त हो कर किया जाय; न शरीर में उस के वास के लिये कोई स्थल ही निर्दिष्ट है। लोग प्रश्न करते हैं कि यदि तुम आत्मा को नहीं मानते तो तुम्हारे शरीर के भीतर "मैं" कहनेवाला कौन है। तुम्हारे और हमारे भीतर "मेरा हाथ," "मेरा पैर," "मेरी स्त्री," "मेरा पुत्र" कहनेवाला कौन है? यह "मैं" क्या चीज है? क्या "मैं" शरीर के किसी अवयव का नाम है? इस सब का उत्तर बड़ा आसान है और वही उत्तर आत्मा की परिभाषा है। साधु साधु महात्मन्!

अनेक ऋषि मुनि महात्माओं के दीर्घकाल तपश्चर्या करने पर भी, अनेक तत्वज्ञ महापुरुषों के अनेक ग्रन्थ लिखने पर भी, और अनेक पुरातन शास्त्रवेत्ताओं के शास्त्र रचने पर भी आत्मा की परिभाषा नहीं हुई उसे आपने एक ही "मैं" अक्षर में कर के भारतवर्ष पर अकथनीय उपकार कर डाला! श्री विद्यारण्यस्वामी के कथनानुसार–"आत्मा देहादि भिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः। देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्यय–भावना।"–यह आत्मा, देह आदि से निराला है और जगत् मिथ्या है–ऐसा होने पर भी देहादिकों में आत्मत्व और जगत् में सत्यत्व बुद्धि का होना ही–विपरीत भावना है। जिस को दृढ़ कर के

हमारे डाक्टर साहब ने आत्मा की परिभाषा सिर्फ़ एक ही 'मैं' अक्षर-शब्द में कर के अपने अपार ज्ञानविज्ञान का परिचय जगत् भर को दे डाला है ! ..

आगे चल कर तो शर्माजी ने खूब ही कमाल किया है- "बालक उत्पन्न होते ही "मनुष्य की आत्मा" धारण करता है । ... ... जैसे जैसे अपनी इन्द्रियों से उसे वस्तु विशेष का ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उस की "आत्मा विशेष" भी बनती जाती है । ... ... और वस्तुविशेषों का संयोग इन से विशेष काल तक होता है तब इन को यह "अपना" कह कर पुकारते हैं । .... जैसे जैसे देशाटन, विद्याध्ययन, तथा कार्य विशेष में हम प्रवृत्त होते हैं वैसे ही वैसे हमारी- "आत्मा" या हमारा "मैं" भी परिवर्त्तित होता जाता है ।" इत्यादि तर्कशास्त्र-सिवाय देहात्मबुद्धि के अर्थात् आत्मा के भ्रम से शरीरादिक में आत्मबुद्धि के-जिस युक्तिवाद पर आत्मा को प्रमाणित करता है ? क्या आत्मा एक मिट्टी का ढेर है, या पत्थर की राशि है, या हड्डी, मांस, रक्त, त्वचा की गठरी है-कि जिसे मुर्दे की चीर फाड़ करने में डाक्टर साहब ने प्राप्त कर ली है ? (देखो जगत् की अभिव्यक्ति में भगवान् शंकराचार्य का आत्मवाद)

अब अन्तःकरण के लिये शर्माजी कहते हैं कि- "अन्तःकरण और भला बुरा पहिचानने की शक्ति अनुभव से प्राप्त है वह ईश्वरदत्त नहीं । ... .

... . यदि अन्तःकरण ईश्वरदत्त है तो क्यों वह सब मनुष्यों में एकसा नहीं? .... इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि अन्तःकरण सामाजिक, सामयिक तथा दैशिक है और वह अनुभव से प्राप्त है। .... जिनसे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि अन्तःकरण ईश्वरीय दान नहीं, किन्तु मानुषिक अनुभव से प्राप्त हुई चीज है।"

न जाने डाक्टर साहब अन्तःकरण को क्या चीज मानते हैं?–'The internal organ; the heart, soul; the seat of thought and feeling, thinking faculty, mind, conscious' आदि इन में से उन को क्या पसंद है या–"मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं कारणमान्तरम्। संशयो निःश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।"–मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त मिल कर अन्तःकरण होता है और संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण उस के विषय होते हैं। वैसे ही वह त्रिविध होता है–"सान्तःकरणा बुद्धिः–अहंकारमनःसहिता" वह अन्तःकरण बुद्धि, अहंकार और मनसहित है–यह सांख्य का मत है। निःसंशय डाक्टर साहब का अन्तःकरण इन सब से कोई निराली ही चीज है। तभी तो वे कल की बात तो दूर–क्षण ही के पूर्व की बात ऐसी भूल जाते हैं कि–प्रत्यक्ष उस का अनुभव हो जाने पर भी मानो उस का कभी भान ही न हुआ था! 'अन्तःकरण और भला बुरा पहिचानने की शक्ति अनुभव से प्राप्त है वह ईश्वरदत्त नहीं तो फिर पूर्वकाल में गुरुकुल, विद्यागृह

और आजकल स्कूल कालेज युनिवरसिटी आदि की क्या आवश्यकता थी और है—विना ईश्वर के दिये ही भले वुरे पहिचानने के अनुभव ही से शक्ति प्राप्त हो जाती है तो—फिर वड़ी वड़ी परीक्षाओं के लिये इतना व्यर्थ अभ्यास और श्रम करने का कारण ही क्या है ? केवल अनुभव से ही सव विद्वान् पण्डित वन कर वड़े वड़े ग्रेजुएट वन सकते हैं ! आश्चर्य है कि—अनेक प्रकार का अनुभव हो जाने पर भी छात्र परीक्षोत्तीर्ण नहीं होते और कुछ भी अनुभव न होने पर भी छात्र परीक्षोत्तीर्ण हो जाते हैं तो क्या एक को अन्तःकरण नहीं होता और दूसरे को होता है ? अनुभव ही जव अन्तःकरण है और वह मनुष्यकृत है तो—वस अनुभव को तैयार कर के फिर हमें राजा महाराजा या जगत् भर के ईश्वर, नियन्ता वनने में क्या देर है ? तो क्यों वह ' सव मनुष्यों में एकसा नहीं, तभी तो अन्तःकरण ईश्वरदत्त है । वरना फिर सव समान हो जाते । छोटे वडे का भेद ही नहीं रहता। अगर अन्तः-करण ईश्वरदत्त नहीं होता तो धन कमाने के लिये आप को व्रिटिश गायना में कभी न जाना पडता ! जव अन्तः-करण सामाजिक, सामयिक तथा दैशिक है और वह अनुभव से प्राप्त है तो—आप व्रिटिश गायना के समाज में सामयिक में तथा दैशिक में स्वयं ' मिश्र ' हो कर भी मिल कर, जा कर, घूस कर वहां की असभ्य जाति में क्यों न सामाजिक हुए, क्यों न सामयिक हुए और क्यों न दैशिक हुए ? क्या कारण है जो अव तक भी आप अपने को ' रामनारायण मिश्र और शर्मा ' लिखते हैं ? अव आप ही

कहिये-अन्तःकरण ईश्वरीय दान हैं या मानुषिक अनुभव से प्राप्त हुई चीज़ है ?

अफ़सोस है, दुःख है कि-एक हमारे भारतीय धार्मिक कुलीन महाराज अंग्रेज़ की आत्मा का परिवर्त्तन मैं में करते हैं और अन्तःकरण का परिवर्त्तन अनुभव में करते हैं। 'आत्मा और अन्तःकरण ईश्वरदत्त नहीं और चाहे जब वे उन को बना सकते हैं!' ग़नीमत है कि इस प्रकार नास्तिकता का आवरण फैलाने पर भी आप ईश्वर को तो मानते हैं। कैसे भी हैं, तो भी, आखिर हैं तो भारतीय अग्रजन्मा ब्राह्मणपुंगव! अगर इस वक़् मि० डा० पं० मिश्रजी शर्माजी यहां होते तो-उन्हें आत्मा की ज्योति दिखाई जाती, अनहद् (बेहद् नहीं) 'अनाहत' ध्वनि सुनाई जाती और आत्मज्ञान प्रत्यक्ष कराया जाता। किन्तु हमारा और हमारी मातृभूमि का दुर्भाग्य है-कि वे इस वक़् ब्रिटिश गायना में विराजमान हैं।

चाहे हमें कोई बुरा कहे, चाहे हमें कोई नीच कहे, चाहे हमें कोई अधम कहे, चाहे हमें कोई मूर्ख कहे, चाहे हमें कोई बेवक़ूफ़ कहे, चाहे हमें कोई नालायक़ ही कहे अथवा कोई हमें गाली दे, कोई हमें कोसे या हमें कोई कुछ ही कहे-हमारी पवित्र मातृभूमि का, हमारी पवित्र मातृभाषा हिन्दी का, हमारी पवित्र पराविद्या का, हमारे पवित्र श्रेष्ठ धर्म का-कोई द्वेष करे, कोई द्रोह करे, कोई निन्दा करे, या कोई बुरा कहे, बुरा बोले, बुरा लिखे-चाहे वह हमारा प्रत्यक्ष पिता बन्धु मित्र ही क्यों न हो-वह हमारा नहीं और हम उसके नहीं। वह हमारा कट्टर

दुश्मन, क्रूर शत्रु और हत्यारा राक्षस है! वह देशद्रोही, भाषाद्वेषी, और आत्मघाती है--उस का कहना, बोलना, लिखना, हमारे लिये--इस समय ज़हरीला, विषैला एवं प्राणहारी है! इस वक्त गिरती हुई हमारी मातृभूमि को, पड़ती हुई हमारी साहित्यहीन हिन्दी को उन्नत करनेवाले, ऊपर उठानेवाले, सार्थक करनेवाले, पवित्र, स्वयंसेवकों की आवश्यकता है न कि गन्दगी फैला कर मातृभूमि को अपवित्र करनेवालों की या गन्दे लेख लिख कर अशुद्ध साहित्य की भरमार कर के मातृभाषा को अपवित्र करनेवालों की आवश्यकता है।

इस प्रकार हृदयभूमि में अग्नि की ज्वाला भड़क उठने पर--"कृष्यांदहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो वीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति।"--इस कविकुलगुरु **कालिदास** के कहने के अनुसार झट उस में वीजप्ररोहशक्ति उत्पन्न हो गई और वहुत दिन के उदासीन, सेवाविमुख अपने प्यारे पुत्र के Moving fingers--प्रचलित अंगुलियों में--उस 'आत्मनःकला' लेखनी को दे के, उन्हीं वज्रलेप अक्षरों में, पण्डितजी के नवनिर्मित **आत्मा** और **अन्तःकरण** का विच्छेद करने के लिये मा ने मुझे तत्पर किया और मैं ने एक लेख लिख कर माननीय पण्डित महावीर प्रसादजी के पास **'सरस्वती'** की किसी आगामी संख्या में प्रकाशित करने के लिये भेज दिया।

मा ने मुझे पहिले ही कह दिया था कि--'तेरे इस लेख को 'सरस्वती' कभी स्वीकृत न करेगी'--सावधान हो के मैं ने उस लेख के वापिस आने में कोई बाधा न हो इस

लिये रजिस्टरी की फ़ीस और डाक खर्चा मिल कर ।)॥
आने के टिकट उस के साथ ही भेज दिये थे । मा ने
कहा था वैसा ही हुआ । कुछ दिन के वाद लेख वापिस
आया और श्रीमान् महावीर प्रसादजी की मुव्हिंग फिंगर
से चित्रित किया हुआ यह पवित्र लेख दृष्टिगोचर हुआ।

निवेदन—

यह लेख वहुत जटिल है। सरस्वती के ग्राहकों में से
वहुत कम इसे समझ सकेंगे। डाक्टर साहव की वातों का
थोड़े ही में अच्छा उत्तर हो सकता है। यथाः—

(१) आत्मा, अन्तःकरण, मन और प्राण का स-
प्रमाण लक्षण-जैसा कि हमारे दर्शनकारों ने किया है और
उन का पारस्परिक भेद ।

(२) डाक्टर साहव के मैं, मेरे, मेरा आदि का
न्यायानुमोदित (तर्कशास्त्रानुसार) खण्डन । "मैं" का
कारण Envrionment नहीं इस का युक्तिपूर्ण उत्तर ।

(३) आत्मतत्व का थोड़े में विवेचन, भारतवर्षीय और
पाश्चात्य विद्वानों के मत-केवल चार पांच अवतरण ।

यदि आप कृपा कर के इस सुलभता के अनुसार
सरल भाषा में एक छोटा सा लेख भेज देंगे तो मैं आप
का वहुत * * * हुंगा ।

महावीर प्रसाद-६-६-१२.

मा का अनुग्रह, मातृभाषा का प्रसाद, हिन्दी का
वात्सल्य कव ऐसा लेख सरस्वती में प्रकाशित होने देता
है ? मा को तो मुझ से विशेष सेवा लेनी थी। वहुत दिन
का मैं श्रमविहीन, उदासीन, एकान्त वैठा हुआ था-इस

लिये मुझ से खूब परिश्रम करवाना था और मुझ से इस अद्भुत **विचारदर्शन** का दर्शन करवाना था । उपर्युक्त आंग्ल कवि की उक्ति के अनुसार मुञ्हिग फ़िंगरों द्वारा निकला हुआ लेख कम हो सकता है—कभी नहीं । वह तो बीजभूत हो गया । बहुत अच्छा हुआ करना इतना ही उस का अंकुर निकल कर मुरझा जाता और उस की प्ररोहशक्ति नष्ट हो जाती । बीज में क्या शक्ति होती है—यह बाह्य जगत् में के स्वामी **अभेदानन्द** के दिये हुए प्रमाण पर से विदित हो जाय गा कि—दो दो तीन तीन हज़ार वर्ष के गेंहू, गुल्मगुच्छ के बीज में अंकुरशक्ति होती है तो, हृदयभूमि में बीज का प्ररोह हो जाने पर फिर उस का पौधा बनने में चाहे, मार्ग जटिल हो, चाहे सुलभ सरल हो—देर नहीं लगती । वैसा ही हो के वही इस **विचारदर्शन** का कारण हुआ । खेद है—रचना की क्रमशृंखला के कारण वह इस खण्ड में प्रकाशित न हो सका । दूसरे खण्ड में अवश्य प्रकाशित होगा ।

हमारी हिन्दी के आत्मप्राण, हमारी हिन्दी के प्रिय उपासक, हमारी हिन्दी के साहित्यवर्धक—पं० महावीर प्रसाद को—चाहे कोई महावीर कहे, चाहे कोई क़लमवीर कहे, चाहे कोई **क़लमशूर परशुराम** ही कहे—हम तो उन का हृदय से अभिनन्दन करते हैं और उन का उपकार मानते हैं कि—हमारा उक्त लेख उन्हों ने 'सरस्वती' में प्रकाशित न करते हुए पीछा लौटा दिया और सिवाय 'जटिल' के कुछ न कह कर आगे **विचारदर्शन** के लिखने के लिये त्रिमार्ग की एकता का निवेदन कर दिया ।

'मर्यादा' कहती है कि-"हिन्दी साहित्यसंसार में श्रीयुत महावीर प्रसाद द्विवेदी बहुत ऊंचे दर्जे के समालोचक गिने जाते हैं । उन की समालोचनाओं में लोगों को उग्रता, वाक्य कटुता और उद्दण्डता प्रायः खटकतीं हैं।.... .... दूसरा दोष आप की समालोचनाओं में यह होता है कि वे व्यक्तिगत विद्वेष से प्रेरित होतीं हैं; और इस दोष के कारण वे और भी अधिक उग्र हो जातीं हैं। .... जब कभी आप के किसी मित्र ने आप के किसी ग्रन्थ की समालोचना की वह उस दिन से आप की कृपा का पात्र न रहा हमें इस के कई उदाहरण याद आते हैं। पर एक ही का उल्लेख काफ़ी होगा "हिन्दी की उत्पत्ति" की समालोचना द्विवेदीजी के एक मित्र ने की थी। आप उन पर बहुत खफा हुए, और शायद तीन चार साल तक उन को पूरी पूरी माफी न मिली। .... फिर आप उन की ऐसी ऐसी खबर लेते हैं कि उचित और अनुचित सब ही को थोड़ी देर के लिये आप तिलांजलिये देते हैं। उन के मित्रों को प्रायः इस से खेद होता है। इस लिये आप की समालोचना की तुलना लोग "महावीरी मुष्टिप्रहार" से करते हैं। आप के भय से हिन्दी-संसार भय-भीत रहता है; और एक आत्माराम या एक मनसाराम साही समालोचक आप पर क़लम उठाने की हिम्मत करता है। द्विवेदीजी स्वयं अपने स्वरूप का बहुत ही उचित वर्णन अपनी जोरदार भाषा में कर चुके हैं। आप अपने को परशुराम का वंशज कहते हैं ("शीलनिधानजी की शालीनता"

वाली लेखमाला के अन्तिम लेख में ।) अपने शत्रु को तब तक क्षमाप्रदान आप नहीं करते जब तक मुंह में तिनका दबा और हाथ जोड़ कर, वह आप से यह कह कर क्षमा न मांगे, "पुनातु ब्राह्मणपादरेणुः ।" यह दशा हमारे साहित्य के प्रतिष्ठित समालोचनाचार्य की है। फिर छोटे लेखकों का पूंछना ही क्या ? वे तो केवल आप के प्रदर्शित-पथ का अनुसरण करते हैं। यदि, जैसा आप 'संजीदा अल्फ़ाज़' में फ़र्माते हैं, "आज कल समालोचना संबन्ध में नेक नियती का बाज़ार हिन्दी में भी बहुत गर्म है" तो यह आप ही के किये का फल है। The sins of the parents are born in the sons." आप ही के बोये हुए "नेक नियती" के पेड़ों के फलों से बाज़ार गर्म है। क्या इतने पर भी आप परशुराम की पालिसी से पीछा न छुड़ावेंगे ?

इसी आनुवंशिक या कुलक्रम के अनुसार—द्विवेदीजी डा० रामनारायणजी मिश्र (शर्मा नहीं) के उक्त लेख के विषय में 'सरस्वती' की सन १९१२ की अक्टूबर की संख्या में लिखते हैं कि—"गत जुलाई की संख्या में डाक्टर राम नारायण मिश्र, एल्० एम्० एस्० का एक लेख आत्मा पर प्रकाशित हुआ है। उस में डाक्टर साहब ने आत्मा को कोई चीज़ ही नहीं समझा। (न समझें बेचारे उन के न समझने से क्या आत्मा असत्—Non-existence हो जाता है ? कभी नहीं।) कितने ही पाश्चात्य विज्ञान-वेत्ताओं के सिद्धान्तों के आधार पर (कान्ट, जेकबी, फ़िची, शोपनहोर, हेगेल, मिल, हेमिल्टन, स्पेन्सर आदि

ने आत्मा को अनादि विज्ञानघन सच्चिदानन्द माना है) यह उन का मत ही नहीं डाक्टर साहब आत्मा को देश काल 'Environment' के अनुसार प्राप्त किये गये ज्ञानों या संस्कारों की एक गठरी मात्र समझते हैं। (उपाधि द्वारा देह बनती है न कि आत्मा) इसी बात को उन्हों ने युक्तियों के द्वारा (बलिहारी है उन युक्तियों की !) सिद्ध करने की चेष्टा (नहीं नहीं कुचेष्टा) अपने लेख में की है। इस पर कितने ही आत्मज्ञानी महाशय उन पर बिगड़ उठे हैं। (क्यों नहीं—जिस आत्मा के लिये श्रुति को भी 'नेति नेति' कहना पड़ा और आधुनिक तत्ववेत्ता स्पेन्सरको भी Unknown and unknowable कहना पड़ा तो क्या ऐसी उन की बेतुकी और बेवजूद और बेबुनियाद दलील पर क्यों न कोई बिगड़ उठे?) आज तक डाक्टर साहब के लेख के खण्डन में हमारे पास कोई दो दर्जन लेख आ चुके हैं—(क़लमशूर परशुरामी और महावीरी मुष्टिप्रहार से उन के पत्रों का चूर चूर हो गया है। और इसी दुःख के मारे) परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उन में से एक भी लेख में डाक्टर साहब की दलीलों का यथोचित खण्डन नहीं किया गया। (कैसे खण्डन किया जा सकता है ? यह लेख खास ऊपर से उतरा हुआ है और जिब्राइल के हाथों से डाक्टर साहब के हाथ में आया है—क्या मजाल है किसी की जो इस का कोई खण्डन कर सके ?) सब में प्रायः वही गीता, पातंजल, न्यायदर्शन, आदि की दुहाई दी गई है। (देनेवाले नालायक़ हैं उन को चाहिये था कि

वे धन के नाशपत्र की या महावीर के प्रचार की दुहाई देते!) पर इन सब प्रमाणों से क्या डाक्टर साहब परिचित नहीं! (कौन नास्तिक कहता है कि नहीं—इन के सामने सांख्य, पातंजल, न्यायदर्शन आदि बड़े बड़े ग्रन्थ एक सामान्य एक दिन के बच्चों के रोने के बराबर भी नहीं!) इन के लेख का पहिला ही वाक्य है:—" पुराने शास्त्रवेत्ताओं ने आत्मा की परिभाषा कई प्रकार से की है।" (तो फिर इस में आप का क्या दख़ल है!) इस से सिद्ध है कि भारत के शास्त्रवेत्ताओं के सिद्धान्तों को वे पूर्णतया नहीं तो अंशतः अवश्य ही जानते हैं (वाह! ख़ूब ऐसे सर्वज्ञ महात्मा को तो यहां आपने बिलकुल ही नीचे गिरा दिया!) फिर इन के निक्षेपण की क्या आवश्यकता? (कौन कहता है—कुछ भी नहीं) आवश्यकता है इन की Environment वाली दलील के खण्डन की। सो किसीने भी अपने लेख में इस का युक्तिपूर्ण खण्डन नहीं किया। (क्यों नहीं किया! ख़ूद हमी ने किया था और यहां भी महाराज भर्तृहरि के एक ही श्लोकपाद—" दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्र मूर्तये। स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।"—जो दिशा कालादिकों से मर्यादित नहीं, जो अनन्त है, चिन्मय मूर्ति है, और जो स्वानुभवमात्र ही विज्ञात होता है—ऐसे शान्त तेज को प्रणाम है। क्या यह ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप Environment से बन सकता है! यही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है! इस से बढ़ कर और क्या पूर्ण युक्ति हो सकती है?) डाक्टर साहब विज्ञानवेत्ता हैं (होंगे) यूरोप और अमेरिका घूमे हुए हैं (होंगे)

जिस शरीर में हम आत्मा का अधिष्ठान मानते हैं उस की रग रग का ज्ञान प्राप्त किये हुए हैं। (वेशक उन्होंने मुर्दों की चीर फाड में शरीर की हड्डी हड्डी में से, मांस मांस में से और रग रग में से आत्मा को ढूंढ निकाला है तभी तो उन्हों ने उस को बना डाला हैं!) वे गौतम, पतंजलि, और शंकराचार्य के प्रमाणों से क़ायल होनेवाले नहीं। (न हों वेचारे! गौतम, पतंजलि और शंकराचार्य ने उन के चरणों पर कब अपने मस्तक रख कर अपने प्रमाणों से क़ायल होने के लिये नम्र प्रार्थना की है?) यदि यह बात सम्भव होती तो इन नोटों का लेखक उन से प्रार्थना करता कि वे उस के लिखे हुए 'आत्मा' नामक लम्बे लेख को पढ़ने की कृपा करें। (जो स्वयं आत्मस्वरूप बन कर आत्मा के स्वरूप को दिखानेवाले हैं और जो थोड़े अक्षरों ही में सूत्र बद्ध लेख लिख कर आत्मा को प्रत्यक्ष करनेवाले हैं वे महावीर प्रसादजी जैसे एक अपने लघुछात्र के लिखे हुए लम्बे लेख को कम पढ़ने की कृपा कर सकते हैं? बड़ा ही दुःख है कि वह उन का लम्बा लेख यों ही कचरे में गया! महात्मा स्वयं आत्मस्वरूप राम के नारायण ने तनिक भी उस की तरफ़ झांका तक नहीं! तो भी धन्य है महावीर—कर्मवीर—नम्र शिष्य को कि जिन्हों ने फिर भी उस का कुछ भाग इस लेख में उद्धृत कर ही डाला है।) यह लेख जनवरी १६०१ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुका है। इस में—

(१) ज्ञानाधिकरणमात्मा।

(२) पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।

(३) एष हि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः ।

(४) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखादिज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।

(५) पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोक-सम्प्रतिपत्तेः ।

(६) प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ।

(७) प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिति विशेषं भासयन्निर्विशेषः ।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥

इत्यादि प्राचीन शास्त्रकारों के दिये हुए प्रमाणो द्वारा आत्मा का अस्तित्व, लक्षण, चिन्ह, और कार्य आदि सभी संक्षेप में दिखाया गया है । (सब कुछ है किन्तु इन में उन के उपयोगी ही क्या है—जों वे इन में से एक आध अक्षर को भी ले लें ?) डाक्टर साहब आत्मसंबन्धी प्राचीन शास्त्रों के चाहे ज्ञाता हों चाहे न हों, (यहां तो-अफ़सोस है—उन के श्रद्धाभाजन शिष्य ने उन को बहुत ही नीचे गिरा दिया !) उन के लेख से यह झलक रहा है कि वे हमारे तत्ववेत्ता प्राचीन पण्डितों की बात मानने के नहीं । (न मानें, कौन प्राचीन पण्डित उन को अपनी बात मनाने के लिये उन के पैरों पर गिर रहा है या किसी की कोई सिफ़ारिश् पहुंचा रहा है !) यदि कोई उन्हें वैज्ञानिक रीति से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर के अथवा दलीलों से ही उन की Environment वाली

दलील को उड़ा दें, तो चाहे वे भले ही आत्मा की असलियत मान लें। (इस के लिये यही अवश्य होगा कि इस दलील को उड़ाने के लिये प्रो० टिंडाल, डारविन, हक्सले, हेकेल, वाकर, स्टेट से मिलना चाहिये या ब्लेव्हेटस्की या मिसेस रिचमेंड के पास जा कर आत्मा को देखना चाहिये या जिस किसी लेबोरेटरी में आत्मा बनाया जाता हो वहां उस को देख कर वैसा ही आत्मा बना कर डाक्टर साहब को दिखा देना चाहिये फिर तो वह आत्मा की असलियत को मान लेंगे ? इतने पर भी वे न मानें तो, सिवाय महावीर प्रसादजी के किसी का क्या बुरा भला है ! बस यह इस लेख का एक बड़ा भारी हिस्सा यहां ख़तम हुआ।)

('आवासः क्रियतां गांगे पापवारिणि वारिणि' गंगा-तीर पर एकान्तवास में अकेले बन कर रहने से, या लिखते लिखते कुछ सुध आ जाने से या 'जिन एक आध महात्माओं की चरणरज को अपने मस्तक पर' लगा लेने से—इस से अगला पेरिग्राफ़ महावीर प्रसादजी के परिवर्त्तितस्वरूप में यों निकल पड़ा है—) एक मात्र भारत ही ऐसा देश है जिसने आत्मा की खोज में सब से अधिक सफलता प्राप्त की है। (क्या यह बात आज ही आप को ज्ञात हुई ? धन्य ! धन्य !) यदि उसी के आत्मदर्शी आचार्यों का कथन प्रामाण्य नहीं तो हो चुका। (जीते रहो महावीर पंडित ! सवेरे के भूले श्याम को घर आ गये !) हमारी क्षुद्र बुद्धि तो यह कहती है कि आत्मा के अस्तित्व का पता विज्ञान द्वारा शायद ही कभी लग सके।

(शुक्र है ! शुक्र है ! ! खुदा का धन्यवाद है ! आज एक हमारे महाराज, ब्राह्मणवीर परशुराम के वंश के महावीर को अपनी सुध आई । महाराज, आप की क्षुद्र बुद्धि कैसी ? आपने तो वड़े वड़े पोथे क्या दफ़्तर के दफ़्तर लिख डाले हैं !) आत्मा और परमात्मतत्व के दर्शनों के और ही साधन हैं । वे विरले ही को प्राप्त होते हैं । (क्यों भला- वे तो आप के गुरुजी रामनारायणजी को मिल चुके हैं प्राप्त हो चुके हैं-फिर विरले ही को क्यों प्राप्त होते हैं ?) जिन एक आध महात्माओं की चरणरज को अपने मस्तक पर लगाने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को 'प्राप्त' (प्राप्त) हुआ है उन से उस ने यही सुना है और यत्किंचित् + + + + + । (हा धिक् ! हा हा ! यहां तो सब ही का अन्त आ गया ! पण्डित महावीर प्रसादजी, यह आपने क्या कर डाला ? किसी के पैर की मिट्टी— धूल अपने सिर में क्यों डाल ली ! यह आप को क्या सूझी ? और किसी से क्या सुन लिया ? जो आप पांच यत्किंचित् चिन्ह कर के चुप हो गये !) परन्तु उस विषय में और अधिक लिखने की चेष्टा करना अनधिकार चर्चा होगी । (क्यों होगी-ब्राह्मणों का तो यही काम है) और उन को सदा के लिये ही आत्मचर्चा का अधिकार है । अतएव, अलम् । आत्मा ही क्यों, परमात्मा भी कोई चीज़ न सही । (क्यों महाराज, यह आप किस पर तान तोड रहे हैं ? और अन्त में हताश हो कर वेचारे लावारिस पर- मात्मा को भी क्यों नाचीज़ वना रहे हैं ? क्या आप अपने गुरुवर्य रामनारायणजी से डर गये ? या कहीं आप

की आत्मा ही गुम हो गई ?) अन्त में उक्त लेख का उत्तर सन् १९१३ फ़रवरी की 'सरस्वती' में-'आत्म-मीमांसा' शीर्षक लेख में वैशंपायन शर्मा श्रोत्रिय ने वैज्ञानिक रीति को सामने खड़ी कर के इस में से आत्मा को निकाल कर उस का अस्तित्व सिद्ध कर के, उस Environment वाली दलील को पर लगा के आकाश में उडा ही डाला !! साधु साधु ! धन्य धन्य !!

वृत्तान्त ।

दक्षिण में मेरा जन्म होने के कारण प्रथम मुझे मराठी सीखना पडी । पीछे अंग्रेज़ी के साथ साथ ही संस्कृत अध्ययन हुआ किन्तु अंग्रेज़ी पूर्ण न हो सकी । बम्बई में रहने से गुजराती का अभ्यास हुआ और सहज ही में बंगाली का भी परिचय हो गया । उर्दू के पढ़ने में अनायास फ़ारसी भी समझने लग गई । मारवाडी, मराठी, गुजराती, संस्कृत, हिन्दी में कविताशक्ति प्राप्त हुई-इन सब भाषाओं में समय समय बहुत स्फुट पद्य बने । संस्कृत मराठी में प्रथम पुस्तक 'सिद्धेन्दुचन्द्रिका' नामक प्रकाशित हुई और फिर मराठी में 'गीतार्थपद्यावली' छपी । बीच बीच में हिन्दी की कविता और लेख कितने ही मासिक और साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित कराता रहा और अपने निर्वाह का धन्धा भी चलाता रहा ।

'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।' इस भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति के अनुसार वर्त्तन करते हुए मुझे अपने मारवाडी समाज के बुरे प्रचार, बुरे आचरण, और अज्ञान मूढ़ता, कुरीतियां आदि प्रकार विशेष खटकने

लगे । इस लिये मैं ने अपने अनुभव के अनुसार—उन के प्रतीकार के लिये मारवाडी भाषा में 'केसरविलास' नामक नाटक लिख कर प्रकाशित किया और एक छोटीसी पद्यमय 'मोत्यां की कंठी' नामक पुस्तक छपवा कर सर्वत्र विना मूल्य वितरण की । मारवाडी समाज में कुछ कुछ हलचल मची और मेरे पास बुरे भले पत्र आने लगे । फिर मैं ने, मारवाडी में 'कनकसुन्दर' नामक एक छोटासा उपन्यास लिखा । उस को कलकत्ते में छपवाया । फिर 'बुढ़ापा की सगाई' नामक नाटक की पुस्तक प्रकाशित की । इस प्रकार समाजसंस्कारक पुस्तकें प्रसिद्ध हो जाने पर और उन का ठीक असर दिखाई देने पर मेरा चित्त मारवाडी समाज के व्यापार, सट्टे, फाटके की तरफ़ आकर्षित हुआ और उन के व्यापार में इतनी झूंट, इतनी चालाकी, इतनी बुराई पाई कि—उस का वर्णन नहीं हो सकता—मैं ने उस को सुधारने के लिये एक 'फाटका जंजाल' नामक नाटक की पुस्तक लिख कर सचित्र सुन्दर जिल्द के साथ प्रकाशित की । बस अब मारवाड़ी भाषा को यहीं पर छोड़ कर 'प्रवासकुसुमावली' हिन्दी में, गण-वृत्तों की कविता में, लिख कर प्रकाशित की—जिस में इन्दोर से लगा कर कलकत्ते तक का स्थल वर्णन और इतिहास का विवेचन किया गया है । उस के पीछे हिन्दी में एक 'विद्रोहसंहार' नामक नाटक लिख कर तैयार किया । उस को प्रकाशित कराने की चेष्टा ही में था—इतने में पुत्रवियोगादिक आपत्तियां प्राप्त होने के कारण शरीर में व्याधि का आक्रमण हो के 'संग्रहणी' का पूर्वरूप दिखाई

देने लग गया । वहुत उपाय किये । डाक्टर वैद्य हकीमों के इलाज कराये किन्तु इलाज वन्द होते ही फिर वही का वही पूर्वरूप क़ायम । दिनोंदिन चित्त में व्यग्रता वढ़ कर शरीर क्षणभंगुर सा प्रतीत होने लगा । विचार हुआ कि, न जाने किस समय शरीर का पतन हो जायगा—'कालप्रभात' नामक 'मन्दाक्रान्ता' वृत्त में अपना चरित्र ११२ पद्यों में लिख कर समाप्त किया । और उस को मुहर वन्द कर के अलग रख दिया ।

'प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ।' यह कवि कुलगुरु कालिदास का कहना योग्य है तो भी—'न शरीरं पुनः पुनः' इस उक्ति के अनुसार—'यथाकाल-गलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते'—सर्प के गले में पहुंच जाने पर भी मेंडक उस के डंग से वचने के लिये अंग चुराता है । तात्पर्य मरना कोई नहीं चाहता । और उस के प्रतिकार के लिये—रोकने के लिये प्रत्येक प्राणी प्रयत्न करता ही रहता है । अन्त में इस के इलाज के लिये वम्बई गया । वहां डाक्टर वैद्य हकीमों से मिला । औषधि की योजना हुई, किन्तु वहां शरीर में अधिक वेचैनी हो कर 'संग्रहणी' का कुछ उग्ररूप दिखाई देने लगा । मेरे अध्यात्मविद्योपासक एक दो आत्मज्ञ मित्रों ने मुझे उप-देश किया कि—'मित्र' अव तुम्हारी उमर ढलती है—औषधियों से कुछ प्रतिकार न होगा । सव छोड कर ईश्वर में चित्त को लगा कर, ईश्वरस्वरूप वन जाना ही अव तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है । 'नास्ति योगसमं वलम्' इस उक्ति पर विश्वास कर के भगवद्गीता के छटे अध्याय को

वार वार पढ़ कर प्राणायाम का अभ्यास करो । हम दृढ़ आशा के साथ कहते हैं कि—यह व्याधि तो कुछ चीज़ नहीं—मनुष्य उस से अमर हो सकता है ।" यह उन का उपदेश मुझे मान्य हुआ । और वहीं सव औषधों का त्याग कर के घर चला आया ।

वहुत वर्ष के पहिले सद्गुरु का योग हो कर मैं ने कुछ योग के ग्रन्थ पढ़े थे और कुछ प्राणायाम का अभ्यास भी किया था । किन्तु उस वक़्त इस में वहुत परिश्रम मालूम होने लगा क्यों कि उस वक़्त—'युक्ताहार विहारस्य योगो भवति दुःखहा—' अनुकूलता न थी और इस की आवश्यकता भी न थी इस लिये मैं ने इस को वहीं छोड़ दिया था तो भी जान पड़ता है कि—'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः '—इस भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार अगले जन्म तो क्या—इसी जन्म में—इस वीज में अंकुर पैदा होना था; तभी तो मुझे उसी करुणामय भगवान् की प्रेरणा से इस के अभ्यास में विवश होना पडा । प्राणायाम का अभ्यास शुरू किया और साथ ही वस्ति क्रिया भी शुरू की । कुछ दिन के वाद ही—'मलमूत्र कफाल्पत्वमारोग्यं लघुता तनोः । सुगन्धः स्वर्णवर्णत्वं प्रथमं योगलक्षणम् ।'—इस सुरेश्वराचार्य के कहने के अनुसार इस का कुछ कुछ अनुभव होने लगा । जो वात अच्छे अच्छे विद्वान् डाक्टरों के, वैद्यों के, हकीमों के इलाज से औषधिमात्राओं से और कुश्तों से न वनी—हीरे मोती सोने की ख़ाक कुछ न कर सकी वह ख़ाली दम के रोकने से होती हुई नज़र आने लगी । मल ही का प्रकोप था

और उसी की बाधा थी—क्रमशः कम कम होने लगी, मलावरोध हो के उस का परिपाक होने लगा और आमांश का नाश हो के शरीर में बलसंचार होने लगा। तीन ही महीने के अभ्यास से शरीर का रूपान्तर हो गया। एक दिन वह था कि—शरीर मृत्युकाल के कंठगत हो के उस के डंक बचा रहा था आज दिन यह हुआ कि—वह उस मृत्युकाल का गला फाड कर फिर अपने आसन पर आ बैठा। मल, मूत्र, कफ़ कम हो के शरीर में आरोग्य लघुता प्राप्त हुई और दिनों दिन अभ्यास में उत्साह बढ़ कर—पद्मासन का, बद्धपद्मासन हुआ, पश्चिमतान हुआ और महामुद्रा के अभ्यास में लगा। आगे—'क्षुत्तृडादि-सहिष्णुत्वम्' प्राप्त हो के दो दो तीन तीन दिन अन्नपानी की आवश्यकता न रही और—'हितभुक्, मितभुक्, अशाकभुक्'—अर्थात् युक्त, लघु और सागपातरहित आहार हुआ। दिन भर में १२ तोले से १५ तोले तक आहार रह गया जिस में प्रातःकाल तो सिर्फ़ थोडी दाल और भात एवं सायंकाल रोटी और दाल के सिवा और कुछ नहीं। इतना आहार कम हो जाने पर भी शक्ति कम नहीं हुई उलटी बढ़ कर नया उत्साह प्राप्त हुआ और शरीर की रग रग में नवजीवन का संचार हो के सब आधिव्याधियों का नाश हुआ।

संवत् १९४७ में प्रथम भार्या पुत्र और कन्या का कुछ ही दिनों के अन्तर में स्वर्गवास हुआ। चित्त बहुत व्याकुल हुआ। कुछ न सूझा। अन्न का त्याग कर दिया तीन महीने तक केवल दुग्ध पर ही रहा। किन्तु क्या

होना था—कुछ भी नहीं । किसी प्रकार भी चित्त शान्त होने के लिये संवत् १६४८ में तीर्थयात्रा के लिये निकल पडा । रास्ते में कुछ दिन ग्वालियर में मुक़ाम हुआ । वहां 'पूर्वजन्मार्जित पुण्य संचय से श्रीसत्यानन्दजी महाराज के दर्शन पाय के कार्त्तिक वदी ८ रविपुष्प के दिन अनुग्रहीत हुआ ।'—उसी समय एक छोटासा गुर्वष्टक वना के श्रीगुरुचरणों में समर्पित किया—

ब्रह्माकारो भुवनमहितः शोभनोदारचित्तो
भक्तानन्दो भवभयहरः सच्चिदानन्दबोधः ।
संसाराब्धौ प्रबलतरले बद्धसोपानमार्गः
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ १ ॥

सद्भिर्वन्द्यो निगमनिपुणः सर्ववेदान्तवेद्यः
स्वात्मारामो मनसिजमदोन्मत्तमातङ्गसिंहः ।
श्रेष्ठो भक्तापरतरुरयं सेवकाभीष्टदायी
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ २ ॥

शान्तो दान्तो हरिपदमहापद्मसच्चञ्चरीको
योगाभ्यासे विचरति सदा स्वेच्छया भाग्यशाली ।
यस्मै कस्मै वितरति दया सन्निधानं प्रसन्नः
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ ३ ॥

ब्रह्मीभूतः स्थिरचरजगद्व्यापको वानप्रस्थ
ॐ मित्येकाक्षरमयजगल्लक्षकोध्यानमग्नः ।
सत्याभासस्त्रिपुटिरहितो मोक्षगो मोक्षदायी
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ ४ ॥

हंसध्यानो विलसदजपाकण्ठमालो विशालः
श्रीमद्विद्यासररससरसीराजहंसः प्रवीणः ।

स्वेच्छाचारी भुवनविदितो निर्विकल्पः समानः
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ ५ ॥

सर्वव्यापी निखिलविभवो राजयोगी महात्मा
श्रीमान्पूज्यो नृपतिमुकुटाक्रान्तपादारविन्दः ।
अन्तर्ज्ञानी जगदधिचिदाभासको ब्रह्मलीनः ।
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ ६ ॥

स्थूलात्स्थूलो लघुरपिलघोर्वीतरागो विरागो
विद्याराकाश्रुतिपदलसच्चन्द्रिको बोधचन्द्रः ।
भाषाबन्धः सरसकविताचातुरीपूर्णविज्ञः
सत्यानन्दो भवतु नितरां श्रेयसे नः सुखाय ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा दीनं गलितविभवं भारतं स्वीयदेशं
यात्रां चक्रे निजकुशलदं बोधयन्सर्वलोकान् ।
आविष्कुर्वञ्छ्रुतिपथमहोपायमुक्तेजनार्थ-
मेकाकथ्यैक्यं वितरति जने प्रेमबीजं दयार्द्रः ॥ ८ ॥

इदं गुर्वष्टकं श्रेष्ठं पठनात्पापतापनुत् ।
सर्वाभीष्टप्रदं सद्यः शिवचन्द्रो व्यरीरचत् ॥

इस प्रकार अष्टक समर्पण हो जाने पर श्रीगुरुचरणों में प्रार्थना की कि—

सदा यं शिष्यालिर्गुरुवररसाले निवसतु
भ्रमन्गुञ्जन्खेलन्विचरतु यथेच्छं मधुलिहन् ।
इयं मुग्धा वाणी श्रवणरमणामोदरमणी
सदा सत्यानन्दप्रभुचरपदाब्जे विलसतु ॥

प्रसीदतु महाभागः सत्यानन्दो गुरुर्मम ।
स्वीकरोतु च वागब्जं श्रीशो दान्तिकराधया ॥

श्रीगुरुचरणों की प्रसन्नता हुई । आत्ममंत्र का उपदेश किया । ॐ का विधिविधान सुनाया और सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया । वहां से रवाना हो के विद्या पीठ काशीधाम को आया । वहां मार्गशीर्ष वदी पञ्चमी संवत् १९४८ को श्रीगुर्वष्टक को छपवा कर प्रकाशित किया । और खूब इधर उधर घूम कर तीर्थयात्रा समाप्त की ।

गुरुमहाराज ने 'ॐ' का उपदेश किया ही था । योगाभ्यास में–'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म !'–'ॐकार एवेदं सर्वम्'–'ॐ मिति ब्रह्म'–'तस्य वाचक प्रणवः'–ॐ ही का स्मरण, रटन और ध्यान प्रधान है क्यों कि–'अदृष्ट-विग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः । तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ।' महर्षि याज्ञवल्क्य का कहना है कि ईश्वर अदृष्ट विग्रह–निराकार है और भावग्राह्य मनोमय है–इस लिये उस का 'ॐ कार' नाम है उस से उस का स्मरण करने से वह प्रसन्न होता है । वैसे ही भगवान् वसिष्ठ का कहना है कि–'ॐ मुच्चारणसंवित्तिवेदनाच्च प्रपश्यति । यत्करोति मनोराज्यं भवत्याशु स तन्मयः ।'–अर्थात् ॐ के उच्चारणसंवित्तिवेदन से जो कुछ मनोराज्य–विचारश्रेणी होती है उस में तन्मयता हो जाती है । मेरे अभ्यास के साथ साथ ही अब 'ॐ' का रटन बढा–'ॐकारमकरोत्तारस्वरमूर्ध्वगतध्वनिम् । सम्यगाहतलांगूलं घण्टाकुण्डमिवारवम् ।'–जैसे घण्टा के अन्दर के लम्बक को रस्सी बान्ध कर हिलाने से गूंजने की आवाज होती है वैसे ही ॐ का उच्चारण परा से कर से मुख में अर्थात् वैखरी में उस का गुंजारव कर के ॐ का रटन करना

चाहिये । इस भगवान् वसिष्ठ के उपदेशानुसार ॐ का उच्चारण दृढ़ हो जाने पर अन्तःस्फूर्ति होने लगी । भगवान् पतंजलि के कथनानुसार 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' प्रतिभा का उदय हुआ—'प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'—वह चित्त भूमि पर नवनवोन्मेषशालिनी हो के चक्राकार उछल-ने लगी और शिखरिणी के ६६ पद्यों में 'ॐकार विनति' की रचना हुई जिस के ये अन्तिम पद्य हैं—

> बसी है ॐ रूपे! किस जगह साक्षाच्चितिकले!
> भरी है सर्वत्र त्रिभुवनगते! शक्ति-सकले!।
>
> हुआ मा का भास प्रकट झट ॐकार-लय में,
> विराजी मा आ के चिरतर चिदाभा हृदय में ॥
>
> परावश्या है तू प्रणवजप से भक्तवलि के,
> सुनो मेरी मैया! सुनहित करे! प्रेम कलिके।
>
> सदा सत्पुत्रों का विजय पर है गीत सुननी,
> यही मा! है तेरी—यह मधुर 'ॐकार विनती,॥
>
> सुन विनय पधारी न्यून हो के प्रसन्न
> निज हृदय लगाया देख माने प्रपन्न ।
>
> करकमल फिराया शीसपे ही कृपाला,
> समय पर मुझे आ, शीघ्र माने संभाला ॥

ऐसी चित्त की अवस्था हो जाने पर योग और अध्यात्मविषय के अनेक परमार्थिक ग्रन्थों का अवलोकन होने लगा । साधुसन्त महात्माओं के दर्शन के लिये चित्त में प्रबल उत्कंठा बढ़ने लगी । गुरुचरणों के दर्शन होने लगे । पद पद उपदेश मिलने लगा । योग का मार्ग सरल निष्कण्टक हो गया । महात्माओं के दर्शन होने लगे और

चहुं ओर आनन्द ही आनन्द छा गया । स्वामी श्री विवेकानन्द की प्रतिज्ञा है कि—" Blessed are the pure in heart, for they shall see God." This sentence alone would save mankind, if all books and prophets were lost." जिन का हृदय पवित्र है वे धन्य हैं क्यों कि,—वे ही ईश्वर को देखेंगे—केवल यह अकेला ही ईसा का वाक्य मनुष्यत्व का रक्षण कर सकता है—चाहे सब ग्रन्थ और सब सिद्ध नेस्तनाबूद क्यों न हो जांय !

अब 'Fingers' अंगुलियां 'Move' फिरने लगीं, 'आत्मनः कला' लेखनी उठने लगी और प्रतिभा काग़ज़ अनावृत्त हो के चित्रित होने लगा । मनोभाव के चित्र पर चित्र अंकित होने लगे । हृदय ट्रेडल (Treadle) त्रिदल—अनाहत कमल के तीन पत्रों पर, दो दो तीन तीन रंग के हाफ़टोन Halftone अर्धध्वनि—नाद छपने लगे और 'विचारदर्शन' में विचित्र चित्रावली लग गई । चित्र—Mute Poetry—मूक कविता होती है उस का प्ररोह—"सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः । न शारदा देशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ।"—कविता के विलास, निश्चय ही कुंकुम केशर के सहोदर होते हैं । शारदादेश—सरस्वती के स्थान और कश्मीर देश के सिवाय अन्यत्र मैं ने कहीं उन का प्ररोह देखा नहीं । यह बिल्हण कवि का कहना कितना यथार्थ है ? चाहे कोई इसे अत्युक्ति समझे, चाहे कोई इसे उपन्यास समझे, चाहे कोई इसे तमाशा समझे, चाहे कोई इसे जादू ही

समझे-" यं यं भावमुपादत्ते मनो मननचञ्चलम्। तत्तामेति घनामोदमन्तःस्थः पवनो यथा।"-मननचंचल मन जिस जिस भाव को ग्रहण करता है-अन्तस्थ पवन के गाढ-गहरे आमोद गन्ध-आनन्द के समान वह वैसा ही वन जाता है-इस भगवान् वसिष्ठ के कथनानुसार उसे वैसा ही प्रतीत होगा, वैसा ही दीखेगा और वैसा ही अनुभव आवेगा। स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि-'Until the inner teachers open, all outside teaching is in vain.'-जब तक आन्तर गुरु का उदय नहीं होता तब तक बाहर का सब सीखना व्यर्थ है। अर्थात् विना प्रतिभा के चित्रावली-Mute poetry मूल कविता नहीं वनती, उस का सम्यग्ज्ञान-यथार्थभान नहीं होता और न वह कुङ्कुम केशर की सहोदरा-भगिनी ही वनती। Lyman Abbot कहता है कि-"Without earnestness no man is ever great or does really great things. No soul moving picture was ever painted that had not in it depth of shadow.' सिवाय उत्साहवृत्ति के-तदाकार हो जाने के कोई मनुष्य कभी श्रेष्ठ नहीं होता या न उस के हाथ से कोई श्रेष्ठ कार्य ही होता। गहरी छाया-प्रतिभा के सिवाय कभी गतिमान् आत्मचित्र नहीं रंगे जाते। महात्मा इमरसन का भी यही कहना है-"The effect of any writing on the public mind is mathematically measurable by its depth of thought."-सर्व साधारण के चित्त पर किसी भी लेख का परिणाम-गणितविद्या की रीति से

उस के विचारों की गम्भीरता के अनुसार प्रामाण्य होता है। स्वर्गवासी विश्ववन्द्य श्रीछोटालाल जीवनलाल अपने 'प्रतिभा अथवा अलौकिक बुद्धि प्रकटाववानां साधनो' नामक लेख में प्रतिपादन करते हैं कि—"मानसचित्र कल्पनाशक्ति ने जाणवुं जोइये, एवुं कंई जरूरनुं नथी, परंतु ते चित्रमां जे चैतन्य, जे सामर्थ्य, जे गुण अने जे महत्ता रहेलां होय तेनुं तमने भान थवानी जरूर छे." उक्त प्रतिपादन के समर्थन के लिये हम एक बड़े ही सुन्दर और गौरवास्पद सम्यक्चरित्र का लघु चित्र उद्धृत करते हैं।

अकेले इंग्लेण्ड ही के नहीं, पृथ्वी भर के एक बड़े वैज्ञानिक तत्वज्ञानी डा० आलफ्रेड् रसेल वालेस—जो इस अर्धशताब्दी के—डार्विन, टिंडाल, हक्सले, सर आलिवर लाज, लार्ड केलविन्, आदि जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानिकों में प्रमुख थे—उन का अभी ८७ वर्ष की उमर में ता० ७ नवंबर सन १९१३ को देहान्त हुआ है। Evolution theory उत्क्रान्ति—कल्पना—क्रमविकास के लिये डारविन साहब की जितनी प्रसिद्धि हुई है उस का कारण डा० वालेस ही थे। उन्हों ने Survival of the fittest. 'योग्यतमस्य उद्वर्त्तनम्' योग्यतम वस्तु के विजय की खोज में Evolution theory का अकस्मात् पता लगा के डारविन साहब के पास भेजा था। वे सन १८५८ के फरवरी महीने में मोलका नामक टापू के टरनेक नामक स्थान में जाड़े बुखार से बीमार थे उस वक्त Essay on the Population पुस्तक पढ़ रहे थे। वे कहते हैं—"There suddenly flashed upon me the idea of

the survival of the fittest." सर वाइवल आफ़ दि फ़िटेस्ट की कल्पना अचानक मुझे हुई। बुख़ार की हालत ही में उन्हों ने विषयानुक्रम स्थिर कर के दो ही दिन में एक गवेषणापूर्ण लेख लिख कर डारविन साहब के पास भेज दिया। डारविन साहब उस को देख कर अवाक् रह गये। और उसी दिन अर्थात् ता० १८ जून सन १८५८ को उन्हों ने सर चारलस लायल को एक पत्र लिखा जिस में वे कहते हैं—"I never saw a more striking coincidence. If Wallace had my mss. Sketch written out in 1842, he could not have made a better short abstract."—मैं ने कभी ऐसी चित्त पर विशेष असर करनेवाली साम्यता नहीं देखी। कभी मेरे Manuscripts—हस्तलेख—जो सन् १८४२ में लिखे गये थे—अगर वालेस के पास होते तो वे अपने लेख की अपेक्षा उस का अधिक अच्छा संक्षेप नहीं कर सकते। आगे ता० १ जुलाई सन् १८५८ को वह वालेस का लेख अपने अभिप्राय के साथ डारविन ने सर चारलस लायल और सर जोसेफ हुकर की सूचना के अनुसार 'लिनीयन सोसाइटी' के सामने पढ़ कर सुनाया उस के लिये स्वयं डारविन साहब कहते हैं कि—"Those that prolong their existence can only be the most perfect in health and vigour ... ... the weakest and least perfectly organized must always succumb."—जो अपना अस्तित्व बढ़ाते हैं उन्हीं में केवल स्वास्थ्य और उत्साह परिपूर्ण रह सकता है।

जो अत्यन्त दुर्बल हैं और जिन की बनावट अत्यन्त अपूर्ण होती है—उन का निरन्तर नाश होना ही चाहिये। डा० वालेस् का लेख महत्वपूर्ण था तो भी उन्हों ने डारविन ही को सरव्हाइव्हल और एवोल्युशन का जनकत्व दिया। दोनों परस्पर इस नई गवेषणा के विषय में एकमेक को सन्मान दिया करते थे। डारविन ने वालेस साहब को एक पत्र में लिखा है कि—"You are the only man I ever heard of who persistently does himself an injustice, and never demands justice. But you can not burke yourself, however much you may try."—जो अपने लिये हटात् अन्याय कर लेता है और कभी न्याय की चाहना नहीं रखता—ऐसा अगर एक आध मनुष्य मेरे सुनने में आया होगा तो वह तुम ही अकेले हो। चाहे तुमने कुछ भी यत्न किया तो भी तुम अपना अस्तित्व छिपा नहीं सकते। पहिले दो तीन ग्रन्थ लिख लेने पर फिर इन्हों ने सन् १८९९ में 'The wonderful century' और 'Man's Place in Nature' नामक दो ग्रन्थ प्रकाशित किये और सन् १९०५ में इन्हों ने अपना चरित्र प्रकाशित किया। डा० आल्फ्रेड रसेल वालेस जैसे मनुष्य, मनुष्यजाति के भूषण होते हैं और जिस देश में ऐसे रत्नों का उदय होता है वह देश धन्य है।

जो हो—'सरस्वती' की जुलाई सन् १९१२ की शुभ संख्या मिली—"सूक्ष्माय शुचये तस्मै नमो वाक्तत्वतन्तवे। विचित्रो यस्य विन्यासो विदधाति जगत्पटम्।" जो सूक्ष्म—

पांचसौ नम्बर से भी बारीक, शुचि–स्वच्छ–शुभ्र वाणी का तत्वरूप तन्तु–सूत है और जिस के विचित्र विन्यास–तानेवाने से जगत्‌रूपी पट–वस्त्र बुना जाता है–उस को प्रणाम है। उस के विचित्र विन्यास को चित्रविचित्र तानेवाने की उधेड़बुन को, अर्थात् पं० रामनारायण मिश्रजी के 'आत्मा और अन्तःकरण' मिश्रित रंगबरंग वाक्तत्वतन्तुओं के मिश्रण को देख कर, निःशेष जाड्यापहा, भगवती, श्वेतपद्मासना, सरस्वती देवी को प्रणाम करना पड़ा और देवी की पूजासामग्री तैयार कर के उस को हमने एक रजिस्टरी एन्वेलप–लिफ़ाफ़े में बन्द किया और उस के परमभक्त श्रीमान महावीर प्रसादजी के पास भेज दिया किन्तु कहां डारविन और वालेस और कहां महावीर और क्षुद्रवीर हम–'व्यतिपजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः' इस भवभूति कवि की उक्ति के अनुसार न जाने–कोई भावी हेतु ही के लिये–वह पूजा, भगवती सरस्वती के कुंकुम केसरमण्डित चरणों तक न पहुंच कर सन् १६१३ के सितंबर में वापिस आई। वही वीजभूत वन कर उस पर निवेदन की त्रिधारा की वर्षा होते ही यथासमय संवत् १६६६ के 'मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि'–मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया मंगल के दिन, ता० १० डिसम्बर के प्रातःकाल अकस्मात् 'विचार–दर्शन' की शुचि सूची बनी और पौष वदी १ बुधवार ता० २५ डिसम्बर के दिन उस पूजासामग्री को भगवती वाग्देवी के कुंकुम केसर मण्डित चरणकमलों में समर्पित कर के–"सर्व मंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके। शरण्ये

त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ।" इस सप्तशती के महामन्त्र द्वारा प्रार्थना करते ही—'विचार-दर्शन' का आरम्भ हो गया । शुभं भवतु ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजुर्वेद, अ० ३४, म० ३.

जो प्रज्ञान और चित्त और धृतिरूप है, जो प्राणिमात्र का अन्तर आत्मरूप अविनाशी ज्योति—Supreme Beauty है जिस के सिवाय कोई भी कार्य नहीं होता वह मेरा मन शुद्ध संकल्पभूत हो ।

उद्देश्य ।

जैसी प्रस्तावना की प्रस्तावना—वैसे ही उद्दिष्ट का उद्देश्य ही क्या होता है ? डा० वालेस ने सरव्हाइव्हल आफ़ दि फ़िटेस्ट का कब उद्देश्य किया था ? डेन्टे ने डिव्हिनिया कामिडिया का क्या उद्देश्य लिखा था ? जहां उद्देश्य अनिर्देश्य हो जाता है और अनिर्दिष्ट ही उद्देश्य होता है तो, वहां उद्देश्य का उपयोग ही क्या है ? 'किन्तु प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' विना प्रयोजन—उद्देश्य के पशु की भी प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् वह प्रयोजन—कारण के सिवा कहीं पैर भी नहीं उठाता और उसी कारण ही में उद्देश्य का मूल होता है । तथापि योगविद्या और अध्यात्मविद्या का उद्देश्यही उद्देश्यमय है और उस का कारण बहुधा किसी से छिपा नहीं है । सब जानते हैं कि योग एक श्रेष्ठ विद्या—इहलोकपरलोक का साधन है और उस से सब

कुछ प्राप्त हो कर मनुष्य सिद्ध बन जाता है। किन्तु अब वह विद्या रही नहीं। वैसे ही अध्यात्मविद्या बहुत ही उच्च है और मोक्षदायिनी है किन्तु उस का उपयोग वृद्धावस्था में होता है-क्यों कि उस के अध्ययन से मनुष्य उदासीन बन कर फिर गृहस्थाश्रम के योग्य नहीं रहता। आजकल के नवपठित तो खुलंखुल्ला पुकार पुकार चिल्ला चिल्ला कर कहते हैं कि-"अध्यात्मविद्या ही ने अकर्मण्यता बढ़ा कर भारत को नीचे गिरा दिया है-इस लिये इस की हमें ज़रूरत ही नहीं।" बल्कि वे यहां तक भी कहते हैं कि-" अध्यात्मविद्या का नया ग्रन्थ तो क्या, जितने इस विद्या के पुरातन ग्रन्थ हैं-उन सब की होली कर दी जाय और उन का धुंवा आकाश में तो क्या, मुसलमानों के समान 'सिज्जिन्' में भेज दिया जाय!" इस दशा में जब हम इस ग्रन्थ के लिखने का उद्देश्य अगर प्रदर्शित न करें तो-अध्यात्मविद्या के नाम मात्र ही यह निरुपयोगी बन कर, इस का स्पर्श तो दूर, 'विचारदर्शन'' का खाली दर्शन भी अदर्शन हो के उस का निदर्शन भी करना दुश्वार हो जाय!!

अब हमारे आंखों के सामने-फुल् स्पीड में-पूर्ण वेग में-एक हज़ार 'हार्सपावर' के एंजिन के चाक के समान बड़े ज़ोर से-यह प्रश्न घूम रहा है कि-" भारत के तीस करोड मनुष्यों में से दस करोड मनुष्य आधे पेट रात को खाली ज़मीन पर लेटते हैं! जिस से सांनिपातिक, संक्रामक प्लेगादि रोगों का प्रादुर्भाव हो के हज़ारों का संहार हो रहा है। यूरोप अमेरिका की मृत्युसंख्या हज़ार पीछे १४

और भारत की ३१ एवं औसत् आयुर्मान यूरोप अमेरिका का ४५ वर्ष का और भारत का २५ वर्ष से भी कम है! हिसाव से, सालाना प्रत्येक मनुष्य की औसत् आय-यूरोप अमेरिका की छ सात सौ और भारत की केवल वीस ही रुपये!-जिस में तो वेचारे सैंकड़े अस्सी खेतीहर ही हैं। और उन की खेती की भी क्या दशा है? हज़ारों क्या, करोड़ों मन अन्न पैदा होने पर भी-एक रुपये के पूरे दससेर भी गेहूं नहीं सिलते और घी दूध तो अव कुछ दिनों के वाद दवा के लिये भी शायद ही मिलेगा कि-जो एक मात्र हमारा प्राणधारक शरीराधार पदार्थ है।" ऐसी दशा में-'हम जीवित रह सकते हैं? या हमें मर जाना चाहिये?' क्यों कि इस वक्त द्रव्यवल के अभाव से हमारा शरीरवल नष्ट है और द्रव्यवल तथा शरीरवल के अभाव से हमारा संघ-समाज वल नष्ट है। इसी लिये हम अपनी उदरपूर्ति में विलकुल परतन्त्र हैं। इस वक्त हमें न कोई धर्म है, न कोई वन्धु है और न कोई उद्योगी है। हम कैसे तो विश्वधर्मी हो सकते हैं, हम कैसे तो विश्वप्रेमी हो सकते हैं और हम कैसे तो विश्वविजयी हो सकते हैं? जव मनुष्य के पेट में-तृण-तिनका या उस का कण ही नहीं है तो-फिर उस के सामने पृथ्वी, पृथ्वी भर का राज्य, पृथ्वी भर का वैभव भी कुछ चीज़ नहीं-उन को लिये हुए, उन पर सत्ता किये हुए, उन को अपनाये हुए-कण कण, अन्न अन्न कहते हुए-मरना पड़ता है! सभी ने देखा सुना है कि-भयंकर अकाल में-हाय हाय! नुव्हिग फिंगर स्तब्ध होती है, रुक जाती है और चक्राकार

उछलने लगती है—मा अपने बच्चों को मार कर खा गई है!!! और कितनों ही को—कमर में रुपये बांधे हुए, सोना लटकाये हुए—अन्न अन्न करते प्राण छोड़ने पड़े हैं!! ऐसी दशा में हम कब तो वेदान्त सुनने के योग्य हैं, या अध्यात्मविद्या के पठन पाठन के योग्य हैं, या इस वक़्त हमें उस का उपयोग ही है? स्वामी विवेकानन्द के कहने के अनुसार इस वक़् अब इस के सुनने सीखने के लिये केवल यूरोप अमेरिका ही योग्य हैं कि जिन्हों ने आधि-भौतिक विद्या का पूर्ण अभ्यास कर के उस के द्वारा पंच-भूतों पर अधिकार प्राप्त कर के उनको अपने दास बना लिये हैं। अतएव अब उन्हें समाधानपूर्वक उस का अपूर्व फल चाखने के लिये परम सत्य—पराविद्या—अध्या-त्मविद्या ही का ख़ास उपयोग है। अमेरिकानिवासी प्रसिद्ध आत्मतत्त्ववित् इमर्सन की भी यही इच्छा थी— "I look for the hour when that supreme Beauty which ravished the souls of those Eastern Man and through their lips spoke oracles to all times, shall speak in the West also."—मैं उस घड़ी को ताक रहा हूं—जो पूर्व के लोगों के आत्माओं को परमानन्द में निमग्न कर देती है और जिस से हरघड़ी उन के होट देववाणी बोलते हैं—वह परमात्मज्योति पश्चिम में भी कब बोलेगी।

इस वक़् काल का प्रवाह ऐसा ही है—जिस से हम अपनी अध्यात्मविद्या का उपयोग कर नहीं जानते—इसी लिये हमें उस की निरुपयोगिता प्रतीत होती है और उस

की निरुपयोगिता से हम निरुपयोगी बन गये हैं और आगे कहां तक बने रहेंगे—कह नहीं सकते ! अध्यात्मविद्या के विषय में हम वेही लकीर के फ़क़ीर हैं जिस से आज यह हमारी शोचनीय दशा हो रही है और हम नीचे गिरते जा रहे हैं—इस में कुछ भी शंका नहीं है । एक दिन वह था कि हम अपने विचारों का दर्शन जगत् भर को कराते थे और आज वह दिन है कि नई रोशनी की चमकदमक में चकाचौंध हो कर हम अपने 'विचारदर्शन' के अदर्शन में लीन हो रहे हैं !

ख़ाली पेट कोई कुछ नहीं कर सकता इस लिये सब को अपना पेट भरने की क़ुदरती ज़रूरत होती है और उसी के लिये अणु से ले कर महत्तत्व तक परस्पर जीवन-संग्राम Struggle for existence हो रहा है । मा के गर्भ से बाहर आते ही, उसी वक़्त हमें पेट की फ़िक्र होती है और मरते दम तक हम उस में मुब्तिला रहते हैं । बिना परिश्रम के या उद्योग के हमारा पेट भर नहीं सकता—यह जान कर भी, यथासमय, उस के भरने के लिये हमें जो कुछ करना चाहिये वह हम नहीं करते और मारे भूख के—'राम बोलो भाई, राम !'—हो जाते हैं—इस में किसी का क्या उपाय है ? अब वह समय नहीं है—जिस में हम अपने जीवनसंग्राम के सेनानी थे आज वह समय है हम अपने जीवनसंग्राम के एक क्षुद्र पदाति हैं । स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि—"Man is a compound of Brutality, Humanity and Divinity." मनुष्य—पाशवी, मानवी और दैवी शक्ति का मिश्रण है । इन तीनों शक्तियों को

जान कर अब हमें अपने जीवनसंग्राम में तत्पर रहना चाहिये । जड़ पाषाण, मृत्तिका, तृणादिकों से ले कर चेतन कीट, सरीसृप, पशुपक्षी आदि तक का जीवनसंग्राम केवल उन के लिये नहीं–हमारी सहायता, हमारे संरक्षण और हमारे जीवन के लिये है एवं हमारा जीवनसंग्राम उन पर अधिकार, सत्ता, और हुकूमत के लिये है–इस का रहस्य हमें इस वक्त ठीक समझ कर उन के साथ जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होना चाहिये ।

अब खाली, हमारा देश ऐसा था, हमारे पूर्वज ऐसे थे, हमारी विद्या ऐसी थी–'तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः क्षारं-जलं का पुरुषाः पिबन्ति ।' चाहे उस कूप का जल खारा, पीने के लायक न हो तो भी, 'यह हमारे बाप का कूआ है' ऐसा कह कर–वही खारा जल पीने के अनुसार–उन की स्तुतिकुसुमांजलि के मधुकर बन जाने से ही हमारा काम नहीं सरेगा । देश, काल, परिस्थिति के अनुसार कमर कस कर–'अद्यैव मे मरणमस्तु युगान्तरे वा' मुव्हिंग फ़िगर के समान सारी Body देह को–मुव्ह कर के–फिरा के अपने पूर्वजों के भावभरे, सुखमार्गदर्शक, पवित्र वचनों को अपनी बगल में दबा कर, कर्मवीर बन कर, कर्मक्षेत्र में गीता का उपदेश सुनते हुए–'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्' अर्जुन के समान चक्रव्यूहादिकों का भेद कर के, Struggle for existence–जीवनसंग्राम में प्रवेश कर विजय सम्पादन करना चाहिये–यही इस वक्त अन्तिम साध्य, अन्तिम ध्येय, अन्तिम लक्ष्य Main object है और इसी से हमारा उद्धार हो सकता

है और हम जीवित रह सकते हैं। साम्युएल साइल्स का भी यही सिद्धान्त है—वे अपनी 'केरेक्टर' में कहते हैं कि—" Nations like individuals, derive support and strength from the feeling that they belong to an illustrious race, that they are the heirs of their greatness, and ought to be perpetuaters of their glory. It is of momentous importance that a nation should have a great past to look back upon. It steadies the life of the present, elevates and upholds it, and lightens and lifts it up by the memory of the great deeds, the noble sufferings, and the valorous achievements of the men of old. "—हम प्रख्यात जाति के हैं, उन के श्रेष्ठत्व के हम हक़दार हैं और उन की महिमा के चिरस्थापक हम को होना चाहिये—ऐसा जिस व्यक्ति को या जिस राष्ट्र को संवेदन होता है, उन को उसमें से वहुत वल और आधार मिलता है। राष्ट्र को—लोगों को अपनी दृष्टि फैलाने के लिये प्रभावशाली भूतकाल का होना नितान्त गौरवास्पद है । वह भूतकाल, वर्त्तमान जीवन को सुस्थिर करता है, उच्च करता है और उस को ऊपर थांभ रखता है । तथा महत्कार्यों के, उदार सहनशीलता के और पूर्वजों के प्रशंसनीय शूर कर्मों के स्मरण से—वह जीवन का भार कम कर के उच्चता को पहुंचाता है। डाक्टर अर्नाल्ड का भी कहना है कि— 'How can present yield fruit, or the future have promise, except their roots be

fixed in the past.'–भूतकाल में उन की जड़ जमने के सिवाय वर्त्तमानकाल फलदायक या भविष्यकाल आशादायक कैसे हो सकते हैं ?

अब यहां बड़ा भारी विचार आ पड़ेगा कि–' अब हम करें भी तो क्या–कि जिस से पेट भर के हमारा निर्वाह हो । इस वक्त हम निराधार, निःसहाय, दरिद्र हैं–हम क्या कर सकते हैं ?' मेरे प्रिय भारत के सपूत पुत्रो ! इस वक्त तुम्हारा यह कहना बिलकुल योग्य और समयाकुल है । किन्तु ईश्वर की कृपा से आज तुम पर उन्हीं श्रीमान् शूर, धीर, गंभीर पश्चिमी कर्मवीरों की सत्ता है, प्रभुता है, सहायता है और सहानुभूति है । वे आज भारत में ईश्वरप्रेरित एंजिल हैं, फ़िरश्तेमलिक हैं और देवदूत हैं । तुम्हें उन के साथ मित्रता करनी चाहिये, प्रेम करना चाहिये, और मेलजोल करना चाहिये । उन की भाषा सीखनी चाहिये, उन का साहित्य देखना चाहिये, उन की साइन्स का अभ्यास करना चाहिये और उन के कलकारखानों में भरती हो के कलाकुशल बनना चाहिये । इस वक्त अपनी जाति को, कुल को, महत्व को अपने में अन्तर्हित कर के भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार–"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।" होके ग्रीस के प्रख्यात तत्ववेत्ता आरिस्टोटल के सिद्धान्त के अनुसार–" The magnanimous man will behave with moderation under both good fortune and bad. He will know how to be exalted and how to be based. He will neither be delighted with success

nor grieved by failure."—अच्छे और बुरे भाग्य के साथ महात्मापुरुष समवृत्ति से चलेगा। ऊपर कैसे चढ़ना और नीचे कैसे गिरना यह वह जानेगा। जयप्राप्ति से वह प्रसन्न नहीं होगा और पराजयप्राप्ति से वह खिन्न नहीं होगा। तुम्हें अग्रसर हो के अपने आनुवंशिक गुणों का परिचय देना चाहिये। लार्ड बेकन का कहना है कि—"Virtue is like precious odours, most fragrant when they are incensed or crushed; for prosperity doth best discover vice, but adversity doth best discover virtue."—सद्गुण सुगन्धी पदार्थ के समान है। जब उस को सिलगाया जाता है या उस को कुचला जाता है तब वह अति सुगन्धप्रद होता है—क्यों कि सम्पत्ति बुरे दुर्गुण को प्रकट करती है किन्तु विपत्ति अच्छे सद्गुण को प्रकट करती है। 'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।' सम्पत्ति और विपत्ति में महात्मा समान रहते हैं।

तुम्हें कभी निराश, उदास, निरुत्साह हो के अकर्मण्य न बनना चाहिये। स्माइल साहब अपने 'सेल्फ हेल्प' में कहते हैं कि—"The poorest have sometimes taken the highest places; nor have difficulties apparently the most insuperable proved obstacles in their way. Those very difficulties, in many instances, would even seem to have been their best helpers, by evoking their powers of labour and endurance, and stimulating into life faculties

which might otherwise have lain dormant."
अनेक समय रंकतम मनुष्यों ने उच्चतम पद प्राप्त किया है। उन के मार्ग में अलंघ्यतम कठिनाइयां भी वाधाकारक नहीं हुई। वहुत दृष्टान्तों में तो—वे ही संकट—श्रम की और सहन की शक्तियों को प्रकट कर के—कितने ही गुणों को—अगर वैसी घटना न होती तो वे वैसे ही अचेत पड़े रहते—उत्तेजित—सचेत कर के वैसे मनुष्यों के उत्तम उपकार हुए हैं—ऐसा भी प्रमाणित हुआ है। स्वार्थ में संतोषित होना जितना सुख कर और उचित है, उतना ही परार्थ में असन्तोषित होना कीर्तिकर और उचित है। पर ताप निवारणार्थ और परोपकारार्थ आदर से और महदिच्छा से सदा तत्पर रहना ही महात्माओं की महत्ता है। महाजन परहित करने में कभी तृप्त नहीं होते—चाहे जितना दुष्कर कर्म हो तो भी उन्हें सुकर होता है—

नाल्पीयसि निबध्नन्ति पदमुन्नतचेतसः।
येषां भुवनलाभेऽपि निःसीमानो मनोरथाः॥

अल्पतर पदार्थ में उन्नतचेताओं के पद का वन्धन नहीं होता अर्थात् वे क्षुद्र विषय में कभी वद्ध नहीं होते। अखिल भुवन का—जगत् का लाभ होने पर भी उन के मनोरथ निःसीम होते हैं। वस अव G. Herbert के शब्दों में यही कहना है कि—

"Pich thy behaviour low, thy projects high,
So shalt thou humble and magnanimous be.
Sink not in spirit; who aimeth at the sky
Shoots higher much than he that means a tree."

तू अपना व्यवहार नीचे अर्थात् कम कर किन्तु अपने उद्देशों को ऊपर कर जिस से तू नम्रात्मा और महात्मा हो जायगा । उत्साह में नीचे न गिरेगा या मन्द न होगा । जो कोई आकाश में लक्ष्यवेध कर के गोली मारता है वह वृक्ष में लक्ष्यवेध कर के गोली मारनेवाले की अपेक्षा बहुत ऊंचे पर अपनी गोली मार सकता है । बस अब यही कठोपनिषद् हाथ उठा कर कहती है कि—

"उत्तिष्ठत, जागृत, प्राप्य वरान्निबोधत ।"

इतना होने पर भी फिर इस बात का बड़ा भारी ख़याल हो के भ्रमित होना पड़ेगा कि—पहिले ही परदेशों में जाना हवा, पानी, जाति, धर्म के अनुकूल नहीं, तो भी कदाचित् इस प्रतिकूलता को अनुकूलता बना कर के भी—वहां जा कर उद्योग धन्धे कलकारखानों में प्रवीण होने के लिये हम प्रस्थान करते हैं तो, पहिले तो, उन देशों में प्रवेश होना ही अति कठिन है । अगर किसी प्रकार प्रवेश हो भी जाय तो वहां के लोग हम को कुछ सिखाते नहीं, अपने कलकारख़ानों में आने देते नहीं और हमें नीग्रो, ब्लेकमेन, इण्डियनडाग कह कर हमारा तिरस्कार करते हैं और हमें वहां से भगा देने की कोशिश में रहते हैं । हमारे साथ किसी की सहानुभूति तो दूर खाली जंगली जानवर जितनी भी कोई हमारी दरकार नहीं करता—इन बातों को सब कोई जानते हैं । इस वक़्त दक्षिण आफ्रीका की बातें सुन कर तो हृदय कम्पित होता है । कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द्र गांधी जैसे बेरिस्टर और मि० पोलक जैसे उदार बेने इस्राइल को भी प्रयत्न करते करते अन्त में

अपने देशवन्धुओं के लिये दयापात्रों के लिये जेल में जाना पड़ा है तो—ऐसी दशा में हमें परदेशों से क्या लाभ होना है? यह वहुत सत्य, यथार्थ और परमसत्य हैं। किन्तु इस का अव इलाज ही क्या है? अव हमें इन देशों के सिवा और कोई चारा ही नहीं है। वहीं के महात्मा स्माइल, ओरिस्टाटल, वेकन, हरवर्ट, आदि के कहने के अनुसार हमें अपना भूतकाल जेव में रख कर अपने वर्त्तमानकाल में उस भूतकाल को मिला देना चाहिये। रोमनगर के राजपुरुष सेने का कहना है कि—"There are no greater wretches in the world than many of those whom the people take to be happy."—

जिन को लोग सुखी समझते हैं उन की अपेक्षा जगत् में कोई मनुष्य दुर्भागी नहीं होते। अर्थात् जगत् में कोई सुखी नहीं है। छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरु श्रीरामदास स्वामी ने भी कहा है—"जगीं सर्व सुखी असा कोण आहे, विचारी मना! तूंचि शोधोनि पाहें।"—हे विचारी मन! तूही ढूंढ कि जगत् में सव सुखी कौन है? अतएव महात्मापुरुष अपने अन्तःकरण को शुद्ध, परोपकारी, उदार वना के और अचल आनन्दघन परमेश्वर में रत कर के उसी शुद्ध अन्तःकरण पर अपने सुख का आधार रखते हैं। गुटे गोएथ जर्मन के कवि के कहने के अनुसार—'Gain self reliance, and you have learned to live.'—आत्मीयता, आत्मत्त्व, आत्मवल प्राप्त होते ही मनुष्य जगत् में जीवित रहना सीख जाता है। जव हमारा

आत्मबल ही नष्ट हो चुका है तो हम किसी भी अवस्था में जीवित नहीं रह सकते और अवश्य ही हम को मर जाना चाहिये ।

ऐसी घोरतर कठिन से कठिन अवस्था में भी 'हम कैसे जीवित रह सकते हैं'—इस का हम एक ही उदाहरण देते हैं जिस पर से सब को प्रतीत होगा कि अब भी हमारे लिये कुछ आशा का अंकुर जीवित है और उस के आधार पर हम अपनी मुरझी हुई आशा का प्रफुल्लित पौधा बना सकते हैं ।

ईसा की सतरहवीं शताब्दी के आरंभ में, आफ्रीका में से नीग्रो—हबशी जाति के मनुष्यों को पकड़ के गुलाम बना के अमेरिका में उन्हें बेचने का क्रम शुरू हुआ । और वह एक दो शताब्दी तक बे रोकटोक के प्रचलित रहा । दो ढाई सो वर्ष जिस जाति के गुलामगिरी में बीत जाते हैं उस की हीनावस्था का अनुमान ही क्या हो सकता है ? सन् १८६२—६३ साल में अमेरिका में इन गुलामों की संख्या ४०,००,००० थी । अगर इतने गुलामों को स्वतन्त्रता दी जाती है तो शायद कलकारखानों के, खेती आदि के काम रुक कर बड़ी बाधा उपस्थित होगी इतना ही नहीं, कहीं, ये गुलाम स्वतन्त्र होते ही, बग़ावत न कर बैठें—यह भय अमेरिकनों के हृदय पर जमा हुआ था तो भी, अन्त में अमेरिका सरकार ने बड़ी उदारता के साथ सन् १८६३ में दास्यविमोचन का क़ायदा बना के सब को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी ।

स्वतन्त्र बने हुए गुलामों में से खदान में काम करनेवाले एक बुकर टी. वाशिंगटन नाम के लड़के ने सुना कि-व्हर्जिनिया प्रान्त के हाम्पटन शहर में नीग्रो जाति के लिये एक पाठशाला खुली है। सुनते ही वाशिंगटन ने वहां जाने का निश्चय किया और बड़ी कठिनाई से वहां पहुंच कर पाठशाला में प्रवेश किया। खूब जी लगा कर अभ्यास करने पर थोड़े ही समय में वह ग्रेजुएट हो गया! उस के बाद थोड़ीही देर में अलाबामा प्रान्त के टस्केजी नामक गांव में नीग्रो लोगों की एक नई पाठशाला खुलनेवाली थी। वहां मि० बुकर टी. वाशिंगटन को बुलाया गया। उन के वहां पहुंचने पर ता० ४ जुलाई सन् १८८१ के दिन टस्केजी की पाठशाला शुरू हुई। जब से उस का आरंभ हुआ है तब से उस की अधिकाधिक उन्नति हो रही है। आज तक इस पाठशाला में से ७,००० बालक बालिका में उत्तम विद्वान् विदुषी बन कर उन में से कितनों ही ने उस टस्केजी महाविद्यालय की सर्वत्र अनेक शाखायें खोली हैं।

यह बात कैसी बनी? गुलामी का व्यापार बन्द होते ही एक छोटे से लड़केने कुछ सीखसाख कर कैसे इतने बड़े कार्य को सम्पादित किया? सन् १८८१ साल में, आरंभ में-इस पाठशाला की सौ एकड जमीन और तीन छोटे छोटे मकान, एक-अध्यापक और तीस छात्र थे। सन् १९१२ में-इस पाठशाला की २३५० एकड जमीन, १०६ इमारतें, १५०० ढोर, गाड़ी घोड़े आदि मिलकर सब मालियत लगभग ३४,१६,८६१) २८ डालर की थी अर्थात् एक करोड के ऊपर है!-यह पराक्रम केवल उसी

बुकर टी. वाशिंगटन नामक लड़के का है! और यह केवल उस के स्वार्थत्याग एवं परार्थसाधन ही से फलीभूत हो के—एक राई के दाने के बीज समान छोटे से इतना बड़ा भारी वड़ का झाड बना है।

इस टस्केजी महाविद्यालय को देखने के लिये आज तक बहुत बड़े बड़े नामी पुरुष गये हैं। स्वयं अमेरिका के प्रेसिडेन्ट भी गये थे। सन् १९११ की फ़रवरी में Mobile मोबिल शहर में नेशनल एज्युकेशन असोसियेशन के सुपरिन्टेन्डेन्ट महकमे की एक सभा सम्मिलित हुई थी, उस वक़्, वहां, अनेक अध्यापक, आचार्य, प्रोफ़ेसर, इन्स्पेक्टर, सुपरिन्टेन्डेन्ट मौजूद थे। सभा विसर्जन होने पर, सब लोग, इस नज़दीक के टस्केजी महाविद्यालय को देखने के लिये गये। वहां की कार्य प्रणाली, शिक्षाक्रम, पाठपद्धति आदि व्यवस्था और छात्रगण और उन का उत्साह, अभ्यास आदि को देख कर सब गौरकाय राज-कर्मचारी इतने प्रसन्न हुए कि—'टस्केजी महाविद्यालय आदर्शरूप है उस से हमको भी बहुत शिक्षा लेनी चाहिये। हम अपने शिक्षा के महकमों में जो कुछ सुधार करना चाहते थे वह सब यहां विद्यमान हैं।' ऐसा उन को उदार-भाव से मानना पड़ा इतनाही नहीं—'आज हमने जो यह तीर्थयात्रा की और जो कुछ यहां देखा—उस से हम को धन्यता प्राप्त हुई है।'—आनन्द में मग्न हो के ऐसा उन को कहना पड़ा।

इस हाम्पटन के ग्रेजुएट लड़के का, या टस्केजी महा-विद्यालय के प्रोफ़ेसर डा० बुकर टी. वाशिंगटन का कुछ

चरित्र औटलुक मासिकपत्र में प्रकाशित हुआ है वह अपूर्ण है। कुछ दिन के वाद उन्हों ने स्वयं अपना चरित्र लिखा है और उस का नाम "Up from Slavery" है–उस को पढ़ने पर अपना, अपने देश का उद्धार करने का मार्ग भलीभांति विदित हो जाता है। अपना भला, देश का भला, अपना उद्धार, देश का उद्धार करनेवाले चाहनेवाले हर एक को डा० बुकर टी. वाशिंगटन का चरित्र पढ़ना चाहिये। वस इसी में हमारा उद्धार है, स्वातन्त्र्य है और जीवन है।

आज कल के सब नवपठित और राजभक्त कहते हैं कि–जापान जैसे एक छोटे से टापू का राज्य कहां और रूस जैसे आधी पृथ्वी का साम्राज्य कहां किन्तु, जापान ने ४०।५० साल ही में अपनी इतनी उन्नति की कि–रूस जैसे महावीर साम्राज्य को नाकों चने चबा दिये! यह वात तो किसी क़दर संभवनीय भी थी–क्यों कि, वहां की राजाप्रजा एक, वहां की राजाप्रजा का धर्म एक, और वहां की राजाप्रजा का कर्त्तव्य एक–तथापि, कहां आफ़्रीका, कहां वहां के जंगली लोग, कहां ग़ुलाम हो के उन का वाजारों में विकना और कहां जापान जितने ही काल में उन का ऐसा उन्नत होना?

इसी नीग्रो जाति के विषय में अभी लंडन के 'मार्निंग पोस्ट' नामक पत्र में मि० एमोरिस लो ने एक उपादेय लेख लिखा है–जिस पर से ज्ञात हो सकता है कि–सिर्फ़ ४०।५० साल ही में–जो नीग्रोजाति जानवरों में गिनी जाती थी, वह अब्राहाम लिंकन के "Emancipation

Proclamation' द्वारा स्वतन्त्र होते ही–उस ने अपनी कितनी अच्छी उन्नति की। ए. मोरिस को अपने लेख में कहते हैं कि–"In those fifty years the Negro has made great progress, perhaps greater than any other race has in similar circumstances made in a similar Length of time."–इन पचास वर्षों में नीग्रो-जाति ने जो अपनी उन्नति कर ली है–वह, उसी परिस्थिति में, अन्य किसी जाति के–उतने ही समय में अपनी उन्नति कर लेने की अपेक्षा वहुत वढ़ कर है। इस का मूल-कारण डा० वुकर टी. वाशिंगटन हैं, जिन्हों ने शिक्षा द्वारा उस का पशुत्व दूर कर के, उस को मनुष्यत्व प्रदान किया है। जिस महा विद्यालय का यह परोपकार है–वहीं से 'नीग्रो ईयर वुक' नामक एक वार्षिक–कार्यविवरण पुस्तक निकलती है। इस वर्ष की पुस्तक से ज्ञात होता है कि–सन् १८६३ में जव इस जाति को स्वतन्त्रता मिली थी–तव इस की संख्या क़रीव ४५,००,००० थी आज क़रीव १,००,००,००० के है। उस वक़्त इन के पास ज़मीन नाम मात्र थी। आज ६,००,००० नीग्रो ज़मीन के पटेदार हैं और इन की ज़मीन दो करोड़ एकड अर्थात् ३१,००० वर्गमील है। उस वक़्त इनके पास अनुमान ४० लाख पौंड की मालियत थी आज १४ करोड़ पौंड की है। को साहव कहते हैं कि–"The general sentiment among slaveholders was that it was dangerous to teach their slaves and that an "educated nigger" was the worst kind of property to hold, as education simply spoiled him as a good farm

hand or house servant and did not qualify him for a better position."–गुलामों के मालिकों की सर्वसाधारण कल्पना थी कि–अपने गुलामों को लिखना पढ़ना सिखाना बड़ा ही भयानक है। 'शिक्षित निगर'– यह सब से बुरी मालियत है; क्यों कि, विद्या का सीखना उस को खेती के काम में या घर के काम में निरुपयोगी बना देता है। ऐसी दशा में उन्हें कौन तो सिखाने का साहस कर सकता था या उन के स्वातंत्र्य ही की इच्छा करता था?

जो हो–आज उन की संख्या दुगनी से अधिक है, उन की सम्पत्ति चालीस गुना से अधिक है, उन की ज़मीन लाख गुना से अधिक है और उन के एक करोड़ में से–इस वक्त अठारह लाख स्कूलकालेज के विद्यार्थी हैं। आज उन में अनेक डाक्टर, वकील, प्रोफ़ेसर, शास्त्री, अध्यापक, ग्रन्थकार, व्यापारी, सेठ साहूकार, धनिक श्रीमान् हैं।

अब जो तुम नीग्रो कहलाते हो–किन्तु तुम नीग्रो हबशी–काले रंगवाले और बैठी हुई नाकवाले नहीं हो। आज भी तुम्हारा नीमगोरा वही पक्का रंग है और नाक भी ऊंची है। कुली और मजदूर बनाकर देशदेशान्तरों को भेजे जाते हो और पढ़ लिख कर भी, गुलामगिरी की हद तक पहुंच गये हो तो भी–नीग्रो के समान या ढोरों के समान तुम अभी कहीं बाजारों में बिकने नहीं लगे हो। आज भी तुम्हारा कुल, जाति, धर्म, देश, विद्या, विनय विद्यमान हैं। मुसलमानी अमलदारी के

समान कोई तुम्हारा बलात् धर्मान्तर नहीं कर रहा है या रेड इन्डियनों के समान कोई तुम्हें नेस्तनाबूद नहीं कर रहा है । फिर क्या कारण है—जो तुम उदासीन, निरुत्साह, उद्योगविमुख हो ? तुम्हारा गया बिगडा ही क्या है ? केवल एक धन का अभाव होने से—विश्वधर्म, विश्वप्रेम, और विश्वविजय तुमने अपने हाथों से खोया है । खोये हुए धन को तुम पीछा प्राप्त कर सकते हो—विश्वधर्म में दृष्टि फैलाते ही, विश्वप्रेम का उदय होने पर, फिर, विश्वविजय के साथ साथही धन का प्राप्त होना कुछ भी दुश्वार नहीं । प्रसिद्ध जैन पण्डित लालन अपने ' समभावसिद्धि '—Attainmet of universal love शीर्षक लेख में कहते हैं कि—" दाखला तरीके अमेरिका देश आजे पोतानी द्रव्य समृद्धिमां सर्व देशोमां शिरोमणि-रूप छे. लक्षाधिपतिज नथी पण त्यां अब्जाधिपति होई लाखोनी वार्षिक आवकवाला होय छे. आ दुनियानी नज-रमां आजे प्रत्यक्ष पुरावो छे. ते छतां जेमने प्रतीति न थती होय तेमणे आजकाल सुगम थई पडेलो अमेरिकानो प्रवास करवो. अने तेम जेना थी हाल न बने तेणे अमेरिकानी चडती जे १५० वर्षनीज छे तेनो इतिहास ध्यानपूर्वक वाचवो. हवे जो द्रव्य थी सुख मळेछे ये वात निर्विवाद छे अने द्रव्यनी उत्पत्ति द्रव्यनी जननी मेहनत छे ते करवी परंतु समभाव अमे क्यां लेवा जाइये ? सद्उद्योग वडे प्राप्त थएला विज्ञान शास्त्र (Science) ए अमारुं कल्पवृक्ष अने कला (Sits) एने अमे कल्पलता गणिए छिए. आ विज्ञानकला वडे पृथ्वीना पडमां थी, आकाशना गर्भमां थी समुद्रना

नलियामां थी, वातावरणना मिश्रणमां थी अमे लक्ष्मीने खेंची लावीने सद्उद्योगने परणावीशुं. नीतिशास्त्र पण जगत् मां पोतानी डिंडिम वगाडी रह्युं छे के—'उद्योगिनं पुरुष-सिंहमुपैति लक्ष्मीः'—अर्थात् बलवान् उद्योगी पुरुषने वरमाळ आरोपवा लक्ष्मी सामे चाली आवे छे, लक्ष्मीनुं सामर्थ्य एवुं छे के सुखने गमे त्यांथी ते आणी आपे छे. आ लोकमांज सुखनी जनक लक्ष्मी छे एटलुंज नहीं परंतु पर-लोकना सुख पण सद्उद्योगवडे न्यायोपार्जित लक्ष्मीवडे प्राप्त करी शकाय छे, कारण के धर्म जे आ लोक अने पर-लोकना सुख आपवानो दावो करे छे ते पण लक्ष्मी थी थई शके छे."

वेदों के समान, उपनिषदों के समान पड्दर्शनों के समान भगवद्गीता के समान, ब्रह्मसूत्रों के समान, योगवासिष्ठ के समान, आत्मपुराण के समान, महाभारत भागवत के समान, पंचदशी के समान, अद्वैतसिद्धि के समान, उप-देश साहस्री के समान, वेदान्त परिभाषा के समान, तत्वा-नुसन्धान के समान, चित्सुखी के समान, स्वराज्यसिद्धि के समान प्रवचनसार, धम्मपद, ज्ञानार्णव के समान, अवस्था, बाइबल, कुरान के समान ग्रन्थ और व्यास, वसिष्ट वाल्मीकि, जैमिनि, कपिल, पंतजली, कणाद, गौतम, महावीर, बुद्ध, ईसा, शंकराचार्य, विद्यारण्य, शंकरानन्द, आनन्द-गिरि, रामानुज, वल्लभ, माध्व, मधुसूदन, चिद्घनानन्द, ब्रम्हानन्द, भास्करानन्द, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि पूर्ण तत्वज्ञ महात्माओं के अपूर्व अध्यात्मविद्या के अनेक ग्रन्थ विद्यमान होने पर भी—फिर, इस इतने

वडे पोथे कीं आवश्यकता ही क्या थी ? व्यर्थ तुमने अपना समय खोया है और हमारा भी खोना चाहते हो–ठीक है, यह तुम्हारा आक्षेप विचारणीय और चिन्तनीय है । मैं इस में कोई नई वात–नहीं लिखना चाहता और न लिखी जा सकती ही है । कारलाईल अपने 'The Hero as Poet' में लिखता है कि–"The Divinia Commedia is of Dante's writing; yet in truth it belongs to the ten Christain centuries, only the finishing of it is Dante's." डान्टे ने 'डिव्हिनीया कामिडिया' लिखी किन्तु सच तो यह है कि–उस के दश शताब्दियां पूर्व ईसाई मतवालों के विचार उस में है । सिर्फ़ डान्टे ने उस पर पालिश–सफ़ाई का हाथ फिराया है–इसी प्रकार मैं भी, उन्हीं ग्रन्थ और प्रणेताओं के विचारों को प्रचलित विचारों में अन्तर्भूत कर के, नवीन विचारश्रेणी New Thought में उन का संस्कार रूपान्तर कर के, विचारों के निदर्शन में उन का दर्शन कराना चाहता हूं । यह दर्शन केवल नाम मात्र ही नहीं, केवल लक्ष्य मात्र ही नहीं, केवल पठन मात्र ही नहीं, केवल मनन मात्र ही नहीं, केवल निदिध्यासन मात्र ही नहीं–इस समय समयानुकूल जिस वस्तु की तुम्हें चाहना है और जिस से तुम अपना उपकार समझते हो–उसी वस्तु का अक्षर अक्षर, शब्द शब्द, वाक्य वाक्य में निदर्शन कर के उस को प्रत्यक्ष करना है और वह इच्छित, और वह साध्य, और वह ध्येय–इस 'विचार-दर्शन' के दर्शन मात्र ही से सुलभ हो सकता है ।

ऐसे इन चक्राकार उछलते हुए प्रश्नोत्तरों ही में–हमने अपने उद्देश्य का केन्द्र Cantur स्थापित कर के उस में–वेदों को सामने रक्खा है, वेदाङ्गों को सामने रक्खा है, वेदान्त को सामने रक्खा है, ब्राह्मण आरण्यक को सामने रक्खा है, उपनिषदों को सामने रक्खा है, षड्दर्शनों को सामने रक्खा है, ब्रह्मसूत्र, सांख्यसूत्र, योगसूत्रों के भाषा-टीकाओं को सामने रक्खा है, योगवासिष्ट, आत्मपुराण को सामने रक्खा है, महाभारत, भगवद्गीता, भागवत, पुराणों को सामने रक्खा है, स्मृतियों को सामने रक्खा है, सूत्र, कल्प, गाथा, बाइबल, अवस्था, कुरान को सामने रक्खा है, आयुर्वेद, ज्योतिष्, मन्त्र, तन्त्रों को सामने रक्खा है, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत को सामने रक्खा है, पदार्थ ज्ञान, विज्ञान, विद्युत् को सामने रक्खा है, संस्कृत, प्राकृत अंगरेजी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उर्दू, फारसी झेन्द को सामने रक्खा है, न्यू थाट, थाट पावर, थिओलजी, थिओसफी, मेस्मेरिज़म्, हिप्नोटिज़्म्, आकल्टिज़्म स्पिरिच्युआलिज़्म्, मेग्निटिज़्म्, सायकोलजी फ़िजियालजी, को सामने रक्खा है, हाइजीन, अनाटमी, एम्ब्रियालजी, इव्होल्युशन, इन्कारनेशन, सरवाइव्हल आफ़ दि फ़िटेस्ट को सामने रक्खा है, मेटर, मोशन्, साइन्स, फ़िलासफ़ी–भौतिक विज्ञान को सामने रक्खा है–इत्यादि सब को अध्यात्मविद्या में परिणत कर के–इन के अक्षर, शब्द, वाक्यों में के रहस्य गूढ़ भेद को खोल कर उन से बने हुए विचारों के ग्रहण कर के, जगत् भर के धर्मों की एकवाक्यता कर के विश्वधर्म के साथ साथ विश्व

प्रेम का निदर्शन करते हुए और अध्यात्मतत्व के प्रतिपादन के साथ ही विश्वविजय के बीज–मूलकारण की समष्टि करते हुए आत्मव्यष्टि के स्वरूप का उत्क्रान्तिरूप में 'विचार-दर्शन' कराया है। इस विचार के दर्शन में स्पष्ट प्रदर्शित किया गया है कि–ऊपर कहे अनुसार–'द्रव्यवल से शरीरवल वढ़ता है और द्रव्यबल तथा शरीरवल से संघ–समाजवल वढ़ता है।' अर्थात् 'द्रव्यमूलमिदं जगत्' होने पर भी–हमने अक्षर अक्षर में सिद्ध किया है कि–केवल अध्यात्मविद्या के–आत्मविद्या के–आत्मा के वल मात्र ही, निरीक्षण मात्र ही, विचार मात्र ही,–विना किसी अन्नसामग्री, अन्न के कण तक भी–कि, जिसके विना अकाल में मा भी अपने प्यारे वच्चों को कच्चा खा जाती है–हम प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं कि–किसी की कुछ भी आवश्यकता नहीं। आत्मवल के साथ ही शरीर वल वढ कर उत्क्रान्ति के तत्वानुसार स्वयमेव धन, कण, कनक, कामिनी, पुत्र, सत्ता, कीर्त्ति, इहपरलोक की प्राप्ति हो के मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप वन जाता है, स्वयं सच्चिदानन्द हो जाता है एवं है ही!!

काल के परिवर्त्तन के साथ साथ ही जगत् का परिवर्त्तन हो रहा है–यह सब जानते हैं। Reincarnation–पुनर्जन्म–अवतारवाद का तत्व हमारे यहां अनादि है और यह परिवर्त्तन ही भगवान् शंकर का 'विवर्त्त' है अर्थात् 'Evolution' डारविन, वालेस का प्रधान विषय है। हमारे यहां अभी उस का प्रत्यक्ष स्थूल स्वरूप आविर्भूत होने में वहुत देर है तो भी विश्वधर्म, विश्वप्रेम, विश्वविजय

के पुनरावर्त्तन का समय प्राप्त हो चुका है। प्रचलित परि-स्थिति और काल के आधार पर रसायन शास्त्रवेत्ता Sir oliver Lodge—सर आलिवर लाज अपने 'Man and the Universe' 'मेन एण्ड धी युनिवर्स' में कहते हैं कि—"The second Incarnation will be in the hearts of all men—a reign of brotherhood and love for which the heralds are already uttering their songs. Already there are signs of his coming and sounds of his feet and upon our terrestrial activity the date of this Advent depends. Even so come, Lord quickly."—दूसरा जन्म सब मनुष्यों के हृदय में होगा—वह बन्धुभाव और प्रेम का राज्य—कि जिस के लिये अभी से हेराल्डस—स्तुतिपाठक—बन्दीजन अपने स्तुतिगीत के सुर मिला रहे हैं, उस के आने के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं और उस के पांवों की आहट भी सुनाई दे रही है; एवं उस के आने की तिथि हमारे सांसारिक प्रयत्न पर ही निर्भर है। जो हो—प्रभो! शीघ्र पधारो!

सर लाज साहब के कहने के अनुसार—यह बन्धुभाव और प्रेम के साम्राज्य का स्तुतिपाठ बना है, यही उस का जन्म है, यही उस का Incarnation है, यही उस का उद्देश्य है और यही उस का अन्तिम साध्य है। यह बन्धुभाव और प्रेम का साम्राज्य क्या है?—"विचारदर्शन" है और उस के निदर्शन का दर्शन गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के निम्न लिखित दोहों में है—

राधा राधा रटत हैं, आक, ढाक, अरु खैर।
तुलसी या ब्रजभूमसें, कहा राम से बैर॥

कहा कहूं छबि आज की, भले विराजे नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष्यबाण लो हाथ॥

कित मुरली, कित चन्द्रिका, कित गोपियन को साथ।
तुलसी भक्त हि कारने, कृष्ण भये रघुनाथ!॥

इस का सुन्दर और भाव भरा हुआ अनुवाद इस Marguerite Pollard की मधुर भाव-मयी उक्ति में भरा हुआ है। कहां गोस्वामीजी और कहां यह अंग्रेज़ कवयित्री?

"In the day of explanations
When all the lies fall dead
And the scandals are forgotton
Love will rise up instead
In the day of explanations
When everything is known
Then Love will reign triumph
Upon his golden throne."

"Even so come, Lord quickly"

इन विवेचना के दिनों में—जब सब झूंठ का लय हो जाता है और अपवादों का विस्मरण हो जाता है तब, इन की जगह प्रेम का उदय होता है। वैसे ही जब सब वस्तु का ज्ञान हो जाता है तब फिर अपने सुनहिले सिंहासन पर विराज कर प्रेम अपने साम्राज्य का जयजय कार करता है।

इसी प्रेम का, विवेचन व्रज में गोस्वामीजी का पधारना है, इसी प्रेम के भूंठ का लय गोस्वामीजी का—'कहां राम वैर' कहना है और इसी प्रेम का, धनुपवाण हाथ में ले कर कृष्ण का 'राम का स्वरूप' वनना है ! 'तन मन वचन मोर प्रण साँचा । रघुपति पद सरोज मन राँचा ।' यही विश्वधर्म है, यही विश्वप्रेम है और यही विश्वविजय है ।

रचना ।

उद्देश्य का दृढ़ अनुसन्धान हो के उस का विधान हो जाने पर फिर संविधानक के संगठन में देर ही क्या होती है ?—"Thou can't not fail; the future all unknown Lies in thy power—its secrets are thine own, There's not a task that—thou can'st not fulfill, strong in the *Thought* as thou thy shall will."—तुम विफल नहीं हो सकते, सब अज्ञात भविष्य तुम्हारे हाथ है और उस के सब गूढ़ तुम्हारे लिये ही हैं । ऐसा कोई काम नहीं है कि जिस को तुम अपनी प्रवल इच्छा के अनुसार साध्य न कर सको । सर्वत्र विचार ही का मनोराज्य है, साम्राज्य है, स्वाराज्य है, वैराज्य है, और पारमेष्ठ्य है । विचार ही की सर्वत्रोपरि सत्ता, शक्ति, प्रभुता—सब कुछ है । सिवाय विचार के जड़ चेतन किसी भी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं और जीवन मरण ही नहीं । सारा जगत् विचार ही का स्वरूप है, विचार ही का कारणकार्यभाव है, विचार ही का अन्वयव्यतिरेक है और विचार ही का आन्तरवाह्य स्पन्दन है । "How did he do it ? How could he get hold the

attention of the people whom he used as stepping stones. Then and then every one agrees that:- personal magnetism and thought force explaines it."—यह उस ने कैसे किया? वह कैसे लोगों के लक्ष्य को आकर्षित कर सका था कि जिनका उपयोग उसने पांवों के नीचे के पत्थरोंसमान किया था? प्रत्येक को मानना होगा कि—व्यक्तिगत आकर्षणशक्ति और विचारशक्ति इस का स्पष्टीकरण करेगी ।

प्रो० पोल एडवर्ड के शिष्य मि० दिनशाह शापुरजी होमियार अपनी 'प्रेक्टिकल सायकोलोजी' में लिखते हैं कि—" ये विद्या शिखवा माटे कोई पण धर्मनो वाध नथी, दर एक पेगम्बरोए ये विद्यानीज मारफ़ते धर्मो फेलाव्या छे, दर एक महान् पुरुषोए जाणीती रीते या तो गुप्त प्रेरणाशक्ति (Instinct) मारफ़ते, महान् कार्यों करी नामना मेलवी छे, दरेक साधारण मानवी ये विद्या, जाणीवूझीनै अथवा अनजाणपणे पोतानी इच्छा पूरी पाडवाने माटे वापरे छे. हिंदुधर्ममां मंत्रो अने क्रियाओ मारफ़ते ये विद्या कार्य-साधक लेखी छे, मुसलमानधर्म, ख्रिस्ती अने याहुदी ये सर्वेधर्ममां आत्मिकज्ञान अने विचारशक्तिने लगतीज, घणीक वावतो खुल्ली . तेमज अलंकार मां दरसावेली छे. जरथोस्ती धर्ममां पण विचारशक्तिने मुख्य पाया लेके, "हुमत" मुकवामां आव्यो छे. "हुमत" याने नेक विचार, नेक विचार होय तोज तेना वे फ़रजन्द "हुखत अने हुवरशत" याने नेक वोलवुं, नेक करवुं जनमे छे. विचारशक्तिनां विचारने दरेक पेदायशनुं कारणरूप दरशाव्युं

छे, जे हज़रत पेगम्बर साहेब अशो ज़रथुस्तनी फ़िलसुफ़ी अने धर्मनां पायारूप "हुमत" ने लगती शाहदतो पुरी पाड़े छे. ज़रथोस्तीधर्ममां दगले ने वगले, नेक विचार अने विचारोनेज माटे अलंकारमां केटलीक बाबतो समजावी छे. जेथी स्पष्ट मालम पड़शे, के आ विद्या माटे कोई पण धर्मनो बाध नथी, बल के सखत फ़रमान छे के, आत्मिकविद्या तथा विचारशक्तिनुं गुप्त ज्ञान मेलववुं, अने तेवुं ज्ञान मेलवेला अने अशोई ने पुगेलाज शख्सो ने योजदाथरेगर, ब्राह्मण, क़ाजी के पादरी बनववा. संसारी, वेहवारी कार्य अने सुखने माटे कांई पण सादो, सीधो, अने नीति रीतीनी हदनो विचार करी, ज्ञान मारफ़ते ते विचारने परिपूर्ण करवो, ये कांई पाप नथी—धर्मनां भणतरनां पवित्र कलामोनी धुरजणीनी अमुक असरो थवाने माटेज, ते कलामोने अलंकारमां गोठववामां आवेला होवाथी, जे ओ वधारे आस्था अने विश्वासनां प्रमाणमां फलीभूत थाय छे."

इस प्रकार विचार ही सब का आदिकारण निश्चित हो जाने पर—जब जगत की उत्पत्ति, स्थिति, लय ही उसी से हैं तो—इस की रचना का क्रम भी उसी प्रकार रखना हुआ।

जगत्—ग्रन्थ का प्रधान स्वरूप।

बाह्यजगत् और आन्तरजगत्—जगत् के प्रधान दो भाग।

बाह्यजगत् के—जगत् की अभिव्यक्ति—उत्पत्ति और जगत् का व्यवहार दो विभाग।

आन्तरजगत् के-विचारशक्ति, विचारसंयम, विचार-संस्कार, विचारसिद्धि, विचारपरिशीलन और विचारद्योतन छः विभाग।

जगत् का और जगत् की उत्पादकशक्ति-विचार का और सब कारण कार्यों का मूल महाकारण 'आत्मा' है उस लिये-

आत्मा-सब का प्रधान कारण।

परमात्मा और जीवात्मा--आत्मा के प्रधान दो अंग। और इन के—

कर्म, उपासना और ज्ञान-तीन उपांग-और अन्त में-

उपसंहार-कर के ग्रन्थ समाप्ति।

परिशिष्ट-समाप्ति के अनन्तर रहा हुआ ग्रन्थ का विशेष रचना विभाग।

इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना का क्रम नियत कर के, बहुतसा भाग लिख जाने पर, शुभ मुहूर्त्त पर इस का-'विचारदर्शन'-नामकरण कर के, इस की रचना और विषय का निर्देश करने के लिये एक हस्तपत्र निकाला। उस वक्त इस ग्रन्थ को-इस खण्ड के जितने ही पृष्ठों में संपूर्ण करने का विचार था। किन्तु योगीश्वर महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज के कहने के अनुसार-"पुढां स्नेह पाझरे, मागां चालताती अक्षरें, शब्द पाठीं अवतरे, कृपा आधीं। तैसे साच आणि मवाळ, मितले आणि रसाळ, शब्द जैसे कल्लोळ, अमृताचे।"-आगे स्नेह-प्रेम झरता है-बहता है और पीछे अक्षर चलते हैं। शब्द पीछे और पहिले कृपा प्रकट होती है।

वैसे सत्य और प्रिय, मित और रसमय शब्द, अमृत के कल्लोळ-तरंग होते हैं । वैसे ही करुणमूर्त्ति भवभूति कवि के कहने के अनुसार-" लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनु धावति ।"-अर्थात् लौकिक साधुजनों की वाणी अर्थ के अनुसार चलती है और आद्य ऋषियों की वाणी के अनुसार अर्थ चलता है । जैसे जैसे लिखता जाता हूं वैसी वैसी वह वाणी-' वाचमर्थोऽनु धावति'-दौड़ती जा रही है, प्रवाहित हो रही है, तरंगित वन रही है ! " वांधे हुए हाथों को व उम्मेद इजावत । रहते हैं खड़े सैंकड़ो मजनूँ मेरे आगे ।"-ओलिवर वेन्डेज़ होम्स कहता है-"The automatic flow of thought is often singularly favoured by the fact of listening to a weak continuous discourse, with just enough ideas in it to keep the mind busy. The induced current of thought is often rapid and brilliant in inverse ratio to the force of the inducing current."

जिस का भावार्थ यह है कि-मन व्यापारयुक्त रह सके उतनी ही सामान्य अस्खलित प्रचलित विचारघटना को सुनते रहने से, स्वभावतः गतिमान् होनेवाले विचार प्रवाह को बहुधा आश्चर्यकारक वेग प्राप्त होता है । ऐसा उत्पादित किया हुआ प्रवाह-जिस को उत्पन्न करने के लिये उपयोग में लाये हुए बल के प्रमाण में नहीं किन्तु उस के विरोधी प्रमाण में अर्थात् व्युत्क्रमगति में-अधिक शीघ्रगामी और प्रकाशमय होता है ।

श्रीयुत चुन्नीलाल जयशंकर ओझा—अपने 'आन्तर-भान' में लिखते हैं कि—"प्रत्येक उत्तम लेखक ने—जेओ पोताना विषयमां तन्मय थई जई लखे छे तेमनेज—आ प्रकारनो अनुभव थया विना भाग्येज रहे छे. ते ओनामा विचारोनो वलवान् प्रवाह जाग्रत् थाय छे. संकलना के वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक गोठववानी तेमने जरूर पण पड़ती नथी. अने ते छता वाक्योना वाक्यो एक पछी एक खडसडाट चाल्या आवे छे. जे विचारोनु लखता पूर्वे अनुमान पण करवामा आवेलुं होतुं नथी तेवा नवा नवा विचारो उपराउपरी स्फुरवा लगे छे. घणा विद्वान् लेखकोने आरंभमा पोताना विषयनी अमुक संकलना खास करीने गोठववानी जरूर पण पड़ती नथी, अने ते छता तेओ ज्यारे लखवा माडे छे, त्यारे वधुं संकलित व्यवस्थामांज अंतरमां थी स्फुरतुं जणाय छे."—Synthetic Chemistry—संयोगिक रसायन शास्त्र की आधुनिक पद्धति के उत्पादक विख्यात फ्रेंच रसायन शास्त्री प्रो० बर्थेलाट—Birthelat—ने भी अपना अनुभव प्रदर्शित किया है कि—"मैंने इस विज्ञान की शाखा में जिन प्रयोगों द्वारा गवेषणा की थी—वे प्रयोग भानपूर्वक किये हुए विचारों का अथवा केवल तर्कों ही का परिणाम नथा किन्तु मानो, निरभ्र आकाश में से एकाएक विद्युत्प्रकाश के समान स्वयमेव प्रकट होने-वाला प्रकाशरूप परिणाम था।" प्रसिद्ध निवन्धलेखक मोझार्ट—Mozart—भी कहता है कि—"I cannot really say that I can account for my composition. My ideas flow, and I cannot say whence or how

they come. I do not hear in my imagination the parts successively, but I hear them, as it were, all at once. The rest is merely an attempt to reproduce what I have heard."—सच मुच ही मैं नहीं कह सकता कि—मैं अपने निवन्धों की रचना के कारण का उल्लेख कर सकूं । मेरे विचार प्रवाहित होते हैं और वे कहां से या कैसे आते हैं—यह मैं नहीं कह सकता। मैं अपनी कल्पना में क्रमशः उन के भिन्न भिन्न भाग नहीं सुनता, किन्तु उन्हें—मानो, मैं एक ही दम सुनता हूं । वाक़ी इतना ही रह जाता है—मैं ने सुना है उस की पुनरावृत्ति मात्र करना होती है।

मैं इस भगवती वाग्देवी की लीला को वहुत ही रोकना चाहता हूं। और अत्यन्त प्रयत्न के साथ उस का संक्षेप करना चाहता हूं किन्तु निरुपाय हूं। लिखने के पहिले, मैं कुछ भी आयोजन, प्रयोजन वा नियोजन नहीं करता किन्तु लिखने के वक्त क्या होता है वह वही भगवती वाग्देवी जानती है—मैं कुछ नहीं कह सकता। श्रीमान् विद्यारत्न कोकिलेश्वर भट्टाचार्य एम्. ए. अपने 'उपनिषदेर उपदेश' में कहते हैं कि—" शक्ति जखन स्थूल भावे प्रथमे विकासित हय, ताहार नाम 'वायु'। इहाइ ताले ताले,—Rhythm—रूपे, छन्दो-रूपे, वाक-रूपे अभिव्यक्त हय। इहाइ सर्व-प्रकार शब्देर जननी। शक्तिर एइ जे ताले ताले अभिव्यक्ति—शक्तिर एइ जे वाक-रूपे अभिव्यक्ति, इहार ओ सङ्गे सङ्गे चैतन्य वर्त्तमान। इहाइ वुझा इवार जन्य ऋग्वेदे "ब्रह्मणस्पति" वा "बृहस्पति" र वर्णना आछे।"

भगवान पाणिनी 'शिक्षा' में कहते हैं–"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् । मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं च नयति स्वरम् ।"– आगे चल कर वे कहते हैं कि–"संयोग वियोगकारी Repulsive and attractive force–एइ दुइ शक्ति युगपत् क्रिया करे वलियाइत क्रियामात्रइ ताले ताले, Rhythm रूपे व्यक्त हय ।" भगवान् वसिष्ठ ने कहा है कि–"विचार-कणिका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा । एवैषाभासयोगेन प्रयाति शतशाखताम् ।"–यह 'विचार-कणिका' कोमल स्वरूप धारण कर के हृदय में स्फुरण पाती है और वह उसी आभास के द्वारा अनेक शाखाओं में प्रसार पाती है । अर्थात् कण मात्र ही विचारस्फुरण Thought vibration का इतना भारी विस्तार हो जाता है कि उस के प्रवाह को रोकना कठिन है । यह रिपल्सिव्ह और ऐट्रेक्टिव फ़ोर्स–संयोग वियोगकारिणीशक्ति युगपत् कार्य करती है। उस के लिये किसी प्रयत्न की या संविधानक की आवश्यकता नहीं होती । डा० टोम्पसन अपना अनुभव कहते हैं कि– "In writing my work I have been unable to arrange my knowledge of a subject for days and weeks, until I experienced a clearing up of my mind when took my pen and unhesitatingly wrote the result. I have best accomplishd this by leading the mind away as for as possible from the subject upon which I was writing." मैं अपना ग्रन्थ लिखने में कितने ही दिन और सप्ताह–

उस की विषय संकल्पना में असमर्थ रहा । अन्त में जब मेरे मन में सब स्पष्ट विदित होने लगा तब मैं ने अपनी लेखनी को उठाया और उस परिणाम को अस्खलित लिख डाला। जिस विषयपर मैं लिखता था उस से हो सके वहां तक, अपने मन को दूर—गहरे ले जाने पर—उस को मैं बहुत अच्छा लिख सका हूं। इस में क्या सन्देह है—आन्तर भान के प्रदेश में चलनेवाला विचार का प्रवाह जब—विज्ञानवृत्ति श्रान्त हो जाती है, या शान्त रहती है या किसी व्यापार में सुस्थिर निमग्न रहती है—तब अधिक मनोरम, सुन्दर उपन्यासभूत होकर पदन्यास करता है और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का उदय हो के उस में रुचिर रुचिर, सुरस सुरस, मधुर मधुर रस के कल्लोल उत्पन्न होते हैं। मैं इन कल्लोलों को—तरंगों को बहुत रोकना चाहता हूं और रोकने का प्रयत्न करता हूं तो—अन्दर से स्पष्ट ध्वनि होती है कि—इस वाणी के प्रवाह को रोकना तेरी शक्ति के बाहर है और मैं अपनी स्थूल दृष्टि को चहुं ओर फैलाता हूं तो मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि—जो कुछ मैं लिख रहा हूं वह मेरी शक्ति के बाहर है !

जब इस प्रकार—Inner consciousness का Inner force नहीं रुका तब यह निश्चय हुआ कि—पूर्व संकल्पानुसार जिस की पूर्णता ५०० पृष्ठों में होनेवाली थी अब उस का विस्तार १५०० पृष्ठ तक हो गया है तो—अवश्य ही उस के तीन खण्ड कर दिये जायं—

प्रथम खण्ड—जगत्प्रधान है इस लिये इस के बाह्य-जगत् और आन्तर जगत् दो प्रधान भाग

कर के—जगत् की अभिव्यक्ति, जगत् का व्यवहार और विचार—शक्ति, विचारसंयम, विचारसंस्कार, विचारसिद्धि, विचार-परिशीलन एवं विचारद्योतन—ऐसे आठ विभागों में विभक्त कर के इस को ५०० से कुछ अधिक पृष्ठों में पूर्ण किया है।

द्वितीय खण्ड—जगदादिक सब आत्मप्रधान है इस लिये इस के परमात्मा और जीवात्मा दो प्रधान भाग कर के—आत्मा, परमात्मा, माया, अवतार, भक्त, प्रार्थना, जीव, शरीर, अन्तःकरण, मन, प्राण, इन्द्रिय विज्ञान, शारीरिकरचना, आरोग्य, अमरत्व, जन्म-मरण, पुनर्जन्म विभागों में लगभग ६०० पृष्ठों में पूर्ण होगा।

तृतीय खण्ड—परमात्मा जीवात्मा के उपांग—कर्म, उपासना और ज्ञान हैं इस लिये इस के सकाम निष्काम कर्म, कर्मसाधन, कर्त्तव्यकर्म लोकोपासना, धर्मोपासना, ईश्वरोपासना, अविद्या, विद्या, परापर विद्या, आत्मा-नात्मज्ञान और कैवल्य आदि विभागों में लगभग ४०० पृष्ठों में पूर्ण होगा।

इस प्रकार इस 'विचारदर्शन' की रचना का यह दिग्दर्शन है। इस से अधिक, इस की रचना के लिये, इस की भाषा के लिये एवं इस के विषय प्रतिपादन के लिये और कुछ नहीं कह सकता। हां, इतना तो कह सकता हूं कि—दृढ संकल्पानुसार, चित्रों का संगठन होना,

पुस्तक में आद्योपान्त कहीं फ़ुटनोट—पाद टिप्पनी का न लिखा जाना, और अन्त में पुस्तक में के किसी शब्द या स्थल के वोधगम्य होने के लिये वर्णानुक्रमपूर्वक शब्द-सूची (Index) का लिखा जाना एवं परिशिष्ट का लगाना मेरे अधिकार में था और इस की छपाई तथा जिल्दबन्दी छापेखाने के हाथ थी—उस के लिये—प्रत्यक्ष का प्रमाण ही क्या होता है ?—इस से अधिक कहने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

कितने ही मेरे निःस्वार्थ सहायक मित्र, आत्मीय प्रिय साहित्यसेवी और उदार सज्जन पुरुष आ कर जब कभी इस को सुनते देखते थे तब अपनी अपनी इच्छा के अनुसार नाना प्रकार के प्रश्न कर के मुझे सप्रेम सहायता प्रदान करते थे—कोई कहता था—विचार में इतनी शक्ति है, यह केवल तिलस्समी अद्भुत जादू का सा वर्णन है—किसी के मानने योग्य नहीं। कोई कहता था—विचार से सब साध्य हो सकता है तो लगातार चाहे जैसा विचार करने पर भी इच्छित क्यों नहीं साध्य होता ? अगर सब विचार ही पर निर्भर है तो फिर श्रम प्रयत्नादिक करने की क्या आवश्यकता है और जीतोड़ श्रम और प्रयत्न के साथ विचार करने पर भी क्यों नहीं कुछ साध्य होता ? जब सब कुछ विचार ही के अधीन है तो, फिर, अश्रान्त विचार करने पर भी, बुरा भला क्यों नहीं होता ? कोई कहता था—सिद्धियों के लिये जो तुमने लिखा है वह सब असंभवनीय है—इस वक़् कभी कहीं ! सिद्धियां साध्य नहीं है । कोई कहता था—विचार के विषय में और सिद्धियों के विषय में तुम्हें स्वयं

क्या अनुभव है? अगर अनुभव नहीं है तो-किस आधार पर इतना वड़ा पोथा लिख रहे हो और विना अनुभव के इस के लिखने का तुम्हें अधिकार ही क्या है? । कोई कहता था-योग का प्रत्यक्ष अनुभव चाहिये, विना अनुभव के योग के लिये एक अक्षर भी लिखना निरुपयोगी है। कोई कहता था-इस अध्यांत्मविद्या को तो उठा कर विलकुल ही अलग रख देना चाहिये-इसी ने तो हमें और हमारे देश को अकर्मण्य वना कर नीचे गिरा दिया है। कोई कहता था-आत्मवल, कोई चीज़ ही नहीं-जो कुछ है शरीरवल ही है और उसी से सव कुछ साध्य हो सकता है। कोई कहता था-इस वक़्त हिन्दी में ऐसे ग्रन्थ की कोई आवश्यकता ही नहीं-कलाकुशलता, उद्यम, व्यापार, खेती, रसायन, विज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों के ग्रन्थों की आवश्यकता है । कोई कहता था-वस अव वेदान्त, अध्यात्मविद्या, ईश्वरभक्ति को अलग करो-इन से क्या होना है? कोई कहता था-हमें नई पुस्तकों की ग़रज़ ही क्या है-क्या पुरानी पुस्तकें थोड़ी हैं? उन के पढ़ने के लिये वक़्त नहीं है तो यह तुम्हारा इतना वड़ा पोथा कौन लेगा और इस को पढ़ेगा? कोई कहता था-इस के पढ़ने सुनने से लाभ ही क्या है-खाली वक़्त खोना है। कोई कहता था-तुम्हारी जन्म भापा हिन्दी नहीं-इस लिये उस में तुम्हें कुछ लिखने का अधिकार ही नहीं। कोई कहता था-तुम्हारी भाषा वहुत कठिन है और उस में अंग्रेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी, मराठी, गुजराती, मारवाडी, वंगाली मिली हुई है, कहीं कहीं उस की छाया देख पडती

है और कहीं कहीं तो वे प्रत्यक्ष नज़र आती हैं। कोई कहता था-पहिले ही तुम्हारी भाषा शुद्ध नहीं और अनेक भाषाओं के अनेक प्रमाण जहां तहां उद्धृत कर के सारा ग्रन्थ निकामा बना डाला है। कोई कहता था-यह तुम्हारी प्रश्नोत्तरात्मक चक्राकार अद्भुत-Rotatary language भाषा-खाली द्विरुक्ति का दोष माना जाता है वहां द्विरुक्ति, त्रिरुक्ति, चतुरुक्ति क्या, अनेक उक्तियां भरी हुई है-इस लिये कुछ काम की नहीं। कोई कहता था-व्याकरण के नियमों के अनुसार तुम्हारी भाषा अशुद्ध है और महावेर भी ग़लत हैं।

ऐसे अनेक प्रश्नों की भरमार हो रही थी और मैं बड़ी प्रसन्नता से बड़ी नम्रता से, एवं बड़ी प्रीति से सुन ही रहा था-इतने में एक दिन अकस्मात् वे ही हमारे बाबू साहब, नहीं नहीं-हमारे श्रीमान् विद्यारत्न, बिलकुल अपने असली वेश में मेरे पास आ कर बड़ी उत्कण्ठा से पूंछ ने लगे-'क्या तुमने प्रस्तावना लिख डाली?' मैं ने नम्रभाव से 'हां' कह कर, 'प्रस्तावना' उन के सामने रख दी। उस को पढ़ते पढ़ते-'ऐसे इन चक्राकार उछलते हुए प्रश्नोत्तरों ही में-' पढ़ते ही-साथ अश्रुबिन्दु के प्रस्तावना उन के हाथ से नीचे गिर पड़ी और श्रीमान् कहने लगे कि-"मित्र, क्या तुम इस महान् जटिल, अत्यन्त कठिन, दुर्भेद्य चक्रव्यूह, चक्राकार उछलते हुए प्रश्न का उत्तर दे सकते हो?-कभी नहीं! तुम्हारे इस ग्रन्थ के लिखने के पहिले और मेरे बूट, कोट, पटलून, नेकटाइ आदि जला डालने पर-तुम्हें अपने निर्वाह के साधन से

अलग होना पड़ा भाई विरादरों से अलग होना पड़ा और दुनियादारी से अलग होना पड़ा । मुझे इस देशी सादे पोशाक से और हिन्दी बोलने से नीचा होना पड़ा और अपना रुआब खोना पड़ा । पहिले के जैसे अब कोई मुझ से डरता नहीं—और तो क्या, कोई, 'गुडमार्निंग, सलाम' तो दूर, 'रामराम' तक नहीं करता ! अब मा कहती है कि—' भैया, तू—यस फ़स—करता था वही अच्छा था—अब तेरी हिन्दी बोली को और लिवास को सुन देख कर घर की मजदूरन तक नहीं डरती !' यह कैसा रूपान्तर, स्थित्यन्तर और गत्यन्तर है ? हाय हाय ! अब हम किसी दीन के और न किसी दुनिया के रहें ! प्यारे "मित्र, यह तुम्हारा ग्रन्थ कौन देखेगा, पढ़ेगा और सुनेगा ? कदाचित् कोई पढ़ सुन भी लेगा तो, उस का परिणाम ही क्या होगा ? " मित्र के मुंह से, एक ठंढी सांस के साथ ही एक गरम आह निकल पड़ी और फिर कहने लगा "मित्र, क्या तुम इतिहास को बिलकुल ही भूल गये या तुमने इतिहास को देखा ही नहीं ?"—चौंक कर मैंने बड़े जोर के साथ कहा—"कौन कहता है—मैंने इतिहास को देखा नहीं ?"— मित्र फिर एक जोर से लंबी सांस खींच कर और आंखें फेर कर कहने लगा—" प्यारे, तुम अपने देश का शायद प्राचीन इतिहास जानते हो—अर्वाचीन नहीं । क्या तुम नहीं जानते दुर्योधन ने बड़े बड़े प्रभावशाली, नीतिविशारद, महारथी, अतिरथी शूरवीरों के सामने, अपने मातापिता, पितामहों के सामने—अधर्म को मिटाने के लिये अवतार धारण करनेवाले प्रत्यक्ष

भगवान् श्रीकृष्ण के विद्यमान होते हुए भी–अपने भाइयों के साथ कैसी बुराई की ?–सुई के अग्र बराबर भी ज़मीन का न देना तो भला यह एक भाईबन्दी थी, किन्तु, बेचारी अबला द्रौपदी ने क्या किया था ? उस को राजसभा में–भरे दरबार में घसीट ला कर, बड़े बड़े धार्मिक शूरवीर वृद्ध योद्धाओं के सामने नग्न कर के, उस असूर्यपश्या सती की बेइज़्ज़ती करना–क्या था ? भारत के स्त्री जातित्व का, भारत के सतित्व का, भारत के भारतीयत्व का, भारत के धर्मनीतित्व का और भारत के अस्तित्व का संहार होना था ! इस के आगे सहस्त्रों जाल, हज़ारों कपट, लाखों बुराइयां भी कोई चीज़ नहीं ! इस प्रकार का, भरे दरबार में–अपनी मा, बहन, बहू, भोजाई का नग्न करना–मेरे ख़याल में तो, और किसी भी देश के इतिहास में कहीं नहीं देख पड़ेगा। जयचन्द्र ने क्या किया–मुसलमानों को ला कर अपने पूज्य आदर्श पिता भाईयों का संहार कराया। आगे चल कर राघोबादादा और आनन्दीबाई ने क्या किया–अपने भतीजे नारायणराव पेशवा का ख़ून करवा के, अपनी पेशवाही का ही नहीं–अपने वंश का अन्त किया ! हिन्दुस्थान में फ्रेंचों की सत्ता स्थापित करनेवाले डुप्ली का अनुभव क्या झूठ था–अपने ही देश में–हाय हाय ! देश, गांव, मोहल्ला तो दूर–अपने ही घर में परायों को घुसा कर अपने भाईयों के नाश कराने में हम तनिक भी हिच किचाये नहीं ! अनेक क्रूर हत्यारों के हाथों से, अनेक ख़ून ख़राबियां करा के उलटे हम उन्हीं के गुलाम बने हैं–तो ऐसी दशा में, यह तुम्हारा बड़े जोर से,

फ़ुलस्पीड में– एक हज़ार हार्स पावर एंजिन का तो क्या, एक लाख हार्स पावर के एंजिन का चाक भी घूम जाय तो– आश्चर्य नहीं ! जाने दो इतिहास को, रक्खो परे पुरानी वातें–ज़रा आंख उठा कर देखो, आज भी क्या हो रहा है– अनेक धर्म, मत, कुलाचार होते हुए भी–नये नये धर्ममतों का प्रचार हो रहा है, उन के वादविवाद के लिये सभा, सोसायटी, पंचाईतें हो रही हैं और उन में गाली गुफ़्ता हो के.की चड़, ईंट, पत्थर फेंके जा रहे हैं–हज़ारों का दिल हज़ार हो रहा है ! न तो किसी के साथ किसी का विश्वास है.और न किसी के साथ किसी का मेलजोल ही है। यह.तो हुई वाहर की वात–घर में क्या है–एक कुटुम्व, एक ही मावाप, एक ही वहनभाई, एक ही कन्यापुत्र, एक ही पतिपत्नी किन्तु उन के मत, धर्म, व्यवहार भिन्न भिन्न–एक के चित्त से एक के चित्त का अन्तर हज़ारों मील ! खानपान, रहनसहन, वेषलिवास, वोलचाल, आचारविचार सव का अलग अलग–कोई मरो चाहे जीवो–अपनी.दो दो और चुपड़ी ! किस का देश, किस का धर्म और किस का भाई ! पैसे पैसे के लिये झूंठ-वाज़ी, दग़ावाज़ी, मुक़द्दमेवाजी, गवाहवाज़ी, जुएवाज़ी, सट्टेवाज़ी–नहीं नहीं सौ वाज़ियां हो रही हैं–ऐसे असा-मान्य काल के चक्र के साथ, तुम्हारे हज़ार क्या, लाख हार्स पावरवाले चाक की अगर ज़रासी भी टक्कर–मुठ भेड़ हो जायगी तो–न जाने–उस के कितने टुकड़े हो कर वे किस आस्मान में उड जावेंगे !! परमेश्वर की वडी कृपा है कि आज हम पर विद्यावैभवसम्पन्न, शान्तिप्रिय,

न्यायी, प्रजापालनतत्पर अंगरेज़ प्रभु की प्रभुता है वरना हमारा क्या होता–कौन कह सकता है ?"

मित्र बहुत लाचार और उदास हो कर–"सचमुच ही श्री स्वामी विवेकानन्द के कहने के अनुसार आज भारत–'विचारदर्शन'के दर्शन करने के योग्य नहीं। आत्मतत्ववित् महात्मा इमरसन की भावमयी, भाविनी सदिच्छा के अनुसार 'विचारदर्शन' का दर्शन लेने के लिये आज यूरोप अमेरिका ही योग्य हैं।"–इन शब्दों में इस का उपसंहार कर ही रहा था, इतने ही में एक मेरे महाराष्ट्र विद्वान् मित्र 'The Vantilus' नामक एक अमेरिकन मासिक पत्र की सन् १९१३ की जुलाई की संख्या लिये हुए आये, और कहने लगे–"देखो, यह मासिकपत्र तुम्हारे बहुत ही काम का है। इस में New thought–नवीन विचारश्रेणी पर बहुत ही अच्छे अच्छे लेख निकलते हैं–इस को तुम्हें अवश्य ही मंगवाना चाहिये।" मैं ने उस संख्या को हाथ में लेते ही उस के मुखपृष्ठ पर रंगीन स्पेस–जगह पर सुशोभित बारडर के बीच यह वाक्य देखा–

We lose vigor through thinking
Continually the same set of thoughts.
New Thought is New Life.

हम उसी अखण्ड प्रचलित विचारों के समूह द्वारा अपना उत्साह खो देते हैं। नवीन विचार नवीन जीवन है। आगे चल कर उस के पृष्ठ उलटते उलटते–छत्तीसवें पृष्ट के पहिले कालम के अन्त में पेन्सिल से लिखे हुए 'वाचाच' 'पढ़ो ही' अक्षरों पर दृष्टि गिरते ही–" यह

दृष्टि का गिरना क्या था, हमारे प्रिय श्रीमान् की लाचारी और उदासीनता का क्षय होना था; और उसी महात्मा Emerson–इमरसन के पवित्र वाक्यों का 'विचारदर्शन' में निदर्शन होना था। वैसे ही मेरे मित्रों के विविध कूट प्रश्नों के एक ही अपूर्व उत्तर का प्राप्त होना था और सचमुच ही आत्मबल का प्रबल अनुभव होना था"–झट मैं उस आत्मकृपा की कृतज्ञता में लीन हो गया, मेरा आत्मविचार सुन्दर मित्र 'विचारदर्शन' में निमग्न हो गया और मेरा महाराष्ट्र मित्र इस अपूर्व घटना को देख कर चकित हो गया !

"Has it not occured to you that you have no right to go, unless you are equally willing to be prevented from going? O, believe, as thou livest, that every sound that is spoken over the round world, which thou oughtest to hear, will vibrate on thine ear. Every proverb, every book, every by word that belongs to thee for aid or comfort, shall surely come home to thee through open or winding passages. Every friend whom not thy fantastic will but the great and tender heart in thee craveth, shall lock thee in his embrace. And this because the heart in thee is the heart of all; not a valve; a wall, not an intersection is there anywhere in nature, but one blood rolls uninterruptedly an endless circulation through all men, as the water of the globe is all one sea, and truly seen, its tide is one."

सिवाय तुम अपनी सन्तोष वृत्ति से जाने के लिये रुक जाने पर, तुम्हें जाने का अधिकार नहीं—यह विचार तुम्हें कभी नहीं हुआ ? विश्वास रक्खो—दुनिया में जो आवाज़ होती है और जिस को तुम्हें सुनना ही चाहिये—उस का स्पन्द—आन्दोलन तुम्हारे कान पर होगा। प्रत्येक कहावत, प्रत्येक पुस्तक, प्रत्येक सामान्य शब्द, जो तुम्हारा है वह तुम्हारी सहायता या विश्रान्ति के लिये, अवश्य ही, खुले या चक्कर के मार्ग से तुम्हारे पास आवेगा। प्रत्येक मित्र कि, जिस के लिये तुम्हारा कल्पित—दिखाऊ नहीं, किन्तु, उच्च और प्रेममय हृदय है—वह तुम्हें अपने आलिंगन में बद्ध करेगा—क्यों कि तुम्हारे हृदय में सब का हृदय है, जिस को कहीं जगत् में—कोई आच्छादन नहीं, कोई दीवार नहीं और कोई आवरण ही नहीं, किन्तु सचमुच देखा गया है कि बिना किसी हरकत के, और बिना किसी अन्त के एक ही रक्त सब में प्रवाहित हो के घूमता है जैसे कि, पृथ्वी भर का पानी सब समुद्र में एक ही है और उस का ज्वारभाटा भी एक ही है।

हमारे एक उर्दू शायर ने भी यही कहा है—

> हर आइने दिल में है नक़शा तेरा,
> हर दीदह बीना में है जल्वा तेरा,
> आंखें हों तो इन्सान् वैन हू देखे,
> हर परदे में दर परदह तमाशा तेरा।

इस को चाहे कोई गल्प समझे, चाहे कोई गप्प समझे या चाहे कोई कुछ ही समझे—इस की रचना में, इस की विवेचना में, इस की संकलना में या इस के लिखने में

या प्रतिपादन में—किसी ग्रन्थ की, लेख की, प्रमाण की, या वाक्य, शब्द, अक्षर की आवश्यकता होती थी, अवश्य ही वे स्वयमेव प्राप्त हो जाते थे, उपस्थित हो जाते थे या आन्तर ध्वनिद्वारा प्रकट हो जाते थे। कभी कभी तो वाक्य के वाक्य ज्यों के त्यों स्वप्न में या प्रत्यक्ष विचार—दर्शन में स्फुरण पाकर 'आत्मनः कला' लेखनी द्वारा बाहर निकल पड़ते थे। अनेक सज्जन, विद्वान्, मित्र मेरे पास आ जाते थे तब मैं उन से अपने संशयों का निराकरण कर लेता था या उन के पास मैं स्वयं जा कर अपने संशयों को दूर कर लेता था।

मुझे—'भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।'—इस ऋग्वेद के मंत्र को ढूंढ निकालने की आवश्यकता थी। जिस के लिये मैं ने अपने एक दाक्षिणात्य भट्टजी से संहिता की पुस्तक मंगाई थी। उन्होंने बहुत पुरानी सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई संहिता की पुस्तक ला दी। यह मंत्र १० म मंडल का है यह मैं जानता था, किन्तु संहिता में मंडलों का कहीं पता न था, खाली अध्याय और वर्ग ही लिखे हुए थे। मैं ने संहिता को लगातार खूब देखा। दशम मंडल संहिता के अन्त में है, इस लिये मैं ने सातवें अष्टक से बहुत ही सावधानी के साथ अक्षर अक्षर पर नज़र रख कर सारी संहिता देख डाली किन्तु मंत्र का कहीं पता न चला; श्रमित हो के पुस्तक बस्ते में बान्ध कर रख दी। आज (मार्गशीर्ष कृष्ण ८ शुक्रवार ता० २१।११।१३) दिन के १२ बजे यह पंक्ति लिख रहा हूं इतने में, भट्टजी महाराज आये

और पूंछने लगे कि—'क्या संहिता का काम हो गया ?' मैं ने कहा—'नहीं, चाहा मन्त्र मुझे नहीं मिलता'—झट भट्टजी ने पुस्तक लेकर वस्ता खोला और देखते देखते आठवां अष्टक हाथ में लिया। वत्तीसवां पृष्ट उलटते ही उस में से एक काग़ज़ का परचा निकला। भट्टजी ने मेरे सामने वह पृष्ठ और परचा रख दिया। देखता हूं तो—वही मंत्र उस पृष्ठ पर लिखा हुआ है—मेरे रोमरोम में आनन्द छा गया और आश्चर्य में मुग्ध होकर मैं अन्तर्लीन हो गया। भट्टजी बड़े प्रसन्न हुए और वेदपुरुष का जयजयकार करते हुए चल दिये। थोड़ी देर के वाद फिर देखता हूं तो ता० १८।४।१३ का और ता० ६।५।१३ के 'वेंकटेश्वर' समाचार के अंक मेरे पास धरे हुए हैं। उन में से एक का पृष्ट उलटते ही—'हिन्दी साहित्य की वर्त्तमान अवस्था।'—पर दृष्टि पड़ी—जो हमारे परम प्रिय साहित्य सेवी उदार हिन्दी वाक्पति महाराज महावीर प्रसादजी का प्रसाद स्वरूप लिखा हुआ था। उस का ७ वां भाग 'वैज्ञानिक पुस्तकें' शीर्षक, यहां सप्रेम उद्धृत कर के उन को अनेक धन्यवाद देते हुए क्षमा प्रार्थना करता हूं।

"विज्ञान—शब्द आजकल 'शास्त्र' शब्द का पर्यायवाची हो रहा है। शास्त्र किसे कहते हैं, इस का उल्लेख ऊपर हो चुका है। ज्ञान और विज्ञान कोई ऐसी वैसी चीज़ नहीं। उस की महिमा सीमारहित है। संसार में सब से अधिक महत्व की ज्ञेय वस्तु परमेश्वर है। वह भी ज्ञानगम्य है। ज्ञान की वदौलत ही उस का ज्ञान हो सकता है। ऐसे विज्ञानात्मा—" ऐसे निरतिशय सर्वज्ञ वीज "—जिस प्रसाद

से मनुष्य पहचान सकता है उस का माहात्म्य सर्वथा अकथनीय है परन्तु हाय ! इस ज्ञानगर्भ साहित्य का हिन्दी में सर्वतोभाव से अभाव है। यह बड़े दुःख, बड़े खेद, बड़े परिताप की बात है। ज्ञान की जो अनेक शाखायें हैं—शास्त्रीय विषयों के जो अनेक भेद हैं—उन में से एक पर भी दोचार अच्छे अच्छे ग्रन्थ नहीं। एक जीव-विज्ञा-विटप, या एक रसायनशास्त्र, या और भी ऐसा ही एक आध ग्रन्थ हुआ तो क्या और न हुआ तो क्या। उस से किसी ज्ञानांश के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। अन्य समुन्नत भाषाओं में जिस ज्ञान या विज्ञान की एक एक शाखा पर सैंकड़ों महत्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं उस की किसी शाखा विशेष से संवन्ध रखनेवाली दो चार या दस पांच छोटी मोटी पुस्तकें हिन्दी में हुईं भी तो वे न होने के वरावर हैं। जिस ज्ञान ही की वदौलत अन्य प्राणियों में मनुष्य को श्रेष्ठता मिली है उसी ज्ञानात्मक साहित्य का हिन्दी वोलनेवाले मनुष्य नामक प्राणियों की भाषा में प्रायः पूर्णाभाव होना वड़ी ही लज्जा की वात है। गीता, सिद्धान्त-शिरोमणि, सांख्य, योग और मीमांसा आदि सूत्रों के टूटे फूटे हिन्दी-अनुवाद से इस अभाव का तिरोभाव नहीं हो सकता। इस का तिरोभाव तभी होगा जव संस्कृत और अंग्रेज़ी, दोनों भाषाओं के ज्ञानार्णव का मन्थन कर के सव प्रकार के ज्ञानांश-संवन्धी ग्रन्थों की रचना होगी।"

पाठकों से विनय है कि—वे कृपा कर सन् १६१२ की जुलाई की 'सरस्वती' में के 'आत्मा और अन्तःकरण'—शीर्षक लेख को देख कर उस की अल्प

समीक्षा के साथ उसी साल के अक्टूबर की 'सरस्वती' से उद्धृत की हुई के साथ उस का मिलान करें। उस नोट का अन्तिम पेरा और ऊपर के लेख का तथा फ़रवरी सन् १९१३ की 'सरस्वती' में के 'आत्ममीमांसा' शीर्षक लेखक का निरीक्षण कर के ऊपर के लेख में के निम्न रेखान्वित शब्दों का विचार करें।

" बाए नादानी के बाद अज़ मर्गए साबित हुआ।
ख्वाब था जो कुछ कि देखा-जो सुना अफ़साना था॥"

थोडी ही देर के बाद मन्ननजी महाराज उपस्थित हुए। उन को देखते ही हमारी वाग्देवी बड़े ही ज़ोर से पुकार कर कहने लगी—

वाच्यर्था निहिताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

वाणी के मूल, वाणी से निकले हुए सब अर्थ वाणी ही में रहते हैं, उस वाणी को जो चुराता है, वह सब की चोरी करनेवाला पुरुष होता है।

"मन्ननजी महाराजने हिन्दी साहित्य में होनेवाली साहित्य की चोरी का भी ज़िक्र किया है। आप कहते हैं कि—हिन्दी संसार में साहित्य चोरी भी बहुत होती है। लेखक दूसरी भाषा के लेख अनुवाद कर के अपने नाम से छपवा देते हैं और मूल लेखक का नाम पता नहीं देते—इतना ही नहीं, कितने ही लेखक तो चुपके से दूसरों के हिन्दी लेख भी अविकल अपनालेते हैं। बेशक हिन्दी भाषा के कितने ही पत्रों और लेखकों में यह दोष है और ऐसा करना सभ्यता के विरुद्ध है; पर हम देखते हैं

कि—कितने ही बंगाली, मराठी; गुजराती और उर्दू पत्रों तथा लेखकों में भी यह दोष है—यहां तक कि बाज़ बड़े बड़े अंगरेज़ी अखबार और अंगरेज़ लेखक भी ऐसी साहित्य-चोरी का जुर्म करते हैं। बंग भाषा में जब काली प्रसन्न सिंह लिखित "हूतमपेच (?) का नक़्शा" नाम की व्यङ्ग्य पूर्ण लेखावली निकली तब बंगला के एकाध नाम चाहनेवाले लेखक ने उस को कहीं कहीं से ख़राश तराश कर अपना बना लिया था। मराठी भाषा का मशहूर मासिकपत्र "मनोरंजन" बंगला के उपन्यास चुपचाप अपने बना लेने में ज़रा भी दोष नहीं समझता। किसी किसी ने उस के सम्पादक महाशय को यह कहते सुना है कि—जब हमने मूल लेख के पात्रों का नाम पता बदल दिया, भाषा पलट दी, तब मूल लेखक का नाम देने की क्या ज़रूरत! वह तो हमारा लेख हो गया!! "गुजराती" गुजराती भाषा का एक नामी साप्ताहिक पत्र है। स्वर्गीय गुप्तजीने—"शिवशम्भु का चिट्ठा" पुस्तकाकार छप जाने पर उस के पास समालोचनार्थ भेजा। हज़रत ने समालोचना तो नहीं की, मगर चिट्ठे गुजराती में अनुवाद कर के छाप लिये और मूल लेखक का पता तक नहीं दिया। उर्दू के कितने ही अखबार हिन्दी लेख ज्यों के त्यों छाप लेते हैं और मूल लेखक का नाम डकार जाते हैं। मुरादाबाद का "रहबर" इस काम में तेज़ है।"

हे मा! हे भगवति! हे मूलाधार परावाणी मा! क्या तेरा Incarnation और Reincarnation अपनी भगिनी लक्ष्मी Wealth के समान लोगों पर चोरी का इलज़ाम

लगाने के लिये हुआ है ? और वड़े वड़े साहित्यसेवियों पर–सिर्फ़ चोरी ही का नहीं,–' डकैती ' का भी इलज़ाम लगाने के लिये हुआ है ? क्या मा ! तुझ को भी अपनी वड़ी वहन के साथ मत्सरभाव उत्पन्न हुआ है ? वह जैसी चोरी, नक़वज़नी, रहज़नी, डाकेज़नी, डकैती, ख़ूनख़रावियां करा के अपने हज़ारों सेवकों को जेल में भेजती हैं और फांसी पर लटकवाती है–क्या उसी मार्ग का स्वीकार तूने भी किया है ? और ख़ास हिन्दी ही के लिये ? और ख़ास हमारे श्रद्धास्पद हिन्दी के मालिक महावीरप्रसाद ही के लिये–जो उस चोरी का " डकैती डाकेज़नी " शब्दों में निर्देश करते हैं !! इसी लिये शायद–तू रुष्ट हो कर 'ज्ञानप्रकाश' के प्रकाशमय शब्दों के अनुसार–"आमच्याकडे ग्रंथकर्तृत्वानें पैशाचा कसा पाऊस पडतो हें सर्वांना माहीत आहे. विलायतेंतही एकेकाळीं हाच प्रकार होता हें जॉनसन, गोल्डस्मिथ वगैरेंचीं चरित्रें वाचणाऱ्यांना अवगत आहेच. मि० हालकेन नांवाचे विलायती कादंवरीकार आहेत. येत्या पांच वर्षांत ते जितके कादंवरी ग्रंथ लिहितील ते सारे प्रसिद्ध करण्याचा पूर्ण हक्क न्यूयार्कच्या हॅर्स्ट या पुस्तकप्रकाशकानें घेतला असून या हक्कावद्दल मि० केन यांना पंधरा लाख रुपये मिळावयाचे आहेत. तिकडे सुद्धां आजपर्यंत इतके पैसे कोणालाही मिळाले नव्हते. आमच्या इकडे मात्र सरस्वतीच्या पाठराखणीला लक्ष्मीची जी थोरली वहीण येऊन वसली आहे ती आपला पाय केव्हां काढील तेव्हां काढो ! तूर्त तरी तसा सुयोग येण्याचें चिन्ह दिसत नाहीं." हमारे यहां ग्रन्थप्रणयन से

कैसी धन की वर्षा होती है—यह सब जानते हैं। विलायत में भी एक समय यही प्रकार था—यह जानसन, गोल्डस्मिथ आदि के चरित्र पढ़नेवालों को विदित ही है। आज का मात्र समय वैसा नहीं। मि० हातकेन नामक एक विलायती उपन्यासलेखक हैं। आगामी पांच वर्ष में—वे जितने उपन्यास लिखेंगे, उन सब के प्रकाशित करने का पूरा हक़ न्यूयार्क के हर्स्ट नामक एक पुस्तकप्रकाशक ने लिया है और इस हक़ के बदले में मि० केन को पंधरह लाख रुपये मिलनेवाले हैं। उधर भी आज तक इतने रुपये किसी को नहीं मिले थे। हमारे इधर सरस्वती की पृष्ठरक्षा के लिये जो लक्ष्मी की बड़ी बहन (दरिद्रता) आ बैठी है वह अपना पैर कब यहां से निकालेगी सो निकालो! हाल तो वैसा सुयोग प्राप्त होने का चिन्ह दिखाई नहीं देता!—अनुभव दे रही है। मा मा! सर्व मंगलमांगल्ये! शिवे। सर्वार्थसाधिके! वाग्देवि! मा के सर्वस्व पर, मा के साहित्यभाण्डार पर, मा के अमृतस्तन्यपर—सभी पुत्रों का समान स्वत्व होता है—इसी लिये मा! इस की रचना में जिस जिस वाक्य, शब्द, अक्षर की आवश्यकता हुई—समय समय मा! तूने अपने पास से दिये हैं अपने सत्पुत्रों से लेकर दिये हैं और मिले वहां से ला कर दिये हैं! इस में का एक ही एक फूटा टूटा, छोटा बडा, लघु गुरु, ऱ्हस्व दीर्घ, अक्षर—मा का दिया हुआ है। इस में सर्वत्र उन्हीं वाक्य, शब्द, अक्षरों का उल्लेख है। मेरा इस में कुछ भी नहीं। यह सब मेरी प्रिय मा ही का है और इस पर सब मेरे पृथ्वी भर के भाईयों का समान

स्वत्व है और उन में मैं भी एक उन का छोटा भाई हूं।
"कविरनुहरति च्छायामर्थं कुकविः पदं तथा चौरः"—नहीं नहीं, मैं कभी उन के वाक्य, शब्द, अक्षर—तो क्या सारे लेख के लेख भी लेलूं तो भी—चोर या डाकू नहीं हो सकता। मैं सब का अभिनन्दन करता हूं, सब का उपकार मानता हूं, सब का गौरव करता हूं और सब का धन्यवाद करता हूं।

प्यारे भाइयो! सप्रेम, सविनय प्रार्थना करता हूं कि—इस के वाक्य, शब्द, अक्षर—जो कुछ हैं वे सब आप ही के हैं, आप ही इस के लेखक, उपदेशक, प्रकाशक और प्रचारक हैं। मैं तो केवल आप ही के अक्षर, शब्द और वाक्य को आप 'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'—कोरे काग़ज़ पर लिखनेवाला हूं, 'सकल कला सब विद्या हीना' हूं और 'कबिन होउं नहि वचन प्रवीना' कुछ नहीं जानता हूं आप के चरणों का लघु सेवक, क्षुद्र दासानुदास हूं—आप मुझ पर कृपा करें, अनुग्रह करें और क्षमा करें।

अब मैं उर्दू के प्रसिद्ध शायर शम्सुल—उल्मा मौलवी मुहम्मद हुसेन—आज़ाद ही के अन्तिम शब्दों में इस रचना का अन्त करता हूं। 'वेंकटेश्वर' समाचार कहता है—"दिल पर असर करे" इन्हीं चार शब्दों में आज़ाद ने प्रभावशाली लेखक बनने का गुर बता दिया है।"

" आलम है अपने बिस्तरे, राहत पर ख़्वाब में।
आज़ाद सर झुकाये, ख़ुदा की जनाब में।
फैलाये हाथ सूरतें, उम्मीदवार है।
और करता सिद्क़ दिल हो, दुआ बार बार है॥

मुझ को तो मुल्क से है, न है माल से ग़रज़।
रखता नहीं ज़माने के, जंजाल से ग़रज़।
यारब ! यह इल्तजा है, करम तू अगर करे।
वह बात दे ज़बाँ में, कि दिल पर असर करे॥"

स्वीकार.

सब के पहिले हमारे परम प्रिय हिन्दी के लेखक, उच्च साहित्यसेवी, पण्डित महावीरप्रसादजी की प्रिय भगवति सरस्वती देवी का स्वीकार करना उचित है—क्यों कि इस ग्रन्थ की रचना का मूलकारण वही है—उसीने 'विचार-दर्शन' का निदर्शन किया है—' तस्य प्रत्युपकाराय नम इत्येव केवलम्'—बस इस के सिवा और हमारे पास क्या है ? साथ ही पण्डित मिश्र (Mixture of Sarswati) रामनारायणजी के ' आत्मा और अन्तःकरण ' का सादर स्वीकार करना योग्य है—जो इस ग्रन्थ का मूल कारण है।

अब क्रमशः इस की सहायता के लिये जो जो पुस्तकें, ग्रन्थ, लेख, उपयोग में आये हैं, उपयोगी हुए हैं और उपकारक हुए हैं उन का स्वीकार करता हूं—
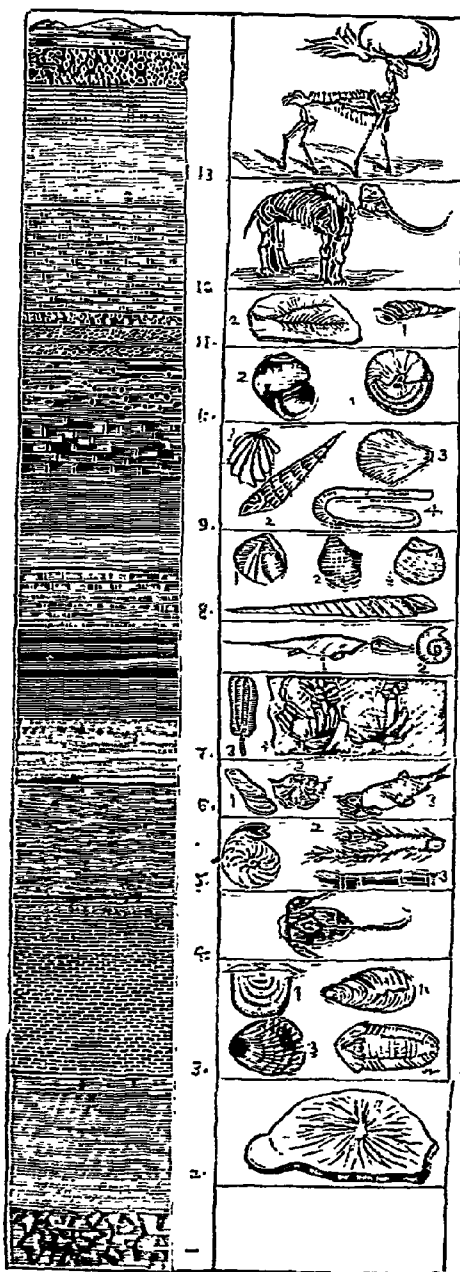
॥ श्री ॥

प्रेम-सन्देश ।

आवे ईश्वर, ईश्वर-सुत वा, यदि बुद्ध, महावीर बडा,
आवे शङ्कर, ज़रथोस्त तथा, मुहम्मद-आर्याचार्य कडा ।
" अपनी अपनी कथा सुना के,-करो एक से एक जुदा-
प्यारा मन सब का तोडो"-कहे न ऐसा किसे ख़ुदा ॥

" प्रेम, एकता, भ्रातृभाव है"-सभी धर्म का मूल खरा,
कहीं किसी का कुछ भी मत हो-चित्त न हो पर भिन्न ज़रा।
प्रेम विश्व का विश्वधर्म है, विश्वविजय जिस से होता;
पाप, ताप, दुख, दरिद्र सब ही-सब का जो क्षण में खोता ॥

बनो, बनावो सब को प्यारे, विश्वधर्म के सद्धर्मी,
विश्वप्रेम से करो सदा तुम, विश्वविजय-हो सत्कर्मी ।
यही हमारा सब को प्यारा, बडा प्रेम का है सन्देश,
हिलमिल चल के सभी प्रेम से, करो प्रेममय अपना देश ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

॥ श्री ॥

मङ्गल-द्वादशी ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ काररूपा चिति है सदा ॐ
न मूं उसे है सब का निदा न
मो दाग्नि में प्राण अपान हो मो
भ क्ति प्रिया के प्रिय हो चिदा भ
ग ति–प्रभावा वह है चिरा ग
व शी बनो, शुद्ध करो स्वभा व
ते जो–मयी में कुछ भी न हो ते
वा र्ता, भवार्त्ता, भय, वासना वा
सु धा चिति प्राणपरा चिरा सु
दे ती सभी वा कुछ भी नहीं दे
वा णी परा ॐ चिति-भावना वा
य थेष्ठ देवो सब को सहा य

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

ॐ शान्तिः ।
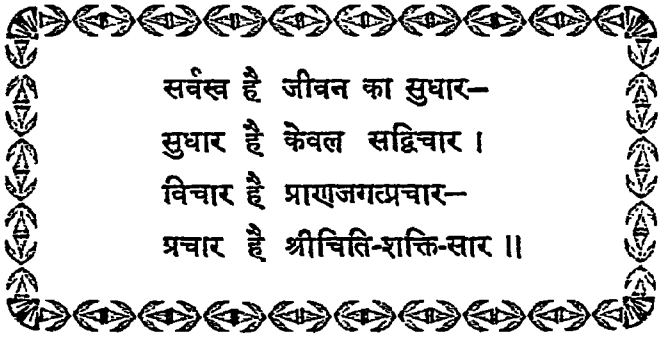
☞ "Soil of Ancient India, Cradle of humanity, hail! hail! venerable and efficient Nurse! whom centuries of brutal invasions have not yet buried under the dust of oblivion. Hail, father land of faith, of love, of poetry and of Science! May we hail a revival of thy past in our Western future!"

—*M. Louis Jacolliot.*

हे प्राचीन भरतभूमि! हे मनुष्यजाति की आद्य जननि! तेरा जयजयकार हो! पूज्य एवं समर्थधात्रि! क्रूर परचक्रों की शताब्दियां भी–तुझे आज तक विस्मृति धूलि के नीचे न दबा सकीं–मा! तेरी जय हो! हे धर्म की, प्रेम की, कविता की एवं विज्ञान की पितृभूमि! हम तुझे प्रणाम करते हैं और चाहते हैं कि–तेरे भूतकाल का पुनरावर्त्तन, हमारे पश्चिम के भविष्यकाल में होवो।

सर्वस्व है जीवन का सुधार—
सुधार है केवल सद्विचार।
विचार है प्राणजगत्प्रचार—
प्रचार है श्रीचिति-शक्ति-सार ॥

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" ॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।
"स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते" ॥

विचार-दर्शन

विचार-दर्शन ।

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।

भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत् ॥

—ऋग्वे० १-१६४

बाह्य जगत् ।

॥ श्री ॥

विश्वकर्मसूक्तम् ।

(१)
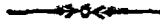
य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः

स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ॥

(२)

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।

यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥

(३)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।

सं वाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

(४)

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥

(५)

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

(६)

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥

(७)

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशंभूरवसे साधुकर्मा ॥

—ऋग्वेदे, मं० १०–८१–८।३।१६.

॥ श्री ॥

विचार-दर्शन ।

प्रथम तरङ्ग ।

बाह्य जगत् ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

जो हिरण्यगर्भ—सूत्रात्मा, स्पन्दशक्ति—जगत् की उत्पत्ति से पहिले विद्यमान था, और उत्पन्न होने पर भी सब विकार-पूर्ण उपस्थित ब्रह्माण्ड का स्वामी ईश्वर था। वह इस विस्तीर्ण पृथ्वी एवं आकाश का सत्-सच्चा आधार है—ऐसे सुख-स्वरूप परमात्मा की हविप्रदान द्वारा हम परिचर्या करें।

१ सृष्टिक्रम ।

"Matter and motion are never found apart."
"Nature sleeps in stone, dreams in plant & wakes in man."

जड़ और चेतन कभी अलग अलग नहीं रहते । प्रकृति पत्थर में नींद लेती है, उद्भिज्ज—वृक्षादिकों में स्वप्न देखती है और मनुष्य में जाग्रत् होती है । इसका अर्थ क्या है—यही बाह्य जगत् का क्रमविकास है ।

प्रारम्भ में यह जगत् आदिकारण में सूक्ष्म बीजभूत था, या क्रमशः विकास हो कर बना था, या परमात्मा की इच्छा-मात्र—जैसा आज हम देखते हैं वैसा ही था ? *वैसा ही था*—ऐसा ही है तो, फिर, हमें घोर आपत्ति में पड़ना होगा । क्यों कि जो आज है वह कल नहीं, और जो आज नहीं वह कल है—तो, क्या कोई इसे बनाता बिगाड़ता है, या कोई इसे घटाता बढ़ाता है, या कोई इसका प्रतिबन्धक वा चालक ही है ? यदि हम जगत् पर दृष्टि फैलाते हैं तो, हमें जहां तहां, अत्यन्त अपार लंबीचौड़ी—ऊंचनीच—जमीन, अनन्त तृण—लता—गुल्म—वृक्ष, छोटेमोटे पर्वत—दरी—गुहा, नद—नदी—नाले, सरोवर—गम्भीर जलाशय—विशाल समुद्र, स्थलचर, जलचर, नभश्चर असङ्ख्य प्राणी आदि देख पड़ते हैं । यदि क्षणभर के लिये, हम एक छोटे से टीले पर, या ऊँचे मकान पर, या मीनार पर चढ़ कर चहुं ओर देखते हैं तो—क्या दृश्य दिखाई देता है ? पृथ्वी का एक छोटा सा गोल—चक्रवाल—देख पड़ता है—अर्थात् जिधर देखते हैं उधर पृथ्वी गोल ही गोल नजर आती है । वहीं अपने को इधर उधर

घुमाते हैं तो—उक्त जगत् की रचना का कुछ न कुछ विभाग दृग्गोचर होता है। यदि हम उसमें से एक तृण का भी विचार करते हैं तो, हमें मुग्ध होना पड़ता है। तृण—*तिनका*—कुछ चीज नहीं और उसका कुछ हिसाव ही नहीं। किन्तु मित्रो, वही तिनका हाथ में ले कर उसकी ओर गम्भीर दृष्टि डाल कर तुम विचार करोगे तो, हृदय में क्या भाव उपस्थित होगा? विचार करना होगा कि—यह किस तरह वना है, किन किन मिश्रणों से इसकी आकृति वनी है और किस कृति से इसका नामरूप वना है—क्या किसी की ज्ञानशक्ति इसको व्यक्त कर सकती है? जहां कीट, पतङ्ग, सरीसृप, पशुपक्षी प्रभृति सहस्र सहस्र प्राणियों की भरमार है, वहां, सर्वतोपरि मनुष्य हैं। ज्ञान—बुद्धि—वल द्वारा इतर सव प्राणी उनके पादाक्रान्त हैं। उनमें से वड़े वड़े ज्ञानी, सिद्धान्ती, विज्ञानवेत्ता, कलाकुशलशिरोमणि आज जगत् में नये नये आविष्कार कर रहे हैं, नई नई वातें वना रहे हैं एवं नये नये चमत्कार दिखा रहे हैं—किन्तु कोई एक छोटा सा तिनका तो वना ले, या उसके जैसा रंग, रूप, आकार आविष्कृत तो कर ले? डारविन साहव के—'कुत्ते वन्दर से मनुष्य वना है'—ऐसा कहने पर अच्छे अच्छे विद्वान् चौंक उठे, कितने उन पर विगड़ वैठे और कितनों ही ने उन्हें बुरा भला कह डाला! हम साहस के साथ, जोर से कहते हैं कि—कुत्ते वन्दर से मनुष्य वनना तो किसी कदर सम्भवनीय है किन्तु, कुत्ता वन्दर तो क्या—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सव चेतन प्राणी, जड़ तृण-*तिनके*—ही से वने हैं।

इसके पहले, साङ्ख्य वेदान्तादिकों को छोड़ कर मनुष्य देह के क्रमविकास तत्त्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण किसी के पास न था । आगे चल कर तुलनामूलक शारीरविज्ञान–Comparative Physiology, तुलनात्मक शरीररचना-शास्त्र–Comparative Anatomy एवं अस्त्रचिकित्सा–Surgery आदि की उन्नति के साथ साथ ही मनुष्य एवं अन्यान्य जीवों के शरीर, अस्थि, गर्भ प्रभृति की चीरफाड़–Dissection साध्य हो के–मनुष्य देह के क्रमविकास के कारण ज्ञात हुए हैं । विशेषतः, गर्भतत्व–Embryology से बहुत ही प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं । और इसी से डारविन, हेकेल, हक्सले आदि ने सप्रमाण दिखाया है कि–आरम्भ में मनुष्य के गर्भ से खरगोश, कुत्ते, बन्दर आदि का गर्भ बिलकुल समान रहता है–इसी का क्रमविकास हो कर मनुष्य बना है । किन्तु यह गर्भ और उसका क्रम-विकास ही क्या है ? सिवाय तृण–तिनके–के यह प्रकृति की अद्भुत लीला कैसे सम्पादित हो सकती है ? एवं उसके सिवाय गर्भ में चेतनशक्ति–Vitality कहां से आ सकती है ? प्रख्यात प्रो० टिण्डाल ने वैज्ञानिक परिषत् के अध्यक्षस्थान पर विराज कर कहा है कि–'In matter, we see the promise and potency of every form of life.'–जड़ में प्रत्येक स्वरूप का जीवनधर्म और शक्ति, बीजभूत हमें प्रतीत होती है । हमारे यहां तो सभी के पहिले प्राचीन काल ही में भगवान् वसिष्ठ ने कह रक्खा है कि–"यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत्स्थितम् । जडं वा जडमेवान्तस्तद्रूपं परमात्मनः ।" जो महा चेतनमय हो कर भी बड़े पत्थर के समान स्थिर है, जो

जड़ है वा जड़ का अन्तःस्वरूप है—*वही परमात्मा का रूप है।* अर्थात् वस्तुजात के—*जड़चेतन*—के अंदर वाहर जो चैतन्य भरा हुआ है—वही परमात्मा का रूप है।

इस तिनके में क्या सचमुच ही चेतनशक्ति—Vitality है या और कुछ सदसत्प्रभाव है?—"तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति" इस केनोपनिषत् की उक्ति के अनुसार जिसे अग्नि नहीं जला सकी तो, इसको भी कोई पैदा करनेवाला या वनानेवाला है, या यह स्वयंभूत है—इसका कोई पता लगा सकता है? स्पिरिट एण्ड मेटर नामक पुस्तक में लिखा है कि—"Science does not know how a blade of grass grows, or how it can grow." विज्ञान यह नहीं जान सकता कि, घास की पत्ती कैसे पैदा होती है, और कैसे पैदा हो सकती है।

प्रो० जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध किया है कि—शरीर का वहिःस्पन्दन और तन्तुओं का अन्तःस्पदन ही चेतनशक्ति—Vitality है। मृतक शरीर स्पन्दन-रहित हो जाता है। अध्यापक वसु ने अपने अद्भुत यन्त्र द्वारा मनुष्य के शरीरान्तर्गत स्पन्दन को प्रत्यक्ष किया है। वैसे ही सुवर्णरौप्यादि धातुओं की परीक्षा की। उस पर से पाया गया कि—मनुष्य-शरीर के समान उनमें भी स्पन्दनक्रिया है। शरीर ही के समान उनमें—सूई, कीला, शस्त्र चुभोने से, या उन पर आघात करने से—उनमें स्पन्दनक्रिया होती है। धातुओं को वारवार काटने पीटने से क्रमशः उनकी स्पन्दनक्रिया शिथिल हो जाती है, किन्तु शक्तिवर्धक औषधियों द्वारा उपचार करने पर पूर्ववत् स्पन्दनक्रिया दृग्गोचर होने लग जाती है।

इस वात के विलकुल स्पष्ट होने के लिये, अध्यापक वसु ने धातुओं पर विपप्रयोग किया तो, पाया गया कि—विपप्रयुक्त धातु स्पन्दनहीन हो गये हैं। अर्थात् मनुष्य के समान उनकी चेतन-शक्ति नष्ट हो गई है। फिर, कुछ देर के वाद, विपहारक औपधि का प्रयोग करने पर, धीरेधीरे उनमें स्पन्दशक्ति आ गई। इस पर से यह निर्विवाद सिद्ध है कि—इन्द्रिययुक्त जीवों के समान, इन्द्रियहीन जड़ पदार्थ में भी चेतनशक्ति—Vitality है और उनमें भी ज्ञानतन्तु विद्यमान हैं। इस वात का ज्ञान हमारे यहां के एक सामान्य ग्रामीण वैद्य तक को है—जो औपधियों द्वारा धातुओं का जारण मारण करके उनका पुनरुत्थान—अर्थात् उनको फिर जिलाता है। इसमें इतना ही गूढ़ है कि, 'ऐसा क्यों होता है'—इसका उसे मुतलक खयाल ही नहीं होता। अगर किसी के हृदय में वसु महाशय के समान इस वात का जरा सा भी खयाल पैदा हो जाय तो, फिर—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के जानने में देर ही क्या है?

इसी के समर्थन में श्रीवेंकटेश्वर में एक लघु लेख निकला है—उसको हम यहां अविकल उद्धृत करते हैं—जिससे प्रो० जगदीशचन्द्र वसु क्या कर रहे हैं और उक्त तृण में चेतन शक्ति है या नहीं—इसका पाठकों को ठीक परिचय हो जायगा।

"हमारा वेदान्त कहता है कि—विश्व की वस्तुमात्र चैतन्यमय है। पश्चिमी विज्ञानवाज पहले इसे वकवास समझते थे; किन्तु विज्ञानाचार्य डाक्टर जगदीशचन्द्र वोस अपने वैज्ञानिक आविष्कारों से वेदान्त मत की सत्यता सिद्ध करके भारत का मुख उज्वल कर रहे हैं। चारपांच वर्ष हुए, उन्होंने अंग्रेजी में एक पुस्तक लिख कर और प्रयोग द्वारा सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया

कि–पश्चिमी वैज्ञानिक जिनको जड़ वस्तु कहते हैं वे वास्तव में जड़ नहीं हैं, सचेतन प्राणियों के समान उनको भी सुख दुःख की भावना होती है और उनके अङ्गों में बिजली पहुंचाने से वे वस्तुयें अपनी भावना–रेखा खींच कर प्रकट कर देती हैं। पश्चिमी विज्ञानवालों ने जगदीश बाबू के इस आविष्कार को स्वीकार तो किया, परन्तु यह उज्र निकाला कि–यह आविष्कार सत्य होने पर भी आध्यात्मिक है; व्यवहारिक दृष्टि से उसका मूल्य कुछ नहीं है। जगदीश बाबू ने हाल में एक और आविष्कार करके उस उज्र का भी खण्डन कर दिया है। इस दूसरे आविष्कार का मतलब यह है कि–जिस तरह मनुष्य आदि सचेतन प्राणियों के हृदय पर होनेवाले सुखदुःखादि भावनाओं का परिणाम इनकी कार्रवाइयों से स्पष्ट दिखाई देता है, उसी तरह वनस्पतियों की कार्रवाईयों से भी प्रकट होता है। यह बात साबित करने के लिये डाक्टर बोस ने एक यन्त्र तैयार किया है, जिसे इसी देश में हिन्दुस्थानी कारीगरों ने बनाया है। प्राणी को विष देने से उसके शरीर पर जैसा परिणाम क्रियारूप में दिखाई देता है वैसा ही परिणाम उस यन्त्र के सहारे, विषप्रयोग की हुई वनस्पति अपने हस्तलेख के द्वारा प्रकट कर देती है। इसके सिवा यह भी प्रकट होता है कि, अधिक आहार से जैसे प्राणी अलसा जाते हैं वैसे ही वनस्पति भी अलसाती है। नशे की चीज खाने से जैसे प्राणी बौरा जाते हैं वैसे ही वनस्पति भी बौराती है। अमेरिकावाले सहस्र मुख से जगदीश बाबू के आविष्कारों की प्रशंसा कर रहे हैं।"

श्रीजगदानन्द राय अपने प्रकृतिपरिचय में कहते हैं कि:–

"उद्भिद् तत्व की आलोचना करने में पद पद इसी प्रकार का विसदृश व्यापार देख पड़ता है। डारविन

प्रभृति बड़े बड़े पण्डितों ने इसी को आगे रख कर गवेपणा की है किन्तु—उसके मूलतत्त्व का पता उनको नहीं लगा। उद्भिद पदार्थ की गति के विधान में—किसी जटिल प्रश्न के उपस्थित होने पर—उसके अस्तित्व को स्थिर रखने के लिये आवश्यक क्रिया सम्पादन करने से पौधों में जीवनशक्ति—vatality उत्पन्न की जा सकती है किन्तु वह शक्ति—Power अर्थात् धर्मविशेप कैसे और कहां से प्राप्त होते हैं—इसकी मीमांसा कोई नहीं कर सकता।"

आगे चल कर वहीं कहते हैं कि—

"गत शताब्दी में—डारविन, हक्सले, स्पेन्सर, वालेस प्रभृति वैज्ञानिकों ने इसी जड़व्यापार को हाथ में ले कर इसकी खूब गवेपणा की है और इसी को आगे रख कर अब नवीन वैज्ञानिक छात्र, नूतन भाव एवं प्रकार से इसकी आलोचना कर रहे हैं। इस आलोचना से उद्भिद् देह के परिवर्त्तन की गति मात्र विज्ञात हो सकती है, किन्तु इसके मूल में जो निगूढ़ रहस्य है उसको जानने में—केवल उसके कार्य को जान कर ही स्तब्ध होना पड़ता है। उसके लिये आगे कुछ नहीं कहा जा सकता।"

इस प्रकार जब हम एक अल्प से अल्प—क्षुद्र एवं सामान्य तृण को नहीं जान सकते तो—अनन्त, अपार, अपरिमित, असङ्ख्य गोलसमूह जगत् को कैसे जान सकते हैं? जरा आंख उठा कर, इस परिणामशील जगत् की ओर देखो तो सही—क्या चमत्कार, आनन्द और एकान्त रहस्य है? किस कल्पना से इसका मानचित्र बना होगा और इसकी

नींव कहां खोदी गई होगी? इसके बनने में क्या क्या सामग्री, कैसे कैसे शिल्पकार, कितना परिश्रम, धन एवं समय लगा होगा? हमें अपने रहने के लिये एक मकान बनाना होता है तो, क्या क्या करना होता है—यह किसी से छिपा नहीं है तो, उस हिसाब से बने हुए जगत् की ओर देखा जाय तो—कितना चमत्कार मालूम होगा? कल्पनातीत, असम्भवनीय, अशक्य, अतर्क्य ऐसे जगद्रूपी गृह में हम अपने को बैठे हुए देखेंगे तो—कितना आनन्द प्राप्त होगा? और जगत् के प्रत्येक परमाणु को जान लेंगे तो—कैसा एकान्त रहस्य ज्ञात होगा?

जिस वक्त रेल में सवार हो कर हम घने जङ्गल, नद, नदी, पर्वतों को उलांघ कर चले जाते हैं, या और कहीं सृष्टिसौन्दर्य की तरफ मनोयोग करते हैं तो, हमें—दिन-रात, प्रकाश-अन्धकार, शीत-उष्ण, परजन्य-मेघ, विद्युत्, हिमबिन्दु, चन्द्र-सूर्य, ग्रह-तारागण, ग्रहयुति, वातावरण, जल, स्थल, वन, पर्वत, नद-नदी-समुद्र, वनस्पति, जीव-जन्तु-प्राणी आदि स्थिर-चर, जड़-चेतन—अनन्त परिणामशील पदार्थ दृग्गोचर होते हैं।

इस विक्रम की विंशति शताब्दी में—हमें पृथ्वी की पूर्वस्थिति और आकाशस्थ ग्रहतारों का वैज्ञानिक स्थूल दृष्टि द्वारा जो यत्किंचित् ज्ञान हुआ है उससे—जगत् की अचिन्तनीयता, अज्ञेयता, अगम्यता, दुरूहता एवं विचार-स्तब्धता प्रतीत होती है। भूगर्भ विद्या से विदित हुआ है कि, अतिपूर्व काल के पूर्व, इस पृथ्वी पर जड़ चेतन कोई भी पदार्थ नहीं था। पृथ्वी का तल एवं तलातल भाग उत्तरोत्तर

बहुत ही उष्ण होता है। जमीन खोदते हुए जितने हम गहरे जाते हैं उतनी ही अधिकाधिक उष्णता प्रतीत होती है–इसी कारणवश, उसी उष्णता से,—"यो पृथिवीं व्यथमानमदृंहत्"–(ऋ० सं० २–१२)–जिसने व्यथमान–*कम्पायमान* पृथ्वी को थांभा—भूकम्प, या ज्वालामुखी वर्षा, या जमीन ऊंची नीची, या ढुमंग होती है। इस प्रकार पूर्व काल में, भूगर्भ में, अब है, उससे अधिक प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित थी–जिससे सब धातुओं का रस हो कर कितने ही वायुरूप हो जाते थे। वह वायु बहुत जोर से पृथ्वीतल पर आते ही, उसके साथ धातुरस का प्रवाह भी उछल आता था और उसके थर बन जाते थे। कुछ समय के अनन्तर उसके शीतल हो जाने से ही यह पर्वत बने हैं। जैसे जैसे वह अग्नि शान्त होने लगी वैसे वैसे वनस्पति एवं प्राणियों का आविष्कार होने लगा। प्रथम अत्यन्त सूक्ष्म तृण, लघु लता, गुल्मगुच्छ एवं क्रमशः छोटे वृक्ष बन कर फिर प्रचण्ड गगनचुम्बित विशाल वृक्ष बने। इस वक्त जो खदान से कोयले निकलते हैं, वे कालान्तर में पृथ्वी के थरों में–उक्त तृण, लता, गुल्म, वृक्षों के दब जाने से ही बने हुए हैं। फिर छोटे बड़े सर्पाकृति जीवजन्तु उत्पन्न हुए। उनके अनन्तर पशुपक्षी आदि प्राणी बने और फिर मनुष्य की उत्पत्ति हुई। जिसकी स्त्रीपुरुषरूप दो शकलें बनीं।

देखिये:–इस विवेचन का भाव, बहुधा जगत् भर के धर्मग्रन्थों में, कुछ शब्दान्तर में जहां तहां मिलते जुलते अर्थ में ही आया है।

प्रथम वेदों को लीजिये—प्रारम्भ के नासदीय सूक्त को पढ़ लेने पर स्पष्ट विदित हो जायगा कि—ऋग्वेद के १० मण्डल के १६० वें सूक्त में कहे अनुसार—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।" —ईश्वरने पहिले जैसे सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि को वनाया था, वैसे ही उसने अब वनाया है और आगे भी वैसे ही वनावेगा—अर्थात् उसी वीजभूत जगत् का प्रलय के अनन्तर क्रमविकास होता है। जिसका खुलासा इसी मण्डल के ७२ वें सूक्त में ऐसा है कि—

"देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥"

देवों के युग में—अर्थात् जिस समय पृथ्वी पर मनुष्य की वसति न थी, प्रथम असत्—'नामरूपरहितत्वेन—*असत्*—शब्दवाच्यं—*सत्*—एव अवस्थितं परमात्मतत्त्वम्'—नामरूपादि न होने के कारण ही सत् असत् वाची हो के परमात्म-तत्त्वरूप था—इस भगवान् शङ्कराचार्य के कहने के अनुसार—उस असत् जड़ में से सत् चेतन, नामरूपान्वित हुआ। फिर दिशायें वनीं। अनन्तर उत्तानपदः—'उत्तानमूर्ध्वतानं पद्यन्ते इत्युत्तानपदो वृक्षाः'—वृक्ष उत्पन्न हुए। पृथ्वी ने उत्तान-पदों को—*वृक्षों*—को उत्पन्न किया, पृथ्वी से दिशायें वनीं। अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। अदिति से दक्ष और दक्ष से अदिति का उत्पन्न होना क्या था—'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन

नारी'–अपने देह के दो भाग करके एक से पुरुष और दूसरे से नारी–*रौ*–हुआ। 'Male and female created he them.' उसने उन्हें नर और नारी बनाया–यही है; और यही वृक्षबीज न्याय एवं प्रकृतिपुरुष का गूढ़ तत्त्व है।

तैत्तरीय ब्राह्मण के, प्रथम अष्टक के, प्रथमाध्याय के तृतीय अनुवाक् में कहा है:—

"आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत्। कथमिदं स्यादिति। सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत्। सोऽमन्यत। अस्ति वै तत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति। स वराहो रूपं कृत्वो-पन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।"

वही आपतत्त्व पानी था। उससे प्रजापति श्रमित हुआ। कैसे यह होगा? उसने वहीं कमल पत्र को देखा। वह विचार करने लगा। क्या वह है कि जिसमें वह रहता है? उसने वराह का रूप धारण किया और पानी में गोता लगाया। नीचे वह पृथ्वी पर गया और उसने उसको ऊपर उठाया। वही पुष्करपर्ण में विस्तृत थी। वही प्रथित थी–इस लिये वही पृथ्वी का पृथिवित्व था। अर्थात् उसका प्रथित होना–*आविर्भूत*–होना ही उसका रूप था एवं वह प्रथित–जल में से ऊपर *आ कर प्रसिद्ध हुई अतएव उसका नाम 'पृथिवी' हुआ*। इससे भी अधिक स्पष्ट–शुक्ल यजुर्वेद के, शतपथ ब्राह्मण के, द्वितीय काण्ड के, पांचवें अ-ध्याय के पहिले ब्राह्मण में कहा है कि—

"प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः परा बभूवुस्तानीमानि वयांसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद्द्विपादो वयांसि। स ऐक्षत प्रजापतिर्यथान्वेव पुरैकोऽभूवमेवमुन्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृज इत्याहुस्ता अस्य परैव बभूवुस्त इमे सर्पा एता ह वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच त्रयीव तु पुनरृचा।"

सब के पहले एक मात्र प्रजापति—*हिरण्यगर्भ*—था। उसने देखा कि, कैसे प्रजा उत्पन्न हो—उसने श्रम करके तप किया। फिर उसने प्रजा उत्पन्न की। उसकी उत्पन्न की हुई प्रजा क्रमशः उन्नत होने लगी। वे ही पक्षी हैं। उनके नजदीक प्रजापति द्विपाद होने के कारण वे भी द्विपाद बने। फिर प्रजापति ने देखा कि, 'पहले मैं एक था, अब दो हुआ'। फिर छोटे छोटे सरीसृप—रेंगनेवाले जन्तु पैदा हुए, फिर सर्प हुए—ऐसी तीन सृष्टियां हुई। ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

तैत्तरीय ब्राह्मण के द्वितीयाष्टक, द्वितीयाध्याय, नवम अनुवाक् में—इस विषय में, इसी प्रकार सब कुछ कह कर यह विशेष कहा है कि—

"असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत।"

ऊपर भगवान् **शंकराचार्य** के कहने के अनुसार असत्—जड़ से जड़ **मन** को उत्पन्न किया। मन ने प्रजापति को उत्पन्न किया और प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की। ऊपर के

असत्, सत, दक्ष, अदिति और इसमें का मन शब्द अनुलक्षणीय है और उनमें पूर्वपश्चिम की अग्निमय चट्टानों तथा वालुकामय भूमि का कितना अच्छा मिलान है—देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ेगा !

भगवान् मनु ने भी अपनी स्मृति के पहले अध्याय में कहा है—

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

\+ + + +

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

\+ + + +

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम्॥

\+ + + +

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥

\+ + + +

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥
तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥"

तमोभूत—'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे'—इस नासदीय सूक्त के वचनानुसार प्रथम अन्धकार के सिवा और कुछ

न था। अतएव यह बुद्धिगम्य न था। बुद्धिगम्य न होने से उसका कुछ चिन्ह न था—इसी लिये वह अतर्क्य, अविज्ञेय और सर्वत्र प्रसुप्तावस्था में था। फिर स्वयंभू—परमात्मा—'स एकधा भवति द्विधा भवति'—वह एक प्रकारका है और दो प्रकारका भी है एवं अव्यक्त—बाह्य करणागोचर और योगाभ्यासावसेय—बाह्य इन्द्रियों को अगोचर—न दीखने वाला और योगाभ्यास से प्राप्त होनेवाला, महा भूत आकाशादि को के उत्पन्न करने के लिये उस अंधकारका नाश करते हुए प्रकाशित हुआ। * * * * *
उसने एक सुवर्णका अण्ड उत्पन्न किया। उसकी दो शकलें कीं। जिस से पृथ्वी और आकाश बने। फिर जल उत्पन्न किया एवं जल से पृथ्वी बनी। अनन्तर अपने देह के दो खण्ड किये। आधे से पुरुप और आंधे से स्त्री बनी—उस में ईश्वरने विराट पुरुप को उत्पन्न किया। फिर कृमि, कीट, पतंग, ज्यूं, मक्खी, खटमल आदि क्षुद्र जन्तु और स्थावर तृण, गुल्म, लता, वृक्षादि उत्पन्न किये; वैसे ही विविध प्रकार की तृण की जातियां, वीज, वल्ली आदि उत्पन्न किये—ये सब चेतन होने पर भी कर्मों के कारण जड़ बन कर आन्तरभान द्वारा सुखदुःखादिकोंका अनुभव लेते हैं। इस में—तमोभूत, वृत्तौजा, द्विधा, एवं अन्तःसंज्ञा अर्थात् अंधकार मय, उत्क्रान्तिरूप उत्पादक शक्ति, पुरुष स्त्री दो और आन्तर भान—ये शब्द विचारणीय और अनुलक्षणीय हैं।

अब जरा बाइबल को हाथ में लीजिये—महात्मा ईसाने कहा है—

"And God said, Let the earth bring forth grass, the herb yielding seed, and the fruit tree yielding fruit after his kind, whose seed is in itself, upon the earth: and it was so.

And God said, Let us make man in our image, after our likeness: and let them have dominion over the fish of the sea, and over the fowl of the air, and over the cattle, and over all the earth, and over every creeping thing that creepeth upon the earth.

So God created man in his own image, in the image of God created he him; male and female created he them."

Genesis, chap. 1, V. 11-26-27.

और ईश्वरने कहा कि—जिन में बीज हों ऐसे घास-तृण और सागवान को पृथ्वी उत्पन्न करे। और फलयुक्त वृक्ष कि जो अपनी अपनी भांति के समान फल दें, और उन के बीज भूमि पर उन्हीं में हों—पृथ्वी उत्पन्न करे—और ऐसा हो गया। + + + + इस प्रकार घास पात हो जाने पर ईश्वरने दिन रात, ऋतु वर्ष बनाये। आकाश से प्रकाश पृथ्वी पर लाया, चन्द्र सूर्य बनाये। पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी और आकाश में उडने वाले प्राणी बनाये। पानी बनाया। मत्स्य, सरीसृप आदि प्राणी बनाये और पशु बनाये। इतना सब बन जाने पर—और ईश्वरने कहा कि—हम मनुष्य को अपने स्वरूप में अपने समान बनावें और वे समुद्र की मछलियों पर, और आकाश के पक्षियों पर, और ढोरोंपर, और सारी पृथ्वी पर और जो पृथ्वी पर रेंगते हैं, इस प्रत्येक प्राणीपर सत्ता करें।

तब ईश्वरने मनुष्य को अपने स्वरूप में उत्पन्न किया। उसने उसे ईश्वर के स्वरूप में बनाया। उसने उन्हें नर और नारी बनाया।

अब देखिये—बहवाले क़ुराने शरीफ और हदीस के जलालुद्दीन रूमीमौलाना रूमने अपनी मसनवी के दफ्तर ४ हिकायत ६बमुकाय तौहीद में क्या कहा है—

"सर बरूँ आरद् दिलश् अज् बहरेराज़,
अव्वलो आखिर बबीनद् चश्मबाज़।
आमदह अव्वल ब अक़्लीमे जमाद,
वज़् जमादी व नबाती उफ्ताद।
सालहा अन्दर नबाती उम्र कर्द,
वज़् जमादी याद नाविर्द् अज़् न बर्द।
वज़् नबाती च्यूँ वहैवाँ उफ्ताद,
नामदश् हाले नबाती हेच् याद।
जुज़् हुमाँ मेले कि दारद् सूए आँ,
खासह दर वक्ते बहरो जीमराँ।
हम चु मेले कोदकाँ वा मादराँ,
सर मयल खुद् न दानद् दर लबाँ।

\+　　　+　　　+　　　+

बाज़ अज़् हैवाँ सूए इन्सानियश्,
मीकशद् आँ खालकी कि दानियश्।
हम चुनीं अक्लीम ता अक्लीम रफ्त,
ता शुद् अक्नूँ आकिलो दाना वज़ुफ्त।
अक्ले हाय अवल्लीनश् याद नेस्त,
हम अज़ी अक्लश् तहव्वुल् कर्दनेस्त।

सब के पहिले दिल्—मन, बहरेराज़—भेद के दरयासे—गूढ़ समुद्र से—असत् से निकला। उसने अव्वल से आखिर

तक खुली आंख से देखा। फिर जमादी—पत्थर मिट्टी आदि जड में गया। फिर जमादी से नबाती—तृण लता गुल्म में गया। जमादी से नबाती में बरसों तक रहने पर भी उसे कुछ याद न रहा। फिर नबाती से हैवानी—पशु पक्षी जानवरों में पडा। वहां नबाती की कुछ याद न रही तो भी, फूलों की फसल में उस की ख्वाहिश—इच्छा रही। जैसे बच्चे अपनी मासे ख्वाहिश रखते हैं पर अपनी ख्वाहिश का भेद नहीं जान सकते। फिर उसे खुदाने हैवानी दुनिया से इन्सानी—मानवी दुनिया में खैंचा। वहां आकिल—अक्लमन्द और दाना और जुस्त-अभिमानी हुआ। फिर पहिली अक्लें याद न रहीं। इसी तरह इस अक्ल से भी अब वह गुजरने वाला है। इस का तात्पर्य यह है कि—पहले पहल मनुष्य जड में था। फिर बहुत दिन वह तृण, लता गुल्म हो कर रहा। उस वक्त उस को जड जीवन के सिवा और कुछ न मालूम था। जब वह उद्भिद जीवन से प्राणी जीवन को प्राप्त हुआ तब उस की उद्भिद जीवन की स्मृति जातीरही—केवल उस का मुग्ध आभास रह गया, जिस से वन के पुष्प पल्लव उस के प्राणों को आकर्षित करते थे। जैसे स्तनदुग्धलोलुप बालक मा की लालसा रखता है किन्तु उसका रहस्य नहीं जान सकता। उस के बाद सृष्टिकर्त्ताने उसे पशु पंक्तिसे निकाल कर मनुष्यत्व देकर उन्नत किया। मनुष्य प्रकृति का प्यारा है। प्रकृति के गोद में रहकर युगयुग में उस का परिवर्त्तन हुआ है। इस वक्त मनुष्य ज्ञानबुद्धि परिपक्व और बलशक्ति समन्वित है। किन्तु अपने को भूला हुआ है। जैसे अब उस को अपने अतीत स्वरूप

की विस्मृति हुई है, वैसे ही उसे भविष्यत् में अपने वर्त्तमान स्वरूप की विस्मृति होगी। अर्थात् उस का वर्त्तमान रूप भविष्यत् में रूपान्तर को प्राप्त होगा। इस में दिल—मन, वहेरराज—असत्, चश्मवाज-देखने वाला,

जमादी-जड, नवाती-वनस्पति, हैवान्-पशुपक्षी को; ऋग्वेद के असत्, उत्तानपद्-वृक्ष; तैत्तिरीय के मन; शतपथ के ऐक्षत-देखा, वयांसि-पक्षी, सरीसृप-रेंगने वाला; मनुस्मृति के तमोभूत-अन्धकारमय, वृत्तौजा-उत्पादक शक्ति, द्विधा-पुरुषस्त्री, अन्तःसंज्ञा-अन्तरभान; वाइवल के ग्रास, हर्ब, ट्री, केटल, क्रिपिंग, मेल एण्ड फीमेल के साथ परस्पर विचारना चाहिये।

इस प्रकार वेद, ब्राह्मण, स्मृति, वाइवल, मसनवी के शब्दों का वाक्यों का परस्पर मिलान करने पर ज्ञात हो जायगा कि—पृथ्वी भर के धर्मों में जगत् का एवं जगत् के उत्पादक का कुछ शब्दान्तर ही में प्रतिपादन आया है और वहुधा जगत् के मूल कारण का पता समान ही कल्पना में सर्वत्र लगा है। क्या यह पृथ्वी भर के धर्मों का ऐक्य, अभेद, समानत्व नहीं है? ईश्वर, धर्म और जगत् का कितना अभिन्न भाव, कितना समान भाव एवं कितना एक भाव है? डरविन, हेकेल, हक्सले आदिने गर्भ विद्या से या चीर फाड से क्या पता लगाया है? यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि—प्रथम असत्—जड था, जड से सत्—चैतन्य वना और सत्व प्रकाश विकास हो के जगत् की उत्क्रान्ति हुई। न जाने इस जगत् की उत्क्रान्ति की प्रगति कहांतक होगी और इस का क्या परिणाम होगा?

आचार्य वसु महाशय के आविष्कार के जड और जीव में प्रतिपादन किया गया है कि—"पाठकों को अवश्य जानना चाहिये कि, जड ही चेतनशक्ति की लीला भूमि है। चेतन शक्ति जड ही के आश्रय से अपना प्रभाव दिखाती है एवं जड का अभाव होते ही पङ्गु हो जाती है। जड पर किस प्रकार चेतन शक्ति कार्य करती है तो—कार्य की परिधि इतनी व्यापक है कि जिस की सीमा का निर्देश करना असंभव है। ताप, आलोक, विद्युत्—यह सब जड हैं और जड शक्ति ही के कार्य हैं—तो, उस की सीमा कैसे हो सकती है? किसी भी विषय की प्रबल व्यापकता होने पर उस का कार्य दिखाई देता है। पदार्थ के अणुओं को विन्यस्त, विकृत और चञ्चल करना ही शक्ति का प्रधान कार्य है।

श्रीजगदानन्दराय अपने प्रकृति परिचय में कहते हैं कि—"जड़ के समान ही चेतन शक्ति का भी क्षय नहीं है—यह बात वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध हो चुकी है। Joule जूल; Helmholtz हेल्म होम, Rumford रम्फोर्ड आदि प्रमुख पण्डितोंने गत शताब्दी में प्रमाणित किया है कि—एंजिन के चूल्हे में कोयले डालने पर—वे प्रज्ज्वलित होके उनकी खाली राख ही नहीं होती किन्तु उनका रूपान्तर हो के, चेतन शक्ति बनकर कल को गति प्रदान करते हैं। विद्युत की शक्ति का, विद्युदुत्पादक कल में कोयलों ही के समान रूपान्तर होता है। द्रावक पदार्थों में ताम्र फलकादिक डुबाने पर जब हमारे घर में विद्युत् उत्पन्न हो सकती है तो—रासायनिक शक्ति को विद्युद्रूप धारण करने में शंका ही

क्या है ? प्रकृति का भाण्डार जितना जड़ और चेतन से भरा हुआ है—उस में के एक कण का भी कभी क्षय नहीं होता। नाना प्रकार का मूर्त स्वरूप धारण करके प्रकृति की विचित्रता दिखानाही—इस का कर्त्तव्य है। सुतरां देखा गया है कि—**इस विशाल वाह्य जगत् का अस्तित्व एवं उसकी विचित्र लीला केवल जड़ और चेतन पर ही निर्भर है। इन्हीं दोनों में विज्ञान का परम सत्य है।** इन दोनों का परस्पर इतना निगूढ़ सम्बन्ध है कि—एक के अभाव में दूसरा नहीं रह सकता। शक्ति हीन जड़ जगत् में है, एवं जड नहीं, अथच शक्ति है—इस प्रकार की घटना भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। आन्तर जगत् में जैसे देह और प्राण का संवन्ध अविच्छेद्य है वैसे ही वाह्य जगत् में जड़ और शक्ति का सम्यन्ध अविच्छेद्य है। जड़ चिरकाल से ही निश्चेष्ट है एवं चेतन सर्वदाही प्राणमय है। इन दोनों के योग ही से हम चेतन शक्ति को शक्ति जानने में समर्थ होते हैं और जड़ को जड़ जानने में समर्थ होते हैं।

क्या अब भी—उस तिनके में चेतन शक्ति Vitality होने में और उस की शक्ति अज्ञात होने में कुछ भी संशय है ? क्या उस से **डारविन, हेकेल, हक्सले** के पैदा होने में और उन के कथनानुसार—कुत्ता वन्दर और मनुष्य वनने में कुछ भी संशय है ? एवं जगत् के क्रम विकास में और उस की उत्क्रान्ति की गति में कुछ भी संशय है ?

स्वामी **विवेकानन्द** के शिष्य स्वामी **अभेदानन्द** अपने एक व्याख्यान में कहते हैं कि—"The theory of Evolution says that man did not come into existance

all of a sudden, but is related to lower animals and to plants, either directly or indirectly. The germ of life had passed through various stages of physical form before it could appear as man. That branch of science which is called Embryology has proved the fact that "Man is the epitome of the whole creation." It tells that the human body before its birth passes through all the different stages of the animal kingdom-such as the polyh, fish, reptile, dog, ape and at last man. ... But the theory of Evolution will remain unintelligible until science can trace the cause of that innate "tendency of vary" which exists in every stage of all living forms." क्रमविकास की कल्पना कहती है कि–जगत् में एका एक मनुष्य का अस्तित्व नहीं हुआ किन्तु प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से प्रथम क्षुद्र पौधों में और फिर प्राणियों में उस का संबन्ध हुआ। मनुष्य बनने के पहले जीवन तत्व विविध प्रकार के शरीरों में से प्रवाहित हुआ था। गर्भ विद्या के विज्ञान की शाखाने प्रमाणित किया है कि–"मनुष्य सब सृष्टि की उत्पत्ति का सार है"। वह कहती है कि–जन्म होने के पहले मानवी शरीर, नाना प्रकार के प्राणिसमूह की अवस्था में से पार होता है–जैसे कि प्रथम पोलिप–एक जन्तु, मत्स्य, सरीसृप, कुत्ता, वन्दर और सब के पीछे मनुष्य बनता है। किन्तु प्राणिमात्र की प्रत्येक अवस्था में जो आन्तरिक–"रूपान्तर की प्रवृत्ति" रहती है–उस के कारण का विज्ञान पता लगा सकेगा तब तक यह क्रमविकास की कल्पना पूर्ण ज्ञात न होगी अर्थात् अपूर्ण रहेगी।

इसी लिये प्रो० हेकेल की मनुष्योत्पत्ति की काल गणना ठीक नहीं है। वह कहता है कि पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति को लगभग वीस हजार वर्ष होते हैं किन्तु स्वयंभू-हिरण्य गर्भ को-monera एक विन्दु से आदि मत्स्य और आदि मत्स्य से अकपाल प्रथम स्तनी और उस में से मनुष्यावतार में प्राप्त होने के लिये करोड़ों वर्ष व्यतीत होने चाहिये। क्यों कि स्वायंभुवी-हिरण्यगर्भ चेतनसृष्टि-spontaneous Generation सहजोत्पत्ति, स्वयंभूत सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य तक-"आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।"-आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधि-तृणलतागुल्मादि, ओषधि से अन्न और अन्न से पुरुष-ऐसी परम्परा हो के उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज सृष्टि का मूर्त्तरूप बनने में अनन्त काल वीतना चाहिये। भूगर्भविद्या से भी यही सिद्ध होता है कि-जलमय चट्टानों के नीचे अग्निमय चट्टानें देख पड़ती हैं और अभ्रसृष्टिवाद-Nebular Hypothesis के अनुसार यह अग्निमयी अवस्था पहले ही अति सूक्ष्म वायुरूप थी। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, भी तो सूक्ष्मतर आकाशरूप ही थे। इसी लिये उपनिषदादि ग्रन्थों में आत्मा, महत्तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी के अनुक्रम में सृष्टि की कल्पना की गई है। यह क्रम भी तो, भूस्तर और खगोलशास्त्र के प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता है तो-इस दृष्टि से भी दिशा और काल का गहनत्व

और अनन्तत्व कितना है—उस की कल्पना करने में मनुष्य की शक्ति कुण्ठित होती है । अर्थात् छ सात या दस वीस हज़ार की काल गणना और उस में जगत् का क्रमविकाश हो कर आज का मनुष्य रूप वनना विलकुल असंभव है ।

पाश्चात्य–Nebular Hypothesis अभ्रसृष्टिवाद के लिये साभिमान हैं इतनाही नहीं, वे जानते हैं कि, यह अभ्रसृष्टि वाद जगत् में किसी को मालूम न था । 'हमहीने जाना है' किन्तु उनका यह कहना विलकुल ग़लत है । हमारे वेदों में इस का जगह जगह उल्लेख है और जगत् की उत्पत्ति की कल्पना भी इसी में सिद्ध की गई है । ऋग्वेद के १० मण्डल के ७२ वें सूत्र में–'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परी ।'–ऐसा कहा है । इसका अर्थ यह है कि–महदाकाश में जगत् की वीजभूत शक्ति–अदिति उत्पन्न हुई । अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्षसे अदिति उत्पन्न हुई अर्थात् उस वीजभूत शक्ति के एकदम दो विभाग वने । इन दोनों के अनन्तर देवों की उत्पत्ति–'तां देवा अनु अजायन्त'–हुई है और देवों में वही अदिति–शक्ति परिपूर्ण थी । उसी शक्ति द्वारा देवोंने अन्तरिक्ष जल के ऊपर नृत्य किया जिस से जल के अणु संगठित हो के शुष्क हो जाने पर पृथ्वी वनी । 'अम्भः कियासीद्गहनं गभीरम्'–(१०।१२६) 'तामिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः'–(१०।८२) 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या'–(१०।८२) 'अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत'–(१०।७२) 'अत्रा समुद्र आगूढ मासूर्य मजमर्तन,–(१०।७२) 'अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः

समुद्रे'–(१०।१२५) इन ऋग्वेद के मन्त्रों में आकाशस्थ समुद्र–जल का वर्णन है और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति कही है। सृष्टि के आरम्भ में जो अपरिमित वाष्प समूह अथवा आधुनिक विज्ञान के अनुसार–Mass of dissipated nebulous matter अभ्र सृष्टि तत्व था उस का वर्णन–प्रतिपादन हमारे वेदों में तात्विक दृष्ट्या और वैज्ञानिक रीति से ही किया हुआ है। फ्रेंच पण्डित लाप्लासने अब इस को अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा सिद्ध किया है और विकासवादके आविष्कर्त्ता डारविन् साहब के वंशधर मि. जार्ज डारविनने दूरवीनों द्वारा इसको प्रत्यक्ष किया है। आज भी आकाशमें वलयाकार वाष्प समूह विद्यमान है। उसी अन्तरिक्ष समुद्र में–वाष्पराशि नीहारमें–'एकः सुपर्णः। स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।'–एकः–अकेला, एकाकी, सुपर्णः–ईश्वर समुद्रं–अन्तरिक्ष समुद्रमें प्रविष्ट होके–भुवनं विचष्टे–भूत जात जगत् को देखता है। इस ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११४ वें सूक्त की उक्ति में अभ्र सृष्टि-वाद–Nebular Hypothesis के सिवा और क्या है?

इस प्रकार अभ्रसृष्टि के बाद यथाक्रम पंच महाभूतों का विकास हुआ है। पाश्चात्यों को तो अब अब आकाशतत्व का पता लगा है–जिसको वे–Ether इथर कहते हैं, तो भी, वह हमारे आकाशतत्व जितना सूक्ष्म नहीं है–क्योंकि, उन्होंने उसको दृग्गोचर किया है। हमारा आकाशतत्व स्थूल दृष्टि से बहुत ही परे है सिवाय दिव्यदृष्टिके उसका ज्ञान नहीं होता। हक्सले, हेकेल, डारविन्, वालेस प्रभृति विकासवादियों का क्रमविकास–Evoluton theory अ-

धिकसे अधिक दो तीन शताब्दियों के आगे नहीं जा सकता। हमारे यहां तो, अभ्रसृष्टिके अनन्तर ही इसका सूत्रपात होके—ईश्वर के प्रमुख दस अवतारोंहीने जगत् का क्रमविकास किया है।

ईश्वर का प्रथम मत्स्यावतार, जलसृष्टिके विकास का निदर्शक है—अर्थात् जलकी सृष्टि होजाने पर प्रथम जलजन्तु मत्स्यादिक बने। ईश्वर का द्वितीय कच्छपावतार, जलके अनन्तर भूमिके विकास का निदर्शक है—अर्थात् मत्स्यादिक जलजन्तुओंकी सृष्टि होजाने पर जल और भूमि पर समान चलनेवाले कच्छपादिक प्राणी बने। ईश्वर का तृतीय वराहावतार, भूमि के पूर्ण विकास का निदर्शक है—अर्थात् वनपर्वत नदी की सृष्टि होजाने पर पशुपक्षी बने। ईश्वर का चतुर्थ नरसिंहावतार, जल, स्थल, जीवजन्तु, पशुपक्षी की सृष्टिके पूर्ण विकास का निदर्शक है—अर्थात् सब पृथ्वी के भागों की पूरी सृष्टि हो जाने पर अर्धपश्वाकृति मनुष्य बने। ईश्वर का पंचम वामनावतार, अर्ध मानवाकृति वानरादिकों के विकास का निदर्शक है—अर्थात् सर्वत्र पूर्ण सृष्टि हो जाने पर लघ्वाकृति-वामनरूप मनुष्य बने और उन्होंने जंगली राक्षसादिकों को पृथ्वी के नीचले भागमें हटाया। ईश्वर का छटा परशुरामावतार, चातुर्वर्ण्य-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सृष्टिके विकास का निदर्शक है—अर्थात् चहुं ओर यज्ञयाग, राजाप्रजा, कृषि नीति नियम बने। और मूर्ख प्रमादी क्षत्रियों को हटा कर ब्राह्मणोंने अपना वर्चस्व स्थापित किया। ईश्वर का सप्तम रामावतार, विद्या, शास्त्र, कला, नीति, नियम, धर्मादिकों के पूर्ण

विकास का निदर्शक है—अर्थात् राजनीति, प्रजापालन, नियम न्याय, धनार्जन, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि आश्रमधर्म बने; और रहे सहे जंगली राक्षसादिक प्रजा का विलय करके मनुष्यों ने वानरों के साथ मित्रता की। ईश्वर का अष्टम कृष्णावतार, पृथ्वी भरके ऐश्वर्यादिकों के परिपूर्ण विकास का निदर्शक है—अर्थात् जन्मारंभ हीसे मनुष्य की अद्भुत शक्ति, अपूर्व चमत्कृति, योग, चरित्र, प्रभाव आदि अनेक मनोधर्म बने; और मनुष्यों ने सर्वत्र विजय सम्पादन करके सर्वोच्च भावना द्वारा षड्गुणैश्वर्य सम्पन्नता प्राप्त करके सब पर प्रभुता स्थापित की। ईश्वर का नवम बुद्धावतार, यज्ञ यागादिक भौतिक क्रियाओंके अघटित विकास का निदर्शक है—अर्थात् यज्ञ यागादिकों का उत्पन्न प्रचार हो के बेचारे गरीब पशु परलोकगामी बने। और अहिंसा का प्रचार कर के मनुष्योंने दयाधर्म का प्रचार किया। ईश्वर का दशम कल्क्यवतार, वर्णसंकरता, अधर्म, पाप, दुराचार, रोग, मृत्यु आदि के अन्तिम अधोविकास का निदर्शक है—अर्थात् मनुष्य मात्र की कालान्तर में—जितनी उन्नति हुई है उतनी ही अवनति हो के पृथ्वी का प्रलय होगा।

इस प्रकार जगत् के विकास, विस्तार और परिणाम की कल्पना तो मनुष्य कर सकता है किन्तु स्वामी अभेदानन्द के कथनानुसार—"Innate tendency of vary"—अन्तरीय रूपान्तर की प्रवृत्ति को कोई नहीं जान सकता। वह अतर्क्य अगम्य और अव्यक्त है—अर्थात् अवर्णनीय है। इसी को वेदोंने असत्—अपंचीकृत, अव्याकृत, तत्व,

प्रधान, पुरुष, प्रकृति, ब्रह्म आदि त्रिकालाबाधित सत् कहा है और उपनिषदोंने उस का मनन निदिध्यासन किया है। यही सब धर्मों का मूलतत्व और अन्तिम साध्य है। इस अविज्ञात जगदुत्पत्ति के विषय में पूर्व पश्चिम, और प्राचीन अर्वाचीन अन्वेषण एकत्रित होने पर, चाहे उसे कोई स्वभाव वाद्-Natural Philosophy कहे, चाहे उसे कोई अध्यात्मवाद्-Spiritual Philosophy कहे, और चाहे उसे कोई जड़वाद्-Material Philosophy कहे। किन्तु सब का सम्यग्दर्शन वही एक परमसत्य है। गूढ़ इतना ही है कि-जैसे एकही स्फटिक-crystal रंगोके अनुसार जुदा जुदा देख पड़ता है; वैसे ही परमसत्य का परिवर्त्तन हो के उस का निदर्शन होता है।

कपिल महामुनिने तो प्राचीन काल ही में सांख्य दर्शन लिख कर प्रकृति पुरुष का पता लगा कर जड़ प्रकृति-माया को स्वतंत्र बना कर पुरुष को द्रष्टा किया है। आगे वेदान्त इस का विरोधी हुआ है तो, क्या यह विरोध वास्तव में सत्य है? क्या महाज्ञानी कपिलने प्रकृति को पुरुष से शक्तिरूप स्वतन्त्र माना है? निर्गुण पूर्ण ब्रह्म जब सृष्टि कार्य में नियुक्त रहता है, तब उस को 'कारण ब्रह्म' वा 'ईश्वर' कहते हैं। जगत् का मूल-निमित्त और उपादन कारण कोई भी शक्ति है-जिसे 'प्राणशक्ति' कहते हैं-यही बीजभूत ब्रह्म जगत् का कारण है-"स बीजत्वाभ्युपगमने नैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्व श्रुतिपुच कारणत्वव्यपदेशः। बीजात्मकत्व परित्यज्यैव प्राण शब्दत्वं सतः सच्छब्द्वाच्यताच।" इस गौड पादाचार्य कारिका के शा-

ङ्कर भाष्यद्वारा यही सिद्ध होता है कि—वीजशक्ति ही 'कारण ब्रह्म' होती है—निर्वीज ब्रह्म किसी का कारण नहीं होता, वह कार्य कारण से रहित होता है—'नसत्तन्नासदुच्यते'—अर्थात् इस शक्तिसे अवश्यही ब्रह्म भिन्न है; सुतरां वेदान्त का 'कारण ब्रह्म' निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। जहां शक्ति का लक्ष्य कर के ब्रह्म का उल्लेख होता है, वहां 'केवल ब्रह्म' को 'कारण ब्रह्म' कहा जाता है। वेदान्त का 'कारण ब्रह्म' वा 'ईश्वर' वस्तुतः शक्ति द्वारा ही 'कारण ब्रह्म' होता है। विज्ञान भिक्षु अपने सांख्यभाष्य में कहते हैं कि—"अस्माकं तु कारणब्रह्म परिपूर्णचेतनसामान्यवाचि, नतु ब्रह्ममीमांसायामिव ऐश्वर्योपलक्षित पुरुषविशेष-वाचीति।" हमारा 'कारण ब्रह्म' परिपूर्ण 'चैतन्ययुक्त' है, न कि वेदान्त के समान ऐश्वर्योपलक्षित पुरुष विशेष ही है।

भगवान् शंकराचार्यने भी त्रिगुणात्मक अचेतन माया का स्वीकार किया है। वैसे ही सांख्यने भी त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति का स्वीकार किया है। फिर दोनों में विरोध क्या है? भगवान् शंकर कहते हैं कि—यह शक्ति कहीं स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकती किन्तु सांख्य की प्रकृति शक्ति तो स्वतन्त्र है—इसी लिये भगवान् शंकरने सांख्य के साथ विरोध किया है। किन्तु इस की गम्भीरता से आलोचना करने पर विदित हो जायगा कि—यह विरोध केवल शब्द ही में है, अर्थ में तो एकता ही है—क्यों कि, वेदान्त के मतानुसार ब्रह्म अपनी जगद्रचना की शक्ति से अलग है तो भी, वह शक्ति ब्रह्म से अलग नहीं है। वैसे ही सांख्य के मतानुसार प्रकृति स्वतन्त्र है तो भी पुरुष के अधीन है—

भगवान् श्रीकृष्णने साफ कहा है कि-"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"-मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। अर्थात् किसी प्रकार भी शक्ति व्यक्त हो के जगत् सृजन कर के ब्रह्म का भान कराती है, वैसे ही प्रकृति व्यक्त होके जगत् का सृजन करके पुरुष का भान कराती है-इस पर से क्या पाया जाता है?-ब्रह्म और ब्रह्म की सत्ता एवं पुरुष और प्रकृति-अर्थात् शब्दमें भिन्नता है किन्तु अर्थमें नहीं। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि-"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति"-सांख्य को और योग को जो एक देखता है, वही देखता है अर्थात् वही विज्ञ है। इसप्रकार सांख्ययोग दोनों एक हैं और वेदान्त में दोनों का अन्तर्भाव है। अब वैज्ञानिकों को इसका दिनों दिन प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल रहा है। आगे चल कर उत्क्रान्ति-क्रमविकास-Evolution के तत्त्वानुसार कभी न कभी वह प्रकृति, पुरुष के साथ वा वह ब्रह्मसत्ता, ब्रह्मके साथ अवश्यमेव प्रत्यक्ष हो जायगी।

हर कोई निष्पक्षपात कह सकता है कि-आज कल के वैज्ञानिकों की गवेषणा के सब मूलतत्त्व वेदोंमें भरे हुए हैं। उनको लक्षपूर्वक देखनेसे, उनमें जगह जगह Philosophy विज्ञान प्रत्यक्ष दिखाई देता है। पक्षपातपूर्वक, या स्तुतिव्याजपूर्वक, या अत्युक्तिपूर्वक कभी कोई नहीं कह सकता कि-वेदों में कहीं, किसी अन्य धर्मका, या किसी धर्मग्रन्थका विरोध, या किसी मतामतका खण्डनमण्डन है; या और कोई असंभवनीय, अद्भुत, अतर्क्य उपन्यासी

वर्णन ही है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, सोम आदि देवताओं के सूक्तों के पद पदमें विज्ञान भरा हुआ है और वह विलकुल यथार्थ है। कदाचित् कहीं भक्तिपूर्वक वर्णन के प्रेमप्रवाह में अत्युक्तिका आभास हो तो भी, वह सरलता, शुद्धता एवं स्वाभाविकतासे खाली नहीं। वेदोंके समान आज कल की Philosophy विज्ञान का मिलान या पता ओर किसी धर्मग्रन्थमें मिलना वहुधा असंभव है—इसी लिये कट्टर विश्वविजयी अन्यदेशीय, आज इस विज्ञान युग में–वेद और वेदोंका अन्त–वेदान्त के सामने सिर झुकाये हुए हैं, घुटने टेके हुए हैं और जयजयकार मनाये हुए हैं। आजभी वृद्ध भारत ने भारतत्व, धर्मतत्व और पवित्रत्व को स्थिर रख कर अपनी समुज्वल आत्मज्योति की विजयपताका पृथ्वीभरमें फहरा रक्खी है। महात्मा **थोरोने** अपनी–'वाल्डन' नामक पुस्तकमें वेदान्त की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। महात्मा **इमरसन** ने तो–'I look for the hour when that supreme Beauty * * * shall speak in the west also.' उस **परमात्मज्योती** का पश्चिममें उदय होनेके लिये अत्युत्कट इच्छा प्रकट की है। **दाराशिकोह** के किये हुए उपनिषदों के फ़ारसी तर्जुमे–'सिर्रेह् अकबरी' का अनुवाद जर्मन भाषामें हुआ और उसका अभ्यास महात्मा **शोपन होरने** किया–जिसपरसे वह अपनी—Welt als Wille Vorslellung–नामक पुस्तक की प्रस्तावनामे लिखता है कि–"In the whole world there is no study, except that of the originals, so beneficial and so elevating as that of the

Upnekhat. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."—समग्र संसारमें उपनिषदों के समान और कोई अध्ययन लाभकारी और उन्नतिप्रद नहीं है। वह मेरे जीवन की शान्ति है और वह मेरे मृत्युकीभी शान्ति होगा। इसी औरंगजेब के भाई दाराशिकोह ने अपनी 'सिर्रह अकबरी' में कहा है कि—कुरान शरीफ़ के २७ वें सिपारे के सूरह वाकिया में—'इन्नहुल कुरानुन् करीम फी किताबें मक्नूनला यमस्सहु इल्लल्मुतहू हरून् तन्जीलुम् मिर्रब्बिल् आलमीन' कहने के अनुसार वे आसमानी किताबें तौरेत, इंजील, ज़बूर आदि नहीं थीं। बल्कि—'पेश अज् जमीग़ कुतुबे समावी चहार किताबे आसमानी के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद बाशद'—वे चारवेद थे। पण्डित पाल डयूसनने कहा है कि- "Philosophy of Gita begins where the English Philosophy ends."—जहां गीताके विज्ञानतत्वकी फ़िलासफी का आरंभ होता है वहां अंगरेजी विज्ञानतत्व की फ़िलासफी का अन्त होता है। मोक्षमूलरने—'The Hindoos were a nation of Philosophers.'—कहा है। कौंसिनने वेदान्त के सामने घुटने टेके हैं। जेकोलियटने प्रणाम करके—जगत् के केन्द्रभूत भारतका जयजयकार किया है! 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद' इसमें क्या संशय है?

ऐसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' विशाल, अनन्त, अपरिमेय चराचर जगत्की रचना, स्थापना एवं योजना भी देखिये—कितनी अपूर्व, सूत्रबद्ध, प्रमाणयुक्त एवं नियमित है—जिसका परिचय त्रिकालिक ज्ञान के सिवा नहीं हो सकता।

हमारे ऋषि मुनियोंने हजारों वर्ष पूर्व भूगोल खगोलात्मक जगत्का जो कुछ पता लगाया था, वह पृथ्वीका तल खोद कर भूगर्भ विद्याद्वारा, या आंखों के सामने बड़ी बड़ी दूरबीनें लगा कर उनके द्वारा आकाश पाताल का पता लगाया था—ऐसा नहीं है। केवल अध्यात्म विद्याद्वाराही उन्होंने त्रिकालिक ज्ञानशक्ति उत्पन्न करके उसी के द्वारा सब कुछ जाना था एवं उसी अनुभवसे आज सबको विदित हुआ है कि—सूर्य प्रकाशद्वारा समुद्रजल का वाष्पीभवन हो के उसका वातावरणमें तिरोभाव होता है। कुछ काल के अनन्तर उसमें शीतल वायु सम्मिलित होने पर उसको जलका शुद्ध स्वरूप प्राप्त हो के— उसी वायु में नानाकृति मेघ तरङ्गित होते हैं—एवं वृष्टि होने लगती है। कवि कुलगुरु कालिदासने कहा है—"सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः"—अमृता इत्याख्या यासां ताभिः। जलवहनसाम्यान्नाडीभिरिव। नाडीभिर्वृष्टिविसर्जनीभिर्दीधितिभिरपांविकारोऽम्मयो जलमयो गर्भ इव। अत्र यादवः 'तासां शतानि चत्वारि रश्मीनां वृष्टिसर्जने। शतत्रयं हिमोत्सर्गे तावद्गर्भस्य सर्जने॥ आनन्दाश्च हि मेध्याश्च नूतनाः पूतना इति। चतुःशतं वृष्टिवाहास्ताः सर्वा अमृताः स्त्रियः॥'—सूर्य की जलमय अमृता नामक नाड़ियों के समान—अर्थात् सूर्यके अनेक किरण समूहों-में से—'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्' जुदे जुदे सात रंगोंके किरणोंमेंसे ४०० नाडियां जल बरसानेवाली हैं, ३०० नाडियां हिम बरसानेवाली हैं, उतनी ही गर्भ उत्पन्न करनेवाली, आनन्द देनेवाली, शुद्ध, नूतन, पवित्र नाडियां हैं एवं जो ४०० नाड़ियां वृष्टिधारक हैं वे सब अमृत रूपा सूर्य की स्त्रियां हैं—

"गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्मात्"—'अर्कमरीचयोऽस्माद्दधे: । अपादानात्। गर्भमम्मयं दधति। वृष्ट्यर्थमित्यर्थः।' इस समुद्रसे सूर्यकिरण—मरीचि, जलमय गर्भ धारण करती हैं—अर्थात् समुद्रका जल ग्रहण करके वृष्टि करती हैं। अत्यन्त हर्षका विषय है कि—साइन्स को भी जलवर्षी, हिमवर्षी, आदि जुदे जुदे सूर्यकिरणोंका अब पता लग रहा है—जिसका हमारे ऋषि मुनियों को हजारों वर्ष पूर्वही पता लग चुका था। उसी वृष्टिका उदक मिट्टीमें मिलते ही बीजों का पोषण हो के गुप्त, अपरिज्ञेय एवं अदृष्ट शक्तिद्वारा उनमें अंकुर पैदा होता है—"No body can imagine the amount of latent power which a minute germ of life posses-es unt il i t expresses in gross form on the phisical plane. By seeing the seed of a Banyan tree, one who has never seen the tree cannot imagine what powers lie dorment in it." जब तक गुप्त जीवन शक्तिका स्थूल स्वरूप नहीं दिखाई देता, तबतक उसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। पहले कभी किसीने वटवृक्ष देखा नहीं, उस को, उस के बीजमें, इतने बड़े वृक्ष के उत्पन्न करने की शक्ति गुप्त रीतीसे भरी हुई है—इसकी कल्पना भी होना असम्भव है। —उसी अंकुरमें पुष्पोद्गम होके धान्य फलित होता है। वह धान्य वा उस वनस्पति के अन्य अवयव मनुष्य वा अन्य प्राणियों के उदर में प्रविष्ट होते ही, उस को एक नवीन विचित्र स्वरूप प्राप्त होता है। अर्थात् 'अन्ने देहाकारे परिणते प्राणस्तिष्ठति। मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदान्यथास्थानभक्ष्यादि—गोलकस्थाने सन्निधापयति—इतरान् चक्षुरादीन्।' भगवान् शंकराचार्य के इस उक्तिके अनुसार

देहाकार अन्न परिणत हो के उस का रक्त वनता है, रक्त का अभिसरण हो के—उस से अस्थि, मज्जा, स्नायु, हस्त, पाद, शिर, चक्षु आदि शरीर के भाग वनते हैं। उसी जड़ तिन के या धान्य का रक्तस्वरूप वनने के लिये प्राणियों के उदर में कैसी अपूर्व रचना, स्थापना एवं योजना है? जिस से गर्भ को चेतनशक्ति Vital power प्राप्त हो के उस का मूर्त्त स्वरूप वनता है। इसी गर्भविद्या से अनेक प्राणियों के गर्भ के साथ मनुष्य गर्भ का समीकरण कर के डारविन् साहवने मनुष्य का क्रमविकास सिद्ध किया है, किन्तु हमारे यहां तो—

वेद काल ही में हमारे पूज्यपाद ऋषियोंने कह रक्खा है कि जगत् का क्रमविकास प्राण और रयी द्वारा होता है जिसका वर्णन आगे जगत् की अभिव्यक्ति में होगा। जगत् में वस्तुमात्र की अभिव्यक्ति इन्हीं के द्वारा होती है। प्राण और रयी को अग्नि और सोम भी कहा गया है। सोम अर्थात् matter के विषयमें ऋग्वेदमें एक छोटीसी कथा है कि—'श्येन पक्षी स्वर्ग से सोम को पृथ्वी पर ला रहा था मार्गमें गन्धर्वों ने उसे चुरा लिया। फिर वाग्देवी वहां से सोम को लाई। (ऋ०वे० १।८०।२,३।४३।७,४।२६।४-६) शतपथ और सायन दोनों ही इस श्येन पक्षी को गायत्री और छन्दोरूपी देवता कहते हैं। यहां भी शतपथ का 'वयांसि' वाइवल का 'fowl' और ऋग्वेद का यह 'श्येन' शब्द परस्पर विचारणीय है।

जड़तत्ववादी जव उत्क्रान्ति—क्रमविकास का पता लगा सकते हैं तो, जिनके क्षण क्षण अध्यात्मवादमें, पदपद पर

धार्मिकतत्व में जड़ उत्क्रान्तितत्व तो क्या—आन्तरिक सूक्ष्म जीवनतत्व का भी पता लग चुका है उनके सामने हेकेल, हक्सले, डारविन, वालेस आदि कौन चीज़ है? स्वयं हक्सलेने—अपनी Science and Hebrew Traditions नामक पुस्तकमें कहा है कि—'To say nothing of Indian sages to whom Evolution was a familiar notion ages before. Paul of Tarsus was born." टारसस पालके जन्मके पूर्व ही पूर्वकालमें उत्क्रान्ति—क्रमविकास को भारतीय तत्वज्ञ भलीभांति जानते थे—इसके लिये कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वह पाल आफ टारसस सेन्टपाल ईसाकी प्रथम शताब्दी में हुआ है। ईसा के पीछे इसीने Gnostic मतों को हटाके पश्चिम में सर्वत्र ईसा के मतका प्रचार किया था। यह हक्सले का कहना बिलकुल पक्षपातरहित है। जड़ चैतन्य की अभिन्नता से जीवका क्रमविकाश होना, उसका चौरासी लक्ष योनियों में घूमना और उसके बाद मनुष्यत्वका प्राप्त होना एवं मानवदशा ही में जीव और आत्माका ऐक्य हो कर जीव का उद्धार होना या पीछा चौरासी लक्ष योनियों में घूमना—सिवाय विकासवादके और क्या है? क्या उत्क्रान्तिवादके प्रचारक महामुनि भगवान् कपिलको कोई भूल सकता है एवं उसके खंडन मंडन करनेवाले जगद्विजयी जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य को कोई भूल सकता है ?

अब ऐसे उत्क्रान्त जगत् की कार्यप्रणाली—पंचमहाभूतों का विकास, विनाश, परमाणुओं की सजातीय विजातीयता, प्रसरण आकुंचन, मूर्त्तामूर्त्त स्वरूप, ऋतुपरिवर्त्तन—

'यथं ऋतवं ऋतुभिर्यन्ति साधु,'–सूर्यचन्द्रादिक ग्रहोंके उदयास्त, ग्रहण–इत्यादि सब कितनी सूत्रवद्ध, प्रमाण-युक्त, एवं नियमित हैं–जिसकी रचना में, स्थापनामें एवं योजना में यत्किंचित् भी त्रुटि, अन्तर, और भेद नहीं हो सकता। एक पाश्चात्य तत्वज्ञ सेनेका कहना है कि–"Whoever observes the world, and the order of it, will find all the motions in it to be only vicissitude of *falling* and *rising*; nothing extinguishes, and even those things which seem to us to perish are in truth but changed. The seasons go and return; day and night follow in their courses; the heavens roll, and nature goes on with her work." जो कोई इस जगत् का एवं उसके क्रमका निरीक्षण करता है उसको प्रतीत होगा कि–उसमें जो गतियां हैं वे केवल अवरोह की एवं आरोह की अस्त की एवं उदय की आवृत्ति हैं। किसी का नाश नहीं होता एवं जो पदार्थ हमें नाशमान ज्ञात होते हैं–वस्तुत: वे पदार्थ भी केवल विकार ही को प्राप्त होते हैं। ऋतु जाते हैं एवं आते हैं। दिवस रात्रि परस्पर अनुसरण करते हैं। आकाशमण्डल घूमता है एवं प्रकृति अपना काम करती रहती है।

जो हो–सांख्य का प्रकृतिवाद, वेदान्त का अद्वैतवाद, बौद्ध का शून्यवाद, जैन का स्याद्वाद, ज़रथोस्त का विचारवाद, इस्राएल का नीतिवाद, ईसा का पदार्थवाद एवं इस्लाम का खुदावाद– सब के मूल में एकही प्रकृतितत्व है, ब्रह्मसत्ता है एवं अन्त में वही पुरुप है, वही ब्रह्म है, वही माया है, वही ब्रह्मतत्व है, वही जगत् का कारण है, वही सब का परिणाम है, वही जड़ और चेतन है, एवं वही सब का

क्रम, और विकास है। चाहे कपिल कुछ कहे, चाहे शंकराचार्य कुछ कहे, चाहे गौतमबुद्ध कुछ कहे, चाहे महावीर कुछ कहे, चाहे ज़रथोस्त कुछ कहे, चाहे याकोब कुछ कहे, चाहे ईसा कुछ कहे, चाहे मुहम्मद कुछ कहे—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय एवं फिर जड़, जड़ से चेतन आदि जगत् का आरंभ, परिणाम, विवर्त्त और अजात होना न होना, या मुतलक़ होना न होना किसी के हाथ नहीं और न कोई इस के लिये कुछ कह सकता ही है!!

१—जगत् की अभिव्यक्ति।

इस विषय में वेद, ब्रह्मसूत्र, उपनिषदादिकों के सिद्धान्तानुसार भगवान् **श्रीशंकराचार्य** कहते हैं—यह जगत् अभिव्यक्त—प्रकट होने के पहले अव्यक्त ब्रह्म में अवस्थित—लीन था। जगत् की इस अव्यक्त अवस्था को ही 'वीजशक्ति' कहते हैं। ब्रह्म में इस शक्ति का अवश्य ही स्वीकार करना होगा—क्यों कि, 'आगन्तुक'—परिणामोन्मुख शक्ति का स्वीकार नहीं करते हैं तो, निर्विशेष ब्रह्म कुछ नहीं कर सकता। शक्तिहीन पदार्थ की प्रवृत्ति नहीं होती—अर्थात् यह शक्ति विकृत—प्रकृतिरूप हो के स्थूलाकार बनकर तेज, आप, अन्नरूप द्वारा अभिव्यक्त—प्रकट होती है। सुतरां, इसी को त्रिरूपा, त्रिगुणा कहते हैं। भगवान् **शंकर** इसी शक्ति को तेज, आप, अन्नादि जड़ वर्ग की वीजशक्ति कहते हैं। जगत् में जो कुछ विकार देखा जाता है—उस से पृथक् नामरूप धारण करनेवाली एक मात्र 'वीजशक्ति' है। 'अक्षर'—नाशरहित, 'अव्याकृत'—विकाररहित एवं 'भूत सूक्ष्म'—प्राणियों में सूक्ष्म रूप से रहनेवाली—प्रभृति शब्दोंद्वारा इसी का निर्देश

किया गया है । अव्यक्त ही जगत् का मूल वीज है । जगत् के अभिव्यक्त—आविर्भूत—कार्य समूह एवं कारण शक्ति का अव्यक्त ही समष्टि विराट् देहादि अवयवीभूत—स्वरूप है । अर्थात् यही अव्यक्त वीज में परिणत होके जगत का कार्य कारणरूप वनता है एवं इसे ही—'अव्यक्त'—अस्पष्ट, 'अव्याकृत'—विकारहीन, 'आकाश' आदि शब्दोंद्वारा निर्दिष्ट किया गया है । वट के वीज में जैसे वटवृक्ष की शक्ति ओतप्रोत-भरी हुई—है वैसेही अव्यक्तभी परमात्म चैतन्यमें एकरूप समाश्रित हैं । प्रलय कालमें जगत् की कार्यकारण शक्तियां शक्तिरूपमें अवस्थित रहती हैं । शक्ति नित्य है—उसका कभी नाश नहीं होता । सुतरां, सब शक्तियां अव्यक्त वीज-भूत शक्तिका एकही अंश हैं और उसके स्वीकार किये विना जगत् का मूल कारण अभिव्यक्त नहीं हो सकता । वीज शक्ति न मानी जाय तो, प्रलय के अनन्तर जगत का अभिव्यक्त होना असंभव है एवं दृश्य जगत का प्रलय-तो अवश्यही है ।

अपने शारीरक सूत्र के भाष्य में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि—"अस्ति तावद्ब्रह्म नित्य शुद्ध मुक्त स्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं । 'ब्रह्म' शब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य शुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते...तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ।" नित्यशुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् ब्रह्म है । ब्रह्म शब्द ही से नित्य शुद्धादिक अर्थ प्रतीयमान होते हैं—इसीलिये ब्रह्म 'आत्मा' शब्दसे सर्वत्र प्रसिद्ध है । "देहमात्रं चैतन्यविशिष्टं आत्मेति प्राकृता जनाः, इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे, मन इत्यन्ये, विज्ञा-

नमात्रं क्षणिकमित्येके, शून्यमित्यपरे, अस्ति देहाति-व्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता भोक्तेत्यपरे, भोक्तैव केवलं न कर्त्ते-त्येके, अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्, आत्मा स भोक्तुरित्यपरे—एवं बहवो......तत्रत्रावि-चार्य...निःश्रेयसात्प्रति हन्येत्।"—साधारण प्राकृत जन-चैतन्ययुक्त देह ही को, आत्मा मानते हैं, कितने—चेतन इन्द्रियों को, आत्मा मानते हैं, कितने—मनको, आत्मा मानते हैं, कितने क्षणिक विज्ञान को, आत्मा मानते हैं, कितने शून्य को, आत्मा मानते हैं, कितने देहादि व्यतिरिक्त संसारी कर्त्ता भोक्ता को, आत्मा मानते हैं, कितने सि-वाय कर्त्ताके केवल भोक्ता को, आत्मा मानते हैं, कितने इसके अतिरिक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर को, आत्मा मानते हैं, एवं कितने ही जीवसाक्षी ईश्वर स्वरूप को, आत्मा मानते हैं। इस प्रकार, तर्कवितर्कात्मक अविचारों से—'अंन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः,—आत्म-घाती आत्मा को न जाननेवाले जन, अन्धतम—अज्ञानमें प्रवेश करके अपना अकल्याण कर लेते हैं। वास्तव में जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण केवल ब्रह्म ही है। सिवाय ब्रह्म के जगत् की स्थिति ही नहीं—'ईक्षतेर्नश-ब्दम्'-१।१।५ सूत्र के भाष्य में—'ब्रह्म जगतः कारण-मिति'—ब्रह्मही जगत् का कारण कहा है। 'सर्वत्र प्रसि-द्धोपदेशात्' १।२।१ सूत्र के भाष्य में 'प्रथमे पादे—ज-न्माद्यस्य यतः—इति आकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्मेत्युक्तम्........यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव।' 'जन्माद्यस्य यतः' १।१।२ सूत्रमें आका-

शादि समस्त जगत् का कारण ब्रह्म कहा है—इसलिये जगत् में जो विकार देख पडता है उसका अधिष्टान भी ब्रह्म ही है । ब्रह्म अजरामर अनादि है । उसकी उत्पत्ति, स्थिति, लय, नहीं है । वह सत्य स्वरूप है । सिवाय ब्रह्मके जगत् का और न कोई मूलकारण है एवं सिवाय उस के जगत् भर में कोई पदार्थ नहीं है अर्थात् जो जो कुछ विद्यमान है या जिस जिस का अस्तित्व है—उस को ब्रह्म स्वयम उत्पन्न करता है—'साक्षात्सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म जत्वम्'—वस्तु मात्र का साक्षात् ब्रह्म ही उत्पादक है ।—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।" आगे चलकर उसही ब्रह्मसे प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है । जो उसी के आधार पर स्थिर रहकर सबको धारण करती है ।

जो नित्य शुद्ध, पवित्र, अज, अनादि, निष्क्रिय, निष्काम, परिपूर्ण—ब्रह्म—है उस को ऐसा क्या कारण होता है जो वह ऐसे चित्रविचित्र, चक्रगति, कालानुवशवर्ती, विविध विकारपूर्ण, जन्ममरणात्मक जगत् को बनाता बिखेरता है और तरह तरह के नाच नचाके, अजब अजब खेल तमाशे दिखाता है ? खैर, एकबार यह भी सही—जगत् का प्रलय होजाने पर भी, फिर ऐसा क्या कारण है जो, नया जगत् बनने या बनाने के लिये उस ब्रह्म—परमात्मा को इच्छा वा स्फुरण होता है ? इसका समाधानकारक उत्तर हमारे वेद शास्त्रों में यथार्थ मिलता है किन्तु अल्प स्वल्प संस्कृत भाषा के ज्ञानमें हम मुग्ध होकर

निरादर दृष्टिसे उसकी खोज नहीं कर सकते। यह बात निर्विवाद है कि—बीज वृक्षन्याय जगत् की उत्पत्ति है तो उसका रूपान्तर—प्रलय भी है एवं प्रलय है तो उसकी उत्पत्ति भी है—क्यों कि बीजका नाश नहीं होता, वह अनादि मूल अव्यक्त शक्तिरूप अविनाशी है। स्वामी **अभेदानन्द** कहते हैं—
A dry seed of a plant may preserve the slumbering power of growth through two or three thousand years and then reappear under favorable conditions. Sir G. Wilkinson, the Great archaeologist, found some Grains of wheat in a hermetically sealed vase in a Grave at thebes, which must have lain there for three thousand years. When Mr. Pelligrew sowed them they grew into plants. Some vegetable roots found in the hands of an Egyptian mummy, which must have been at least two thousand years old, were planted in a flower pot, they grew and flourished. Thus, whenever the latent powers get favorable conditions, they manifest according to their nature, even after thousand of years"—
पोधे का सूखा हुआ बीज दो तीन हजार वर्ष तक सुप्तावस्थामें रहकरभी, उसमें अनुकूल अंकुर शक्ति देख पडती है। सर **जी. वुइलकिन्सन**—जो एक बड़े पुरातत्वविद् वैज्ञानिक हैं—उनको थौबेस Thebes शहर में एक क़बर में—वैज्ञानिकरीत्या किसी बरतन में मुहरबन्द किये हुए कुछ गेंहूके दाने मिले; जो वहां बहुधा तीन हज़ार वर्ष से रक्खे हूए थे। मि. **पेटिग्यूने** उनको ज़मीनमें इसी लिये बोये तो उनमें अंकुर पैदा होकर उनके पोधे बन गये।

मिसर देश के ममी-मुर्दे के हाथमें कुछ साग पात के मूल मिले, जो वहुधा कमसे कम दो हजार वर्ष के होंगे-उनको फूलों की कुंडीमें लगाया गया तो उनमें अंकुर पैदा हो के वे प्रफुल्लित हुये। इस प्रकार हजारों वर्ष व्यतीत होने परभी जव गुप्त शक्तियां अनुकूल अवस्थामें परिणत होती हैं तव वे अपने स्वभावानुरूप प्रकट होजाती हैं। इसका प्रत्यक्ष भी प्रमाण है कि-मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राणी और वनस्पति के अवयव तकमें अंकुरप्ररोहशक्ति है अर्थात् अस्थि, सींग, लकड़ी, शाखा, तृण आदिमें कालान्तरमें भी अंकुर उत्पन्न होते हैं तो, वीज के लिये कहना ही क्या है? इसीलिये भगवान श्रीकृष्णने-"वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ! सनातनम्।" अपने प्रिय मित्र अर्जुनसे 'अपने को प्राणिमात्र का सनातन शाश्वत 'वीज' जानने के लिये कहा है। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"-'Non-existence can never become existence and exitence can never become nonexistence'-जो नहीं है वह नहीं ही है और जो है वह है ही है-'In other words, that which did not exist can never exist, and conversely that which exists in any form can never become non-existent.'-दूसरे शब्दों में-जिसका अस्तित्व न था उस का कभी अस्तित्व नहीं हो सकता, और इसके उलट जिसका किसी भी रूपमें अस्तित्व है उसका कभी लय नहीं हो सकता-अर्थात् इस अटल नियम के अनुसार शक्ति निरन्तर, स्फुरणरूप है। किसी समय तक किसी संयोगवियोग वश वह वीजशक्ति किसी निरुद्धावस्था में तिरोहित रहती

है किन्तु अनुकूल समय पाते ही उसका अधिक ज़ोरसे आविष्कार होता है। इस वक्त यह वात वेटरी गर्भित विद्युत्, वाष्प गतिमान् इंजन आदि यन्त्रों द्वारा सिद्ध है। उसी प्रकार जगत् का प्रलय होने पर बीजभूत शक्ति निरुद्धावस्था में रहकर प्रवल होते ही स्वयं जगत् का आविर्भाव हो जाता है। अर्थात् उस शक्ति के बल-पूर्वक आघात से आकाशमें--Ether में तरंग उठते हैं--वही वायुका रूप है। वायु में आन्दोलन हो कर क्रम क्रम से उस का वेग तीव्र होनेपर परस्पर परमाणुओं का संघर्षण होता है--जिससे अग्नि उत्पन्न होती है। क्रमशः अग्निकी उष्णता वढ जाने पर परमाणु पिघल जाते हैं--वही जल होता है एवं क्रमशः परमाणु शीतल हो के उनका घनीभाव हो जाने पर पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यही है कि--प्रलय होने पर वह शक्ति कुछ समय तक ब्रह्मलीन हो के निरुद्धावस्था में तिरोहित रहती है और वलवती होकर, समय पाते ही स्वयमेव आविर्भूत होती है--इसी का नाम परमात्मा की इच्छा वा स्फुरण है।

भगवान् शंकराचार्य का भी यही सिद्धान्त है कि--सृष्टि के प्राक्कालमें जो निरुद्ध ब्रह्म सत्ता--शक्ति होती है--व ही प्रवल हो के सृष्टि की उन्मुखावस्था धारण करती है। यह उन्मुखावस्था ही जगत् की प्रागवस्था है। यह 'आगन्तुक'--अकस्मात् आनेवाली--अर्थात् स्वयमेव विकास पाने-वाली अवस्था मात्र है। इसी को अव्यक्त शक्ति वा प्राण-स्पन्दन कहते हैं। जब यह 'आगन्तुक'--है तो फिर ब्रह्म इस से पृथक्--स्वतन्त्र है--ऐसा मानना होगा किन्तु यह ब्रह्म

की ही एक 'आगन्तुक' अवस्था विशेष है। क्यों कि, ब्रह्मसे कोई वस्तु पृथक् एवं स्वतन्त्र नहीं है—सुतरां, यह प्राणस्पन्दन—जगतका आविर्भाव ब्रह्म सत्तासे अर्थात् शक्तीसे पृथक् एवं स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है—यही तत्व-दर्शियोंका अनुभव है। यह हमारे ऋषि मुनियोंका सहस्र सहस्र, वर्ष पूर्व का अति प्राचीन अनुभव अव अव—Sir William Ramsay सर वुइलियम रामझे जैसे पाश्चात्य वैज्ञानिक के और प्रो० जगदीशचन्द्र वसु जैसे भारत रत्न के वैज्ञानिक अनुसन्धान में कुछ कुछ प्रतीत होने लगा है। क्या जगत् के उपादान एवं परिणाम के साथ साथही उसका पुनर्गठन होता रहता है? इसका उत्तर—जान पडता है कि—अव थोड़े ही समयमें—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—'आत्मैवेदं सर्वम्'—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्।'—यही मिलेगा।

प्रश्नोपनिषत् में कवन्धी के प्रश्न के उत्तर में आचार्य पिप्प-लादने जगत् की अभिव्यक्ति के विषय में कहा है कि प्रजा-पति—हिरण्यगर्भ अर्थात् महत्तत्व,वुद्धात्मा महदात्मा वा सूत्ररूप अव्यक्त शक्तिसे सवके पहिले वोधात्मक एवं अवोधात्मक हिरण्यगर्भ तत्व उत्पन्न हुआ—इसीको महानात्मा भी कहते हैं। वीजसे जैसी अंकुरकी उत्पत्ति होती है, वैसीही अन्या-कृत शक्तिसे—तद्रूप हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। जगत् में जितना ज्ञान एवं क्रिया प्रकाशित है—उनका हिरण्य गर्भ ही मूल वीज है—इसी को प्राण भी कहते हैं। जगत् की वीजस्वरूपिणी अव्यक्त शक्ति का प्रवर्त्तक ब्रह्म, हिरण्य-गर्भ रूप से व्यक्त होता है। यही हिरण्यगर्भ स्थूल जगत

का सूक्ष्म बीज है । इसी को मूलकारण की बीजशक्ति मानकर आचार्य पिप्पलाद कहते हैं कि—इस हिरण्यगर्भने स्वयंभूत ज्ञानसे स्थूल जगत् के विकास के लिये संकल्प किया । वह निर्विशेष ब्रह्मसत्ता का स्वरूप है अतएव सृष्टि के पूर्व काल में अनादि, अविनाशी, मूलकारण बीजभूत अवस्थित था—इसी लिये संकल्प मात्र ही जगत् का प्रादुर्भाव हुआ । निर्विशेष ब्रह्मसत्ता की—सृष्टि के पूर्व कालमें, जो अवस्था विशेष थी वही 'अव्यक्त शक्ती' है—उस के सिवाय यह कोई अन्य विशेष शक्ति नहीं है । यही अव्यक्त शक्ति सब के पहले सूक्ष्म रूप से व्यक्त हुइ—उसीका नाम हिरण्यगर्भ, प्राण वा सूत्र है । इस स्पन्दनरूप शक्ति की ब्रह्म सत्तासे भिन्नता नहीं है । इसी सूत्र वा स्पन्दन से स्थूल विश्व का उपादान कारणभूत एक मिथुन उत्पन्न हुआ—अर्थात् स्पन्दन ही द्विधा विभक्त हो के क्रिया का विकास होने लगा । इस मिथुन का नाम—'प्राण एवं रार्य' है । जिस से यावन्मात्र स्थूल जगत् का आविष्कार हुआ है । (देखो मनुस्मृति द्विधा शब्द और वाइवल के—male and female created be them.)

सूक्ष्म स्पन्दन वा हिरण्यगर्भ—प्राण और रार्य रूप से कैसे व्यक्त हुआ—इसका मर्म यह है कि— इस जगत् में केवल एकही महत्सत्ता अनुगत है एवं उसी सत्ता की अभिव्यक्ती जगत् है । कारण सत्ता ही कार्य में अनुगत रहती है—अर्थात् कार्य, कारण का परिचालक है । जगत् के पदार्थ मात्र में जो सत्ता प्रतीत होती

है—वही कारण सत्ता है। यदि उस सत्ताका स्वीकार नहीं करते हैं तो, ब्रह्म 'असत्' हो जाता है। ब्रह्म सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकता। जगत्कारण केवल सत्स्वरूप ब्रह्म ही है—इस लिये इस कारण सत्ता वा कारण शक्तीका स्वीकार करना ही होगा। यह कारण सत्ता जगत् के पदार्थ मात्र में भरी हुई है और वह ब्रह्म सत्ता के सिवा अन्य कुछ नहीं है। कारण सत्ता वा अव्यक्त शक्ति सबके पहले सूक्ष्म स्पन्दन रूप धारण कर के विकास पाती है—अर्थात् स्पन्दन वा हिरण्यगर्भ ही जगत् का सूक्ष्म उपादान कारण है। सूक्ष्म स्पन्दन की क्रिया होते ही—वह 'प्राण' एवं 'रार्य' का मूर्त्त स्वरूप धारण करती है—यही प्राण एवं रार्य स्थूल जगत् के उपादान कारण हैं।

अब 'प्राण' एवं 'रार्य' क्या है ?—आधुनिक विज्ञानियों की भाषामें प्राण को 'motion' एवं रार्य को 'matter' कहा जा सकता है। प्राण एवं रार्य युगवत् व्यक्त होते हैं और एक रूप होके एकही कार्य करते हैं। रार्य के आश्रय से प्राण क्रिया करता है तब रार्य का अंश—matter, जिस प्रकार घनीभूत होता है उसी प्रकार प्राणका अंश—motion साथ ही साथ घनीभूत होता है। इस प्रकार दोनो के घनीभूत होने से स्थूल जगत् बनता है। प्राणांश आकाश में—वायु, तेज, आलोकादिक के आकार में विकीर्ण होके उसका रार्य अंश घनीभूत होता है एवं घनी भवन की प्रथमावस्था 'जल' और शेषावस्था 'पृथ्वी' है। प्रथम गर्भ में प्राणांश व्यक्त होता है। वह रस रुधिरादिक की परि-चालना करने लगता है, तब उस का रार्य अंश घनीभूत होके

देह के अवयवों को निर्माण करता है एवं साथ ही साथ प्राणांश चक्षु कर्णादि-इन्द्रिय रूप से व्यक्त होता है। इस प्रकार प्राण और रयि उभय एकत्रित होके स्थूल जगत् को निर्माण करते हैं। अत एव प्राण और रयि नामका मिथुन जगत् का उपादान कारण है। महात्मा हरबर्ट स्पेन्सर भी इसी सिद्धान्त का प्रतिवादन करते हैं। जो उपनिषदों के और भगवान् शंकराचार्य के सिद्धान्तों के अनुकूल है।

ऐतरेय आरण्यक भाष्य में भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि प्राणांश और रयि अंश परस्पर एक का एक सहाय-कारी है—'उपकार्योपकार कत्ता दृत्ता (प्राणांश) अन्नं च (रयि) सर्वम्। एवं तदिदं जगत् अन्नमन्नादं च, वैसे ही बृहदारण्यक की मधुविद्या में— 'भूतानां शरीरंम्भक-त्वेन उपकारः, तदन्तर्गतान्तं तेजोमयादीनां करणत्वेन उपकारः।' कहा है। महात्मा स्पेन्सर ने कहा है कि—

'In organisms, the advance towards a more integrated distribution of the retained motion which accompanies the advance towards a more integrated distribution of the component matter, is mainly what we understand as the development of functions.' अर्थात् जगत् की क्रिया का विकास उसको कहते हैं कि—जड पदार्थ के सम्पूर्ण विकास के साथ ही चैतन्य का सम्पूर्ण निकास होता जाता है। विषय और इन्द्रिय सजातीय पदार्थ हैं— 'अन्नमयस्त्वाभ्यन्तर आत्मा, साधारणः अत्ता, उक्थ, ब्रह्मा, इन्द्रः इत्येवं शब्दवाच्यः।'—अन्नांश—जड matter, हीका परिणाम चेतन motion है एवं दोनों अन्योन्या-

श्रित हैं। इसी प्राण को–आदित्य–सूर्य, अग्नि, अन्नाद–अन्न भक्षक कहते हैं एवं रार्य को–सोम–लताविशेष, चन्द्र, अन्न कहते हैं। एक भोक्ता एवं अन्य भोग्य है। प्राण ही शक्ति का सूक्ष्म रूप वा अमूर्त्त आकार एवं रार्य शक्ति का स्थूलरूप वा मूर्त्त आकार है। सर्वव्यापी 'स्पन्दन' अर्थात् स्पन्दन शक्ति के साथ साथ चैतन्य वर्त्तमान है, चैतन्य सत्ता अव्यक्त शक्ति है एवं अव्यक्त शक्ति स्पन्दन रूप है–इस लिये वह अवश्यही चैतन्यरूप है। भगवन् शंकर ने कठोपनिषद् के भाष्य में–स्पन्दन वा हिरण्यगर्भ को ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक कहा है। यही विचार शक्ति विचार का निदर्शन–दर्शन है–इस का प्रतिपादन आगे पूर्णतया होगा। उसी स्पन्दनरूप प्रजापतिसे इस मिथुन की उत्पत्ति हुई है। वस्तुतः उभय एकही तत्व है। सूक्ष्म स्पन्दन शक्ति विकसित होते ही उसका एक अंश प्राण और दूसरा अंश रार्य मिलकर क्रिया में परिणत होते हैं–इसी लिये जगत् में पदार्थ मात्र प्राण और रार्य से या अग्नि और सोमसे (वही तृण, उसीसे) उत्पन्न हुए हैं।–

ऋग्वेद में भी–अग्नि–motion, सोम matter का विवरण इसी प्रकार किया गया है। कहीं कहीं इन्हीं को–'पूषा सोम,' 'इन्द्र सोम' आदि कहा है। पृथक् रूपसे भी वर्णन है– मं० १ सूक्त ९३ एवं मं० २ सूक्त ४० में इस का अच्छा प्रतिपादन है। अग्नि से आयु वा प्राणशक्ति का उदय होता है–'मातरिश्वा'–अर्थात् 'अन्तरिक्षे–आकाशमें श्वसतीति–स्पन्दन करता है'–वह प्राणशक्ति का मन्थन करते करते अग्निको उत्पन्न करता है। मातरिश्वाके निकट

सब के पहिले स्वयंभूत अग्नि ही आविर्भूत हुआ है। अति दूरवर्त्ती गूढ़ प्रदेश से अग्नि को मातरीश्वाने ही प्राप्त किया है। वही अग्नि—सूर्यरूप, विद्युद्रूप एवं पार्थिवाग्निरूप प्रकाशित है। अग्निद्वारा ही वरुण, मित्र एवं अर्यमा अपनी अपनी क्रिया सम्पादित करते हैं। जैसे रथचक्र की नाभिमें 'आरे' प्रविष्ट होके समाश्रित रहते हैं—वै से ही विश्व—जगत् अग्नि के आश्रयसे वर्त्तमान है। मातरिश्वा वा प्राण-शक्ति का एक अंश अग्नि—तेज, आलोक, सूर्य चन्द्रादि रूपसे आविर्भूत होता है। दूसरा अंश सोम—उसके साथ घनीभूत होके प्रथम जलरूप से एवं अनन्तर पृथ्वी रूपसे आविर्भूत होता है। इस प्रकार अग्नि सोम एकत्र क्रिया करके स्थूल जगत् की सृष्टि करते हैं।

किसी किसी का सिद्धान्त है कि—जगत् के कल्पान्त समय में प्रत्येक चैतन्य जीवका एक एक मिथुन रहजाता है जिससे, या जगत् की प्रथमावस्था में प्रत्येक प्राणिका पृथक् पृथक् मिथुन बनकर जगत् की सृष्टि हुई है—इस पर बड़ा भारी आक्षेप हो सकता है कि—प्राणीयों की एक एक जाति में अनेक उपजातियां हैं तो— क्या उन उपजातियों के भी मिथुन बनते हैं, या प्रधानजातीय मिथुनद्वारा उप-जाति की उत्पत्ति होती है? जैसे कुत्ता, घोडा, बन्दर आदि की सैकडों जातियां हैं और कोई कोई तो ऐसी मिश्र जातीयां हैं कि—वे किन प्राणियों की हैं—यह जानना मुश्किल होता है तो—इसका क्या कारण कहा जायगा? घोड़े और गधी के संयोग से खच्चर पैदा होता है—यह सभी जानते हैं। इसका मिथुन कल्पान्त में या आरंभ में मुत-

लक्ष न बनाथा—यह निर्विवाद है । घोड़ा और गधा यह जाति भिन्न भिन्न मिथुनों से उत्पन्न हुई या एक ही से दुसरी उत्पन्न हुई ? सिंह और व्याघ्र के संयोग से जो बच्चा पैदा होता है—उसमें कुछ सिंहके और कुछ व्याघ्र के गुण प्रतीत होते हैं—ऐसा अनुभव है तो, सिंह और व्याघ्र का एकसे दूसरे का उत्पन्न होना असंभवनीय नहीं । मनुष्यों में भी—जल वायु, देशवर्ण, जातिभिन्नता से विभिन्न रक्त वीर्य द्वारा जो सन्तान पैदा होती है, उस में मिश्रगुण, रंगाकृति पाये जाते हैं । घोड़ी के गुह्यस्थानमें वीर्य की थैली रखने से सिवाय हरे रंग के उसी रंगका बच्चा पैदा होता है तो फिर—प्रत्येक प्राणी का अलग अलग मिथुन कैसे और क्यों बन सकता है ?

इस विस्तृत एवं अपरिमेय जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लयके यत्किंचित् ही ज्ञान से चाहे वह किसी कथोपकथन से, चाहे वह किसी परम्परा से, चाहे वह किसी ग्रंथके पढने से, चाहे वह किसी देश के पर्यटनसे, चाहे वह किसी रसायन के प्रयोग से, चाहे वह किसी साइन्स के प्रभाव से, चाहे वह किसी निज के अनुभवसे प्राप्त हुआ हो, या उस का विचार किया हो, या उसका निरीक्षण किया हो— उसको, कैसा ही—संसारी, विषयी, श्रद्धालु उपासक, ज्ञानी, धर्मी, अधर्मी, अज्ञानी, आस्तिक, नास्तिक, ईश्वर, धर्म, कर्म किसी को भी न माननेवाला कट्टर से कट्टर अभिमानी हो— हम प्रतिज्ञा से—स्वामी अभेदानन्द के शब्दों में कहते हैं कि— "Gross human body is closely related to its subtle body. Not only this, but every

movement or change in the physical form is caused by the activity and change of the subtle body. If the subtle body be affected or changed a little, the gross body will also be affected similarly. The material body being the expression of the subtle body, its birth, growth, decay and death depend upon the change of the subtle body. As long as the subtle body remains, it will continue to express itself in a corresponding gross form." स्थूल शरीर अपने सूक्ष्म शरीर से अति निकट संबन्ध रखता है—इतनाही नहीं, किन्तु स्थूल शरीर की प्रत्येक गति का और रूपान्तर का कारण, सूक्ष्म शरीर की तीव्र गति और परिवर्त्तन ही हैं। यदि सूक्ष्म शरीर किंचित् विकृत या प्रचलित हो जाता है तो, स्थूल शरीर भी वैसा ही हो जाता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर ही का परिणाम है—उसका जन्म, वृद्धि, ह्रास और मृत्यु सूक्ष्म शरीर के परिवर्त्तन परही निर्भर हैं। जबतक सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है तब तक वह अपने अनुरूप अपने स्थूल शरीर के द्वारा प्रवृत्त होता रहता है।—अर्थात् **स्थूल शरीर का भान है** तो—इस subtle body—सूक्ष्म शरीर—लिंग शरीर—अन्तर शक्ति—सर्वोत्पादक शक्ति—बीज शक्ति—ब्रह्म शक्ति को— किसी न किसी अक्षरों में, शब्दों में या वाक्यों में—जरूर, अवश्य, अवश्यमेव मानना होगा!!—मानना ही चाहिये—इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने अन्वर्थ स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

यह सत्य, सत्य, त्रिकालाबाधित सत्य है ! सत्य सत्य परम सत्य है!!

अ-भूगोल.

अब चराचर प्रत्यक्ष परमेश्वर-स्वरूप अति प्रचण्ड विश्वमें—अनन्त गोल समूह विश्वके बीचमें—यह भूगोल ही इतना विशाल एवं विस्तृत है कि जिसका निरीक्षण तो क्या—विचार भी नहीं हो सकता !

यह भूगोल—छोटे मोटे, प्रचण्ड, अतर्क्य, अनेक, असंख्य, ग्रहनक्षत्रगोलों के बीच एक छोटे से गेंदके समान लटक रहा है । आकाश वितानमें वह एक एक छोटे कांच के गोले समान स्थिर लटक रहा है—ऐसा भी नहीं । वह टेनिस, फ़ुटवाल के गोले समान या तोप के गोले समान निराधार प्रचण्ड वेगसे घूम रहा है—किन्तु उस परात्पर करुणामय भगवान् का हम पर बड़ा ही अनुग्रह, दया, प्रसाद और सुहृद्भाव है कि—वह उसको नीचे नहीं गिरने देता । अपनी आकर्षण शक्तिसे उसको वहीं थांमकर चक्राकार घुमाता है । पृथ्वी का नीचे गिरना तो दूर—ख़ाली उसका नीचे झुक जाना ही——अक्षसे किंचित् सरक जाना ही——क्षण ही में—"क भूः क गिरयः कामी दिशामीश्वराः"——कहां यह भूगोल, कहां ये पर्वत और कहां ये दिग्गज—नीचे गिरकर सबका चकनाचूर हो

जाना है! अगर वह सचमुच ही नीचे गिर पड़े तो फिर–किस की दिशायें, देश, गांव, घर, ज़र, ज़मीन और किस के तुम, हम ? मणसें कण के समान कांगड़ा के ज्वलन्त दृश्य प्रमाण को कौन भूल सकता है और उसको देख सुनकर कौन पाषाणहृदय द्रवित नहीं होता है ? क्षण क्षण हमें ऐसे भूगोल की–पृथ्वी की रचना, योजना, और स्थापनापर खूब दृष्टि फैला कर, वार वार–उस जगदाधार प्रभु के आभारी, कृतज्ञ और शुक्र गुज़ार होना चाहिये कि जिसने–'गामाविश्य च भूतानि धारया-म्यहमोजसा'–पृथ्वी में प्रवेश करके, अपनी शक्तिसे–'स दाधार पृथिवीं द्यामुते माम्'– सब को धारण कर रक्खा है, जिस से हम निर्भय और निःशंक पृथ्वी पर रह कर काल व्यतीत कर रहे हैं।

सूक्ष्म विचार से जानना होगा कि, पृथ्वी किसी ईश्व-रीय परम शक्तिपर ही स्थिर है । 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' (ऋ० १०।८५) अगर इस को किसीका आधार माना जाता है तो फिर आधार परम्परा कैसे प्रमाणित हो सकती है ? पृथ्वी को आधार है तो उस आधार को आधार किसका–इस का उत्तर कौन कहां तक देसक्ता है ? सूर्यसिद्धान्त में कहा है—

> मध्ये समन्ताद्ण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति ।
> बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥

ब्रह्म की धारणात्मक परम शक्ति से ब्रह्माण्ड के मध्य प्रदेशमें–आकाश में यह भूगोल अवस्थित है । इस में कुछ भी शंका नहीं है तो भी यह प्रश्न होगा कि–'जब हमारे

एक छोटीसी कंकरी, गेन्द या गोली को आकाश में फेंकने पर उसे निराधार ठहरते हुये हम नहीं देखते तो, जिस विशाल भूतल पर हिमालय, विन्ध्याद्रि, सद्रिसमान बड़े बड़े प्रचण्ड पर्वत विराजमान हैं—उसको हम कैसे निराधार मान सकते हैं?' ठीक है—इस शंका का उत्तर ज्योतिर्विज्ञ शिरोमणि **श्री भास्कराचार्य** देते हैं कि—"आकृष्टिशक्तिश्च महीतया यत्खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क पतत्वियं खे।" पृथ्वी में आकर्षक शक्ति है इसीसे आकाशस्थ गुरु—भारी-पदार्थ अपनी ओर खिंच जाता है। अर्थात वह पदार्थ नीचे गिरता सा जान पडता है। किन्तु पृथ्वी के चारों ओर ऊपर नीचे सर्वत्र आकाश विद्यमान है तो—पृथ्वी कहां गिर सकती है? अर्थात् पृथ्वी के चारों ओर आकाश ऊपर रहता है तो वह आकाश में कैसे गिर सकती है—इसी लिये **भास्कराचार्य** प्रश्नकर्त्ताओं से पूछते हैं कि—'बतलाइये, पृथ्वी गिरे भी तो किस आकाश में कहां गिरे?'— तुम कहोगे कि—'हमारे नीचे की दिशामें गिरे' वैसे ही नीचे के गोलार्धवासी कहेंगे कि—'हमारे नीचे की दिशामें गिरे' तो दिशा तो मस्तक के ऊपर ही होगी। अगल बगल वाले भी कहेंगे कि 'हमारे ही नीचे पृथ्वी गिरे'—तो यह कहां और कैसे गिर सकती है? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि अगर आकर्षण शक्ति न होती तो हमारी फेंकी हुई वस्तु फिर नीचे न गिर पड़ती, वह फेंकते ही सीधी चली जाती फिर उसके लौटनेका कोई कारण ही न था। इसीका नाम गुरुत्वाकर्षण—*Gravitation* है।

पृथ्वी का आकार गोल है—यह आज कलके छोटे छोटे स्कूली लडके तक जानते हैं और वह गोल है—इसी लिये उस को भूगोल-भूमण्डल-कहते हैं। उस की गोलाई का प्रमाण—क्षितिज—चक्रवाल—गोलवृत्त—भूपृष्ट का गोलाकार दिखाई देना है। हमारे चारों ओर जो पृथ्वी की दिशा-ओंका गोलवृत्त नज़र आता है—ऐसे ये, समुद्र सहित पृथ्वी के चालीस लाख गोल होते हैं। पृथ्वी का व्यास आठ हज़ार मील है और वह वहुत विस्तृत है—इस लिये— 'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः'—पृथ्वी के मानदण्ड हिमालयादि वडे वडे पर्वत भी उस की गोलाई में किसी प्रकार वाधा नहीं डाल सकते।

किन्तु वहुधा सभी धर्मोंके पवित्र ग्रन्थों में पृथ्वीका आकार चक्कीके पाट समान चपटा और गोल माना गया है और यह वात ठीक भी तो है—प्रथम तो हमें जहां तहां उस का चपटा ही आकार देख पड़ता है और उसकी गोलाई भी चक्की के पाट समान ही देख पड़ती है। किन्तु ऐसा नहीं है। ज्योतिर्विद् लल्ल आचार्य अपने धीवृद्धिदतन्त्र में कहते हैं—"समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा वहूच्छ्रयाः। कथमेव न दृष्टिगोचरं नुरहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः।"—लल्ल आचार्य पृथ्वी का चपटा आकार कहने-वालों से पूछते हैं कि—यदि पृथ्वी का आकार समान—चपटा है तो ताडवृक्षों के समान वड़े वड़े ऊंचे पेड दूर स्थित मनुष्यों को क्यों नहीं दिखाई देते? वैसे ही अगर पृथ्वी गोलाकार न होके समान चपटी होती तो फिर—'अन्योऽन्य संसक्त महस्त्रियामम्'—दिन रात कहां से होते? सूर्य का

प्रकाश सारे पृथ्वीतलपर समानही रहता । इसी लिये **भास्कराचार्य** भी अपने गोलाध्याय में प्रश्न करते हैं कि–

"यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः ।
उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन्किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते ॥
यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते ।
उदगयं ननु मेरुरथांशुमान्कथमुदेति च दक्षिणभागके ॥

अगर पृथ्वी आईने के समान चपटी होती तो–उसके ऊपर भ्रमण करने वाले सूर्य को क्या देवताओंकेसमान मनुष्य नहीं देख सकते ? अर्थात् जैसे उत्तरी ध्रुवके निकट–मेरु पर्वत पर देव छ महीने का दिन देख सकते हैं उसी प्रकार हम भी देख सकते । इस पर कहा जायगा कि देव मेरु पर्वत पर रहते हैं इस लिये उन को वैसा देख पड़ता है–इस पर **भास्कराचार्य** दूसरे श्लोक में फिर पूछते हैं कि–यदि रातका करनेवाला मेरु कनकाचल है तो उसमें वह क्यों नहीं देख पड़ता ? अर्थात् भूमि समान चपटी है तो इतना ऊंचा पहाड क्यों नहीं दिखाई देता ? अगर मेरु उत्तर ही की ओर है तो फिर सूर्य का दक्षिण की ओर कैसे उदय होता ? अर्थात् सूर्यका उदय सदा उत्तर ही में क्यों नहीं होता, दक्षिण में क्यों उदय होता है ? अगर पृथ्वी–मुकुरोदर सन्निभा–आईने के पृष्ठभाग के समान सीधी साफ़ चपटी होती तो उपर्युक्त बातें अवश्य होतीं । जब वैसा नहीं है तो पृथ्वीका आकार चपटा गोल नहीं है–यह प्रमाणित हो जानेपर **भास्कराचार्य** अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हैं कि–

सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः ।
कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रसरैरिव ॥

अर्थात्—चारों ओर पर्वत, उपवन, ग्राम, चैत्यसमूह से घिरा हुआ यह भूगोल सरोंसे घिरे हुए कदम्ब के फूल की ग्रन्थि के समान है। इस विषय में भास्कराचार्य ने और भी बहुत लिखा है—उनके गोलाध्याय को देखने पर सब ठीक विदित हो सकता है।

पृथ्वी के गोल होने के प्रत्यक्ष भी अनेक प्रमाण विद्यमान हैं—अगर पृथ्वी चपटी होती तो सूर्य कोल्हू के बैल के समान चहुं ओर घुमता हुआ नजर आता हमारे सिरपर से होकर पश्चिम में जाकर कभी उसका अस्त नहीं होता, वैसे ही परमाणु गोल हैं, जल, अग्नि, वायु गोल हैं, मनुष्य के शरीर के अवयव गोल हैं, आकाशस्थ ग्रह गोल हैं और सब ब्रह्माण्ड गोल है—इसी प्रकार पृथ्वी भी गोल है। अब हमारे देखने में, पृथ्वीका आकार चपटा क्यों आता है? इसका उत्तर भास्कराचार्य देते हैं कि—'समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्। नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा'—प्रत्येक गोल वस्तु की परिधि गोलाई का शतांश—सौ वां हिस्सा—समान अर्थात् चपटा रहता है। पृथ्वी का गोल अत्यन्त विस्तृत है और मनुष्य अत्यन्त लघु है—इसी लिये पृथ्वी मनुष्य को चपटी देख पड़ती है।

पृथ्वी के चपटी दीखने का कारण विदित होजाने परभी—यह बड़ि भारी शंका होती है कि—जब पृथ्वी का आकार कदम्ब के फूल समान है और उस के चारों ओर मनुष्य

वसति मानते हैं तो उन मनुष्यों की वसति हमारे नीचे छत से उलटे लटके हुए मनुष्य के समान होगी अर्थात् उन के पैर ऊपर और सिर नीचे होगा—ऐसी दशा में हमारे नीचे के गोल में रहनेवाले मनुष्य गिरकर नीचे नीचे क्यों नहीं चले जाते? इस शंका के उठते ही पृथ्वी का आकार गोल माननें में बडी ही व्याकुलता होगी! सचमुच ही यह शंका व्याकुलता क्या—हमारे नीचे रहने वाले मनुष्य तो शायद ही गिरते हों किन्तु हमें तो निःसंशय गिरा देती है! हमारे पास इसका कुछ भी उत्तर नहीं हैं किन्तु इस का समाधान हमारे परम ज्योतिर्विज्ञानवित्—भास्कराचार्य ने इतना अच्छा किया है कि हमारी व्याकुलता मिटकर न तो हम नीचे गिर सकते हैं और न हमारे नीचे वसनेवाले मनुष्य ही नीचे नीचे गिर सकते हैं!

"यो यत्र तिष्ठत्यवनीं तलस्थामात्मानमस्या उपरि स्थितं च।
स मन्यतेऽतः कुचतुर्थसंस्था मिथश्च ते तिर्यगिवामनन्ति ॥
अधःशिरस्काः कुदलान्तरस्थाश्छाया मनुष्या इव नीरतीरे ।
अनाकुलास्तिर्यगधः स्थिताश्च तिष्ठंति ते तत्र वयं यथात्र ॥

जो जहां रहता है वह अपने को पृथ्वीपर स्थित मानता है। इस लिये हरएक पृथ्वी के चतुर्थांश पर रहनेवाले मनुष्य अपने से दूसरे चतुर्थांश में रहनेवाले मनुष्यों को तिर्छा मानते है और प्रत्येक गोलार्ध के रहनेवाले एक दूसरे की अपेक्षा नीचे सिरवाले कैसे हैं—जैसे कि जलके किनारे खड़ा हुआ मनुष्य और उसकी छाया का मनुष्य है। अर्थात् तिर्छे या नीचे रहनेवाले मनुष्य अपने अपने स्थान में —जैसे हम यहां रह सकते है वैसे ही वे वहां अनाकुल—

व्याकुलता रहित रह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि—जो जहां रहता है वह अपने नीचे पृथ्वी को विस्तृत—फैली हुई देखता है और ऊपर विशाल गम्भीर आकाश को देखता है। जैसे हम नीचे धरती और ऊपर आकाश देखते हैं वैसे ही हमारे नीचेवाले और ऊपरवाले देखते हैं। हम भी तो हमारे ऊपरवालों के लिये नीचे सिरवाले हैं—फिर हम नीचे क्यों नहीं गिर पड़ते ? जो कारण हमारे नीचे न गिरने का है वही कारण सबके न गिरने का है। हम सब उस परब्रह्म की महाशक्ति में अवगुण्ठित है। हमारे परम पूज्य श्री भास्कराचार्य को—हरएक भारतीय सज्जन का परम कर्त्तव्य है कि वह अपने हृदय से, प्रेमपूर्वक, कृतज्ञ होके मुक्तकण्ठ से धन्यवाद प्रदान करे—कि जिन्होंने आज आठ सौ वर्ष पहिले ही किस युक्ति के साथ पृथ्वी की गोलाई के विषय में प्रतिपादन किया है और किस आश्चर्य पूर्ण उक्तिसे तुम्हारी शंका का समाधान तुह्मारे ही सिर डाला है।

आज कलके कितने ही 'लकीर के फ़क़ीर'- स्वधर्माभिमानी—धर्म का रहस्य न जानते हुए, अपने अज्ञानवश विपरीत मालूम होनेवाले सिद्धान्तों को विपरीत रीति द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टामें—अपने धर्म का महत्व स्थापित करने के बदले, उसके साथही नीचे गिर पड़ते हैं; यहां तक कि—वे इस विज्ञानयुग में प्रत्यक्ष प्रमाणों के सामने अनुमान द्वारा पृथ्वी को, चपटी, स्थिर और करोडों योजन लंबी चौडी सिद्ध करने का साहस कर बैठते हैं, किन्तु इससे उनको—सिवाय परिहास के और क्या लाभ हो सकता

है ? ये जरा भी नहीं सोचते कि–अपने अध्यात्मविद्या परिपूर्ण, आत्ममननशील, परमपुरुषार्थी धर्मप्रचारकों ने–यह किस जमानेमें और कहां बैठकर लिखा है–इस पर खूब विचार करना चाहिये कि–उन्हों ने हिमालय के शिखरपर और उत्तरीय ध्रुव के पास कि, जहां छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है और सूर्य कोल्हू के बैल के समान घूमता हुआ देखनेमें आता है–वहां, वहीं की परिस्थिति के अनुरूप लिखा है । अर्थात् पृथ्वी चपटी है, स्थिर है और करोडों योजन लंबी चौड़ी है–इसमें शंका ही क्या है ?

सारे जगत् में–'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च', 'एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः' एवं 'प्रसविताजनानाम्'–जगत् का प्राण, जगत् का आत्मा, जगत् का आधार और जगत् का उत्पादक–एक मात्र सूर्य ही है । वह इतना बडा, विशाल और प्रचण्ड है कि–उस के सामने हमारी पृथ्वी २० इंच व्यास की थाली में एक राई के कण समान है, या एक युवती के मुख पर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तिल के समान है, या एक युवकके सारे शरीर के एक सूक्ष्म रोमरन्ध्र के समान है । पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य तीन लाख चौपन हजार नोसे छत्तीस गुना वड़ा है । उसकी परिधि–गोलाई–पृथ्वी से वारह लाख गुना अधिक है । पृथ्वी से सूर्य का अन्तर नो करोड सत्ताईस लाख मील है । कितने ही अचल तारे तो, इतने वड़े हैं कि– पृथ्वी से सूर्य का जितना अन्तर है उसे– उन में का प्रत्येक तारा व्याप्त कर लेगा! इन से दूर रहनेवाले तारे तो, इन से भी अधिक प्रचण्ड, विशाल एवं तेजस्वी हैं और वे असंख्य हैं । पृथ्वी

से उन का अन्तर परार्ध मील तक है और उन का प्रकाश पृथ्वी पर आने के लिये सतरह सो वर्ष लगते हैं! सूर्य के प्रकाश को पृथ्वी पर आने के लिये केवल ८,६ मिनट ही लगते हैं, तो इस हिसाव से वे कितने वड़े और प्रचण्ड होंगें—इस का सहज ही में अनुमान हो सकता है।

पृथ्वी का व्यास ७,६२६ मील है, सूर्य का व्यास ८,८७,८५० मील है, चन्द्र का व्यास २,१६० मील है, मंगल का व्यास ४३,१६० मील है, वुध का व्यास २,६७६ मील है, वृहस्पति का व्यास ८६,२५६ मील है, शुक्र का व्यास ७,५२४ मील है और शनि का व्यास ७२,४४८ मील है। वैसे ही पृथ्वीतल के वर्ग मील १६,७३,३६,५६५ हैं। और दोनों ध्रुवों के बीच पृथ्वी की ऊंचाई ७,८६६ मील है। ग्रहों की छुटाई का प्रमाण- १००) रुपयों में—

	रुपये।	आना।	पाई।
पृथ्वी	१२	८	०
सूर्य	३७,६०,५०१	०	०
चन्द्र	०	२	६
मंगल	१	४	०
वुध	०	१२	०
वृहस्पति	४६,०००	०	०
शुक्र	६	६	०
शनि	१७७६	०	०

इस प्रकार विद्वानों नें हिसाव लगाया है।

पृथ्वी के तौल का अनुमान करने में पाश्चात्यों ने बहुत परिश्रम किया है। पृथ्वी तल के एक घनफ़ुट के तौल के द्वारा, और Pendulum लम्बक के आन्दोलन द्वारा, और निष्क्रिय पदार्थ के पतन द्वारा, और पृथ्वी से साढ़े पांच गुना जल के गुरुत्व द्वारा—हिसाब लगा कर उन्हों ने पृथ्वी का तौल— ५,८५,२०,००,००,००,००, ००,००,००,००० टन सिद्ध किया है। एक टन— ८० तोले के सेर से और ४० सेर के एक मन के हिसाब से २७ मन का होता है। इतनी बड़ी पृथ्वी की अपेक्षा भी बृहस्पति ग्रह चौदह सौ छत्तीस गुना बड़ा है और उस का तौल तीन सो गुना अधिक है एवं इस से भी बढ़कर पृथ्वी से सूर्य का तौल तीन लाख गुना अधिक है और उस का प्रकाश आठ लाख पूर्ण चन्द्र के बराबर है।

इतनी बड़ी, इतनी प्रचण्ड, इतनी भारी, इतनी मोटी, इतनी जड़—होने पर भी, पृथ्वी अति तीव्र वेग से, अन्तरिक्ष में सूर्य की चारों ओर घूमती रहती है। यह उस का तेज—घूमना—किसी के जानने में नहीं आता इस का उदाहरण इस वक्त रेलगाड़ी और आग-बोट है। उस में बैठे हुए मनुष्य को मार्ग या किनारे पर के वृक्ष, गृह आदि चलते हुए देख पड़ते हैं और वह अपने को स्थिर देखता है। हमारे आर्य भट विक्रम की छटी शताब्दी में अर्थात् आज से १४०० वर्ष पहिले ही कहते हैं कि—

"अनुलोपगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत्समपश्चिमगानि लंकायाम्॥"

अर्थात् नाव पर बैठे हुए पूर्व की ओर जानेवाले मनुष्य को दोनों किनारों के अचल वृक्ष अपनी दिशा से विलोम—पश्चिम को जाते हुए देख पड़ते हैं, वैसे ही लंका में अन्तरिक्ष स्थिर और पश्चिम की ओर जाता हुआ देख पडता है। इसी तरह अन्तरिक्ष के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों को देखकर पृथ्वी का घूमना प्रतीत होता है। प्रातःकाल सूर्य पूर्व क्षितिज में से निकल कर ऊपर आकर पश्चिम की ओर नीचे जाकर लुप्त हो जाता है, और सायंकाल हो जानेपर चन्द्रमाका उदय होके अनेक तारे क्षितिज से ऊपर आकर पश्चिम में नीचे नीचे चले जाते हैं। इन सूर्य, चन्द्र, ग्रह, ताराओं का उदयास्त, गति, युति आदि सब पृथ्वी ही के भ्रमण पर निर्भर हैं। पृथ्वी परका कोई पदार्थ चलता हुआ दिखाई नहीं देता और अन्तरिक्ष के ग्रह तारादिक चलते हुए देख पड़ते हैं—इसका कारण केवल पृथ्वी ही का घूमना है— 'भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्त्या वृत्य प्रति दैवसिकं— उदयास्तमयं सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम्, भपञ्जर—राशिचक्र स्थिर है अर्थात् अन्तरिक्ष अविचल है। पृथ्वी ही बार बार घूमकर प्रतिदिन नक्षत्र, ग्रहों का उदयास्त सम्पादन करती है।

यहां हम एक ऐसी सचित्र यन्त्र की घटना का उल्लेख करते हैं जिस से हर कोई—पृथ्वी का प्रत्यक्ष घूमना जान सक्ता है और उस यन्त्र को बनाकर स्वयं अनुभव ले सकता है—

पेरिस के रहनेवाले फौकाल्ट नामक फ्रेंच ज्योतिषी ने ईसवी सन १८५१ में एक गुम्बज की छतको ७२ गज लंबे तार में एक १६ सेर का एवं एक फुट व्यास का लम्बक लगा कर लटकाया और उस में अपनी नौक से भूमि का स्पर्श करनेवाली एक सूई लगा दी । फिर उस के नीचे एक बारह फुटके व्यास का चक्र बनाकर उस पर बारीक बालू बिछाई और लम्बक के तार को सूतली से बान्धकर खूंटी को लगा दिया । बाद उस सूतली से ही वह लम्बक ज़ोर से घूमने लगा जैसे कि बड़ी घडी में लम्बक इधर उधर घूमता है वैसे ही वह ज़ोर से हिलने लगा । अब उस के मुंह में जो सूई लगी हुई थी वह उस बिछी हुई बालूपर रेखा बनाने लगी । देखने पर मालूम हुआ कि प्रत्येक रेखा एक से एक हटती हुई अलग अलग है । जबतक वह लम्बक स्थिर नहीं हुआ तबतक इसी प्रकार सम प्रमाण में रेखा पड़ती गई । वे सब केन्द्र बिन्दु में तो मिलती थीं पर क्रमशः एक से एक हटी हुई थीं । इस पर से विचारना चाहिये कि यदि पृथ्वी प्रतिक्षण न चलती होती तो रेखायें एक से एक टेढी होकर भिन्न न होतीं वरन् एक ही रेखा पर लम्बक की सूई चलती रहती । अर्थात् जैसे जैसे पृथ्वी घूमती है वैसे वैसे वह लम्बक भी दिशा बदलता जाता है । अगर उसको उत्तर ध्रुव में लगा दिया जाय तो—पश्चिम से पूर्व की ओर जैसे पृथ्वी घूमेगी वैसे ही वह दिशा बदलेगा । जैसे घड़ी का कांटा १२ घण्टें में वापिस आता है उसी प्रकार लम्बक भी २४ घण्टें में पीछा अपने ठिकाने आ जायगा ।

आज कल के नवपठित युवक–' अविद्यायां वहुधा वर्त्तमाना वयंकृतार्था इत्यभिन्मयन्ति वालाः।' –इस मुण्डकोपनिषत की उक्ति के अनुसार पंडितंमन्य होके, अपने पूर्वजों को मूर्ख मानते हुए कहते हैं कि–पृथ्वीका गुरुत्वाकर्पण, गोल होना, घुमना, सूर्यका स्थिर होना आदि पाश्चात्यों ही ने खोज निकाला है–हमारे यहां इस का मुतलक़ पता भी नथा। किन्तु देशके दुर्भाग्यवश वे नहीं जानते कि आज १४०० वर्ष पूर्व ही हमारे पूर्वज पृथ्वी का घूमना और भपंजर का–अन्तरिक्ष का–स्थिर रहना जानते थे वैसे ही पृथ्वी की आकर्षण शक्ति और उसकी गोलाइ को हज़ार आठ सौ वर्ष पहिले ही जानते थे। यह तो हुई प्राचीन–वहुत ही पुरानी ख़ास ज्योतिपियों की वात, किन्तु इनके पीछे विलकुल ही अन्धकारंपूर्ण मध्ययुग के आरम्भमें–दक्षिण के ज्ञानेश्वर महाराजने गीतापर ज्ञानेश्वरी टीका मराठी भाषामे लिखी है उसके चौथे अध्याय की ६६वीं 'ओंवी' में लिखा है कि–"आणि उदो अस्ताचेनि प्रमाणें जैसें न चलतां सूर्याचें चालणें, तैसें नैष्कर्म्यतत्व जाणें, कर्मीचि असतां"— और उदय अस्त के प्रमाण से जैसे न चलते हुए सूर्य का चलना प्रतीत होता है वैसे ही कर्म में रहकर निष्कर्म के तत्व को जानना चाहिये। कितना स्पष्ट उल्लेख है–और वह एक १८ वर्ष के लडके का है जिसे लिखने को आज ६२३ वर्ष होते हैं और वह 'नेवासा' नामक एक गांवडे में लिखागया था। ज्ञानेश्वर महराज न तो ज्योतिपी थे, गणक थे और न साइन्टिस्ट, एवं कोपर निकस, गेलीलियो, न्यूटन ही थे। ज़रा

सोचने की वात है कि–कोपरनिकस का जन्म ईसा के १४७२ सन में हुआ है, गेलीलियो का जन्म सन १५६४ में हुआ है, न्यूटन का जन्म सन १६४२ में हुआ है–इन का सब जानना न जानना केवल ४५० वर्ष के अन्दर ही का है। और इस जानने में उनको क्या क्या कठिनाइयां प्राप्त हुई हैं और कैसे कैसे संकटोंका सामना करते करते मरना पडा है–यह उनके चरित्र पढने पर विदित होके हृदय कंपित होता है। ऐसी दशामें कहां हमारे आर्य भट, लल्ल, श्रीपति, भास्कराचार्य आदि पौर्वात्य ज्योतिर्गण और कहां इने गिने दो तीन ही पाश्चात्य ज्योतिर्विद? किन्तु हमें उनका मुक्तकण्ठ से अभिनन्दन करना चाहिये कि–चाहे उनके सिद्धान्त हमारे लिये नवीन नहीं तो भी—उनसे हमारे पुराने मतों के नवीनता प्राप्त होने का और हमें अपने सिद्धान्तों को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और जिन्हों ने अपने मत का त्याग न करते हुए प्राणों तक की परवाह न की–साधु साधु धन्य धन्य ! ऐसे सत्पुरुषों का जितना अभिनन्दन कियाजाय–उतना थोडा ही है।

ऊपरके विवेचन पर से–पृथ्वी के घूमने में कुछ भी शंका नहीं है। उसकी दो प्रकार की गति है–एक दैनिक साठ घडी या चोवीस घण्टे की होती है जिससे दिन रात होते हैं। यह दिन रात का होना उस की गोलाई का कारण है और इसी के लिये हमारे ज्योतिर्विद् वैज्ञानिकों नें पृथ्वी के गोले के छः भाग कर के उन को पृथ्वी का मध्यभाग लंका, लंका से पृथ्वी की गोलाई की चौथाई में पूर्व की ओर यमकोटि, लंका से पश्चिम की ओर रोमक, लंका से नीचे सिद्धपुर

और उत्तर में मेरु तथा दक्षिण में वडवानल—कहा है । ये सब संज्ञा मात्र हैं, वास्तव में पृथ्वी के बीच न तो लंका है और न उस के चहुं ओर या ऊपर मेरु यमकोटि आदि ही हैं । दूसरी वार्षिक गति होती है । वह तीनसौ पैंसठ दिन, पंधरह घड़ी, तीस पल, की होती है—जिस से वर्ष होता है । यह वर्ष का होना—उसी जगह फिर नक्षत्र का दिखाई देना है । अर्थात् कोई भी ग्रह, तारा, नक्षत्र, कभी एक जगह नहीं रहते । वे सदा पश्चिम की ओर जाकर कई दिनों से अस्त हो जाते हैं । किन्तु हम जिस नक्षत्रको, जिस स्थानपर आज देखते हैं—फिर वही नक्षत्र जिस दिन उसी स्थानपर फिर देख पड़ता है तब ३६५ दिन, पंधरह घडी, तीस पल, का वर्ष होता है । इस पर से भी निःसन्देह पृथ्वीका घूमना सिद्ध होता है—क्योंकि पृथ्वी पहिले जिस स्थानपर होती है—वर्ष के अनन्तर फिर उसी स्थान पर आ जाती है ।

इस प्रकार सूर्य के चारों ओर केवल पृथ्वी ही नहीं घूमती—छोटे मोटे सब ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, तारा सूर्य के चारों ओर घूमते हैं । सब ग्रहों में से वुध सूर्य के अति निकट है और नेपच्यून सूर्य से अति दूर है । ग्रहों में सब से बड़ा बृहस्पति है । पृथ्वी और शनि—बृहस्पति की अपेक्षा बहुत ही छोटे हैं । बुध और मंगल उस से छोटे हैं । पृथ्वी और शुक्र में थोड़ा ही फरक़ है । जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है उसी प्रकार चन्द्र पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है—इस लिये वह पृथ्वी का उपग्रह कहलाता है । अन्तरिक्ष के सब नक्षत्रों से चन्द्रमा बहुत

ही छोटा उपग्रह है। वह पृथ्वी से केवल २,४०,००० मील ही के अन्तर पर है—इसी लिये वह इतना बडा देख पड़ता है।

'ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाभिधीयते'—पृथ्वी के चलने के मार्ग को कक्षा कहते हैं। इस कक्षा वा क्रान्ति-वृत्त को किसी सड़क का मार्ग न जानना चाहिये। यह एक कल्पित आकाशमार्ग है—जिस से पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है। इसको वृत्ताभ कहते हैं। वृत्तों की गोलाई उनके व्यास से ३⅐ गुना अधिक होती है। सूर्य से पृथ्वी का अन्तर ९,२७,००,००० मील है तो, पृथ्वी के क्रान्तिवृत्त का व्यास १८,५४,००,००० मील होता है। इस हिसाब से पृथ्वी के विशाल क्रान्तिवृत्तकी गोलाई ५८,३०,००,००० मील होती है—अर्थात् सूर्य की प्रदक्षिणा करने के लिये पृथ्वी को ३६५ दिन में ५८,३०,००,००० मील मार्गक्रमण करना पडता है। वर्ष भर में इतनी बड़ी यात्रा समाप्त करने के लिये पृथ्वी को एक सेकण्ड में १८ मील दौडना पड़ता है। इस वेग से अगर आगगाडी चलाई जाय तो, हम कुल ७ ही मिनटमें बम्बई से लंडन को पहुंच सकते हैं। आजकल डाकगाडी ६० मील घंटे के वेग से जाती है तो हम घबरा उठते हैं और आज कल की रेल दुर्घटनाओं के कारण मुठ्ठी में ज़ी दबाये हुये चले जाते हैं। अगर यह गाडी एक मिनट में १०८० और घण्टे में ६४,८०० मील चलाई जाय तो क्या दशा हो? अर्थात् हम पृथ्वी के साथ एक घण्टे में कोई ६५,००० मील की दौड़ लगाते हैं!! बलिहारी है, उस अनन्त दयामय परमेश्वर

की—जो हमें इतने तीव्र वेग का यत्किंचित् भान तक नहीं होने देता, या रैल के समान और किसी गोले के साथ पृथ्वी की टक्कर नहीं होने देता, या और कहीं गड़े, खड्डे या पुल के नीचे नदी नाले में पृथ्वी को नहीं गिरा देता, या रेलों पर से नीचे उतार कर उस की गति नहीं रोक देता। अहाहा! यह कितना अच्छा, कितना लायक़, कितना चतुर, ड्राइवर है—जो कहीं कभी, दिनरात अंधियारे उजियाले में तनिक भी पृथ्वी के चलाने में त्रुटि, ग़लती या भूल नहीं करता!!!

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति। आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ ऋग्वेद् १।११३ हे मनुष्यो! निद्राका त्याग कर के उठो। हमारे शरीर का प्रेरक जीवात्मा आगया है। तम—अन्धकार जाता रहा है। प्रातःकाल का प्रकाश होते ही सब का व्यवहार प्रचलित होता है—इसलिये वह परमात्मा-रूप से जीव—ज्योति द्वारा आता है एवं सूर्य के मार्ग को दृश्य करता है। जिस प्रदेश में सूर्य जाता है—उस में आयु अन्न का वर्धन होता है। सूर्यसिद्धान्त का सिद्धान्त है कि—"ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्युस्रा मूर्त्तीर्यजूंषि च।" इस ब्रह्माण्डमंडल का ऋग्वेद मण्डल है उस के किरण सामवेद है और उस की मूर्ति यजुर्वेद है। अर्थात् वेदवाणी परम शक्तिसम्पन्न विद्युन्मयी प्रकाशक है अतएव उसी के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है, धर्म का प्रचार होता है, और वह धर्म सब को धारण करता है।

क–पृथ्वी का आयुष्य।

जितना भारत प्राचीन है एवं उस के प्राचीनतर विचार संस्कार हैं, उस से भी पृथ्वी प्राचीनतम है। यह प्राचीनतमत्व इतना समुज्ज्वल, इतना सुसंस्कृत एवं इतना समुन्नत है कि–जिस की गणना–हिसाव लगाने में वड़े वड़े दिग्गज–गणकों, वैज्ञानिकों को एवं तत्वज्ञों को–मुग्ध होना पड़ता है, स्तब्ध होना पड़ता है एवं चकित होना पड़ता है।

ग्रीक–यूनान् राज्य की प्राचीनता, इजिप्त–मिसर के पिरामिडस्–स्तूप वनानेवाले सूफ़ी राजवंश की प्राचीनता अथवा अर्वाचीन पाश्चात्यों के शिलायुग की प्राचीनता भारतीय प्राचीनता के आगे आज कल की सी मालूम होती है। पृथ्वी का आयुर्मान इतना वड़ा है कि–उस की गणना हज़ारों या लाखों से नहीं हो सकती, उस के लिये करोडों क्या–अरवों का ही उपयोग करना होता है। पृथ्वी भर में पुराने से पुराने समय में–जहां कहीं सुधार, सभ्यता, उन्नति हुई है–उस का आदर्श–पथदर्शक–पुराण तम भारत वर्ष ही है–यह वात इस वक्त सव पूर्व पश्चिम के पुरातत्वविद् इतिहास संशोधकों को मान्य है और उन्होंने पद पदपर मुक्तकण्ठपर से भारत का गौरव गान करते हुए इस का स्वीकार किया है। इस पृथ्वी पर आज तक छोटे मोटे अनेक राष्ट्रों का उदय हो के अस्त हुआ है। अनेक साम्राज्यों की स्थापना हो के उनका विनाश हुआ है। एवं अनेक सामन्त राज्यों के सार्वभौम राज्य होके उन का पतन हुआ है। सव की उत्क्रान्ति, अवनति, सुधारविगाड, चित्रविचित्र घटनायें–

जल में स्थल, स्थल में जल, जंगल में मंगल, मंगल में जंगल आदि सब के काल का परिवर्त्तन, जन्म, मृत्यु, उदय, अस्त आदि सब—इस अति वृद्ध जरठ भारत ही ने देखा है। पृथ्वी पर आज ऐसा कोई देश या मनुष्य नहीं है कि जिसने भारत से कुछ लिया नहीं, पाया नहीं या सीखा नहीं—इस पर से स्पष्ट है कि—सबसे भारतवर्ष ही पुराणतम, सभ्य, विद्वान्, तत्वज्ञ, पूज्यतम देश है।

पृथ्वी भर की प्राचीन तम सभ्यता, साहित्य और धर्म की छानबीन कर के **कौन्ट जान स्टर्जना** अपनी 'दि ओरानी आफ दि हिन्दुज़म्' नामक पुस्तक में लिखतें हैं कि "What has been breifly stated here may be sufficient to show that no native on earth can vie with the Hindus in respect to the *antiquity* of their religion and the *antiquity* of their *civilization.*" यहां जो कुछ संक्षेप से कहा गया है वह यह दिखाने के लिये पर्याप्त है कि—पृथ्वी पर कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं के धर्म की प्राचीनता एवं उनकी सभ्यता की प्राचीनता के विषय में बराबरी नहीं कर सकता। **विक्टर कौसिन** Victor cousin नामक एक फ्रान्स का विद्वान अपनी 'हिस्टरी आफ माडर्न फिलासफी' में कहता है कि—"When we read with attention the poetical and philosophical monuments ... ... of India—we discover there so many truths, and truths so profound, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genius has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before that of the East, and to see in this cradle of the human race the native land of the highest *philosophy.*"

इस मानव जाती के आदिम स्थान में उच्चतम तत्व-ज्ञान की जन्मभूमि देख पडती है । अर्थात् जब हम भारतवर्ष के काव्य और वेदान्त के ग्रन्थ ध्यान देकर पढ़ते हैं तब उन ग्रन्थों में इतने और ऐसे ऐसे गंभीर सिद्धान्त पाये जाते हैं कि–पाश्चात्य विचार शक्ति की ' मसजिद तक की दौड ' हमें अति तुच्छ प्रतीत होती है, और हम को भारतवर्ष के सामने घुटनों के बल झुकना पड़ता है और तभी हमें इस मानव जाति के आद्यस्थान में उच्चातिउच्च तत्वज्ञान की जननी भूमि का परिचय मिलता है । अमेरिका के येल कालेज के प्रेसीडेन्ट डा० स्टाइल्स तो संस्कृत साहित्य को देख कर इतने चकराये कि–'अडाम की पुस्तकें' भारतवर्ष में उपलब्ध होने की संभावना जान कर, उन्होंनें उन की खोज के लिये सर विलियम जोन्स से प्रार्थना की ।

मोक्षमूलर आदि पाश्चात्य पण्डितगण चाहे इस बात को न मानें तथापि स्वर्गीय द्विवेदी मणीभाई नभूभाई के सन १६०२ के डिसेम्बर के–'सुदर्शन' मासिकपत्र में लिखे अनुसार–"रूस देश के पादरी नाटविच साहबने तिब्बत में से जो क्राइस्ट का चरित्र खोज निकाला है–उसमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि–क्राइस्ट स्वयं भारत में बहुत दिन रहकर हिन्दुधर्मशास्त्र और बौद्धधर्मशास्त्र सीख कर स्वदेश को गया था ।"–यह घटना ज्ञानपूर्ण वृद्ध भारत के लिये कम गौरव की नहीं है एवं ऐसा होना असंभव भी नहीं है । क्राइस्ट के छः सौ वर्ष पहिले ही एज़ेकील ने कहा था कि–

' And, behold, the glory of the God of Israel came from the way of the east.'—देखो इस्राएल के ईश्वरका तेज पूर्व की तरफ़से आया। अब पूर्व की तरफ़ परशिया, वेक्टरिया, गान्धार और आगे भारत है। इरान में उस वक्त़ बौद्ध मत शायद ही पहुंचा हो किन्तु वैदिक मत तो अवश्य ही पहुंचा हुआ था। अवस्था में वेदों के अनेक वाक्य, शब्द और अक्षर भरे हुए हैं और ईसा के वक्त़ वहां इतनी धार्मिक प्रवृत्ति भी न थी कि कोई बाहर से आकर वहां से ज्ञान प्राप्त कर के कोई अद्भुत कार्य कर सके। उसके आगे वेक्टरिया और गान्धार तो पूर्ण अज्ञानदशा में थे—अर्थात् आगे भारत ही पर दार मदार रहा और उस वक्त़ भारत ही का ज्ञानसूर्य पूर्ण प्रकाशित था—इस लिये- 'इस्राएल के ईश्वरका तेज पूर्व की तरफ़ से आया'—अर्थात् भारत-ही से ज्ञान का प्रवाह पश्चिम में गया—क्यों कि क्राइस्ट के वहुत पूर्व काल में—बाकस और सेमिरामिस, ईसवी सन के पूर्व १३०८ वर्ष में—मिसरके सेसास्ट्रिस; ईसवी सन के पूर्व ५१८—४८५ वर्ष में परशिया का डरायस; और ईसवी सन के पूर्व ३३०—३२३ वर्ष में ग्रीक देश के अलेक्भ्ज़ेण्डर दि ग्रेट—इत्यादिकों ने भारत से परिचय किया था, भारत से वहुत कुछ प्राप्त किया था एवं भारत की यात्रा की थी। वैसेही भारतीयों ने भी मिसर, ग्रीक, ईरान, चीन, जावा, सुमात्रा, खोटान, काफ़रिस्तान, अमेरिका, आफ़रिका, यूरूप आदि देशों में—निवास किया था और उन्हीं के वंशज आज भी वहां विद्यमान हैं। प्रसिद्ध वंगाली इतिहासलेखक पण्डित सत्यचरणजी शास्त्री ने

' हितवादी ' में एक गंभीर लेख लिखकर दिखाया है की—दो हज़ार वर्ष पहले भारतवासियोंनें जापान, चीन, कांवोड़िया, स्याम जैसे दूर दूर के देशों में भारतसे धर्मोपदेशक भेजकर भारतीय धर्म, तत्वज्ञान और साहित्य का प्रचार किया था एवं उक्त देशोंपर अपना अधिकार भी जमाया था। उन्हों ने कांवोडिया में एक **गम्भीरेश्वर** नामक शिवालय इतना ऊंचा गगनचुम्बित बनाया था कि उस के सामने इस वक़्त की अमेरिका की इमारतें कुछ चीज नहीं। ऐसे ही अकोर में एक विराट् मठ स्थापित किया था कि उस के विस्तार के सामने मिसर देश के पिरामिड्स् भी किसी गिनती में नहीं। स्याम में भारतवासियों ने इतना प्रभाव जमाया था कि उस का असर आज भी वहां के समाज में दृष्टिगोचर होता है। वहां आज भी **मनुस्मृति** मानी जाती है, **रामायण** की कथा प्रेम से वांची जाती है एवं धार्मिक कर्मों के आरंभ में **गणेशपूजन** होता है। स्याम के मूलाक्षर भी हमारे नागरी अक्षरों से मिलते जुलते हैं। एक प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित **क्रोभ्रर** लिखता है कि—" If there is a country on earth, which can justly claim the honour of having been the Cradle of the human race, or at least the Scene of a primitive civilization, the succesive developments of which is the second life of man, that country assuredly is India."—यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है कि जो इस न्यायपूर्वक सत्व का गौरव रखता हो की—वह मानवजाति का आद्यस्थान था अथवा कम से कम उस प्राथमिक सुधारका आद्यस्थान था कि—जिस

सुधार की क्रमशः उन्नति होना ही मानवजाति का परि-वर्त्तन है तो वह देश निःसंशय भारतवर्ष ही है। अर्थात् सब राष्ट्रों का आदिस्थान, सब शास्त्रों का उत्पत्तिस्थान, सब धर्मों का मूलस्थान, सब नीतिनियमों का मुख्य-स्थान, और सब क़ायदेक़ानून का प्रचारकस्थान भारत-वर्ष ही है।

दूसरा फ्रैंच पण्डित **लोइसजेकोलियट** कहता है कि-"India is the world's cradle; thence it is, that the common mother in sending forth her children even to the utmost West, has in unfading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her *language*, her *laws*, her *moral*, her *literature* and her *religion.*"—भारतवर्ष जगत् की उत्पत्तिका आदिम स्थान है। यहीं से इस मातृभूमिने पश्चिम की अन्त सीमातक अपनी सन्तान को भेजा है और अपना उत्पत्तिस्थान भारतवर्षही है, ऐसा कभी न मुरझानेवाला प्रमाण देते हुए उस ने अपनी भाषा, क़ायदे, नीतितत्व, साहित्य और धर्म का हम को हक़दार किया है। वह और भी कहता है कि-" Can there be any absurdity in the suggestion that India of six thousand years ago, *brilliant, civilized,* overflowing with population, impressed upon Egypt, Persia, Judia, Greece and Rome, a stamp as ineffaceable, impression as profound, as those last have impressed upon us?"-प्रभावशाली, विद्याविचारसम्पन्न एवं जनसमूहपरिप्लुत ऐसे छः हजार वर्ष पूर्व के भारतवर्ष ने मिश्र, ईरान्,

जुड़िया, ग्रीस और रोम देशोंपर, अपना गहरा और कभी न लुप्त होनेवाला सिक्का इस ज़ोर से जमाया है कि उतने ज़ोर का सिक्का मिश्र, ईरान आदि देशोंने हमपर जमाया है—ऐसा कहने में क्या प्रमाद होगा ? वैसे ही रावर्टस साहब अपनी हिस्टरी में लिखते हैं कि—"That the Hindus were a people highly civilized at the time when their laws were composed in the code (Manusanhita) itself." जिस वक्त भारतीयों के क़ायदे क़ानून का निवन्धन हुआ उस वक्त वे लोग श्रेष्ठ विद्याविचारसम्पन्न थे—ऐसा उन के स्मृतिग्रन्थ (मनुसंहिता) के अन्तःप्रमाणों द्वारा स्पष्ट होता है। उसी मनुसंहिता में मनु महाराज ने भी स्पष्ट कह रक्खा है कि—"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।" अर्थात् इसी देश के जन्मे हुए अग्रजन्मा—ब्राह्मणों के द्वारा भूमण्डल के समस्त मनुष्यों ने अपने अपने चरित्र सीखे हैं।

पाश्चिमात्य विद्वद्गण, पूरे संशोधक, विचारक, ज्योतिषी, गणितविद्याग्रणी एवं प्रत्यक्षप्रमाणवादी हैं—इस में कुछ भी शंका नहीं। ऊपर लिखे अनुसार अनेक आप्तवाक्यों के प्रत्यक्ष प्रमाण होने पर भी वे पृथ्वी की उत्पत्ति का काल दस बारह हज़ार वर्ष और मनुष्य की उत्पत्ति का काल पांच छः हज़ार वर्ष से अधिक नहीं मानते इस लिये वे किसी भी इतिहास की आलोचना में—किसी भी विषय, पदार्थ, बात की कालगणना इसी समयके अन्दर स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं—यह उन के लिये

वड़ी हास्यजनक वात है, एवं उन के अज्ञान और हठ का निदर्शन है। किन्तु ईश्वर की कृपा से अब वे भूगर्भ-विद्या के प्रचार से, अन्वेषण से एवं अनुभव से—हमारे यहां की पृथ्वी के आयुष्य की कालगणना के क़रीव क़रीव पहुंच रहे हैं।

पृथ्वी का और मनुष्य का उत्पत्ति काल भारतवर्षीयों ने अति सूक्ष्म वुद्धिद्वारा स्थिर किया है। उनकी युग-पद्धति, उसके भागविभाग एवं प्रचण्ड कल्प कल्पना छोटी वात नहीं है। किन्तु उन्हों ने अपने वुद्धिकौशल द्वारा छोटे छोटे वच्चों के मुख में—इस अति प्रचण्ड कल्प की गणना को एक छोटे से संकल्पद्वारा सूत्रवद्ध कर रक्खा है। 'अद्य श्री ब्रह्मणो द्वितीय प्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराह-कल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि-प्रथमचरणे'—इत्यादि। इसी हिसाव से आगे काल गणना की गई है। भारतीय ज्योतिर्गण की वुद्धि की कितनी ती-व्रता है कि—जिस कल्प की गणना का केवल गेहूं के दाने हाथ में लेकर हिसाव किया जाय तो १४।१५ महीने से कम नहीं लगते—इस संकल्पद्वारा उस हिसाव के करने में १४।१५ मिनट से अधिक समय नहीं लगता! कैसी वुद्धि की विचक्षणता एवं कल्प कल्पना की कल्पकता है।

जगदुत्पत्ति के विषय में ऊपर वहुत विस्तृत प्रमाण-युक्त विवेचन हो चुका है जिस का सार यह है कि—जगत् की उत्पत्ति होने पर नियमित काल तक वह व्यक्त स्वरूपमें रहता है। अनन्तर इस व्यक्त जगत् का प्रलय होके अव्यक्त स्वरूप में—अर्थात् मूल परमाणु रूप में वह उतना

ही काल रहकर फिर उस को व्यक्त स्वरूप प्राप्त होता है। जगत् के व्यक्त स्वरूप के काल को 'ब्रह्मदिन' एवं अव्यक्त स्वरूप के काल को 'ब्रह्मरात्रि' कहते हैं एवं इसी ब्रह्मदिन और ब्रह्मरात्रि को कल्प कहते हैं।

अथर्ववेद, सिद्धान्तशिरोमणि, सूर्यसिद्धान्त मनुस्मृति आदि के मतानुसार ब्रह्मा का एक 'ब्रह्मदिन' ४,३२,००,००,००० वर्ष का है। संप्रति उस दिन की १३ घड़ी, ४२ पल और ३ अक्षर व्यतीत हुए हैं। चालीस हज़ार वर्ष का एक अक्षर होता है। इस ब्रह्मदिनमें १००० एक हज़ार चतुर्युगी होती हैं, १४ चौदह मनु होते हैं एवं एक एक मनु के ७१ महायुग–चतुर्युगी होती हैं। कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग मिलकर एक चतुर्युगी ४३,२०,००० वर्ष की होती है। और आगे पीछे एक एक मनु के एक एक सन्धी होती है और उस सन्धी का प्रमाण कृतयुग के वर्ष होते हैं। अर्थात् १४ मनु की १५ सन्धियां होती हैं। जिस में इस समय तक ६ मनु हो चुके हैं, अब ७ वां वैवस्वत मनु वर्त्तमान है। उस के २७ महायुग व्यतीत हुए हैं, अब २८ वां महायुग प्रचलित है। उस में के तीन युग अर्थात् कृत १७,२८,०००, त्रेतायुग–१२,९६,०००, द्वापरयुग–८,६४,००० मिलकर–३८,८८,००० वर्ष व्यतीत हो के कलियुग के ४,३२,००० वर्षों में से ५,०१४ वर्ष गये हैं। कुल ३८,९३,०१४ वर्ष हुए। इस हिसाब से पृथ्वी को उत्पन्न हुए १,९७,२९,४९०१४ वर्ष हुए हैं। इस का खुला हिसाब ऐसा है कि एक चतुर्युगी–४३,२०,००० वर्ष, ७१ चतुर्युगी का १ मनु–४३,२०,००० के साथ ७१ से

गुणनेपर ३०,६७,२०,००० वर्ष होते हैं। अब इन से छः मनुओं के गुणने से १,८४,०७,२०,००० वर्ष हुए और छः मनुओं की आगे पीछे मिलकर संधियां हुईं। कृतयुग के १७,२८,००० वर्ष की एक संधी होती है जिस को ७ से गुण ने पर १,२०,९६,००० वर्ष हुए। सातवें मनु की २७ चतुर्युगी के वर्ष ११,६६,४०,००० होते हैं। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के तीन युग व्यतीत होके कलियुग के ५,०१४ वर्ष हो चुके हैं—अर्थात् कलियुग के अभी ४,२६,९८६ वर्ष व्यतीत होने बाक़ी हैं। अर्थात् २८ वीं चतुर्युगी के ४३,२०,०००वर्षों में से रहे हुए कलियुग के वर्ष बाद करने पर ३८,९३,०१४ वर्ष बाक़ी रहते हैं। सब मिल कर—

छः मनु के वर्ष... ... ... १,८४,०३,२०,०००
इन की सात संधियों के वर्ष १,२०,९६,०००
सातवें मनु में की २७ चतुर्युगी के वर्ष. ११,६६,४०,०००
२८वीं चतुर्युगी के भुक्त वर्ष... ... ३८,९३,०१४

कुल १,९७,२९,४९,०१४ वर्ष।

वैसे ही अब रहे हुए आखिर के सात मनु के वर्ष २,१४,७०,४०,००० होते हैं और सात मनु की आठ संधियों के १,३८,२४,००० वर्ष होते हैं। सातवें मनु में से रही हुई ४३ चतुर्युगी के वर्ष १८,५७,६०,००० और प्रचलित अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के शेष वर्ष अर्थात् कलियुग के बाक़ी रहे हुए वर्ष ४,२६,९८६ सब मिल कर विद्यमान पृथ्वी का अन्त होने के लिये अभी—२,३४,७०,५०,९८६ वर्ष बाक़ी हैं। ज्योतिष के मतसे कल्प के आरंभ में—सूर्य-

चन्द्रादि सब ग्रह युति में थे—इस लिये उन का हिसाब लगा कर पृथ्वी की प्रदक्षिणा के काल के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति का काल निश्चित किया गया है—ऐसा मानने में क्या हानि है?

भगवान् मनुजी के कथनानुसार—ब्रह्मा का एक दिन कल्प होता है। एक कल्प में एक हज़ार महायुग या १४ मनु होते हैं। मनुष्यका एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। प्रतियुगमें सन्ध्या और सन्ध्यांश होते हैं। जैसे दिनके प्रातःकाल सन्ध्याकाल होते हैं वैसे ही युग की सन्ध्या और सन्ध्यांश होते हैं—

युग	सन्ध्या	युगकाल	सन्ध्यांश	कुल
१ कृत	४००	४,०००	४००	४,८००
१ त्रेता	३००	३,०००	३००	३,६००
१ द्वापर	२००	२,०००	२००	२,४००
१ कलि	१००	१,०००	१००	१,२००
४	१,०००	१०,०००	१,०००	१२,०००

बारह हज़ार को ३६० गुना करने से मनुष्य वर्ष ४३,२०,००० होते हैं और एक कल्प में १,००० महायुग होते हैं तो, देव वर्ष १,२०,००,००० हुए। उनको ३६० गुना करने से मनुष्य वर्ष ४,३२,००,००,००० होते हैं। बाक़ी सब हिसाब ऊपर लिखे अनुसार है। किन्तु इस हिसाब में, कल्प पूरा होने में, १४ मनुके हिसाबसे—कल्पके १,००० महायुग होने के बदले में ९९४ होते हैं। अर्थात् इसमें ६ महायुग का अन्तर पडता है किन्तु ऐसा नहीं है। चौदह मनुकी पंधरह संधियां होती हैं और जिन

के—१७,२८,००० के हिसाबसे २,५६,२०,००० वर्ष होते हैं और एक महायुग ४३,२०,००० वर्ष का होता है तो, इन सन्धियों के बराबर ठीक ६ महायुग होके पूरे १,००० महायुग होते हैं। जोहो—इस प्रकार भारतीयों की चतुर्युगी की काल गणना देखकर हालबेड नामक एक पाश्चात्य ग्रन्थकार के चित्तमें भारत के लिये साश्चर्य पूज्य-बुद्धि व्यक्त होके उसने अपनी Ward's Mythology नामक पुस्तक में लिखा है कि—"हिन्दुओं की काल गणना की प्राचीनता को देखने पर उसके आगे—यहुदी धर्म-ग्रन्थों में वर्णन किया हुआ सृष्टि रचना का काल आजकल कासा मालूम होने लगता है।" कोई भी Nation राष्ट्र—बाल्यावस्थासे तारुण्य में एवं तारुण्य से प्रौढावस्था में पहुचने तक—उस में कोई सृष्टिशास्त्र का उत्पादक नहीं होता एवं आकाश, ग्रह, गोल आदि के शास्त्र तो सभी के पीछे निर्माण होते हैं। तत्वज्ञान की तरफ़ लक्ष आकर्षित होने पर खगोल की गवेषणा धीरे धीरे होती रहती है—इस दृष्टिसे देखने पर सहजही में अनुमान हो सकता है कि—भारतीय साम्राज्य के उदय होने में कितने ही सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। प्रो. बेली के किये हुए गणित परसे स्पष्ट होता है कि—ईसाके ३,००० वर्ष पूर्व ही भारत में ज्योतिषशास्त्र की पूर्ण संस्कृति हो चुकी थी तो भारत की संस्कृति—उन्नति—सभ्यता का आरंभ—उक्त प्रमेयानुसार—ईसा के पूर्व कितने ही सहस्र वर्ष हो चुका था—इसमें संशय ही क्या है?

आजकल पाश्चात्योंने भूगर्भविद्या द्वारा–भूतत्वका अनुसन्धान करके हमारी चतुर्युगी के समान ही अर्थान्तर में पृथ्वी के चारयुग वनाये हैं । वे क्रमशः प्रथम Paloezoic–पेलोफ़्रोइक, द्वितीय Mesozoic-मेसोफ़्रोइक, तृतीय Kainozoic–काइनोफ़्रोइक और चतुर्थ Pleistocene–सेइस्टोसीन हैं । उन्होंने भूस्तर के १३ विभाग वनाकर २ से ११ तकमें जलजन्तु मत्स्य सामुद्रिक लतागुल्म आदि दिखाये हैं एवं १२।१३ में पशुपक्षियों के पंजराव शेष दिखाये हैं । आधुनिक चतुर्थयुग सेइस्टोसीन इन तेरह विभागों से अलग रक्खा है, वह प्रचलित युग होने के कारण उस के विभाग नहीं दिखाये । तृतीय युग–काइनोफ़्रोइक का अन्त भाग Plescene पलाइवोसीन है जिस के चार लक्ष वर्ष होने में कोई सन्देह नहीं है–उस काल में के मनुष्यों की कपालास्थि का पता लगाकर भूतत्वज्ञोंनें सिद्ध किया है कि सासेक्य मानवजाति की क्रमशः उन्नति होकर हाल की सर्वोच्च सर्वांगसुन्दर मनुष्याकृति वनी है ।

इंग्लेण्ड के सुप्रसिद्ध अस्थितत्ववेत्ता डाक्टर वुइलियम एलन् स्टार्ज और डाक्टर सिथ उडवर्ड ने पहिले पृथ्वी की उष्णता को जांचकर उसके स्तर–भरों की गवेपणा हो जाने पर क्रमसे अपनी चतुर्युगी वनाई और यथानुक्रम कालगणना स्थिर करके उसके १३ भाग वनाये तो भी वे पृथ्वी की आयु गुणनामें दस करोड वर्ष के अगे नहीं चल सके–तथापि अव वे पृथ्वी की तीस करोड वर्ष की आयु तक

पहुंचे हैं । कहां पांच छः हज़ार वर्ष, और अगे चल कर दस वारह हज़ार वर्ष और कहां दस करोड वर्ष और अगे चल कर तीस करोड वर्ष तथापि लार्ड केलद्विन नामक एक वड़े विज्ञानवेत्ता के मतानुसार प्रो. वेकर ने अभी सिद्ध किया है कि पृथ्वी को उत्पन्न हुये ६,५१, ११,१११ वर्ष हुये हैं—ये भी कुछ कम नहीं हैं। ईश्वर की कृपा से कभी न कभी Scientist विज्ञानवादी अवश्य ही हमारी कल्पगणना तक पहुंच ही जावेंगे।

पृथ्वी के आयुष्य का पता लगाना सहज वात नहीं है, तो भी, आजकल युरेनियम, रेडियम, हीलियम, वोलोनियम आदि अनेक धातुओं का आविष्कार करके पदार्थ विज्ञानवादी पृथ्वी की उत्पत्ति का काल वीस करोड वर्षों से चोवीस करोड वर्षों तक स्थिर कर रहे हैं और कितने ही भूतत्वविद्याविशारद कह रहे हैं कि—पृथ्वी पर प्राणी उत्पन्न होने को अनुमान वीस करोड वर्ष व्यतीत होते हैं। उस के पहिले पृथ्वी के स्तर—थर कवच वनने में कितने ही करोड वर्ष वीते होंगे। इस से कई करोड़ वर्षों के पूर्व पृथ्वी के थर वनकर वह सूर्यमाला में प्रविष्ट हुई होगी। सूर्योत्पत्ति का समय इस से भी वहुत अधिक होगा। तारा और तेजोमेघ उत्पन्न होके वीस वीस करोड़ वर्ष के कितने ही युग व्यतीत हो गये होंगे और ये सव गोल, परमाणु अवस्था में थे तवसे आज तक कितना समय व्यतीत हुआ होगा इस का हिसाव कौन लगा सकता है? सार वात यह है कि—जैसे अनन्त आकाश का पता किसी को लगा नहीं वैसे ही पृथ्वी की उत्पत्ति के काल

का पता किसी को लगा नहीं, क्यों कि—"कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" काल निरवधि अर्थात् सीमा-रहित अनन्त है और पृथ्वी विपुल है—इस भवभूति की उक्ति को कौन निरर्थक कह सकता है ?

अव पृथ्वी के प्रलय के विषय में विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि—जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसका लय होना भी स्वाभाविक है। उसी अनुसार कुछ काल के अनन्तर अर्थात् पृथ्वी की आयु बीतने के अन्तसमय में पृथ्वी चन्द्रमा के समान शीतल या प्रचण्ड कालाग्नि के समान उष्ण हो के जीवों के रहने के लिये अयोग्य होजायगी तव वह अल्प प्रलय होगा। संस्कृत भाषा में सूर्य का एक नाम 'मार्तण्ड' वा 'मार्त्ताण्ड' है—उस का अर्थ 'मृत अण्ड' से 'मृतादण्डाज्जायते'—मरे हुए अण्ड से उत्पन्न होना है। अर्थात् सूर्य कालान्तर में 'मार्तण्ड' वा 'मार्त्ताण्ड' हो के 'सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्त्ताण्डमाभरत्। (ऋ० १०।७२) अदिति के सात पुत्र 'मार्तण्डों' के द्वारा सूर्य-माला का प्रलय हो जायगा तो भी—पूर्वकथित स्फुरणशक्ति द्वारा फिर सूर्य तेजस्वी हो के नई सूर्यमाला वनेगी। अन्त में सव आकाशस्थ तारारूपी सूर्य 'मार्तण्ड' वन जावेंगे या सव मूलस्वरूप परमाणु हो जावेंगे—एवं महाप्रलय हो जायगा।

हमारे प्राचीन ऐतिहासिक महाभारत के वनपर्व के १८८ वें अध्याय में पृथ्वीप्रलय के विपय में वर्णन किया हुआ है कि—

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च॥
यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चार्द्रं च भारत।
सर्वं तद्भस्मसाद्भूतं दृश्यते भरतर्षभ॥
ततः संवर्त्तको वह्निर्वायुना सह भारत।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम्॥
ततः स पृथिवीं भित्वा प्रविश्य च रसातलम्।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत्॥
निर्दहन्नागलोकं च यच्च किंचित्क्षिताविह।
अधस्तात्पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात्॥

प्रलयकालमें सात सूर्य प्रदीप्त हो कर समुद्र और नदियों में का सब जल शोषण कर लेंगे। सूखे गीले सब काष्ठ तृण भस्म हो जावेंगे। अनन्तर सूर्यों की शुष्क की हुई पृथ्वी पर वायु के साथ 'संवर्त' नामक अग्नि उत्पन्न होके, पृथ्वी को विदारण कर पाताल में प्रवेश करेगी तब देवदानव यक्षों को महद्भय उपस्थित होगा। वह नागलोक को एवं पृथ्वी पर जो कुछ है उसको, और पृथ्वी के नीचे है उसको—क्षण में नष्ट कर देगा। देखिये कितना आश्चर्य है— इसी का अनुवाद ईसाने अपनी बाइबल में किया है—

"Moreover, the light of the moon shall be as the light of the sun, and light of the' sun shall be sevenfold as the light of seven days in the day the Lord bindeth the breach of his people, and healeth the stroke of their wound."

अर्थात् यह चन्द्रमा की ज्योति सूर्य की ज्योति के समान होगी एवं सूर्य की ज्योति सात दिन की ज्योति के समान सात गुनी प्रखर होगी। उस वक्त ईश्वर अपने लोगों के

टूटने फूटने का सुधार करेगा और वह उन की मार के घाव को दुरुस्त करेगा ।

उपर्युक्त बाह्य जगत् में किये हुए बाइबल के मिलान परसे, आगे आनेवाले बाइबलके वाक्यों परसे एवं इस महाभारत के अनुवाद परसे क्या पाया जाता है ? बहुत संभव है कि–नाटविच साहब के प्राप्त किये हुए चरित्र में किये वर्णन के अनुसार महात्मा ईसा, भारत और तिब्बत में अवश्य आया हो और उसने भारतीय ग्रन्थों को अवश्य ही देखा हो । खूब अध्यवसाय के साथ बाइबल और सनातन तथा बौद्ध ग्रन्थों के अन्तः-प्रमाणों का मिलान करने पर–यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाय गा । कदाचित् इस पर आक्षेप होगा कि–कई दूर दूर देश विदेश के निवासी एवं भिन्न भाषाभाषी कवि, ग्रन्थकार और लेखकों के उद्गार–केवल समानभाव, समानार्थक ही नहीं; कहीं कहीं समान शब्दों में भी अभिव्यक्त हो जाते हैं–यह बात सत्य संभवनीय है तो भी, उनकी तुलना में, उनके पूर्वापर ग्रन्थन कालका अवश्य विचार करना होता है और इसी पर उनका स्वयंभूत होना या संगृहीत होना निर्भर रहता है । ईसा जैसे महात्मा का पृथ्वीपर सर्वत्र संचार होना असंभव नहीं–जिसमें भारत के लिये तो, कहनाही क्या है ?–क्योंकि, उसके पहिले यहां, कितने ही साहसी पाश्चात्य महापुरुष पधार चुके थे। ईसाने चाहे यहां किसी से कुछ सीखा नहो–और वास्तव में उसके सीखने का कोई कारण भी नहीं; क्योंकि अलौकिक महात्मा अवतारी पुरुष, स्वयमेव विज्ञानघन आत्मदर्शी ईश्वर के स्वरूप होते हैं

सब कोई जानते हैं कि—महात्मा मुहम्मद् बकरियां चराने के सिवाय और कुछ न जानते थे और इसी लिये उन को 'उम्मी' कहते थे—तो भी कुरान जैसे ज्ञानविज्ञान-पूर्ण पवित्र ग्रन्थ का उनने आविष्कार कर के जगत् का उपकार किया। हम तो अपने दृढ़ अनुमान के साथ कहते हैं कि—महात्मा ईसा का—इस पवित्र सुवर्ण भूमि में अवश्य पदार्पण हुआ है। स्वयं ईसाने कहा है—जिसका उल्लेख सेन्ट माथ्यु के २४।२७ में हुआहै " for as the lightning cometh out of the east, and shinth even into the west; so shall also the coming of the son of man be." जैसे प्रकाश पूर्वसे आकर पश्चिम तक फैल जाता है वैसे ही मानवपुत्र का आगमन होगा, और 'Heaven and earth shall pass away, but my words shall not pass away.' पृथ्वी आकाशका नाश हो जाय किन्तु मेरे शब्दों का कभी नाश नहीं है अर्थात् मेरे शब्द कभी व्यर्थ नहीं होते—यह ईसा का अटल सिद्धान्त था किन्तु आगे चल कर उस को कहना पड़ा है कि—'I have yet many things to say unto you, but ye cannot bear them now.' मुझे तुम्हें बहुत कुछ कहना है किन्तु तुम उस को अभी नहीं सुन सकते—यह ईसा का कहना उस वक्त ठीक ही था क्योंकि उस समय बीजभूत हो कर, समय पाते ही—पाश्चिमात्य अपने ईश्वर के पुत्र ईसा के अनुगामी हो के भारत के राजा महाराजा चक्रवर्त्ती सम्राट् बने हैं और महात्मा ईसा ही के प्रसाद से, कृपाकटाक्ष से एवं अनुकम्पा से—हमारी खोई हुई विद्या, ज्ञान,

सभ्यता, एवं महत्व को खोज खोज कर वे आज हम को वापिस दे कर कृतार्थ कर रहे हैं। उन्हीं में से एक दूरदर्शी सज्जन का कहना है कि— "In these days of changing circumstances we should not go back to the Christ, but go forward with the Christ." वदलनेवाली परिस्थिति के इन दिनों में—हमें ईसा के पीछे न जाना चाहिये किन्तु ईसा के साथ ही आगे वढ़ना चाहिये—इस में क्या सन्देह है?

अव हमे अन्त में—शुद्ध भक्तिभावसे—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जगत् की शुभ भावना कर के—'अहं ब्रह्मास्मि'—ऐसा चिन्तन करते हुए 'श्रीभक्त' के प्रेममय उद्गारों को यहां उद्धृत कर के—सव का ऐसा ही होना चाहते हैं—

"Whence this Voice! whence this Light!
　Oh I feel what joy and night!
It breaks the Earth and Waters through,
　It merges souls in Centre True.
In birds and beasts, under earth and sky,
　In man and woman I see it fly.
Every where in high and low,
　The inner Eye doth feel its flow.

*　　*　　*　　*　　*　　*

Krishna's luster, shine in thee.
　Budha's halo, fill thy soul.
Truth of Christ, may thou see:
　Get thy deep, desired Goal.

कहां से यह ध्वनि आती है! कहां से यह प्रकाश आता है! अहा हा! मुझे कितना आनन्द और उत्साह हो

रहा है। यह पृथ्वी में और पानी में व्याप्त हो रहा है और सत्य के केन्द्र में आत्माओं को निमग्न कर रहा है पक्षियों में, पशुओंमें, पृथ्वी और आकाश के नीचे, पुरुष में और स्त्री में उसे उड़ता हुआ मैं देखता हूं। ऊपर और नीचे सर्वत्र अन्दर की आंख को उस के प्रवाह का ज्ञान होता है!

तुझ में कृष्ण का तेज झल के, बुद्धका तेजोवलय तेरी आत्माको पूर्ण करे, क्राइस्ट का सत्य तू देख और तू अपने गम्भीर इच्छित अन्तिम साध्य को प्राप्त कर। 'तथास्तु' 'एवमेवाऽस्तु'। वहां के लोग पूर्वीय ज्ञान सुनने के योग्य न थे। क्योंकि ईसा के वचनों में वेदान्त भरा हुआ है—इसी लिये आज भी बाइबल को जैसे हम समझ सकते हैं वैसे पाश्चिमात्य नहीं समझ सकते। ईसा के पीछे वे ही 'many things.'

२—जगत् का व्यवहार।

यद्यपि हमने यथासाध्य उस परात्पर भगवान् की प्रेरणा के अनुसार—जगत् की उत्पत्ति स्थिति लयके विषय में जो कुछ कहा है—वह तुह्मारे वृथा समय नष्ट करने के लिये नहीं। हम खूब अच्छी तरह जानते हैं कि—पहिले तो, तुह्मारा इस विषय में प्रवेश होना ही कठिन है, यदि सौभाग्यवश प्रवेश हो भी जाय तो—उस से तुह्मारी अरुचि होना भी सहज ही है। क्योंकि, तुम अपने मन में कहोगे कि—जगत् या पृथ्वी चाहे जितनी बड़ी छोटी हो, चाहे जितनी लंबी चौडी हो, चाहे जितनी ऊंची नीची हो और चाहे जितनी नई पुरानी हो—उसके जानने से हमें क्या

नफ़ा नुक़सान है–तो, खैर–'कुछ भी नहीं' क्षणभरके लिये ऐसाही सही । किन्तु हम तुम से प्रश्न करते हैं कि–अपनी स्त्री के गर्भ से सन्तान का जनन हो जाने पर फिर उसके साथ तुह्मारा क्या सरोकार है ? क्यों तुम उसका पालनपोषण करके उसको अपने से अधिक वनाना चाहते हो एवं क्यों तुम उस से अपनी भलाई चाहते हो? वैसे ही वालक–'मामा, वावा' कहते हुए क्यों तुह्मारे पीछे दौडता हुआ फिरता है, क्यों तुह्मारा आश्रय चाहता है और क्यों तुमसे सरोकार रखता है ?–ऐसा ही तुह्मारा–ईश्वर, जगत् और पृथ्वी के साथ संवन्ध है, सरोकार है एवं भलाई वुराई है ।

पूर्व कथितानुसार–जो आज तुह्मारी दृष्टि के सामने कल्पनातीत अनन्त जगत्, प्रचण्ड पृथ्वी के भाग, अन्तरिक्ष चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारागण दीख रहे हैं वे सव किसी न किसी महान् शिल्पकार से वनाये हुए हैं और किसी न किसी कल-कांटे की शक्ति पर ठहरे हुए हैं। उस महान् कुशल शिल्पकारको जानने के लिये तुम अपनी रुचि के अनुसार उसका किसी अक्षर, शब्द, वाक्य में चाहे सो नामकरण करो, निर्देश करो या संज्ञापन करो । चाहे तुम उसको एक मानो, या अनेक मानो या कुछ भी न मानो । कुछ नहीं मानते हो तो भी, वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है, अनेक मानते हो तो भी, वह 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' है और एक मानते हो तो भी, वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है । जव वह ऐसा है और उसका वनाया हुआ–चराचर, जड, चेतन, अनन्त ब्रह्माण्ड गोल जगत् इतना वड़ा है तो–वह

जगत् का बनानेवाला महान् चतुर शिल्पकार—त्वष्टा कितना बड़ा होगा और उसका शिल्पज्ञान, विज्ञानशक्ति, एवं संकल्प-सिद्धि—कितनी बड़ी, कितनी अद्भुत, कितनी पूर्ण होगी—इसका विचार करते करते—अगर तुम उसमें लीन हो जाओगे तो—तुम्हें विदित हो जायगा कि—माता पिता तो केवल जन्मके देनेवाले हैं, किन्तु चैतन्य ज्ञान, बुद्धि, बल वहीं से प्राप्त होते हैं। मनुष्येतर पशुपक्षी जीवजन्तुओं की ओर देखो, उन को अपने संरक्षण के लिये, अपने निर्वाह के लिये, एवं अपने उपजीवन के लिये—उनके जन्मके साथही निसर्गतः उन्हें सब कुछ प्राप्त हो जाता है। तुम सबसे श्रेष्ठ होकर भी तुम्हें जन्मतः कुछ भी साधन प्राप्त नहीं होता। तुम्हें अन्याश्रय से ही अपना निर्वाह करना होता है। पृथ्वी पर दूरतक दृष्टी फैलाकर देखोगे तो, तुम्हें स्पष्ट दीखेगा कि—तुम दुनिया भर के जड़चेतन जीवजन्तु प्राणियों से श्रेष्ठ हो और सब तुम्हारे पादाक्रान्त हैं तो, यह तुम्हें किसका आश्रय है—किसने तुम्हें यह बुद्धि, ज्ञान, बल दिया है—जिस से तुम सर्वतोपरि प्रभावशाली हो? इस प्रश्न का उत्तर तुम्हें वही—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—देना होगा।

अब जो इतना बड़ा जगत् बना है—वह खाली मिट्टी पत्थर, तृण, झाडों हीके लिये या जीव, जन्तु, पशु, पक्षि-यों के लिये नहीं बना है—उस करुणामय जगदीश्वर ने यह सब जगत् केवल तुम्हारे ही लिये बनाया है, जो कुछ

इस में भरा हुआ है वह सब तुह्मारे ही लिये है—इतना ही नहीं, वह समूचा का समूचा तुह्में दे डाला है! जरा सोचो तो सही—मा वाप अपने वालक को एक छोटीसी चीज़ देते हैं तो वह कितना प्रसन्न होता है और वारवार उस के साथ खेलकर उस पर कितना प्यार करता है? अगर उस चीज़ को तुम पीछी लेने के लिये जरासा हाथ भी लगा दो तो, वह कितना अप्रसन्न होके कैसा रोने लग जाता है? तो, उस करुणांनिधान, प्रेमल, जगत्कर्त्ता परम उदार पिता ने—जो इतना वड़ा सम्पूर्ण वैभवयुक्त, ज्ञानविज्ञानयुक्त, सदसद्व्यवहारयुक्त जगत् तुह्में दे दिया है, तो, क्या तुम को उस के साथ प्रेम न करना चाहिये, उस को न जानना चाहिये और उस का निरीक्षण न करना चाहिये? एवं उस के साथ साथ ही क्या तुह्में उस परमपिता का आभारी न होना चाहिये, कृतज्ञ न होना चाहिये या उपकृत न होना चाहिये? अव तुम ही कहो कि—जगत्को या जगत् के उत्पादक को जानने में तुह्में क्या नफ़ा नुक़सान है? उस के साथ तुह्मारा क्या सरोकार है और तुह्मारी क्या भलाई वुराई है? तुह्मारा, तुह्मारे कुल का, तुह्मारी जाति का, तुह्मारे धर्म का, तुह्मारे देश का, तुह्मारी पृथ्वी का एवं तुह्मारे आन्तर वाह्य जगत् का उत्पादक, परिपालक और संहारक वही परमपिता है तो—क्या तुम को योग्य है कि जो तुम उस से, उस की कृति से, उस की सत्ता से, उस की शक्ति से, उस की कृपा से एवं उस की उदारता से अनजान रहो और—"दिकालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमू-

त्तये। स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय तेजसे।" जो दिशा कालादिकों से मर्यादित नहीं, जो अनन्त है, जो चिन्मय मूर्ति है और जो स्वानुभवद्वारा ही विज्ञात होता है ऐसे शान्त तेज को प्रणाम है—इस महाराज भर्तृहरि के अनुल्लंघ्य अनुशासन के अनुसार—उस को कृतज्ञता के साथ अत्यन्त नम्रभाव से प्रणाम न करो!!

क्या कहें, क्या सुनें और क्या करें—त्रिकालिक ज्ञान-शक्ति का लोप हो जाने से मुग्ध होकर हम अपनी स्थूलदृष्टि, विश्वदृष्टि में परिणत नहीं कर सकते—क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के कथानुसार— 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' हमारा त्रिकालाबाधित ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा है—जिस से हम इस वक्त इतने मोहान्धकार में पड़े हुए हैं कि—हमारे वेदों में, शास्त्रों में, पुराणों में क्या कहा हुआ है—हमें मुतलक़ मालूम नहीं। हमारे यहां—ज्ञान, विज्ञान, विद्या, कला, कुशलता का कैसा प्रकार था या मुतलक़ न था—हमें मालूम नहीं। हमारा जन्म, जाति, कुल, धर्म, देश, नीति, शिक्षा, सत्य, मर्यादा, व्यवहार, आदि क्या था और क्या है—हमें मालूम नहीं। हम कौन हैं, हमारा कर्तव्य क्या है, हम क्या कर रहे हैं—हमें कुछ मालूम नहीं। हमारी वस्तु तो दूर—हमारे पूर्वज माता पिता कौन थे और हैं—यह भी हमें मालूम नहीं। तमसातीरस्थ गौरकाय आचार्य भट्ट मोक्षमूलर द्वारा अपने वेदों का हमें परिचय होता है। ब्लेव्हेटस्की, ॲनिबिझन्ट जैसी गौरकाय महिलाओं के कहने पर अपने धर्म का हमें

ज्ञान होता है । शर्मण्यपंडित शोपनहोर, पालड्यूसन आदि के कहनेपर अपने शास्त्रों की श्रेष्ठता हमें विदित होती है । महात्मा विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि तत्वदर्शियों के—पातालभुवन मेरुप्रदेश में जाकर—हमारे वेद, वेदान्त, योग आदि अध्यात्मज्ञान का रहस्य सुनाकर परदेशियों के चकित बनाने पर, उन के द्वारा उस का विवरण आने पर अपने अध्यात्मज्ञान का हमें पता लगता है । हमारे यहां की ऐसी अनेक महत्वपूर्ण बातें अंग्रेजों द्वारा—उन के देश में प्रसिद्ध होने पर, उन के समाचार, मासिक, पत्र या पुस्तकों द्वारा हमें विदित होके हमारे हृदय में प्रकाश पड़ता है! यहां तक हो रहा है कि—हमारे धर्म की, हमारी प्रवृत्ति निवृत्ति की, हमारे आश्रम की, हमारे संस्कारों की, हमारे जन्म, स्थिति, मरण की जितनी कुछ नित्यनैमित्तिक क्रियायें हैं, कर्म, विधि, विधान हैं—सब उन्हीं के द्वारा हम जान रहे हैं और उन्हीं के द्वारा हमारा पालनपोपण निर्वाह हो रहा है!! कुछ कहा नहीं जाता—इस वक़ हम अपनी भाषा से, ज्ञान से, विद्या से एवं महत्व से कितने अपरिचित हैं? मातृभाषा लिख पढ़ नहीं सकते, ज्ञान विज्ञान जान नहीं सकते, विद्या का अभ्यास कर नहीं सकते, एवं स्वयं का महत्व भी पहिचान नहीं सकते!

हमारे संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किसी अन्य देश की भाषा में होके उस पर से अंग्रेज़ी में बने हुए अनुवाद पर से हमारी मातृभाषा में उस का अनुवाद होके प्रकाशित होता है—क्यों है न कमाल दर्जा! अर्थात्

हमें अपनी बुढ़िया की पहिचान कराने के लिये यूरूप अमेरिका से एकाध तत्वज्ञानी महात्मा यहां बुलाना चाहिये। या हमें अपनी जाति की पहिचान कराने के लिये जापान से एकाध शूर वीर यहां बुलाना चाहिये। या हमें अपने धर्म की पहिचान कराने के लिये तुर्क अरब से एकाध धार्मिक मौलवी यहां बुलाना चाहिये। या हमें अपनी मातृभाषा की पहिचान कराने के लिये जर्मन से एकाध मातृभाषाभिमानी पण्डित यहां बुलाना चाहिये। हमारा पवित्र गंगाजल, हमारे प्रवित्र ताम्रपात्र, हमारा पवित्र भोजन—नहा के चौका लगा के पवित्रता से बने हुए भोजन आदि में रोज़ जन्तुओं का प्रादुर्भाव नहीं होता, निरामिष भोजन आयुष्यबलवर्द्धक है—यह उन्हीं पातालश्वेतद्वीपस्थ गौरकाय विद्वानों के श्रीमुख-द्वारा सुनकर हम सचेत होते हैं। हमारी विद्या, साहित्य, धर्म, आचार, विचार, व्यवहार आदि की अनेक परदेशीय, परधर्मीय, परद्वीपस्थों ने समय समय पर मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इतना ही नहीं—उन में से कितने ही हमारे आचार विचार धर्म के अनुयायी होके, अपने को हिन्दू कहाने में धन्य मानते हैं और हम अपने आचार विचार धर्म को तिलांजली देके, अपने को विधर्मी कहाने में धन्य मानते हैं—इस से बढ़कर हमारा और क्या अधःपात होगा?

भगवान् शंकराचार्य अपने विवेकचूड़ामणि में कहते हैं कि—"तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः। ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम्।"—सूर्य के समीप

अन्धकार जाही नहीं सकता तो भी, हमारे और सूर्य के बीच अन्धकार छा जाने पर अथवा हम सूर्य से विमुख होके–अंधकार से सूर्य ग्रस्त है ऐसा मान लेने पर–वस्तु के लक्षण को न जानते हुए भ्रान्ति द्वारा हम अन्धकाररहित सूर्य को अन्धकारग्रस्त कहते हैं। मूल वस्तु सूर्य तो दूर–उस के किरणतक को अंधकार स्पर्श नहीं कर सकता तो सूर्य को वह कैसे स्पर्श कर सकता है? किन्तु हमारी अज्ञान दशा यही कहती है कि सूर्य तमोग्रस्त है! रोमका सत्यान्वेषी विद्वान् सेनेका कहता है कि—

"The great blessings of mankind are within us, and within our reach; but we shut our eyes, and, like people in the dark, we fall foul of the very thing we search for without finding it."

"Wisdom allows nothing to be good that will not be so for ever; no man to be happy, but he that needs no other happiness than what he has within himself."

"The greatest felicity of all is not to stand in need of any."

मनुष्यजाति के महासुख हमारे अन्दर हैं और वे हम को लभ्य हैं। किन्तु हम अपनी आंखें मुंद कर अन्धकार में पडे हुए लोगों के समान–जिस पदार्थ का अन्वेषण करते है उस को प्राप्त किये विना ही हम उस से पराङ्मुख हो जाते हैं–और उस का योग होने पर भी उस को हम प्राप्त नहीं कर सकते। जो पदार्थ शाश्वत्–निरंतर अच्छा नहीं होता उस को विवेक

बुद्धि अच्छा नहीं मानती और जिस को बिना आन्तर सुख के ओर किसी सुख की अपेक्षा नहीं होती उस के सिवाय अन्य पुरुष को वह सुखी नहीं जानती।

सब में महत्तम सुख वही होता है कि जिस में किसी बाह्य वस्तु की आकांक्षा नहीं होती अर्थात् स्वतन्त्र आत्मसुख ही में सब सुख की इतिश्री होती है।

जर्मन का विद्वान् शान्तिप्रिय शोपेनहोर अपने 'The Wisdom of Life' में कहता है कि—

"The happiness we receive from ourselves is greater than that which we obtain from our surroundings."

"Our happiness depends in a great degree upon what we are, upon our individuality."

"For what a man is in himself, what accompanies him when he is alone, what no one can give or take away, is obviously more essential to him than any thing he has in the way of possessions, or even what he may be in the eyes of the world."

जो सुख अपने में से हम प्राप्त करते हैं वह हमारे इतस्ततः परिवेष्टित पदार्थों से प्राप्त होनेवाले सुख की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है।

हमारा सुख बहुधा हम जैसे होते हैं—उस पर अर्थात् हमारी व्यक्तिपर निर्भर होता है।

मनुष्य के स्वयं अधीन जो कुछ है, अथवा जगत् की दृष्टि में वह जैसा कुछ है—उस की अपेक्षा उस के आन्तर में जो कुछ है, उस के एकान्त में जो कुछ

उस के साथ रहता है, जिस को न कोई दे सकता है और न कोई हरण ही कर सकता है—ऐसी परमसत्य वस्तु की उस को अधिक आवश्यकता है, यह स्पष्ट है।

सेक्सपीयर राजकुमार हेमलेट से यही याचना कराता है कि—

"Give me that man
That is not passion's slave, and I will wear him
In my heart's core, ay, in my heart of heart."

मुझे वह मनुष्य दो कि जो विकार का दास नहीं होता—उस को मैं अपने हृदय के भीतरी भाग में और उस से अधिक मेरे हृदय के हृदय में रक्खूंगा।

सेक्सपीयर के राजकुमार को चाहे कोई विकाररहित मनुष्य मिला हो या न मिला हो किन्तु हमारे यहां तो ऐसे अनेक महापुरुष हो चुके हैं और अब भी विद्यमान हैं—भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः
संसारिवच्चरति भुक्तिषु मुक्तदेहः।
सिद्धः स्वयं वसति साक्षिवदत्र तूष्णीं
चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः॥

यद्यपि जीवन्मुक्त महात्मा का शरीर प्रारब्ध परिकल्पित वासनाओं के द्वारा भोगों में सामान्य संसारी जन के समान वर्त्तन करता है तथापि वह चक्र के मूल समान संकल्पविकल्प शून्य होके मूकभाव से स्वयंसिद्ध बन कर साक्षिवत् आचरण करता है। अर्थात् चक्र भ्रमण करता रहता है किन्तु उस का मूल-चक्र-कील सदा स्थिर रहती

है उसी प्रकार मिथ्या भ्रम की निवृत्ति होजाने पर आत्मानात्म विवेक द्वारा सत्पुरुष का शरीर उस में लिप्त न होते हुए प्राप्ताप्राप्त कर्तव्य करता रहता है।

अंग्रेज कविद्वय बोमान्ट और फ्लेचर अपने 'Honest Man's Fortune' में कहते हैं कि—

"Man is his own star; and the soul that can,
Render an honest and a perfect man,
Commands all right, all influence, all fate;
Nothing to him falls early or too late.
Our acts our angels are, good or ill,
Our fatal shadows that walk by us still."

मनुष्य स्वयमेव अपना मार्गदर्शी तारा है। और वह जीवात्मा मनुष्य को सत्यशील और पूर्ण परिपक्व बना सकता है। वह सब प्रकाश को, सब प्रभुता को, एवं सब सौभाग्य को अपने अधीन रखता है। उस के लिये सब से पहिले या सब से पीछे—कुछ भी नहीं है। अर्थात् ऐसे भाग्यशाली को चाहे जब यथा समय सब कुछ प्राप्त हो जाता है। हमारे कर्म ही हमारे बुरे या भले फ़रिश्ते हैं, वे हमारी दैवी छाया स्वरूप हैं और सदा हमारे साथ हिरते फिरते हैं।

कर्म का विवेचन आगे 'कर्म' विभाग में होगा तो भी, यहां इस जगत् के व्यवहार के लिये इतना कह देना—हम बहुत उपयोगी समझते हैं कि—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय—कर्म है, सृष्टि की रचना, रहनसहन, चाल-चलन, गतिविगति, आरंभ परिणाम—कर्म है, चराचर

जडचेतन का जन्म, वृद्धि, क्षय, मृत्यु कर्म है, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रों का उदयास्त, भ्रमण–कर्म है, अखिल अनन्त जगत् का गत्यन्तर, स्थित्यन्तर, रूपान्तर–कर्म है, सब के स्थूल सूक्ष्म परमाणुओं का आकर्षण विकर्षण–कर्म है। एवं स्थूल सूक्ष्म पदार्थ का व्यवहार भी–कर्म ही है। कर्म की कृति, कर्म की गति एवं कर्म की संभूती–विचित्र है, अद्भुत है एवं अज्ञेय है। भगवान् श्रीकृष्ण ने साफ़ कहा है कि–"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।" क्या कर्म है और क्या अकर्म है–इस के जानने में बड़े बड़े विद्वानों को भी मोह प्राप्त हुआ है। इसलिये आगे कहा है कि–"कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यंच विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।"–कर्म की, अकर्म की एवं विकर्म की गति को जानना चाहिये, कर्म की गति गहन है। अर्थात्– "कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।"–जो कर्म में अकर्म को एवं अकर्म में कर्म को देखता है–वही मनुष्यों में युक्त है एवं सब कर्म करनेवाला है। ये कर्म, अकर्म, विकर्म क्या हैं?–जगत्, जगत् का व्यवहार और उस में ईश्वरका स्वरूप–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' हैं। जगत् में कर्म, जगत् के व्यवहार में अकर्म एवं जगत् के ब्रह्मरूप में विकर्म है एवं करना, न करना और विशेष करना-केवल उस 'परमसत्य' का प्राप्त करना है। भगवान् वसिष्ठ ने 'कर्म' की व्याख्या कितनी अच्छी की है–"चित्तं

सदास्पन्द विलासमेत्य स्पन्दैकरूपं ननु कर्म विद्धि।" परा के मूल में जो स्फुरण होता है उसी स्फुरण का रूप 'कर्म' है, उस स्फुरण की प्रवर्त्तक कोई निगूढ़ शक्ति है जिस को अन्तरात्मा कह सकते हैं। अतएव भगवान् मनु का कहना है कि—"यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।"—जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा को सन्तोष होता है प्रयत्नपूर्वक वही कर्म करना चाहिये। किन्तु उस के विपरीत कोई भी कर्म न करना चाहिये। उस गूढ़ सत्य को जान लेने पर एवं सत्कर्मशील वन जाने पर फिर आंग्ल कवीश्वर सेक्सपीयर के कहने के अनुसार—

"This above all, to thine ownself be true:
And it must follow as the night the day,
Thou canst not then be false to any man."

यह सब से वढ़ कर है कि—तू स्वयं अपने लिये सत्यशील अर्थात् यथार्थ हो—और जैसे रात्रि, दिन का अनुसरण करती है, अवश्य वैसे ही अनुसरण करता है—तू फिर किसी मनुष्य के लिये असत्यशील—अयथार्थ—न हो सकेगा। अर्थात् 'परमसत्य' के अन्वेषण में जब मनुष्य सत्यस्वरूप वन जाता है तो फिर उस के लिये सारे जगत् का व्यवहार भी सत्य वन जाता है। और जर्मन देश के अग्रणी लेखक गुटेगोएथ के कहने के अनुसार फिर—

"Time, my good friend, will all that's needful give:
Gain self-reliance, and you've learn'd to live."

हे मेरे सन्मित्र! जो कुछ आवश्यक है वह सब कुछ 'समय' देगा। तू स्वाश्रय को प्राप्त कर—अर्थात् तू स्वात्-

लम्त्री हो—फिर तूने संसार में जीवित रहना सीख लिया। यह सीखना क्या है—सारे जगत् को वश में लेना है।

दुनिया भर के, सारे पृथ्वी के, विद्वान्, तत्वज्ञ, कवि, महात्मा, आलिम, सूफ़ियों ने सब कुछ कहा है, उपदेश किया है और खूब समझाया है किन्तु सुनता मानता है कौन? अन्त में वसिष्ठ जैसे महात्माओं को कहना पड़ा है कि—'उर्ध्ववाहुर्विरौम्येष नच कश्चिच्छ्रुणोति मे।' मैं हाथ ऊपर कर के बड़े ज़ोर से पुकार कर कहता हूं तो भी मेरी कोई नहीं सुनता। तो हमारे इस पिष्टपेषण को कौन सुनेगा—यह हम खूब अच्छीतरह जानते हैं किन्तु कभी न कभी ऊपर कहे हुए गुटे के सिद्धान्त के अनुसार—'Time......will all...needful give'—समय स्वयं इच्छित प्रदान करेगा। 'जिहि पर जिहि कर सत्य सनेहू। सो तिहि मिले न कछु सन्देहू।' हमें तो इस में कुछ भी सन्देह नहीं है।

किन्तु इस वक्त काल के प्रवाह के अनुसार, दुर्भाग्य की चरम सीमा के अनुसार एवं हमारी और हमारे देश की भवितव्यता के अनुसार—सब कुछ होने पर भी, डारविन साहब के कहने के अनुसार कुत्ते बन्दर से मनुष्य बन जाने पर भी एवं उस जड़ तृण के द्वारा सचेतन, वुद्धिज्ञानवलयुक्त होजाने पर भी—हम दिनोंदिन निरुत्साह, निरुद्यम, अकर्मण्य, निरक्षर भट्टाचार्य, शिश्नोदर-परायण, दैववादी बन कर—इस जगत् को—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—को—क्षणभंगुर—क्षण में नाश होनेवाला, जल-बुद्बुदवत्—पानी के बुलबुलेसमान, ऐन्द्रजालिक—जादू

कीं घटनासमान, अशाश्वत– नाशमान, विकारपूर्ण– विकारों से भरा हुआ, परिणामशील–उलटपलट होने वाला, असत्य–झूठा, असार–साररहित, दुःखक्लेश पाप-मय– दुखदर्द पापों से भरा हुआ, रागद्वेषादि मोहयुक्त– प्रीतिविरोधादि मोह से भरा हुआ, तापत्रयान्वित– अध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ताप–दुःखों से युक्त एवं निराशाभिभूत–निराशा से हारा हुआ मानते हैं। और इसी दृढ़ भावना–'असन्नेव स भवति । अस-द्ब्रह्मेति वेद चेत्' जो ब्रह्म को असत् जानता है वह स्वयं असत् होजाता है–विचारद्योतन से हम अपना वैसा ही जगत् बना लेते हैं। किन्तु जगत् वैसा नहीं है। जगत् परिपूर्ण ब्रह्ममय चैतन्यागार है। वह पूर्ण चिरायु अमर है। कभी क्षणिक नहीं, जादू का तमाशा नहीं, अनित्य नहीं, विकारों से भरा हुआ नहीं, बुरा असर करनेवाला नहीं, झूठा नहीं, असार नहीं, दुखदर्द पापवाला नहीं, प्रीतिविरोध मोहयुक्त नहीं, तीनों दुःखों से भरा हुआ नहीं और निराशाभिभूत–Pessimistic निराशाओं से हारा हुआ नहीं है। जगत् में, जहांतहां–ज्ञान, सुख, शान्ति, आनन्द, उत्साह, आरोग्य, बल, ऐश्वर्य–परिपूर्ण, अपरिमित, निरन्तर, अपरिमेय, निरुपम, सुस्थिर, निःसीम, एवं अनन्त है,। क्या वह परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर– इतना क्षुद्र, अनुदार, विवेकहीन, असत् है जो अपनी अगाध अचिन्तनीय, अज्ञेय, परिपूर्ण ज्ञानशक्ति द्वारा–विचार स्फुरण मात्र ही–मूढ़, दुःखी, व्याकुल, उदासीन, हताश, रोगी, अशक्त, एवं दरिद्री जगत् बना सकता है? हम

अति साहस से हाथ उठाकर कहते हैं कि—ज्ञान पहिचानने के लिये ही—मूढ़ता वनी है, सुख पहिचानने के लिये ही—दुःखता वनी है, शान्ति पहिचानने के लिये ही—व्याकुलता वनी है, आनन्द पहिचानने के लिये ही—उदासीनता वनी है, उत्साह पहिचानने के लिये ही—निराशता वनी है, आरोग्य पहिचानने के लिये ही—रोगता वनी है, बल पहिचानने के लिये ही—अशक्तता वनी है एवं ऐश्वर्य पहिचानने के लिये ही—दरिद्रता वनी है।

जगत् का व्यवहार हम जैसा करेंगे वैसा ही उस का हमें अनुभव प्राप्त होगा। जगत्, जगत् का व्यवहार और उस का अनुभव क्या है? एला विलर विलकाक्स के कहने के अनुसार—

"We build our future, thought by thought,
Or good or bad, and know it not—
Yet so the universe is wrought.
Thought is another name for fate,
Choose, then, thy destiny, and wait
For love brings love, and hate brings hate."

अज्ञात विचार परम्परा से हम अपना भला या बुरा भविष्य वना लेते हैं और वैसे वने हुए जगत् को हम नहीं जानते। विचार ही दैव है फिर उस में तुम अपने दैव का नियमन करो और उस की मार्गप्रतीक्षा करो। प्रेम का वदला प्रेम है और तिरस्कार का वदला तिरस्कार है।

जगत्कर्त्ता की कोई भी कृति निरुपयोगी या वेकार, नहीं। उस का अतर्क्य संकेत, अगम्य प्रकृतिलीला,

अपार सत्ता, परिपूर्ण ज्ञान—हमारी बुद्धि की मर्यादा से, हमारे ज्ञान की सीमा से, हमारी दृष्टि के पंथ से—बाहर, बहुत दूर, बहुत ही दूर है। तथापि यह प्रतीत होता है कि—मृत्तिका से लगाकर मनुष्य तक के क्रमविकास में सब पदार्थ परस्पर सहायक हैं। एक जर्मन विद्वान् हेगेल कहता है कि—

> "Nothing in this world is single;
> All things, by a law divine,
> In one another's being mingled."

इस जगत् में कोई किसी से जुदा नहीं। ईश्वरीय नियम के अनुसार सब पदार्थ एक दूसरे के संभव में मिश्रित हैं—अर्थात् एक का एक सहायक है एवं उपकारक है। महात्मा इमरसन के कहने के अनुसार—'But one blood rolls uninterruptedly an endless circulation through all men.'—एक ही रक्त सब मनुष्यों में समान प्रवाहित होता है इस में क्या सन्देह है? वैज्ञानिकों को मालूम हुआ है कि जैसी जैसी मनुष्य की जिस किसी के साथ सगोत्रता—Kinness होती है वैसे वैसे परस्पर उन के रक्त के परमाणु भी समान रहते हैं इसीलिये महान् साधु तुकाराम महाराज ने कहा है कि—'शुद्ध बीजा-चिया पोटीं फळें रसाळ गोमटीं'—शुद्ध बीज से उत्तम रसयुक्त फल प्राप्त होता है। यही कारण है जो हमें अपने वंश का शुद्ध रक्त बनाये रखना चाहिये जिस से हम अपने नहीं, सगोत्रता के अनुसार सब के सहायक, मित्र और उपकारी हो सकते हैं।

ऐसा यह हमारा जन्मस्थिति मृत्युप्रदायक उपकारी वाह्य जगत् हमारे हृदयाकाश में विराजमान है, हमारी अन्तर्दृष्टि में लीन है एवं हमारी मानसिक सीमा में परिवद्ध है। उस का मानचित्र—नक़शा—map हमारी चित्तभित्ति पर लटका हुआ है। आन्तर जगत् उस का केन्द्र है— इस केन्द्र में जब हम जा बैठेंगे तो फिर वाह्य जगत् का व्यवहार हमारे अधीन होने में क्या देर है? जगत् एवं जगत् व्यवहार परिवर्त्तनशील है। यह परिवर्त्तन सर्वत्र समान नहीं। देश काल क्रिया से भिन्न भिन्न है। एक दिन हमारा देश—धर्म-व्यवहार उच्च था आज नहीं है, कल फिर उच्च होगा। आज अन्य देशोंका—धर्म-व्यवहार उच्च है, कल फिर नीच होगा। कविकुलगुरु कालिदास का कहना है कि—"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमि-क्रमेण" अर्थात् चक्रगति न्याय नीचे से ऊपर एवं ऊपर से नीचे दशा का परिवर्त्तन होता रहता है। इसी प्रकार भगवान् वसिष्ठ का भी कहना है—"अध ऊर्ध्वत्वमायाति यात्यूर्ध्वत्वमधस्तथा। संसारस्य चलस्यास्य चक्रनेमिरिवा-मितः।" रथचक्र के प्रान्त भागसम, इस चंचल संसार का अधोभाग—नीचे का हिस्सा ऊपरको जाता है और ऊपर का हिस्सा नीचे आता है। अर्थात् चक्र की परिधि का भाग किसी वक्त नीचे तो किसी वक्त ऊपर जाता है; उसी अनुसार प्राणिमात्र को सुखदुःखादि अवस्था प्राप्त होती रहती है। किन्तु राजकवि टेनिसन—Tennyson के कहने के अनुसार—

"Turn Fortune, turn thy wheel with smile or frown;

With that wild wheel we go not up or down,
Our hoard is little, but our hearts are great."

हे दैव, तू अपने चक्र को चाहे कृपा से फिरा चाहे क्रोध से फिरा। इस उन्मत्त चक्र के साथ हम ऊंचे नीचे न जावेंगे। हमारा संचय अल्प है तो भी हमारे अन्तःकरण महत् हैं। आंग्ल कवीश्वर सेक्सपीयर ने कहा है कि—

"Though Fortune's malice overthrow my state,
My mind exceeds the compass her wheel."

दैव का विरोध चाहे मेरी दशा विपरीत करे, किन्तु मेरा मन उसके चक्र की सीमा के वाहर रहता है।

भारत के पराविद्या-तत्वज्ञानने, यूरोप अमेरिका आदि देशों के कुशल, पदार्थविज्ञानवादी पण्डितों का इतना आकर्षण किया है कि जिस की सीमा नहीं। अलेक्झाण्डर धि ग्रेट के समय से आजतक पाश्चात्य मुक्तकण्ठ से भारत को 'The nation of Philosopers.' तत्वज्ञानियों का राष्ट्र कहते हैं और पद पद पर उस का अभिनन्दन करते हैं।

रोमन के लोग ग्रीस देश के राज्याधिकारी होजाने पर उस देश के ज्ञान से इतने सानन्द चकित हुए कि उन में एक विद्वान् कवि ने झट कह डाला कि— 'Conquered Greece conquered her conquerors.' जीते हुए ग्रीस देश ने अपने जेताओं को जीता। इस का विवरण एक विद्वान् ने इंग्लिशमें यों किया है कि— "The literature and philosophy, the arts and science of Greece extorted the admiration of

the Romans and proved to them the instruments of a higher education." ग्रीस के साहित्य ने, तत्वज्ञान ने, कलाकुशलता ने, और विज्ञान ने—ग्रीस देश को जीतनेवाले रोमन लोगों की, विस्मयजनित प्रशंसा अपने बल से प्राप्त की थी और उच्च शिक्षा को प्राप्त करने के ये ही साधन हैं ऐसा उन्हें प्रमाणित कर दिया था प्रख्यात इतिहासलेखक गिबन Gibbon भी अपनी 'History of the decline and fall of the Roman Empire' में लिखता है कि—"It is a just though trite observation, that victorious Rome was herself subdued by the arts of Greece." विजयशाली रोम स्वयं ग्रीस की कलाकुशलता से पराजित हुआ था।

कभी न कभी ईश्वर की कृपा से हमारे भारतवर्ष के लिये भी इसी घटना का होना—पूर्ण संभव है। क्योंकि भारत का तत्वज्ञान और साहित्य अत्युच्च श्रेष्ठ है और उस ने जगत् भर के विद्वानों को आश्चर्यचकित किया है। यह बात अवश्य ही हमारे पुनरुदय में—अनिष्ट-संहारक, इष्टप्रदायक और असामान्य उपकारक है। कविकुलगुरु कालिदास का सिद्धान्त है कि—

"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥

अस्त के समय में—अनेक रोगादिकों की अति दुःसह सहस्र सहस्र आपत्तियों का नाश करनेवाली, समर्थ

औषधियों का पति चन्द्र–कि, जिस को अपनी औषधियों का अनन्त बल होते हुए भी वह अस्त शिखर के पास नीचे गिर रहा है तो दूसरी ओर उदय के समय में–असमर्थ पङ्गु अरुण जिस का सारथि है ऐसा सूर्य विना साधन के उस लंगडे अरुण का उदय कर के धीरे धीरे प्रकट होके नीचे से ऊपर आता हुआ दीख रहा है। इन तेजोद्वय का–चन्द्र और सूर्य का अस्त और उदय बहुत ही विचारणीय, संस्मरणीय और प्रेक्षणीय रीती से होता है। दोनों तेजस्वी हैं, समय भी प्रातःकाल का है। चन्द्रमा को साधनसम्पत्ति विशेष है। सूर्य को साधनसम्पत्ति न्यून है–ऐसा होते हुए भी चन्द्र का अस्त हो जाता है और सूर्य का उदय हो जाता है। चन्द्र सूर्य मानो, इस से स्पष्ट सूचित करते हैं कि–अस्त और उदय अनिवार्य हैं और वे होते ही रहते हैं–इतना ही नहीं किन्तु जो अस्त होता है वह उदय ही के लिये होता है और जो उदय होता है वह अस्त ही के लिये होता है। इसी लिये आंग्ल कवीश्वर सेक्सपीयर की इस उक्ति के समान सब को उपर्युक्त रीति के अनुसार अपने कार्य में खूब यत्नपूर्वक प्रवृत्त होना चाहिये—

"See first that the design is wise and just:
That ascertained, pursue it resolutely.

Do not for one repulse forego the purpose
That you resolved to effect."

प्रथम ही जान लेना चाहिये कि–संकल्प गंभीर और न्यायपूर्ण है या नहीं? इस का निश्चय हो जाने पर फिर

दृढता से उस के पीछे लगना चाहिये । जिस शुभकार्य की सफलता के लिये तुमने निश्चय किया है उस में किसी वाधा के उपस्थित होने पर भी उस का कभी त्याग न करना चाहिये ।

इस प्रकार जगत् का परिवर्त्तन, जगत् का उदयास्त, जगत् का परिणाम होता हो तोभी, जगत् का व्यवहार तो—अत्यन्त सूत्रवद्ध, नियमवद्ध, एवं प्रमाणवद्ध है—कि जिस में किंचिन्मात्र भी फेरवदल नहीं होता । कभी कोई कह सकता है कि—आज सूर्य का उदय छ वजे हुआ और कल दस वजे हुआ था? कभी कोई कह सकता है कि—चन्द्रमा का उदय कल सायंकाल छ वजे हुआ और आज प्रातःकाल के छ वजे हुआ है? कभी कोई कह सकता है कि—आमका वीज वोके नीम का झाड़ पैदा हुआ? कभी कोई कह सकता है कि—मक्षिका के अण्डेमें से गरुडपक्षी उत्पन्न हुआ? कभी कोई कह सकता है कि—भेड के गर्भ से हाथी का जन्म हुआ? कभी नहीं! फिर क्या कारण है जो—हम क्षणभर में मूढ—क्षणभर में ज्ञानी, क्षणभर में दुःखी—क्षणभर में सुखी, क्षणभर में व्याकुल—क्षणभर में शांत, क्षणभर में उदासीन—क्षणभर में आनन्दी, क्षणभर में निराश—क्षणभर में उत्साही, क्षणभर में रोगी—क्षणभर में नीरोग, क्षणभर में निःशक्त—क्षणभर में वलवान् एवं क्षणभर में दरिद्री—क्षणभर में श्रीमान् क्यों होते हैं? क्या हम जगत् के वाहर हैं? एक महात्मा ने कहा है कि—"अगर मुझे जगत् के वाहर खड़े रहने के लिये ज़रासी भी

जगह मिलजाय तो-मैं क्षणही में जगत् को हिला सकता हूं।" इस का अर्थ क्या है-जगत् के व्यवहार को जान कर-परमसत्य के स्वरूप में लीन होके जगदाकार होना है एवं संकल्पविकल्पों का नाश करके, आशानिराशा-रहित Agnostic होके Pessimistic निराशात्मक भावना को दूर कर के आशावादी Optimist वन कर सद्व्यवहार वल के द्वारा जगत् को हिला देना है।

"छिद्रेष्वनर्था वहुली भवन्ति"-छिद्रों में अनर्थ वढ़ते ही जाते हैं—"When sorrows come, they come not simple spies, but in battalions." जब दुःख आता है तो अकेला नहीं आता फौज के साथ आता है। किन्तु विचारी, विवेकी, ज्ञानी-इस आंग्ल कवि की उक्ति के अनुसार—

"The wise and prudent conquer difficulties
By daring to attempt them. Sloth and folly
Shiver and shrink at sight of toil and danger,
And make the impossibility they fear."

विवेकी और दूरदर्शी धैर्य और प्रयत्न ही से कठिनाइयों का सामना करते हैं किन्तु आलसी और मूर्ख श्रम और भय को देखकर कम्पित होते हैं और संकुचित होते हैं और ऐसा होने पर जिस असंभवता से वे डरते हैं वे उस असंभवता को स्वयमेव उत्पन्न करते हैं अर्थात् मनुष्य संकटों से सामना करने में डर जाता है या हार जाता है तो फिर संकटों का तार लग के उन का परिहार कभी नहीं होता और उस का तत्काल नाश हो जाता है।

संकटों से हार जाना, या संकटों से डर जाना, या संकटों से गिरजाना ही—Pessimist होना है। निरुत्साह होके, अकर्मण्य बन कर, दैव पर निर्भर होकर, उदासीन होना ही—Pessimist होना है एवं उत्साहपूर्वक करते हुए कार्य में अगर कुछ विघ्न आजाय तो, उस से हट जाना ही—Pessimist होना है। जो जीते जागते, फिरते हिरते, बोलते चालते कर्मशूर मनुष्य को जड़ अचेतन बनाता है और उसको पशुपत्ती, वृत्ततृण तो क्या, तृण से भी नीचे पत्थर मिट्टी में दबा देता है। किन्तु वहां भी पूर्वसंस्कार उस को छोड़ता नहीं—उस का उदय होते ही वह Optimist बन कर—"गर न बूदी जाते हक़ अंदर वजूद, आबोगिलरा कय मलिक करदा सुजूद" अगर ख़ुदा का नूर अन्दर नहीं होता तो पानी और मिट्टीको कौन फ़रिश्ता सिज्दा—प्रणाम करता?—इस मौलाना रूम के कहने के अनुसार पीछा अपने रूप में आकर अपने आनन्द से सब को आनन्दित कर के सब को Optimist बना देता है एवं वह उसी दशा में यदि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को जान लेता है तो झट Agnostic बन कर इधर उधर दोनों का साथ छोड़ कर केवल एकाकी—सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाता है। अर्थात् मनुष्य को किसी भी हालत में कभी Pessimist न होना चाहिये। सी. डी. लारसन C. D. Larson के कहने के अनुसार— "Look at the sunny side of every thing and make optimism come true." प्रत्येक वस्तु के प्रकाशमय भाग को देखना चाहिये और आप्टिमिझम्—अर्थात् सदा Optimist बन कर सानन्द जगत् के व्यवहार को सत्य करना चाहिये या इन दोनों से भी अलग होकर सदाके लिये Agnostic रहना चाहिये।

जब सद्रूप ब्रह्म की हिरण्यगर्भ अर्थात् स्पन्दन-विचार-शक्ति द्वारा ही उस की अमोघ पवित्र सत्ता से सत्, चित्, आनन्दरूप Optimist जगत् बना है तो-उस में असत् का आक्रमण हो ही नहीं सकता। हम स्वयं निराशावादी Pessimist अकर्मण्य बन कर असद्विचारों के असत्प्रभाव से अपना अतिदुर्लभ मनुष्यजन्म वृथा बना कर जगत् को एवं जगत् के व्यवहार को वृथा कर लेते हैं। यदि हम उस सत्स्पन्दन-सद्विचारों के सत्य गम्भीर भाव का सुन्दर चित्र अपने हृदय पर अंकित कर लें तो-तत्काल ही विश्वदृष्टि प्राप्त होकर हम पूर्ण आशावादी Optimist होके, सब को पूर्ण कर सकते हैं। इस का समीकरण इतना स्पष्ट है कि-बिन्दुओं की ऊपर की पंक्तिमें से नीचे की पंक्ति बाद कर दी जायगी तो-बाक़ी बिन्दु ही रहेगा। उसे गुणा जायगा तो-बिन्दु ही बढ़ेगा। उसे भागा जायगा तो-बिन्दु ही घटेगा। उस का त्रिराशिक, पंचराशिक, बीजगणित या सिद्धान्त किया जायगा तोभी-वही का वही बिन्दु ही उस का उत्तर आवेगा-अर्थात् हमें बिन्दुरूप बन कर सभी अवस्था में सर्वकाल अटल बिन्दुरूप स्थिर रहना चाहिये-फिर हमारा जगत् ज्ञानमय, सुखमय, शान्तिमय, आनन्दमय, उत्साहमय, आरोग्य मय, बलमय, एवं ऐश्वर्यमय सदा के लिये बन जायगा।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

विचार-दर्शन ।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन् ।

एवा दाधार-तेमनो जीवातवे न मृत्यवेथो अरिष्टतातये ॥

—ऋग्वेदे मं० १०।६१

आन्तर जगत् ।

॥ श्री ॥

चाक्षुषसूक्तम् ।

(१)

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥

(२)

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥

(३)

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

(४)

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥

(५)

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥

(६)

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥

(७)

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

—ऋग्वेदे मं० १०।८२।३।१७

॥ श्री ॥

विचार-दर्शन।

द्वितीय तरङ्ग।

आन्तर जगत्।

य आत्मदा वलदा यस्य विश्व

उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः

कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋग्वेद मं० १०।१२१

जो प्राण को और वल को देनेवाला है। जिस के शासन को सव मानते हैं, देवता भी जिस के शासन को मानते हैं। जिस की छाया अमृत है और मृत्यु भी है—ऐसे सुखस्वरूप परमात्मा की हविप्रदान द्वारा हम परिचर्या करें।

वाह्य जगत् की अभिव्यक्ति, भूगोलखगोल, आयुष्य और व्यवहार का दिग्दर्शन हो चुका किन्तु, वह अपरिमित, अपरिज्ञेय, अखिल जड़ जगत् किस चैतन्य शक्ति पर विराजमान है, प्रकाशमान है और दृश्यमान है। शून्यवादी, निरीश्वरवादी, जड़वादी, विकासवादी कहते हैं कि—वाह्य जगत् में कोई स्वयंभूत ईश्वरी शक्ति ही नहीं है—तो फिर वह आन्तराकाश में निराधार कैसे ठहरा हुआ है? सब प्राकृतिक— natural है तो उस को देखने वाला— उस का अनुभव लेनेवाला भी तो कोई होना चाहिये। शक्ति—motion हीन पदार्थ—matter कैसे विचलित—गतिमान् forceable हो सकता है, या शक्ति-विना अशक्त पदार्थ किस काम का होता है? हमारा शरीर जड़ होने पर भी हम में जब प्रत्यक्ष शक्ति का भान होता है, उद्बोधन होता है, आविर्भाव होता है और हम उसी जगत् के अंशभूत व्यष्टिरूप हैं तो—व्यष्टि की समष्टि होना ही चाहिये—इस न्याय से जब हम शक्तिरूप व्यष्टिभूत हैं तो जगत् शक्तिरूप समष्टिभूत है—इस में शंका ही क्या है?

जो महत्तत्व की समष्टिरूप शक्ति है वही जगत् का केन्द्र है और उसी को आन्तर जगत् कहते हैं। जैसा वाह्य जगत् स्थूल दृष्टि में प्रत्यक्ष है, वैसा ही आन्तर जगत् दिव्यदृष्टि में प्रत्यक्ष है उस का पता सब के पहिले—जगत् भर के धर्मप्रचारकों के पहिले, अर्थात् सृष्टिरचना-काल ही में हमारे परमपवित्र वेदों ने लगा रक्खा है। आजकल के ज्ञानयुग के प्रकाश में चकाचौंध होकर

चाहे कोई भी कट्टर से कट्टर धर्माभिमानी अपना पक्ष स्वीकार कर चाहे कुछ भी कहे तोभी वह वेदों के आगे नहीं जा सकता! दुःख है कि औरंगज़ेब के बड़े भाई दाराशिकोह के कहने के अनुसार इस पूर्ण प्रकाशमय विद्युद्युग में भी वेद 'लोहेमहफूज़' हैं!! विषय गम्भीर है तोभी आन्तर जगत् के प्रतिपादन के-विवेचन के प्रारम्भ ही में हम ऋग्वेद के १० मण्डल के १२५ वें सूक्त को यहां उद्धृत कर के पाठकों को आन्तर जगत का दिव्यदर्शन कराते हैं।

यह सूक्त 'अम्भृण' नामक महर्षि की दुहिता 'वाक्' नाम्नी ब्रह्मविदुषी का गाया हुआ है। श्रीसायणाचार्य कहते हैं-"अतः सा ऋषिः, सच्चित्सुखात्मकः सर्वगता परमात्मादेवता, तेन हि, एषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वं जगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति।" इसलिये इस सूक्त की वह ऋषि-सम्पादक और सच्ची चितिसुखात्मक सर्वव्यापिनी परमात्मा देवता है। इसीसे परमात्म तत्व का अनुभव करती हुई, सब जगत् का रूप एवं सब का अधिष्ठान-आश्रय सब में ही होती हूं-इस भावना से-सजेशन-suggestion से, वह अपने आत्मा की अर्थात्-अपनी स्तुति करती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधिश्रुत! श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व १ न्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानुविश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥ ७ ॥

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

मैं सूक्त उद्गायत्री 'वाक्'— आम्भृणी जगत्कारण ब्रह्म-चैतन्यरूप होके रुद्रों के और वसुओं के साथ विचरती हूं । मैं आदित्य और विश्वदेवों के साथ विचरती हूं । मैं ब्रह्मीभूत होके मित्र एवं वरुण—दोनों को धारण करती हूं । मैं इन्द्र अग्नि और दोनों अश्वियों को धारण करती हूं । १ । मैं शत्रुओं को हनन करनेवाले— स्वर्ग में रहनेवाले देवतात्मक सोम को धारण करती हूं । मैं त्वष्टा को, पूषा को और भग को धारण करती हूं । हवि से युक्त देवताओं को सुन्दर हविसे तृप्त करनेवाले सोम रस को वहानेवाले यजमान के लिये याग- फलरूप धन को मैं ही धारण करती हूं । २ । मैं राष्ट्री अर्थात् जगत् की ईश्वरी हूं । मैं सब धन को एकत्रित

कर के उपासकों को प्राप्त कराती हूं। जो यज्ञ के योग्य हैं उन में मैं ही प्रथमा—मुखिया हूं। बहुधा प्रपंचात्मक होकर मैं भूरि भूरि प्राणियों के जीवभाव से आत्मा में प्रविष्ट करती हूं—इसलिये मुझे देवताओं ने बहुत स्थानों में प्राप्त किया है। अर्थात् मेरे विश्वरूप होकर रहने से देवता जो जो करते हैं, वह सब मुझे ही करते हैं। ३। मेरी ही भोक्तृत्व शक्ति से वह खाता है, वह देखता है, वह श्वासोच्छ्वास लेता है और कहना सुनता है। किन्तु जो आन्तर में रहनेवाली मुझ को नहीं जानते वे अज्ञानवश संसार में हीन होते हैं। हे श्रुत! श्रवण किये हुए मित्र! मैं तुझ को श्रद्धायुक्त जो कहती हूं सो सुन। ४। मैं देव और मनुष्यों की सेव्यमान होकर स्वयमेव आत्मविद्या का उपदेश करती हूं। जिस पर मैं प्रसन्न होती हूं—जिस को मैं चाहती हूं उस को सब से श्रेष्ठ करती हूं, उस को ब्रह्मा—विश्वस्रष्टा करती हूं एवं ऋषि—आत्मदर्शी तथा सुमेधा बुद्धिमान् करती हूं। ५। त्रिपुरविजय के समय ब्रह्मद्वेषी हिंसक त्रिपुर-निवासी असुर को मारने के लिये महादेव के धनुष्य की ज्या—रस्सी मैं चढाती हूं। शत्रुओं के साथ स्तुति करनेवाले जनों का संग्राम मैं ही कराती हूं। मैं द्यौ और पृथ्वी में प्रविष्ट हूं। ६। मैं द्यौ पिता को उस परमात्मा के मस्तक पर उत्पन्न करती हूं। मेरी उत्पत्ति वहीं अन्तरिक्ष समुद्र से है। मैं सर्वत्र विश्व में—प्राणीमात्र में—भूतजात में व्याप्त हूं और उस द्यौ—अन्तरिक्ष को मैं अपने कारणभूत—मायात्मक देह से छूती हूं। ७। मैं ही सब भुवनों का कारणरूप होके कार्य का आरम्भ करती हुई

वायु के समान स्वच्छन्द वेग से वहती हूं। मैं द्यौ-अन्तरिक्ष और पृथ्वी से परे अर्थात् सव विकारभूत जगत् से परे रहती हूं—"असङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाऽहं महिना महिम्ना एतावती संवभूव।"—अर्थात् संगरहित-एकाकी, उदासीन, कूटस्थब्रह्म-चैतन्यरूप होकर मैं महिमा से अपनी शक्ति से ऐसी वनी हुई हूं। ८।

यह उद्गायत्री 'वाक्' नाम्नी थी और स्वयं अपने को परमात्मस्वरूप मानती थी—अथवा यों कहा जा सकता है कि—यह प्रत्यक्ष वही 'संविन्मूलवाक्' थी, जो परावाणी से उदय पाकर पश्यन्ती में परमात्मा को देखती हुई मध्यमा में स्वस्वरूप वन के वैखरी में स्फुट होकर सूक्तरूप वनी है। वही मूलाधार वाह्य जगत् का केन्द्र है। जगत् का प्रलय होजाने पर वीजभूत आन्तर जगत् में से ही वाह्य जगत की अभिव्यक्ति होती है—जिस का सविस्तर वर्णन प्रथम तरङ्ग में हो चुका है। वह उस की कितनी प्रवल भावना है? यही संकल्प, यही आत्मद्योतन क्रिया Anto suggestion है एवं उस की युगपत्—सिद्धि—इच्छामात्र जगत् का उदय है। हिरण्यगर्भ का स्पन्दन—विचारस्फुरण—Thought vibration उस के अक्षर अक्षर में भरा हुआ है और वही आन्तर जगत् है, वही वाह्य जगत् का मूलकारण है, वही जड़चेतन का अभेदस्वरूप है और वही सच्चिदानन्द परमात्मा का दिव्यरूप है। इसी दिव्यरूप में वेदों ने आन्तर जगत् को देखा है, जाना है और व्यक्त किया है।

इस सूक्त का सार्थ पाठ-अभ्यास करने पर-अवश्य ही उस वाक्—वाणी की कृपा से आन्तर जगत् का ज्ञान,

विचार के दर्शन में सुलभ होना चाहिये । वह स्पष्ट कहती है कि—मैं एकादश रुद्र, अष्ट वसु, द्वादश आदित्य, विश्वेदेव, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्वि इत्यादि महा शक्तियों को हाथ में लिये हुई हूं । देवतात्मक सोम, देवशिल्पी त्वष्टा, भरणपोषण करनेवाली देवता पूषा, ऐश्वर्यदायिनी देवता भग आदि को धारण किये हुई हूं और अकर्मण्यता, उदासीनता, निरुत्साहता छोड़ कर साहसी प्रयत्नशील उद्यम करनेवाले के लिये फलरूप धन को धारण करनेवाली मैं ही हूं । मैं राष्ट्र nation की उन्नायिका हूं । उपासकों को अर्थात् अपने वशवर्त्तियों को मैं चाहा धन प्रदान करती हूं । यज्ञकर्त्ताओं में—अपने वान्धवों की सहायता करनेवालों में मैं ही प्रधान—अग्रसर हूं । बहुधा देहाभिमानी प्राणियों का जीवभाव नष्ट कर के उन को आत्मभाव में पहुंचाती हूं अर्थात्—'विचार-दर्शन' कराती हूं—इसी विचारदर्शन में जहांतहां व्यक्त होती हूं और जो कुछ होता है वह सब मेरा ही किया हुआ होता है । विश्वभर में सिवाय मेरी प्रेरणा के कुछ नहीं होता । मनुष्य मेरी ही शक्ति से खाता है, देखता है, श्वासप्रश्वास लेता है, सुनता है किन्तु, जो अज्ञानवश मुझे नहीं जानता वह अन्धकार में दीनहीन बन कर नष्ट हो जाता है!

आगे चल कर अब वह करुणमयी 'वाक्' बड़े ही प्रेम से कहती है कि—हे श्रवणशील—श्रुतसम्पन्न मित्र! मैं तुझे श्रद्धायुक्त जो कुछ कहती हूं, सादर सुन—मुझ में अकथनीय, अतुलनीय, महनीय शक्ति है—मैं आत्म, विद्या सिखाती हूं, चाहे जिस को सब से श्रेष्ठ करती हूं-

यहांतक कि उस को जगत्कर्त्ता वना देती हूं या आत्मदर्शी मेधावी ऋषि वना देती हूं।

अध्यात्मविद्या के द्वेषियों को मारने के लिये मैं महा-संहारक रुद्र के धनुष्य की प्रत्यंचा स्वयं चढ़ाती हूं जिस से विद्वेषियों का संहार होने में तनिक भी देर नहीं लगती। फिर आकाश पाताल में उन का पता कहीं नहीं लगता क्योंकि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं। अन्तरिक्ष में समुद्र nebulous matter है उस को परमात्मा के मस्तक पर उत्पन्न कर के मैं उसी में से उत्पन्न होती हूं। मैं सर्वत्र व्याप्त होके अपने मायात्मक देह से अन्तरिक्ष समुद्र को छूती हूं। मैं कारणरूप होके जगत् का कार्य करती हूं। वायु के समान निष्प्रतिवन्ध अपनी इच्छा के अनुसार सर्वत्र विचरती हूं तथापि मैं विकारभूत जगत् से परे रहती हूं। अर्थात् मैं ब्रह्मचैतन्यरूप महाशक्ति से ऐसी शक्तिमती हूं।

इस से प्रिय पाठकों ने स्पष्ट जान लिया होगा कि-यह सब वाणी ही की शक्ति है और वह वाणी परा से निकली हुई वैखरीरूप ध्वनिमात्र है। उस का पूर्णरूप 'ॐ' में भरा हुआ है-जिस का विचार यथानुक्रम होगा ही। ॐ की त्रिधारा-अ, उ, म् है और उस का मूर्तस्वरूप विन्दुरूप अर्धमात्रा-चितिकला में संकलित होता है। 'तस्यवाचकः प्रणवः' कह कर भगवान् पातंजलि ने निर्दिष्ट किया है कि-सच्चिदानन्द भगवान् की यह प्रत्यभिज्ञा है। इसी के आव्हान से वाणी के मूल में अनिर्दिष्ट शक्ति का आविष्कार होके आन्तर जगत् में उस का भान होता

है । प्रथम ही वाणी की शक्ति अद्भुत है फिर ईश्वर के वाचक 'ॐ' में सम्मिलित होने पर उस की शक्ति का पार ही क्या है ? स्वयं वाणी ने 'वाक्' रूपा मन्त्र द्रष्ट्री होके अपनी शक्ति का परिचय दिया है, तो जब वह प्रत्यक्ष ब्रह्माण्ड का भेद कर के विराट्स्वरूप को धारण कर 'ॐ' रूप सूक्ष्म शरीर के मूलकन्द में विराजमान हो-जायगी तो, अनन्त ब्रह्माण्डगोल उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर के सूर्यचक्र solar plexus में लीन होकर **आन्तर जगत्** का उदय होने में फिर क्या देर है ? उसी सूक्ष्म-लिंग शरीर से बने हुए स्थूल शरीर में सब आन्तर बाह्य जगत् की रचना का विकास होना, शरीर की चारों ओर Aura तेजोवलय-किरणमंडल का प्रकाश घिरना और उस में विचारों के रंगरूपाकृति का निदर्शन होना-कुछ भी कठिन नहीं । यही वाक्सिद्धि के उदय का अरुणोदय है और उसी अरुणोदय में मोहनिद्रा का त्याग कर के **आन्तर जगत्** प्रत्यक्ष करने के लिये दिव्यदृष्टि को साध्य करना चाहिये ।

जिस हिरण्यगर्भ-स्पन्दशक्ति द्वारा इस महत्वपूर्ण, अत्यन्त समुज्वल, अपरिमित, सत्य, बीजभूत अनन्त ब्रह्माण्ड-गोल जगत् की उत्पत्ति हुई है और उस में जड़चेतन के विकास क्रम की अकुण्ठित शक्ति भरी हुई है तो-उसी स्पन्दन-विचारशक्ति द्वारा हम भी बने हैं-अर्थात् हमारी देह में वहीं सत्, चित्, आनन्दमया सत्ता रोमरोम, नाड़ीनाड़ी, एवं रक्त के कणकण में विराज रही है-इतना ही नहीं वह प्रत्यक्ष सुखसाध्य भी है । ऐसा नहीं

होता तो, वाणी का उदय होके उस महाचितिशक्ति का हमारे जड़ शरीर में कभी भान नहीं होता और हम इस विशाल जगत् में क्षणभर ही नहीं रह सकते। पदार्थों का समभाव समीकरण होता है तभी विद्युत के कण Electron उत्पन्न होते हैं वे उन को एकत्रित करते हैं और पारस्परिक एकता का प्रचार करते हैं। उसी एकता में हमारा ऐक्य होता है, समभाव होता है और जीवनसंग्राम सुलभ होता है। काल के परिवर्त्तन के साथ ही अगर उन का तो क्या, उन के कणमात्र का भी लोप होके परस्पर एकता नष्ट हो जाती है तो, तत्काल ही हमारा जीवनसंग्राम में पराजय होके हम सदा के लिये निरुपयोगी बन जाते हैं।

अब हमें विचारना चाहिये कि—वही ब्रह्म की मूलकारण अव्यक्त शक्ति-हिरण्यगर्भ अर्थात् स्पन्दन—विचार vibration हमारे शरीर में क्यों, कैसी और कहां से उत्पन्न होती है एवं उस के द्वारा बाह्य जगत् के समान आन्तर जगत् कैसे बनता है? जिस प्रकार बाह्य जगत् हमारी स्थूलदृष्टि में प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बित है, दर्शनीय है और समस्त विराजमान है उसी प्रकार हम आन्तर जगत् को भी प्रतिबिम्बित, दर्शनीय और विराजमान कर सकते हैं या नहीं?

यह स्पन्दन—विचार-स्फुरण, विज्ञानघनतत्व की सिद्धावस्था है, यह स्वाभाविक सहज समुद्भूता शक्ति है और शरीर के कणकण में भरी हुई है। इस प्रकाशरूप शक्ति से वह विज्ञानघनतत्व अखण्ड उन्मुख—अखण्ड स्पन्दनशील स्फूर्तिमान् है। यह स्पन्दन—विचारान्दोलन—Thought vibra-

ration कारणरूप होके जिन जिन कार्यों में अर्थात् महत्, अस्मिता, पंचतन्मात्रा आदि द्रव्यों में प्रवेश करता है—उन्हें विशेष प्रकाशित—उन्मुख करता है। यही विज्ञान-घनतत्व जड़चैतन्य की लीला है और आन्तर जगत् का सूक्ष्म केन्द्र है। इस का आदिम स्फुरण—भविष्यत में उदय पानेवाली वर्णात्मक वाणी का मूलवीज है, इसीलिये इस को 'परावाणी' कहते हैं। यहीं से 'ॐ' की प्रथम मात्रा 'अ' का प्रकाश होता है। यह परावाणी विशेष उन्मुख होके हृदयस्थ प्राण को देखती है तब उसे 'पश्यन्तीवाणी' कहते हैं। यहीं से 'ॐ' की द्वितीय मात्रा 'उ' का प्रकाश होता है। उस के आगे यह वाणी बुद्धिवृत्ति में सम्मिलित होती है और मर्मव्यूह—nervous system के ज्ञानतन्तुओं sensory nerves का आन्दोलन कर के कंठप्रदेश में विचार का रूप धारण करती है—इसलिये इसे 'मध्यमावाणी' कहते हैं। विचार के रूप में परिवर्त्तित स्पन्दन-स्फुरण प्राणवृत्ति में सम्मिलित होकर वाणीस्थान में रहे हुए मर्मव्यूह के क्रियातन्तु—motor nerves को संचालित कर के वर्णात्मक शरीर धारण करती है—उसे 'वैखरीवाणी' कहते हैं। यहीं 'ॐ' की अर्धमात्रा 'म्' समाप्त होके ओष्ठ वन्द हो जाते हैं और वाणी तिरोहित हो जाती है। इस प्रकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरीरूप को धारण करनेवाली नादशक्ति वस्तुतः ज्ञानशक्ति का—क्रमविकासभूत विकसितरूप विशेष है—इसलिये शास्त्र में इस को 'संविन्मूलावाक्' अर्थात् ज्ञानमूलक वाणी कहा है।

जगत् भरके परिचय का, अभ्यास का, एवं ज्ञान का कारण यही परावाणी का स्फुरण-ध्वनिरूप नाद-अनाहत-हृत्कमल में गुंजायमान होके 'ॐ' रूप से 'सोहं' 'हंसः' बन कर श्वासप्रश्वास द्वारा व्यक्त होता है और उसी में आन्तर जगत् का सम्यग्दर्शन होता है ।

ऐसा यह नाद का स्फुरण मनुष्य ही में नहीं—सब जड़चेतन पदार्थों में होता है । परावाणी के समान किसी पदार्थ के अंश में स्फुरण का आघात होते ही—कम्पन-क्रिया—तरंग उठ कर प्राण-वायु द्वारा नाद प्रकट होता है । नाद की उच्च नीचता या सूक्ष्म गंभीरता इन तरंगों पर निर्भर है । ऊंचा नाद छोटे तरंगों से और छोटा नाद लंबे तरंगों से उत्पन्न होता है एवं सूक्ष्म तरंगों से गंभीर नाद और गंभीर तरंगों से सूक्ष्म नाद होता है । सब से हलके नाद के पंधरह तक तरंग होते हैं और इन तरंगों की लंबाई तीस फ़ुट तक होती है । सब से ऊंचे नाद के पचास हज़ार तक तरंग होते हैं और उन की लंबाई एक लाख फ़ुट तक होती है । नाद का तत्व जानने के लिये देह के समान—सितार या तम्बूरे के नाभिस्थान की गुच्छली पर से खुंटी तक लगे हुए तारका अनुसंधान करना चाहिये । नाभिस्थान की गुच्छली पर लगे हुए तार पर आघात होते ही तार की दूसरी छोर तरंगित होती है । इस के प्रमाण के लिये—तार के दो भाग कर के दूसरे भाग पर छोटे छोटे कागज़ के टुकडे रख देने पर पहिले भाग को छेड़ते ही दूसरे भाग पर के कागज़

के टुकडे गिर जावेंगे । तार के तीन भाग कर के पहिले और दूसरे भाग पर कागज़ के टुकडे रख देने पर तीसरे भाग को छेड़ते ही पहिले भाग पर के टुकड़े गिर जावेंगे, किन्तु दूसरे भाग पर के न गिरेंगे । अर्थात् दूसरा भाग कम्पित न होगा । इस प्रकार तार के चार भाग कर के पहिले पर आघात पहुंचते ही आख़री के दो भाग कंपित होकर दूसरा भाग स्तब्ध रहेगा । इसी प्रकार परा में स्फुरण होते ही पश्यन्ती प्राण के साथ स्तब्ध रहती है और मध्यमा, वैखरी में तरंग उत्पन्न होकर नाद प्रत्यक्ष होता है । नाद के तरंगों को स्पष्ट जानने के लिये यह भी अच्छा प्रमाण है कि-एक तश्तरी में वहुत वारीक वालू विलकुल पतली विछाकर उस के एक भाग में आघात कर के वालू के कणों पर दृष्टि रखने से साफ़ मालूम होजायगा कि-कम्पितस्थान से कण सरक कर स्तब्धस्थान पर इकट्ठे हो जाता हैं । जैसे जैसे शिथिल तीव्र आघात अलग अलग स्थान पर होते हैं वैसे वैसे तरंग उठकर नाद के नये नये चित्र वनते जाते हैं-अर्थात् जिस स्थान पर आघात होता है उसी स्थान से नाद का तरंग उठ कर एक परमाणु से दूसरे परमाणु में चला जाता है एवं स्तब्धस्थान को छोड़ कर सव कहीं तत्काल फैल जाता है । घने पदार्थों में उस का वेग अधिक होता है एवं विरले पदार्थों में कम होता है । वहते हुए नाद को सान्द्र पदार्थ वक्र करता है एवं अवरोधक कठिन पदार्थ पीछे लौटाता है-इसी का नाम प्रतिध्वनि है और वह साठ फ़ुट से लगाकर एक सो वीस फ़ुट तक सुनाई

देती है। सेन्टपाल के गिरजे की गुम्वज के एक वाजू में धीरे से भी आवाज़ की जाय तो दूसरी वाजू वह स्पष्ट सुनाई देती है किन्तु वीच में कहीं नहीं सुनाई देती। ग्लोस्टर गिरजे में एक छोर पर कुछ भी खट् आवाज़ होती है तो झट दूसरे छोर ७५ फ़ुट के अन्तर पर उस की आवाज़ सुनाई देती है।

जव विज्ञानघनतत्व में प्रथम स्पन्द—स्फुरण होता है तव परावाणीमें प्राकाश्य अथवा ज्ञेय अर्थ एवं प्रकाशक अथवा ज्ञापक शव्द युगपत्—समकाल ही स्फुरित होते हैं। किन्तु पीछे शव्द एवं अर्थ की स्फुरण धारा पृथक् हो जाती है— उतने ही में अहंभाव उत्पन्न होके उस धारा प्रवाह पर का अधिकार नष्ट हो जाता है—इसी से वैखरी में शव्दजाल एक प्रकार का एवं पश्यन्ती में अर्थजाल अन्य प्रकार का प्रवाहित होता है। शव्द एवं अर्थ का समकाल में अभेद स्फुरण न होने से सम्यक्—यथार्थ ज्ञान प्रकट नहीं होता और इसी से विचारशक्ति की प्रक्रिया सिद्ध नहीं होती— क्योंकि अहंभाव का उदय होते ही संकल्पों का तार लगजाता है—जिस के लिये भगवान् वसिष्ठ कहते हैं कि— "भेद दृष्टि का त्याग करके, विचारशक्ति से विचारों का नियमन करके, वाह्यवाणी और आन्तरिक अर्थ की भिन्नता के संकल्पों का नाश करना चाहिये। ऐसा न करते हुए यदि सहस्रों वर्ष दारुण तपश्चर्या करने से, या अपनी देह को पत्थर पर पीस कर चूर्ण वनाने से, या अग्नि अथवा वाडवाग्नि में प्रवेश करने से, या गहरे गड्ढे में गिर जाने से, या खड्गधारा के वेग में पड़ जाने से,

या प्रत्यक्ष शंकर, विष्णु वा ब्रह्मा के उपदेश से, या अत्यन्त करुणाक्रान्त भूपति अथवा यति के प्रसाद से, या पातालस्थ, भूमिस्थ एवं स्वर्गस्थ की सहायता से—संकल्प के उपशम विना कुछ भी प्राप्त नहीं होना। अनावाध एवं अविकार परमपावन सुख के लिये पराक्रम से संकल्पों के उपशमार्थ यत्न करना चाहिये। हे राम! संकल्परूप तन्तु में—सूत्र में सब भाव पिरोये हुए हैं। वह तन्तु टूटते ही न जाने—वे भाव कहां विखर जाते हैं? सत् एवं असत् सव संकल्प ही का परिणाम है। जैसा कोई संकल्प करेगा वैसा ही वह वन जायगा—इसलिये हे तत्वज्ञ राम! किंचिदपि संकल्प मत करो। संकल्परहित होकर अपना व्यवहार कार्य करते रहो। संकल्पों का नाश होते ही—उस 'संवित्' ज्ञानशक्ति का विकास स्वयमेव होने लग जायगा।" अर्थात् आन्तर जगत् प्रत्यक्ष हो जायगा। मूल संकल्प अर्थात् विचारशक्ति ही सव का कारण है—इस के लिये भी भगवान् वासिष्ठ कहते हैं कि—"यहां सिवाय संकल्प के और कुछ नहीं है। जो कुछ है वह सव संकल्प ही है। द्यौ, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, दिशा आदि सव संकल्प ही का आविष्कार हैं। जैसे संकल्प किये जाते हैं वैसा ही उन का मूर्त्त स्वरूप वनकर जगत् की स्थिति होती है।" इस पर से यही सिद्ध होता है कि—संकल्प ही जगत् है और आन्तर जगत् का विकास भी संकल्प ही है।

ॐ यह अक्षर परमात्मा का निर्देशकारी विज्ञानघन आप्त चिन्तामणि है—जिस का उपासना विभाग में पूरा

विवरण होगा। ॐ अक्षर पृथक् पृथक् वहनेवाली शब्द की और अर्थ की धारा का गंगा यमुनासमान संगम करके, ज्ञान सरस्वती आविर्भूत कर अहंभाव में रहनेवाली विचारभिन्नता को त्रिवेणीस्नान करा के उस स्पन्दन-स्फुरण वा संवित् को पवित्र कर देता है। ॐ के चिन्तनक्रम में अर्थात् जप में पूर्ण लक्ष्य देने से वैखरी में वाचक शब्द और उस के अर्थ का संयोग कर मध्यमा में विचार और विचारणीय अर्थ का एकत्व सिद्ध करके साधक उर्ध्वगति प्राप्त कर लेता है। इन दो भूमिकाओं का उल्लंघन करने से मन और प्राणका जय होता है। क्योंकि ऊपर वर्णन किये अनुसार मध्यमा में विज्ञानस्पन्दन के साथ बुद्धिवृत्ति का संयोग होता है और वैखरी में उस के साथ प्राणवृत्ति का संयोग होता है। जब मध्यमा और वैखरी का शमन हो जाता है तो मन, बुद्धि एवं प्राण का भी शमन हो जाता है। चन्द्र सूर्य और मनःप्राण के शमन से इड़ा और पिंगला नाड़ी निरुद्ध होती है और उर्ध्वमार्ग में प्रयाण करानेवाली विषुवत्—सुषुम्णा अर्थात् मध्य नाड़ी खुल जाती है। पश्यन्तीवाणी में होनेवाले जप से अर्थात् ध्यान जप से उर्ध्वगति में जानेवाला उपासक अन्त में महाव्योम अर्थात् मूर्ध्नाकाश में प्रवेश करता है—जहां नादशक्ति का और ज्ञानशक्ति का अथवा शब्द का और अर्थ का परम एकीभाव प्रकट होता है। इस अवस्था में आपाततः साधक के विचार-स्फुरण से स्वयंसिद्धि विज्ञानघनतत्व करतलामलकवत् होके आन्तर जगत् प्रत्यक्ष हो जाता है—अर्थात् वह अपने को उत्पादक, व्यापक,

विज्ञानघन, निरंजन, सर्वगामी, स्पन्दनतत्वरूप, विचार-शक्ति-पूर्ण अनुभव करता है । ऋग्वेद के मंडल १ सूक्त १६४ के ४५ वें मंत्र में कहा है कि—

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।"

वाणी के चार पद हैं—उन को विद्वान्—ब्रह्मविद्ब्राह्मण जानते हैं । उन चार वाणियों में से तीन गुह्य में अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा—नाभि से कण्ठ तक रहती हैं । इसलिये उन को कोई नहीं जानता तुरीय-चौथी वैखरी-वाणी मनुष्य बोलते हैं ।

विचारस्फुरण का उन्मुखीभवन सर्वकाल एकरूप होता है किन्तु जिस द्वार से प्रकाश आता है उस द्वार के गुणधर्मानुसार वह प्रकाश शान्त, उग्र, एवं मूढ़ बनता है । मनुष्य प्राणी में बुद्धिजनित प्रकाश है । पशुपक्षियों में सामान्य प्रेरणा शक्तिजनित प्रकाश है और आधुनिक आविष्कारों के अनुसार धातुआदि जड़ पदार्थों में विद्यु-दादि प्रयोगों से संकोच विकासादि धर्म—सचेतन-पदार्थों के समान प्रतीत होते हैं । यह सब इस व्यापक विज्ञान-घनतत्व के स्पन्दन का ही प्रभाव है । यदि केवल बुद्धि का विकास ही ज्ञान का असाधारण कारण है तो, जहां बुद्धि का विकास ही नहीं है ऐसे मनुष्येतर प्राणियों में विचित्र ज्ञानयुक्त होनेवाली प्रवृत्तियां उस हिरण्यगर्भ अर्थात् स्पन्दशक्ति के प्रकाशबल विना किस प्रकार संभव हो सकती है?—मधुमक्षिका स्वादु अस्वादु—मीठे कडुवे का ज्ञान—विना स्पन्दन के कैसे जान सकती है? जड़बुद्धि

मृग और सर्प विना स्पन्दन के संगीत का कैसे अनुभव ले सकते हैं? सैकडों कोसों पर जा छोडने पर कवूतर को उस का निवासस्थान कौन वताता है? कुत्ते को अपने मालिक की नोकरी में सावधान रहना कौन सिखाता है? गाय, वैल, भैंस आदि ग्राम्य पशुओं को चीते शेर की वू कौन दिलाता है? वटेर, चिडियां आदि लघुपक्षियों को जाल पर वैठ कर कण चुगने से कौन मना करता है? चूहों को पींजरे में आने से कौन रोकता है? चीटियों को घरवार वनाना कौन सिखाता है? खटमलों को काटकर चोर के समान भाग जाने के लिये कौन इशारा करता है?— तात्पर्य यह है कि, विचारशक्तिहीन पशुपक्षीआदि प्राणी अपना आन्तर जगत् स्थिर रख कर वाह्य जगत् का स्वाभाविक अनुभव करते हैं और इन सब को पादाक्रान्त करनेवाले विचारशक्तिपूर्ण हम अपना आन्तर जगत् अ-स्थिर वनाकर वाह्य जगत् का अस्वाभाविक अनुभव करते हैं!

ऊपर की विवेचना से स्पष्टतया विदित हो जायगा कि— किस प्रकार हिरण्यगर्भ—स्पन्दन अर्थात् विचारस्फुरण आन्तर जगत् की उत्पत्ति करता है—जैसा वह वाह्य जगत् का मूलवीज है वैसा ही आन्तर जगत् का भी है। आन्तर जगत् वटवीजरूप सूक्ष्म है और वाह्य जगत् वटवृक्षरूप स्थूल है। हम अपना आन्तर जगत् जैसा वना लेते हैं वैसा ही वाह्य जगत् वन जाता है। आन्तर जगत् भला बुरा वनाने के लिये एक मात्र संकल्पातीत शब्द एवं अर्थसहित विचारों का अव्याहत प्रवाह ही प्रधान कारण

है। परावाणी में स्फुरण होते ही वह पश्यन्ती में प्रवेश करता है, वहां उस का अर्थोत्पादन होता है और मध्यमा में वर्णरूप बनकर वैखरी में शब्दरूप प्रकट होता है। हमें नित्य अत्यन्त सावधानतया उस पर लक्ष्य करना चाहिये कि-हमारी पश्यन्ती देख रही है वही वैखरी बोलती है-या उस का अध्यवसाय अर्थात् विपर्यास होता है? सार्थ विचारों का कभी विलय नहीं होता और न वे कभी निष्फल होते हैं। आतशी शीशे में सूर्य किरणों का परावर्त्तन होके केन्द्रीभवन होते ही जैसा वह अग्नि प्रत्यक्ष कर देता है उसी अनुसार विचारों का मस्तिष्क में केन्द्रीभवन अर्थात् निरुद्धभाव या संचय होते ही सब जड़चेतन पदार्थों का आकर्षण कर लेता है और बाह्य जगत् उस की इच्छा के अनुसार प्रवृत्त होता है।

१-विचारशक्ति।

आन्तर जगत् यह विचार एवं विचार यह आन्तर जगत् है। विचार ही आन्तर एवं बाह्य जगत् का मूलकारण है-इस में कुछ भी शंका नहीं है। विचारों का समीकरण, एकीकरण, समीभवन या केन्द्रीभवन ही विचारशक्ति-Thought force है। जैसे जगत् में अपनी अपनी उन्नति के लिये हरएक जड़चेतन पदार्थ पोषक तत्व का आकर्षण करके अपना मूर्त्तस्वरूप बनाते हैं-उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी इच्छाशक्ति Will power की आकर्षण धारा अर्थात् विचारशक्ति के प्रवाह द्वारा सब कुछ कर सकता है। मिट्टी के रजःकण पानी का आकर्षण करके कर्दमरूप बनकर सूर्यताप से सूखने पर

पत्थर का रूप धारण करते हैं। उसी प्रकार विचारशक्ति, स्पन्दन Vibration द्वारा समानधर्म अणुओं का आकर्षण करके फलोन्मुख होती है। विद्युत् का स्पन्द—आघात उसी समय जहांतहां क्षण में संदेश पहुंचता है एवं एक ही समय में हजारों दीपक प्रज्वलित कर देता है—वैसे ही विचारशक्ति स्फुरण पाते ही सर्वत्र सर्व दिशा में, स्थान में एवं पदार्थ में अति तीव्र वेग से स्फुरण के साथ ही पंहुंच जाती है। योंही विचारशक्ति विद्युच्छक्ति से भी अधिक बलवती है। उस का वेग इतना तीव्र है कि पृथ्वी के उस पार बारह हजार मील एक पल के सोलहवें हिस्से के समय में ही विचार को वहां पहुंचा देती है—अर्थात् डेढ़ सेकण्ड लगता है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि—विद्युत् Electricity की बेटरी Battery को आघात stroke लगते ही उस में स्पन्दनशक्ति Vibration Power—आघात के साथ ही उत्पन्न होकर कितना ही अन्तर हो उस दूरस्थ बेटरी में उसी आघात के समय में उस का स्पन्दन पहुंच जाता है। यह बाह्य जगत् की विद्युच्छक्ति का प्रभाव है तो, आन्तर जगत् की मूलभूत विद्युच्छक्ति का कितना प्रभाव होगा—इस का प्रत्यक्षानुमान हरएक कर सकता है और बहुत आसानी से उस का अनुभव ले सकता है। प्रोफ़ेसर एलिशा ग्रे Pro. Elissha Grey अपने मिराकल्स आफ़ नेचर—Miracles of Nature नामक ग्रन्थमें विवेचन करते हैं कि—विचारशक्ती की लहर का असर, अवाज़, विविध रंगोंका प्रकाश कोई विरलाही जान सकता है या लक्ष्य कर सकता है। इस

शक्तिका प्रवाह एक सेकण्डमें ४०,००० से ४००००००
०,००,००,००० और अधिक से आधिक ७००००००
००००००००. मील होता है! लोह या किसी प्रकारका
कठिन से कठिन भी पदार्थ इसे रोक नहीं सकता, केवल
सूर्यका प्रकाश इसके स्पन्दन Vibration को वखेर देता
है—उस से इसकी तेजी और वेग का प्रमाण कुछ कम
होजाता है और वह प्रमाण प्रकाश की कोमल ती-
व्रतापर निर्भर है। इसीलिये कहा गया है कि—रात्रि के
उत्तर भाग में अर्थात् उषःकाल में, सूर्यास्त के अनन्तर
प्रदोषकाल में एवं रात्रि के मध्यकाल में धारणा,
ध्यान, मंत्रजपादि करने से बहुत जल्द सिद्धि होती है!
क़ुरान शरीफ़में भी 'सूरतुल्-लयल' में रात को वन्दगी करने
पर ज़ोर दिया गया है और एक आयत में तो कहा
है कि— "इस विशाल जगत् की सब धनदौलत से
उषःकाल की प्रार्थना अधिक क़ीमती है।"

विचारशक्ति का कार्य खाली इधर-उधर दौड़ धूप
करने ही का नहीं है। उसका निरोध प्रारब्ध, संचित,
क्रियमाण को नष्ट करके मृत्युपर अधिकार करता है।
अप्राप्त को प्राप्त करता है एवं प्राप्त को नष्ट करता है।
अदृष्ट को दृष्ट करता है एवं दृष्ट को अदृष्ट करता है।
अर्थात् जगदाकार मनुष्य के विचार के अनुसार ज-
गत् की प्रवृत्ति होना ही चाहिये। मनुष्य ईश्वर का
अंश है। जब वह अपना अंश ईश्वर में मिलाकर ए-
करूप होजाता है तो, फिर उसकी विचारशक्ति का
साम्राज्य जगत् पर होने में क्या शंका है? इसके

अनेक प्रमाण हैं—उन में से हम इसका एकही प्रस्तुत प्रत्यक्ष प्रमाण देकर पाठकों को विश्वास कराते हैं—स्वामी **रामतीर्थ** के शिष्य **नारायण स्वामी** लिखते हैं कि—"स्वामीजी के साथ हम लोग जम्नोत्री के मन्दिर के समीप की गुहा में रहते थे। जम्नोत्री के पर्वत का सब से बड़ा उच्च शिखर २६,००० फ़ुट ऊंचा है—वह वहां से समीप था। एक दिन स्वामीजी के साथ उस शिखर पर हम लोग चढ़ने लगे। थोडी देर बाद इतना वर्फ़ पड़ने लगा कि हम सब घबरा कर अपने जीवन से निराश होगये। बड़े ही करुणाजनक स्वर से हम लोगोंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि—गुरुदयाल! बस हम लोग आगे नहीं चल सकते, अब हमारा अन्त यहीं हो जायगा! सुननें की देर थी—स्वामीजी का मुखकमल आरक्त होगया और बड़े ज़ोर से कहा कि—'Stop' बन्द हो! उसी क्षण वर्फ़ गिरना बंद होके झट सूर्य प्रकाश होकर वह प्रदेश रम्य आनन्दमय होगया और हम लोग कुशलपूर्वक इच्छित स्थान पर जा पहुंचे।" ता० १५ मार्च सन १६१३ के 'अभ्युदय' में इस के लिये यों लिखा है कि—"स्वामी **रामतीर्थ** कई आदमियों के साथ सायंकाल जिस समय हिमालय पर अपनी पर्णकुटी को लौटे जा रहेथे, तब बड़े ज़ोर से वर्फ़ गिरने के कारण साथ के सब मनुष्य घबडा गये, किन्तु **राम** वहीं ठहर गया; उस ने ज़ोर से कहा 'Stop' (बन्द होजा) बस, वर्फ़ गिरना बन्द हो गया। इस 'Stop' शब्द में कोई शक्ति नहीं भरी थी, किन्तु वह केवल **राम** का आत्मिक वल था, जिस ने गिरते हुए वर्फ़ को रोक दिया।"

विचारशक्ति अनन्त बलशालिनी है—इसी के प्रभाव से प्रहलाद ने विष को अमृत किया था। मीराँबाई विषपान करके इष्ट मूर्त्ति में समा गई थी। महाराज हरिश्चन्द्र ने प्रतिसृष्टिकर्त्ता विश्वामित्र के छल पर विजय पाई थी। भगवान् शंकराचार्य ने शीतल मधुर करके तप्त धातुरस का पान किया था। द्रौपदी ने चीरमय बनकर अपनी लज्जा रक्षण की थी। ज्ञानेश्वर महाराज ने दक्षिण के पट्टन नगर में गोदावरी तीर पर पांडे से वेद पाठ करया था। वहीं एकनाथ स्वामी ने मन्दिर के कुण्ड में भगवान् श्रीकृष्ण से पानी भराया था। साधु तुकाराम ने देह-सहित निजधाम को प्रस्थान किया था। स्वामी रामदास ने शिवाजी को छत्रपति बनाया था। अक्कलकोट के योगीश्वर ने शुष्ककाष्ठ औदुम्बर वृक्ष को कोमल पल्लवित किया था। महाराज यशवन्तराव देव मामलेदार ने दरिद्र होने पर भी सहस्रों का दान किया था।

विचारशक्ति का प्रेरक मूलबीज बालाग्र शतभाग—अर्थात् केश के अग्रभाग के सौवें भाग के समान सूक्ष्माति-सूक्ष्म है। भगवान् वासिष्ठ का कहना है कि—"चित्त द्वारा ही प्राण का स्पन्दन प्रतीत होता है। जैसे करताडित कंदुक में गति उत्पन्न होके वह चक्राकार उछलता है उसी प्रकार सर्वगता संवित् प्राणस्पन्दन से चित्तभूमि पर चक्राकार उछलती है। उस की सूक्ष्म से सूक्ष्म आकृति है, उस के निरोध से कल्याण होता है।" वही विचार-स्फुरण जगत् में सर्वत्र भरा हुआ है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी का नियमन न करने पर भी अज्ञातशक्ति

द्वारा मनुष्य अपने शब्दों का जिसप्रकार न्यूनाधिक स्वर से उच्चारण करता है उस प्रकार उस के अक्षर अक्षर में स्फुरणशक्ति उत्पन्न होती है। उस स्फुरणशक्ति का जैसे जैसे केन्द्रीभवन होता जाता है वैसे वैसे वह शक्ति तीव्र होके इच्छाशक्ति Will power के अनुसार सब को आकर्षित करके कार्य सम्पादन करती है। हमारे वेद, पुराण, मंत्र, शास्त्र आदिके, बौद्धों के सूत्त, महायान, धम्मपद आदिके, जैनों के सूत्र, गाथा, पुराण, स्तोत्र, मंत्र आदिके, पारसियों के अवस्था, माथ्रवानी आदिके, ईसाइयों के बाइबल न्यू टेस्टमेन्ट आदिके, इस्लामियों के कुरान, हदीस आदिके—पवित्र अक्षर, शब्द और वाक्य तथा अपनी अपनी विधि के अनुसार धार्मिक विचार गर्भित शब्द, वाक्य और मंत्र ऊंचे नीचे स्वरों में अर्थात् उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों में ग्रथित किये हुए हैं कि—जिन का पूर्णभक्ति, विश्वास एवं भावना से उच्चारण करने से उस का स्पन्दन—स्फुरण हरएक जड़चेतन पदार्थ पर आघात करके उस का आकर्षण कर लेता है। इस आकर्षण का स्पन्दन Vibration वायु में प्रसार पाता है। जैसे पानी के होज़ में या तालाब में पत्थर की कंकरी डालते ही एक प्रकारकी आकर्षणशक्ति उत्पन्न होकर एक के पीछे एक गोलाकार स्पन्द बनकर सीमा तक पहुंचने की क्रिया करते हैं, वैसे ही विचारों का केन्द्रीभवन होके जिस पदार्थ पर वे जा गिरते हैं, उसे आकर्षित करके प्रचलित कर देते हैं। पदार्थों का प्रचलित होना ही कार्यसिद्धि की प्रथमावस्था है और प्रचलित पदार्थ अर्थात् गतिमान् पदार्थ

के उत्क्रान्ति नियम के अनुसार मूर्त्तस्वरूप वनने में किसी प्रकार की शंका ही नहीं है। मंत्रों के अक्षर अक्षर, शब्द शब्द एवं वाक्य वाक्य में क्या भरा हुआ है—वे ही वातें हैं कि "ऐसी ऐसी घटनायें वनें" उन्हें जैसे जैसे दृढ़ विश्वास और पूर्णभक्ति के साथ इष्ट के ध्यान एवं अर्थसहित उच्चारण—जप—करते जाते हैं वैसे वैसे स्पन्दन का आकर्षण ज़ोरदार होता जाता है—इसलिये उन अक्षर, शब्द और वाक्यों का असर वहुत जल्द दिखाई देता है। अनियमित, ध्यानरहित एवं अर्थशून्य मंत्र की सिद्धि नहीं होती—अर्थात् ऐसे एक लाख मंत्र जपने की अपेक्षा उपर्युक्त पद्धति के अनुसार एकवार ही जपा हुआ मंत्र अधिक शक्तिमान्, पूर्णसामर्थ्ययुक्त एवं वड़ा प्रभावशाली होता है। महात्मा मुहम्मद का भी कहना है कि—लगातार वर्षों के वज़ीफ़ा पढ़ने से, ध्यानधारणा करके एक प्रहर का ही वज़ीफ़ा पढ़ना अधिक लाभकारी है। प्राचीन काल में हमारे ऋषिमुनियों की यही शापानुग्रहशक्ति थी और इन्हीं वैज्ञानिक शक्तिपूर्ण अक्षर, शब्द, वाक्यों द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को प्राप्त करते थे। अष्टसिद्धि नवनिधि उन के वशीभूत थे—जिस से उन का सर्वतोपरि अनुशासन था। वड़े वड़े राजामहाराजा चक्रवर्त्तियों को उन की आज्ञा माननी पड़ती थी एवं घने जंगल में रहकर भी जगत् पर अधिकार रख कर अपनी इच्छा के अनुसार सव कुछ कर सकते थे।

आजकल रसायन शाला में प्रयोग द्वारा विचारशक्ति

का पता लगाया गया है। विचारों की आकृति और वर्ण अर्थात् द्रव्यस्वरूप है यह सिद्ध हो चुका है। विद्युत्, लोहचुम्बक आदि शास्त्रों के समान विचारशास्त्र भी बना है। जिस से विचार का बलाबल, गुणावगुण एवं गम्यागम्यभाव प्रतीत हो सकता है। जैसे कपूर, कस्तूरी, हींग, गुलाब, ख़स आदि, या इत्र रुह्, या पुष्पपत्र आदि पदार्थों के चारों ओर सुगन्ध व्याप्त रहता है वैसे ही मनुष्य के शरीर के चहुं ओर विचार का जाल फैला रहता है। अर्थात् प्रतिक्षण पसरते हुए उक्त पदार्थों में के सुगन्ध के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजःकणों के समान मनुष्य के दिमाग़ में से प्रतिक्षण निकलनेवाले विचारों के अत्यन्त सूक्ष्म रजःकणों का यह द्रव्यांश है। इस द्रव्यांश में भिन्न भिन्न रंग एवं रूप हैं। विचारों के अनुसार उन की रंगरूपाकृति होती है एवं जैसे जैसे विचारों का परिवर्त्तन होता है वैसे वैसे रंगरूप का भी परिवर्त्तन होता है। साधक या अभ्यासी सूक्ष्म दृष्टि द्वारा इन को देख सकता है। विचारों के सदृश रंगरूप—शुभ्र, सुन्दर, मधुर, तेजस्वी या भयंकर, कृष्ण, वीभत्स होते हैं। योगी इन्हीं रंगरूपों को देख कर विचारों को जान सकता है। योगियों के लिये तो विचार का रंगरूप जानना कोई कठिन बात नहीं है किन्तु अब पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विचार के रंगरूप का भलीभांति पता लगाकर उन के प्रत्यक्ष फ़ोटो भी ले लिये हैं। फ़ोटो की सेट को डार्क रूम—अंधेरी कोठड़ी में धोया करते हैं। पेरिस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० बेरुडक Dr. Baruduc किसी फ़ोटो की सेट धो रहे थे। सेट

फ़िक्स होजाने पर उन्हों ने देखा तो उस पर दूसरा एक धुंधला चित्र नज़र आया। बहुत ही अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ कि—यह उक्त डाक्टर ही के विचारों का चित्र है। उस पर से उन्हों ने आगे प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि विचारों की आकृति है। इसी प्रकार एक वैज्ञानिक पाश्चिमात्य ने एक वाष्पपूरित कमरे में बहुत से मनुष्यों को कुछ देर बैठाकर उन के शरीर में के घर्मस्राव की रासायनिक परीक्षा की। जिस से स्पष्ट विदित हुआ कि—अमुक मनुष्य क्रोधी है, अमुक मनुष्य दीर्घद्वेषी है, एवं अमुक मनुष्य कामी है इत्यादि। येही बातें उन मनुष्यों के मुख की लाली की परीक्षा पर से भी विदित हुई—यह भी विचारों ही का परिणाम है। यही बात वाशिंगटन के प्रो० एल्मर गेटस् Pro. Elmer Gates ने अन्य प्रकार से सिद्ध की है। उन्हों ने भिन्न भिन्न आवेशयुक्त मनुष्यों के शरीर का निरीक्षण करके सिद्ध किया है कि—विचारभिन्नता के अनुसार मनुष्य के शरीर में भिन्न भिन्न रासायनिक क्रिया होती हैं। एक अत्यन्त आवेशयुक्त मनुष्य का श्वास उक्त प्रोफ़ेसर महाशय ने एक कांच की ठंडी नली में लेकर उस का घनीभाव होजाने पर रासायनिक क्रिया से उस का पृथक्करण किया। वैसे ही एक अत्यन्त विनययुक्त मनुष्य का श्वास वैसी नली में लेकर घनीभाव होजाने पर उस का पृथक्करण किया तो, साफ़ मालूम हुआ कि दोनों के गुणरूप में महदन्तर है। एवं उस का परिणाम भी भिन्न भिन्न है। परोपकारी पुण्यशील साधुचरित्र मनुष्य के श्वास का घन-तत्व एक सूकर के शरीर में डाला गया तो उस को कुछ

भी हानि नहीं पहुंची और दुष्ट, द्वेषी, दुराचारी मनुष्य के श्वास का घनतत्व उसी सूकर के शरीर में डाला गया तो वह तत्काल मर गया! इस पर से जगत् में बुराई भलाई क्या है—इसका ठीक परिचय हो सकता है।

विचार की आकृति का रंग उस के गुणानुसार होता है, आकृति की प्रतिकृति जाति के अनुसार होती है एवं उस का मूर्त्तस्वरूप विचारस्पष्टता के अनुसार होता है। विचारक के शरीर, क्रिया एवं गुणधर्मदर्शक विचार की आकृति तीन प्रकार की होती है एवं उन का निरीक्षण बहुत ही बोधप्रद और मनोरंजक होता है। **मिसेस एनी बेसेन्ट** लिखती हैं कि—स्वार्थी लोभी विचार की आकृति लंबी अंगुली या शेर की मूंछ के बाल के समान होती है—मानो किसी का माल लूटने के लिये तत्परसी दिखाई देती है। उस आकृति पर काले नीले धब्बे होते हैं—उस से जान पडता है कि वह अपने दुष्ट विचारों की सिद्धता में पूरा प्रयत्न कर रहा है। ईर्ष्या एवं असूया के विचार की आकृति पर भी चित्रविचित्र धब्बे रहते हैं और उस का प्रयत्न भी उसी प्रकार रहता है। क्रोध असूया के मिश्र विचारों की आकृति काले बादलों के समान होती है और उस में से क्रोध के परमाणु बिजली के कणों समान चमकते हुए नज़र आते हैं। द्वेष, विरोध, त्रास, बुराई के विचार की आकृति—बदला लेनेवाले कृष्णसर्प के समान मुंह फाड़े हुए दिखाई देती है। विषयवासना के विचार की आकृति सड़े हुए मांस के समान क्षण क्षण रंग बदलनेवाली होती है। भय के विचार की आकृति—सिंहाकार

अति चंचलता से आक्रमण करनेवाली प्रतीत होती है। क्रोधयुक्त वैर का वदला लेने के विचार की आकृति अति तीक्ष्ण खंजर के समान होती है। जुएवाज़ी के विचार की आकृति ग्लानियुक्त काले वादलवाली—जिस पर स्वार्थवृत्ति के पीछे, धूसर, मैले धव्वे एवं भयवृत्ति के नीले हरे धव्वे रहते हैं—इस के मध्य में सिन्दूरवर्ण का वर्त्तुल स्पष्ट दिखाई देता है। यह वर्त्तुल प्रतिकूल प्रारब्धवाले को वहुत क्रोध और रोष दिखाता है। इस वर्त्तुल में दूसरा एक काले रंग का वर्त्तुल होता है वह हारे हुए मनुष्य के धन हरण करनेवाले का धिक्कार प्रदर्शित करता है। अन्य का सर्वस्व हरण करनेवाले पशुवृत्ति के विचार की आकृति व्याघ्र के नखोंसमान तीक्ष्ण, एवं भयंकर दुःस्वप्न जैसी होती है। ऐसी आकृतियों को देख सुन कर हृदय कंपित होता है और एकदम ऐसे विचारों का त्याग करने के लिये प्रवृत्ति होती है।

अव देखिये—शुभविचारों की आकृति गुण कैसे सुन्दर सुहावने होते हैं—स्वार्थत्याग के विचारों की आकृति प्रफुल्लित कमल के समान होती है और उस का रंग ठीक आस्मानी होता है। ऐसी पूर्ण आकृति उच्चविचारविकसित मनुष्यों ही में प्रकाशित होती है। प्रेम, शान्ति, अभय, आशीर्वाद, परोपकार आदि शुभविचारों की आकृति मनोहर गुलावी रंग के पंखोंसमान तेजस्वी सुन्दर पीले छींटेवाली होती है और वह विचारों के अनुसार इष्टव्यक्ति का संरक्षण करती है। अकस्मात् आनेवाले आवेश के विचारों में आकृतियों का क्षण क्षण में परिवर्त्तन होता

रहता है । मैत्री, प्रेम, वात्सल्य के विचारों की आकृति-जैसे माता वात्सल्यभाव से अपने वालक का चुम्वन लेती है उस समय की आकृति सजीव किरमिजी रंग की कुंडलाकार वन कर उस वालक के चहुं ओर फिरती हुई नज़र आती है। वैसे ही मैत्री, करुणा, प्रेम, आशीर्वाद की आकृति-गुलावी लोहचुम्वक के समान प्रेमपात्र-व्यक्ति के पास दौडती हुई जाती है-उस वक्त उस का आकार तीर के समान होता है । मन्दिर में प्रार्थना करने के लिये जिस वक्त मनुष्य इकठ्ठे होकर उन के विचार ईश्वर में लीन होते हैं तव, विचारों के सम-भाव का एकीकरण होजाने पर मन्दिर की छत पर सुन्दर सुदर्शन चक्र के समान तेजस्वी आकृति खूव ज़ोर से घूमती हुई देख पड़ती है। यदि उन में कोई तत्व-ज्ञानी महात्मा होता है तो उस के विचार की सुन्दर आसमानी रंग की वर्त्तुलाकार आकृति जिस के चहुं ओर सुवर्णकिरण का परिवेश Halo होता है-वहुत ही मनो-हर सव को आकर्पण करनेवाली नज़र आती है । जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छावाले विचार की आकृति-पीले केशवाली, शीशी की डाट खोलनेवाले स्क्रू के समान पेंचदार होती है । ज्ञातक विपय के सरलकाठिन्यानुसार या जिज्ञासु की शिथिल तीव्रवृत्ति के अनुसार वह आकृति वड़ी छोटी, मन्द तीव्र वनती है । विविध मन्द तीव्र पीला रंग वुद्धि सूचित करता है । आसमानी रंग धार्मिक-वृत्ति सूचित करता है । नीललोहित रंग प्रेमभक्ति सूचित करता है । गुलावी रंग मैत्री, करुणा, वात्सल्य सूचित

करता है। नारंगी रंग अभिमान या महत्वाकांक्षा सूचित करता है। हरा रंग सर्वत्र अनुकूलता सूचित करता है। काला रंग द्वेष, ईर्ष्या, भय सूचित करता है। लाल रंग नानाप्रकार की विषयवासना सूचित करता है। वादामी रंग लोभतृष्णा सूचित करता है। भूरा रंग स्वार्थवृत्ति सूचित करता है एवं शुभ्र प्रकाशमय रंग परमात्म जीवनवृत्ति सूचित करता है।

ये ऐसी विचार की आकृति, गुण, रूप आदि हमें कभी क्यों नहीं दिखाई देती—इस का कारण यह है कि—हमें आकाश शून्य दीखता है किन्तु वह वैसा नहीं है। वहां कणभर भी शून्यता नहीं है, सर्वत्र चैतन्य भरा हुआ है। वह परिपूर्ण है। विचारों के अनुसार चिदाकाश के परमाणु संकोच विकास पाते हैं। प्रकृति का अटल नियम है कि—क्रिया के साथ प्रतिक्रिया भी होती रहती है एवं उस में आकर्षणशक्ति का भी वैसा ही क्रम रहता है। भूमि में वीज पड़ कर जल का संयोग होते ही अंकुर पैदा होता है—उसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं किन्तु वह क्या क्रिया है कि जिस से अंकुर वनता है—हम मुतलक़ नहीं जान सकते, क्योंकि वह अज्ञेय है—उसी प्रकार हम विचारों के अंकुर को जान सकते हैं किन्तु उन की उत्पत्ति को नहीं जान सकते—क्योंकि उन की उत्पत्ति और परावर्त्तन अज्ञेय हैं। विचारपरिशीलन में देखने से ज्ञात हो जायगा कि—अभ्यास द्वारा उस का परावर्त्तन जाना जा सकता है। विचारसंक्रमण को जबतक हम नहीं जान सकते, तबतक हम विचारों की

आकृति, गुण, रूप कैसे जान सकते हैं? विचारशक्ति की अनन्त लीलाओं को जानने, देखने के लिये हमें दिव्यज्ञान एवं दिव्यदृष्टि प्राप्त करना चाहिये। यह बात निर्विवाद है कि—पंचतत्वों के भिन्न भिन्न आकृति रंगरूप हैं और वे बहुत ही अल्प अभ्यास से प्रत्यक्ष हो सकते हैं तो—विचारों की आकृति, रंग, रूप का प्रत्यक्ष होना कुछ असंभव नहीं है। पाश्चात्यों ने तो विज्ञान द्वारा इस का पता लगा कर फ़ोटो द्वारा प्रत्यक्ष कर दिखाया है। उक्त डा० वेरुडकने लिखा है कि मनुष्य जैसे जैसे विचारशक्ति को दृढ़ करके अपनी चित्तभित्ति पर चित्र अंकित करता है वैसे वैसे चित्र फ़ोटो में उतर आते हैं। एक सेनाध्यक्ष फ़ोटो लेते वक्त अपने पाले हुए पक्षी पर दृढ़ लक्ष्य लगाये हुए था—उस की सेट पर उसी पक्षी का धुंधला चित्र देख पड़ा। वैसे ही एक स्त्री का वालक मर गया था उस के फ़ोटो की सेट पर भी उस वालक का चित्र प्रकट हुआ।

मनुष्यमात्र के मस्तिष्क में विचारशक्ति का केन्द्रस्थल है, उस में से विचार निकल कर मनुष्य के चहुं ओर फैलते हैं और उन के वातावरण का एक तेजोवलय किरण-वर्तुल वनता है। वह मनुष्य के चारों तरफ़ दो दो फ़ुट घिरा हुआ रहता है। सेन्ट टामस् हास्पिटल लंडन के भूतपूर्व विद्युच्छास्त्री और केम्व्रिज के डाक्टर किल्नेर W. J. Kilner, B. A., M. B. ने अभी एक नई पुस्तक ह्युमन एटमोस्फ़ेर Human Atmosphere नामक वनाई है, उस में उन्हों ने वहुत ही प्रयत्न के साथ प्रयोगों द्वारा Aura तेजोवलय का अनुसन्धान करके रासायनिक क्रिया

द्वारा उस को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। उन्हों ने डायग्नोसिस शीटस् और डायसिआनिन् स्क्रीन्स् Dignosis Sheets and Dicyanine Screens अर्थात् तेजोवलय देखने के लिये कांच पर रासायनिक मिश्रण लगा कर तख्तियां तैयार की हैं, जिस से मनुष्य के चहुं ओर रहनेवाले तेजोवलय सहज और स्पष्ट दीख सकते हैं। यह उन की पुस्तक उक्त शीटस् और स्क्रीन्स के साथ वम्बई में मिल सकती है। डाक्टर किल्नेर अनुभव के साथ इस का विधान यों भी वताते हैं कि—"दो स्वच्छ कांच के पात्रों में डायसिआनिन् Dicyanine नामक नीले पदार्थ से मिले हुए पानीको भर कर एक पात्र के पानी में से कुछ समय तक वाहर प्रकाश की ओर देखते रहने पर तत्काल ही दूसरे पात्र के पानी में से अंधेरे में वैठे हुए मनुष्य की ओर देखा जायगा तो उस के शरीर के चारों ओर कुछ अन्तर पर दो प्रकार के तेजोवलय दिखाई देंगे। इन तेजोवलयों की चौडाई अनुमान ६ इंच होती है और उन से सारा शरीर वेष्टित रहता है। विशेषता यह है कि उस की आकृति पुरुषों में, स्त्रियों में, एवं रोगियों में भिन्न भिन्न प्रकार की दिखाई देती है।" अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० पेट्रिक ओडोनेल ने इसी प्रकार की स्क्रीन्-तख्ती द्वारा अनेकवार तेजोवलय का स्वयं अनुभव लेके अनेक डाक्टरों को उस का परिचय दिलाया था। किन्तु अभी इस वात का अनुभव लेना वाकी था कि—यह Aura मृत मनुष्य के भी चहुं ओर घिरा हुआ रहता है या नहीं और इस का चैतन्यशक्ति के साथ

भी कुछ संवन्ध है या नहीं—एक दिन शिकागो के मर्सी हास्पिटल में उन्हें मालूम हुआ कि—एक मरीज़ थोडे ही मिनट में मरनेवाला है। उसी वक़्त उन्हों ने वह रासायनिक तख़्ती लगाई और वे देखने लगे तो बीमार के चारों ओर वही Aura स्पष्ट दिखाई देने लगा। जैसे जैसे बीमार की चेतनशक्ति नष्ट होने लगी वैसे वैसे ओरा अस्पष्ट होने लगा और दूर दूर दिखाई देते देते उस के प्राणोत्क्रमण के साथ ही वह गुम होगया।

सर डेविड ब्रूस्टर ने ऐसे तेजोवलय देखने के लिये एक युक्ति निकली है कि—"एक कांच की तख्ती रासायनिक नमकों द्वारा साफ़ करके उस की एक ओर साफ़ की हुई फिटकरी की पपड़ी लगा दी जाय और दूसरी ओर से—प्रकाश के माप में मनुष्य को रख कर—उस में से देखा जाय तो ख़ूब दृष्टि जमने पर मनुष्य के चहुं ओर तीन तेजोवलय दिखाई देंगे। पहिला शुभ्र, दूसरा आस्मानी लाल और तीसरा चित्रविचित्र कुछ कुछ अन्तर पर देख पडेंगे।" यह वात हमारे यहां नई नहीं है। हमारे देवता एवं महात्माओं के चित्र देखो, उन के मुखके चहुं ओर वही किरणों का वलय निकाला जाता है। इस का वहुत कुछ विवेचन हमारे ऋषिमुनियों ने किया है। मंडल ब्राह्मणोपनिषत् तथा अद्वैत तारकोपनिषत् के देखने से उस का सब तत्त्वज्ञान हो जायगा।

छान्दोग्य उपनिषत् में कहा है कि—"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।" इस लोक में यज्ञ करने-

वाला मनुष्य निश्चय यज्ञरूप होता हैं एवं वैसा का वैसा वह परलोक में रहता है। अर्थात् विचारशक्ति द्वारा विचारों के सदृश बन जाता है। इसी प्रमेय को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में सूत्रबद्ध कर रक्खा है–"यो यच्छ्रद्धः स एव सः" जो जिस श्रद्धा–भावना में तन्मय है–वह वही है–अर्थात् वह श्रद्धा–भावना का स्वयं स्वरूप बन जाता है। इसी का अनुवाद महात्मा ईसा ने किया है कि "Just as a man thinks so he is, or so he becomes." जैसा मनुष्य विचार करता है वह वैसा है या वैसा बन जाता है। इस्राएल के बादशाह ने कहा है कि–"What a man thinks on that he becomes; therefore think on the Eternal." जिस प्रकार मनुष्य विचार करता है वह वैसा होता है इसलिये सनातन तत्त्व का विचार करो। और "As he thinketh in his heart, so is he." जैसा वह अपने हृदय में विचार करता है वैसा ही वह है। अर्थात् विचार से ही मनुष्य का चरित्र बनता है और उस के जीवन में उस चरित्र ही का शुभाशुभ परिणाम दृग्गोचर होता है।

पाश्चात्य पंडितों द्वारा इस का अब हमें प्रत्यक्ष प्रमाण मिल रहा है। "बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्" इस न्याय के अनुसार उन के प्रत्येक अक्षर, शब्द एवं वाक्य का अवलोकन करना चाहिये। हम तो मुक्तकंठ उन्हें धन्यवाद प्रदान करते हैं कि–हमारी ही यह विद्या क्यों न हो–उन्हों ने उसे नवीन रूप देके हमें सचेत किया है। मि० हारनु-

द्वारा Hashnu Hara कि जिन्हों ने 'मेन्टल अल्केमी रोड टु सक्सेस' 'प्राक्टिकल सायकोपेट्री' 'बिझिनेस सक्सेस' 'ह्युमन ओरा' आदि कई पुस्तकें लिख कर जगत् का बड़ा उपकार किया है। वे अपने 'प्रेक्टिकल योग' में लिखते हैं कि—"New thought and suggestion are based upon the same theory, indeed they have probably borrowed it from Yoga." नये विचार और भावना उसी उपपत्ति पर स्थिर किये गये हैं, और यह सच है कि वहुधा योग ही से उन को लिया गया है। वैसे ही मि० डिम्स्डेल स्टोकर R. Dimsdale Stoeker जो कि 'टेलिपथी' 'सोलकल्चर' 'क्लेयरव्हायन्स' 'मेन्टेलिज्म' 'फ्रेनोमेटरी' 'हीलिंग' आदि पुस्तकों के कर्त्ता हैं उन्हों ने भी अपनी 'योग मेथड' पुस्तक में लिखा है कि—"It is merely a revival of the old, old thought. Truly it has been said history repeats itself. The only new thing about "new thought" is its name." यह केवल पुराने का रूपान्तर पुराना विचार है। वास्तव में स्वयमेव इतिहास इस की पुनरावृत्ति करता है। इस में नई वात केवल 'नया विचार' इस नाममात्र ही में है। इस पर से उन की उदारता का भी परिचय होता है। खाली हमारे कणमात्र ही से उन्हों ने पर्वत वना डाला है—इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि उस का प्रेमपूर्वक निरीक्षण करके फिर हम अपने पूर्वजों के समान 'कर्त्तुं, अकर्त्तुं, अन्यथा कर्त्तुं—शक्तिशाली वनें। पाश्चात्यों ने कोई विचारशक्ति नई कहीं से लाई नहीं या उत्पन्न की नहीं। उस की उत्पादक सत्ता सर्वत्र समान है। हमारे उपनिषत् शास्त्र आदि के

कहने के अनुसार उस सत्ता का विकास करना हमारे ही हाथ है। आन्तर जगत् द्वारा ही वाह्य जगत् वना है तो, वही उत्पादकशक्ति हम में भी विद्यमान है। आन्तर वाह्य जगत् बीजवृक्ष न्याय अभेद हैं। कोई भी जड़चेतन पदार्थ पहिले आन्तर जगत् में बीजरूप वन कर फिर वाह्य जगत् में उस का मूर्त्तस्वरूप वनता है। इस का एक अल्पसा व्यापक उदाहरण देखिये—फ़ोटोग्राफ़र—स्टुडियो—स्थल विशेष वना कर केमेरा स्टेन्ड पर रख कर उस पर काला कपड़ा डालता है और फ़ोटो उतरनेवाले पदार्थ को सामने रख कर केमेरेके कांच पर उस का फ़ोकस अर्थात् प्रतिबिम्ब ठीक जमाता है। अनन्तर केमेरा में प्लेट रख कर लेन्सं का मुंह खोलते ही एकाध सेकण्ड ही में प्लेट पर फ़ोटो उतर आता है। उस प्लेट को डार्करूम अर्थात् अंधेरी कोठरी में ले जाके रक्तदीपक के किरणों में डिवेलप करके—औषधियों द्वारा, धोके स्थिर करता है फिर उस प्लेट पर से फ़ोटो की चाहे जितनी कापियां हो सकती हैं। वैसे ही स्टडियो—स्थल विशेष-चिदाकाश वहां और यहां एकसा है। केमेरे हमारा मस्तिष्क है, वह हमारे पैर-स्टेन्ड पर रक्खा हुआ है, उस पर काले केसों का पडदा पड़ा हुआ है, फ़ोटो उतरनेवाले अनेक पदार्थ सामने हैं ही—चित्त कांच पर फ़ोकस अर्थात् पदार्थों का प्रतिबिम्ब चाहे जैसा ठीक जम सकता है। विचारशक्ति प्लेट है, वह हमारे मस्तिष्क केमेरे में रक्खी हुई है। विचारों का केन्द्रीभवन लेन्स है उस का मुंह खुलते ही तत्काल विचारशक्ति पर चित्र अंकित हो जाता है। उसे डार्क रूम अर्थात् रात्रि के आरंभ,

मध्य एवं उत्तर भाग के अंधकारही में आरक्त तेजोमय आत्मज्योति के प्रकाश में इन्द्रिय संयमशक्तिरूप औषधि द्वारा डिवेलप करके स्थिर कर सकते हैं–फिर उस विचार-शक्ति प्लेट पर से चाहे जितनी फ़ोटो की कापियां वन सकती हैं। यहां इस वात का पूरा स्मरण रखना चाहिये कि फ़ोटो लेते वक्त अगर पदार्थ हिल जाता है तो, उस का चित्र ठीक नहीं उतरता–इसलिये इन्द्रियों द्वारा लक्ष्य पदार्थ को विलकुल स्थिर करना चाहिये तव कहीं विचार का सुन्दर स्पष्ट चित्र अंकित होता है। अव ऐसे चित्र डाक्टर वेरुडक मायर, एलमेर गेटस् आदि ने अपने ग्रन्थों में अंकित करके प्रत्यक्ष कर दिये हैं, इस पर भी मि० जेम्स कोटेभ्क ने कमाल की है कि उस ने मृत मनुष्य के शरीर के यथावत् फ़ोटो लेके जगत् को आश्चर्य में डाल दिया है। इन सव का परिचय–Man visible and invisible, Thought forms, Human Atmostphere और Photographing the Invisible. नामक पुस्तकों द्वारा हो सकता है। सार यही है कि–विचारशक्ति का तीव्र वेग संस्कारात्मक, गुणात्मक एवं द्रव्यात्मक होके भावनात्मक, संवेदनात्मक एवं क्रियात्मक होते ही उस का चित्तभित्ति पर आघात होकर चित्रविचित्र चित्र खिंच कर उस का मूर्त्तस्वरूप प्रत्यक्ष होता है और वह उक्त छान्दोग्य उपनिषत् की उक्ति के अनुसार परलोक में भी क़ायम रहता है।

विचारचित्रों के समान यह भी सिद्ध हो चुका है कि–विचारों में जैसी पदार्थों के आकर्षण करने की शक्ति है

वैसी ही उन में सजातीय—समान विचारों के आकर्षण करने की शक्ति है। चाहे कोई जानें या न जानें—बाह्य एवं आन्तर जगत् के समान विचार आप ही आप आकर विचारों में संमिलित होते हैं और उन्हें सबल या निर्बल करके कार्यतत्पर या कर्मरहित बना देते हैं। यह इतना अटल नियम है कि इस का प्रवाह कभी नहीं रुक सकता। इस का ज्वलन्त प्रमाण—गुम्बज़, दर्रे आदि की प्रतिध्वनि के समान—किसी का हम बुरा भला चाहते हैं तो वही समान विचार अवरुद्ध होकर पीछा फिर के हमारा ही बुरा भला होता है। "Like attracts like" समान को समान आकर्षित करता है, इस तत्व के अनुसार हमारी ध्वनि अवरुद्ध होकर उसकी प्रतिध्वनि पीछी हमारे ही निकट आती है—अर्थात् बुरे भले विचारों का समान विचारों के साथ हम में परावर्त्तन होके हम स्वयं उस बुराई भलाई का अनुभव लेते हैं। जब ऐसा है, तो विचारों पर हमें पूरा अधिकार रखना चाहिये। अखण्ड चैतन्यस्वरूप परमात्मा के अखण्ड चैतन्यपरमाणु हम में प्रतिबिम्बित हैं—इतना ही नहीं, हम में भी वही अखण्ड परमाणुभूत चैतन्य विराजमान है, जिस के द्वारा हम परमात्मस्वरूप बन सकते हैं—इसीलिये भगवान् वासिष्ठ ने कहा है कि—"अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमव्ययः। नास्ति भूतं च नो भावी मत्तोऽन्यदिति भावय ॥" मैं यह सर्व जगत् हूं, मैं अव्यय परमात्मा हूं, भूतभविष्य मुझ सिवा अन्य कुछ नहीं है। ऐसी भावाना करो। इस का अर्थ क्या है? उस अमर्याद अनन्त परमात्मरूप में हमारा

समर्याद सान्तरूप—एकरूप हो जाय—अर्थात् हमें परिपूर्ण दैवीविचारशक्ति द्वारा मर्यादा को तोड़ कर अमर्याद होना चाहिये। एवं उन दैवीविचारों का निरन्तर प्रवेश होने के लिये हृदय के कपाट पूरे खोल कर अनन्त होना चाहिये। सुतरां आसुरी विचारों को हटा कर वहां दैवी-विचारों का पूर्ण संचय करके दैवीसम्पत्ति का लाभ करना चाहिये। एवं हमारे आचरण में, विचरण में और अनुकरण में पद पद उस का अनुभव आना चाहिये। जैसे जैसे दैवीसम्पत्ति का हमारे विचारों में उदय होगा वैसे वैसे हम ज्ञानी, सुखी, शान्त, सानन्द, सोत्साह, निरोग, वलवान् एवं ऐश्वर्यवान् होंगे। दैवीसम्पत्ति क्या है—इस का परिचय आगे होगा। वैसे ही आत्मविवेचन देखने पर ज्ञात हो जायगा कि—आन्तर वाह्य जगत् में आत्मा सर्वत्र समान भरी हुई है। उस के परमात्मा एवं जीवात्मा दो विभाग हैं—किन्तु हैं एक ही। फिर भेद और भिन्नता क्या है—जो हम अपने शरीर में वुरे विचारों को भर कर अपना अमूल्य एवं दुर्लभ जीवन व्यर्थ कर लें?

अव ये वुरे भले विचार मनुष्य या सचेतन पदार्थों में ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं है—प्रत्येक जड़चेतन, दृश्यादृश्य पदार्थ में उत्पन्न होते हैं। उन का हमें अनुभव नहीं होता, क्योंकि उत्क्रान्ति परिणाम का यह अटल नियम है कि—सूक्ष्म में जो ज्ञानावस्था होती है वह स्थूल में नहीं होती—इसलिये जव तक हम अपने विचारों को सूक्ष्म नहीं करेंगे तव तक हम दैवीसम्पत्ति के अधिकारी नहीं हो सकते। हमारी दृष्टि संकुचित है जो निर्धारित सीमा के वाहर के

पदार्थों को नहीं देख सकती—इसलिये उसे सीमापार करने के लिये दूरबीन आदि यंत्रों की सहायता लेनी होती है—वैसा विचारों के लिये नहीं है। विचार सूक्ष्म एवं स्थिर करने के लिये किसी यंत्र की जरूरत नहीं है। खाली उस पर लक्ष्य लगा रखना ही पर्याप्त है। विचारों के दृढ़भाव की शक्ति प्रचण्ड है किन्तु उस में यत्किंचित् भी संशय आ घुसा तो फिर वह कुछ चीज नहीं। कार्यसिद्धि तो दूर—उलटे हम एक अन्धकारपूर्ण गढ़े में जा गिरते हैं और उस में से निकलना दुश्वार हो जाता है। यदि विचारों में संशय का लेश भी नहीं है और वे निष्कम्प स्थिर हैं तो, हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि वह शक्ति इन्द्र के वज्रसमान अकुंठित, अमोघ, सर्वतोगामी एवं सर्वसाधक है, इतना ही नहीं—इन्द्र पर भी अधिकार कर देती है! इसी विचार-सूक्ष्मता से आज यूरोप अमेरिका विज्ञान की प्रशस्त लीलाभूमि बन रहें हैं। उन के सब आविष्कार आन्तर जगत् की सूक्ष्म विचार भित्ति पर अनन्तकालपूर्व अंकित थे। उधर पूर्णलक्ष्यबोध होते ही उन का मूर्त्तस्वरूप होके आज तार, आगगाडी, आगबोट, विमान, फ़ोटोग्राफ़ी, फ़ोनोग्राफी, टेलीफ़ोन, बेतार का तार, विद्युत्प्रकाश, विद्युत्ट्राम, विद्युद्व्यजन आदि सहस्रों आविष्कार हम देख रहे हैं और आगे कितने ही देखेंगे—इस में कुछ भी संशय नहीं।

विचार, श्वास एवं कार्य ये तीनो पदार्थ एक ही हैं। विचार यह कार्य है एवं कार्य यह विचार है। वैसे ही श्वास का लेना विचार का करना है और विचार का करना

श्वास का लेना है। विना विचार के मनुष्य श्वास नहीं ले सकता और विना श्वास के मनुष्य विचार नहीं कर सकता। विचार की शक्ति अपरिमित है, विचार की शक्ति अप्रतिहत है एवं विचार की क्रिया अपरिज्ञात है। विचार ही हमारा जन्म, जरा, मृत्यु है, विचार ही हमारे माता-पिता हैं, विचार ही हमारे बन्धुभगिनी हैं, विचार ही हमारे स्त्रीपुत्र हैं, विचार ही हमारे इष्टमित्र हैं, विचार ही हमारे गुरु, तत्वदर्शी, उपदेशक हैं, विचार ही धनमाल ख़ज़ाना हैं, विचार ही ज्ञान, विज्ञान, विद्या हैं, विचार ही वेदशास्त्र पुराण काव्य हैं, विचार ही उद्यम, कलाकुशलता सब कुछ हैं। विचार के विना हम क्षणभर नहीं जी सकते, विचार के विना हम कुछ नहीं कर सकते एवं विचार के विना हम कुछ नहीं बन सकते। जगत् पर विचार का अटल साम्राज्य है, जगत् पर विचार का दुर्लंघ्य अनुशासन है, जगत् पर विचार का परिपूर्ण अधिकार है एवं जगत् पर विचार की सर्वतोपरि सत्ता है।

२–विचारसंयम।

विचार का संयम–संयम शब्द में 'यम्' धातु है–जिस को 'सम्' उपसर्ग लगाने से 'संयम' शब्द बना है। 'यम्' धातु का अर्थ–निग्रह करना अर्थात् किसी पर अधिकार जमा लेना है और 'सम्' उपसर्ग का अर्थ–समुच्चयता सूचक है–सुतरां 'संयम' शब्द से यही अर्थ निकलता है कि–किसी पदार्थ या विषय पर लगातार विचारों का स्फुरण होता रहे अर्थात् विचार वहां तन्मय तदाकार हो जांय। एकाग्रतापूर्वक पदार्थ या विषय पर

विचारों की अचल सन्निहित स्थिति—यही 'विचारसंयम' है। हरएक मनुष्य का 'विचारसंयम' आप ही आप होता रहता है। किन्तु वह संयम यदि, ज्ञानपूर्वक नियमवद्ध होगा तो, उस का सत्स्वरूप प्रकट होके इच्छानुसार फलदायी होगा। ऐसा विधियुक्त नियमवद्ध 'विचारसंयम' फलोन्मुख होते ही सत्ता एवं सामर्थ्य वढ़ कर लाभका ज्ञान होजाता है। तभी विश्वास एवं उत्साह कला का वहुत शीघ्र सम्पादन होता है। किसी प्रकार के विचार पर उत्साहपूर्वक, आग्रहयुक्त एवं हेतुपुरःसर एकाग्रता होती है तभी, उस का संयम होता है। स्फुरण होते ही इच्छाशक्ति का प्रभाव विचार पर पड़ कर संकल्प वनता है। वारंवार एक ही विषय पर विचार को अन्तर्मुख—स्थिर करना—'संकल्प' कहा जाता है। उस में किसी प्रकार का व्याघात होके विचार को वहिर्मुख—चंचल करना—'विकल्प' कहा जाता है। और उन के मिश्रण को 'संकल्पविकल्प' कहते हैं। संकल्पविकल्पों से हानि होती है एवं भिन्नार्थक संकल्पों का कभी संयम हो नहीं सकता—इसीलिये संकल्पविकल्प के त्याग के लिये सर्वत्र जोर दिया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने साफ़ कहा है कि—"नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन"। संकल्प का त्याग न करनेवाला कभी योगी नहीं हो सकता।

आकर्षणविकर्षण, कार्योकार्य, स्थितिस्थापकता आदि सव विचारशक्ति पर निर्भर हैं। हमारा जीवन भी तो विचार ही है। छटी भूमिका तक अर्थात् सविकल्प समाधि तक विचार क़ायम रहता है, क्योंकि इस समाधि

में प्रवेश करते समय—अमुक समय पर उत्थान होने का संकल्प करने से ही नियमित समय पर उत्थान होता है। विचार की दृढ़ता या कार्य का दृढ़ विचार—यह संकल्प है—इसलिये विचार ही मनुष्य का जीवन है एवं विचार-शून्यता ही मरण है। अर्थात् विचार का सद्भाव जीवन है एवं विचार का अभाव मरण है। वृक्ष का नाश होने पर भी उस का सूक्ष्मवीज क़ायम रहता है, उसी प्रकार विचार की सूक्ष्मावस्था वीजभूत रह कर मनुष्य का फिर जन्म होता है। निर्विकल्प समाधि में सूक्ष्मविचार के वीज का भी लय हो जाता है—इसलिये मनुष्य जन्ममरणरहित होकर मुक्त हो जाता है।

विचारशून्यता एवं निःसंकल्पावस्था में वड़ा भेद है। जैसे सामान्य मनुष्य के क्रोध में एवं महात्मा दुर्वासा ऋषि के क्रोध में—क्रोध का स्वरूप समान होकर भी अत्यन्त भेद है—उसी प्रकार निःसंकल्पावस्था एवं विचार-शून्यता में भेद है। विचारशून्यता अर्थात् विचारों का अत्यन्ताभाव—विचार के स्फुरण का लय हो जाना—विचार-रूप कर्म का न होना—मृत्यु है। प्रारब्धकर्म का नाश होते ही ज्ञानियों की देह छूट जाती है। निष्कर्म वा निः-संकल्प महात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि उन में विचारशून्यता नहीं होती—विचारपरिशीलन से निःसंकल्प हो जाने पर परंधाम को सिधारते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि—"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।"—जहां जाकर पीछा आना नहीं होता वही मेरा परमधाम है। विचारशून्यता में संकल्पस्फुरण का वीज रह

जाता है, क्योंकि सामान्य मनुष्य विचारसंयम करना जानते नहीं—इसलिये विचारों का मूलवीज परावाणी में विद्युत् उत्पन्न होकर दग्ध नहीं होता एवं वही पुनर्जन्म का कारण होके मनुष्य का जीवन होता है। विचार ही मनुष्य का जीवन है तो, उस के द्वारा मनुष्य चाहे जैसा अपने को वना सकता है—इसीलिये उस के संयम की आवश्यकता है।

इस स्थूल जगत् में ऐसा कोई प्राणी न होगा कि जो विनाशकारक अशुभ विचार करता हो एवं अपना वुरा चाहता हो या जान वूझ कर दुराचारी वनके पापादिकों में प्रवृत्त होता हो। प्राणीमात्र अपने निर्वाह के साधन में सुख ही की खोज में लगे रहते हैं। एवं सुखप्राप्ति के ही विचारों का संयम करते हैं—किन्तु यह विचारों का संयम अनियमित, अनुपयुक्त, अज्ञानयुक्त होने से—जैसे घड़ेभर दूध में छोटीसी एक नमक की कंकरी, या भोजन में छोटीसी एक मक्खी, या जल के होज़ में छोटीसी एक संखिया की डली पड़ते ही—वे खराव होकर मारक वन जाते हैं, उसी प्रकार विचारों में किंचिन्मात्र संशय, भय या वुराई का प्रवेश होते ही भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार उस का "संशयात्मा विनश्यति" नाश हो जाता है। वैसे ही रजोगुण के द्वारा काम एवं क्रोध उत्पन्न होके इच्छा न होने पर भी विचारमुग्ध करके मनुष्य को पापकर्म में हटात् प्रवृत्त करते हैं। अज्ञात, क्रमहीन, संक्रामक विचारों का परिवर्त्तन विद्युत् की अपेक्षा भी अधिक तीव्र गतिमान् होता है। प्रकाश का वेग एक सेकण्ड में १,८०,००० मील है,

विद्युत् का वेग २,८८,००० मील है और ऐसे विचारों का वेग २२,६५,१२० मील है। यह वेग वाह्य जगत् के विस्तार में है तो, आन्तर जगत् अर्थात् शरीर में जिस का विस्तार ६६ अंगुलमात्र है—और जहां किसी प्रकार की रुकावट नहीं कितना—तीव्र होगा, एवं उस के परावर्त्तन की क्या गति होगी—उस का पता वड़े वड़े विज्ञानवेत्ता नहीं लगा सकते तो, अज्ञानी, विचारमुग्ध उस की गति को क्या जान सकते हैं—इसीलिये उन का जीवन दुःखमय है।

यह ऐसा दुःखमय जीवन सुखमय करने ही के लिये विचारों का संयम करना चाहिये। विचार ही से शब्द की उत्पत्ति होके विचार का दृश्यरूप वनता है। शब्द के लिये वाइवल में कहा है कि—"In the beginning was the word and the word was with God, and the word was God." अर्थात् सब से पहिले शब्द था और वह शब्द ईश्वर के पास था, और वह शब्द ईश्वर था। पारसियों के यहां कहा है कि—दुनिया की पैदायश के पहिले 'अहुनवेरीय' शब्द था। हमारे यहां तो शब्द को ब्रह्म कहा है। 'शब्दब्रह्म' वेद का नाम है एवं वेदों में ॐ का अन्तर्भाव है। "ॐकार एवेदं सर्वं" ॐकार वाच्य शब्द है एवं ॐ ही सब कुछ है। अर्थात् 'ॐ' शब्द ही से सब की उत्पत्ति है। ऐसे शब्द को हम कुछ चीज़ नहीं समझते, किन्तु देखिये—उस का क्या प्रभाव है—भयंकर शब्द भयभीत करता है, करुणा शब्द रुलाता है, कठोर शब्द क्रोध लाता है, प्रिय शब्द प्रेम वढ़ाता है, विनोदी शब्द हंसाता है; मधुर शब्द प्रसन्न

करता है, असत्य शब्द निरादर करता है, सत्य शब्द प्रतिष्ठा करता है,—अर्थात् शब्द ही से हमें उच्चनीच दशा प्राप्त होती है, शब्द ही से हमें प्रेम, उत्साह, प्रशंसा प्राप्त होती है, शब्द ही से हमें भक्तिभाव ईश्वर की प्राप्ति होती है। शब्द ही से हम सब के शत्रुमित्र होते हैं, शब्द ही से हम श्रीमान्, सुखी, दरिद्री, दुःखी होते हैं, शब्द ही से हम ज्ञानी, विज्ञानी, अज्ञान, मूढ़ बनते हैं, शब्द ही से हम सब के स्वामी, गुरु, एवं पूज्य बनते हैं, शब्द ही से हम सब के दास, शिष्य एवं नाचीज़ बनते हैं, शब्द ही से हमारा बन्धन एवं मुक्ति होती है। विमाता के शब्द ही से ध्रुव को अखण्डपद मिला। शब्दमात्र ही से **गौतमबुद्ध** राज्यैश्वर्य का त्याग करके महात्मा बने। भोजाई के शब्द ही से **नरसीमहता** भक्तिभाजन बने। वैश्या के शब्द ही से **सूरदास** विरक्त बने। एवं निज स्त्री के शब्द ही से **तुलसीदास** सच्चे गोस्वामी बने। ऐसा शब्दों में प्रभाव है तो, सूक्ष्मविचारों में कितना प्रभाव होगा—विचारसंयम का सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्फुरण हिमालय जैसे महापर्वत का प्रवाही पदार्थ बना सकता है! अटलांटिक महासागर का बाष्पीभवन करके उस को सुखा सकता है! पृथ्वी के कण कण अलग करके उस को हवा में उड़ा सकता है! आकाश को निरवकाश करके महतारात्रों को नीचे गिरा सकता है! ध्रुव बालक ने राज्यलक्ष्मी प्राप्ति के लिये **सिकन्दर** या **नेपोलियन** के समान असंख्य सेनासह क्या कहीं समरभू में प्रवेश किया था? सुदामा ने श्रीकृष्णतुल्य अटूट ऐश्वर्य सम्पादन के लिये समुद्रयात्रा करके क्या कहीं

बड़ा व्यापार किया था? कौत्स ने अपने वरतन्तु गुरु को चौदह करोड धन देने के लिये क्या कहीं किसी की नौकरी की थी? रावण, वाणासुर, भीम, हनुमान् ने शारीरिक अपूर्व बल बढ़ाने के लिये क्या कहीं नटों जैसी कसरत की थी? व्यास ने क्या कहीं कालेज के बोर्डिंग हौस में रह कर अठारह पुराण भारतभागवतादि ग्रन्थ लिखे थे? पाणिनी ने क्या कहीं यूरूप अमेरिका की किसी युनिवरसिटी की ऊंची डिग्री सम्पादन करके व्याकरणरचना की थी? भगवान् शंकराचार्य ने क्या जापान में जाकर पराविद्या सीखी थी? एवं महात्मा बुद्ध, महावीर, ज़रथोस्त, क्राइस्ट, मुहम्मद ने कहां किन पाठशालाओं में जाकर विद्याभ्यास किया था?

विचार के स्फुरण में—आन्दोलन में नित्यनिरन्तर गतिरूप परमाणु भरे हुए हैं जिन का परिचय आगे दिया जावेगा। वे पदार्थों के संयोगवियोग के विधायक हैं, जगत् के घटकावयव हैं एवं कार्याकार्य के परिणामक हैं। अग्नि को शीतल कर देना, जल को पत्थर बना देना, पृथ्वी को कंपित कर देना, वायु को स्तंभित कर देना एवं आकाश को निरविकाश कर देना—यह सब उन्हीं का प्रभाव है। पृथ्वी के अणुओं से जल के अणु, जल के अणुओं से अग्नि के अणु, अग्नि के अणुओं से वायु के अणु और वायु के अणुओं से आकाश के अणु उत्तरोत्तर अधिकाधिक गतिमान् हैं—किन्तु ऊपर लिखे अनुसार सब से विचार की गति अत्यन्त अधिक है। प्रत्येक जड़चेतन पदार्थ के अणुओं में विचारशक्ति होती है किन्तु मनुष्य

में यह शक्ति सर्वतोपरि है जिस से वह सब को पादाक्रान्त कर सकता है। उस का शरीर जड़ है तोभी उस के परमाणु निरन्तर गतिमान् होने से उस का निरोध अर्थात् संचय करके वह चाहे सो कर सकता है—शरीर के परमाणु निरन्तर गतिमान् हैं, यह अब सायन्स-विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुका है।

संयम से विचारशक्ति में अमोघ, अतर्क्य, अनन्त, नित्य, महाचितिशक्ति का उदय होके साधक प्रति महेश्वर उत्पत्तिस्थितिलयकर्ता बन जाता है। चितिशक्ति अनादि शाश्वत् जगद्रूपा है। आन्तर बाह्य जगत् का मूलबीज चितिशक्ति है। चितिशक्ति ही के अस्तित्व में जगत् का अस्तित्व है। उस को प्राप्त करने के लिये मातापिता स्त्री-पुत्र गृहादिक छोड कर हिमालय की दरीगुहा शिखर पर जाने की ज़रूरत नहीं। गंगा, यमुना, नर्मदा के तीर पर जाने की ज़रूरत नहीं। घोर निबिड अरण्य में जाने की ज़रूरत नहीं। यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान जाने की ज़रूरत नहीं। स्वर्ग, मृत्यु, पाताल में—कहीं जाने की ज़रूरत नहीं एवं सब का त्याग करके अतिवेश धारण करने की ज़रूरत नहीं। उसे ढूंढने के लिये बनगिरि, नदी पर जाना वृथा है। नगरग्राम आश्रम पर जाना वृथा है एवं द्वीपद्वीपान्तर के समुद्रतट पर जाना वृथा है। ज़रा आंख खोल कर देखो हृदय का परदा हटा कर देखो, दिमाग़ को खोल कर देखो,—वह नज़दीक, बिलकुल नज़दीक, वसतिस्थान के नज़दीक,—नहीं नहीं, घर के नज़दीक—नहीं नहीं, कमरे के नज़दीक—नहीं नहीं, शरीर के नज़दीक,—नहीं

नहीं, हृदय के नज़दीक—नहीं! नहीं!! नहीं!!!—वह परिपूर्ण तुह्मारे में भरी हुई है । तुम चितिशक्ति हो एवं चितिशक्ति तुम हो । दोनों अभेदरूप हो । शक्ति—क्रियमाण, संचित एवं कृपारूप है किन्तु चिति संचित एवं क्रियारूप है किन्तु चिति अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त प्रसरणशील है । यदि वह निरुद्ध की जाती है तो उस का वेग अत्यन्त तीव्र होता है । जैसे वायु, जल, अग्नि, विद्युत् आदि को रुद्ध करने से उन में अधिक शक्ति उत्पन्न होके युक्तियुक्त उपयोग करने पर उन से चाहे सो अशक्य अतर्क्य काम ले सकते हैं, वैसे ही चितिशक्ति का निरोध अर्थात् संयम होजाने पर उन से बढ़ कर चाहे सो इच्छित काम ले सकते हैं । जन्म, स्थिति, मरण, स्वास्थ्य, आरोग्य, आयुबल, स्त्रीपुत्र, धन, महत्व, सत्ता, कीर्त्ति, विद्या, विज्ञान, ज्ञान, राज्य, राजलक्ष्मी, ऐश्वर्य, सुख, सन्तोष, आनन्द, शान्ति, मुक्ति आदि सब कुछ इहलोक परलोक चितिशक्ति से प्राप्त कर सकते हैं ।

विचारशक्ति का—योगविद्या के अनुसार धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा संयम किया जाय तो—उपर्युक्त परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के अनुसन्धानानुरूप वाच्य एवं वाच्यार्थ तथा शब्द एवं शब्दार्थ का एकीकरण होके प्रतिभाशक्ति उत्पन्न होकर बहुत शीघ्र संयम हो सकता है । जैसे प्रथम तीर या बन्दूक़ चलानेवाला दीवार, झाड, पत्थर आदि मोटे पदार्थों पर लक्ष्य जमा कर निशान मारते मारते बारीक से बारीक, पदार्थों का वेध कर सकता है । इसी प्रकार साधक प्रथम साध्य अर्थात् जो कुछ अपेक्षित हो उस की धारणा—

भावना करके यथाक्रम निशान मारनेवाले जैसा लक्ष्यवेध करता रहे—सुतरां स्थूल पदार्थों की धारणा सिद्ध हो जाने पर ध्यानशक्ति स्वयमेव बढ़ती जाती है एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ पर विचार स्थिर होके वह निःसंज्ञ—समाधिस्थ हो जाता है। अर्थात् चितिशक्ति का प्रकाश उस की हृदय गुहा में चहुं ओर फैल जाता है। फिर उस की वह समाधि— "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।" जहां जहां मन जाता है वहां वहां समाधियां होती हैं—अर्थात् सर्वार्थता—भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करने की चित्त की चंचल अवस्था का क्षय होके, एकाग्रता—भिन्न भिन्न विषयों का त्याग करके एक विषय पर चित्त की स्थिर अवस्था—समाधानवृत्ति हो जाती है। फिर क्या देर है? चितिशक्ति की निरुद्धावस्था होते ही संकल्पमात्र—अपेक्षित प्रत्यक्ष हो जाता है। प्राणायाम—श्वासप्रश्वास की गति को नियमित करने से एवं प्रत्याहार—विषयों पर से चित्त को हटाने से—चितिशक्ति का आविर्भाव होके धारणा में उस की स्थिति होती है और वह समाधि में स्थिर होकर विचारसंस्कारों के अनुसार यथाक्रम सिद्धियां प्रकट करती है।

३—विचार-संस्कार।

विचार-संस्कार सब बलों का महाबल है। पूर्ण एवं परिणत यांत्रिक रचना में भी विचारसंस्कार जीवाणुभूत है। उस की रचना का निदान है। एवं उस की गति का संचालक है। सिवाय विचारसंस्कार के प्रकृति के मूल में क्या है? एवं प्रकृति को कौन उत्पन्न करता है? उस की विचित्र लीला का, उस की विचित्र कृति का एवं उस की

विचित्र प्रेरणा का सम्पादक कौन है? अत्यन्त कठिन, अत्यन्त दुर्बोध एवं अत्यन्त अगम्य जगत्रूपी पुस्तक की भाषा का पाठ देके विचारसंस्कार ही उस को सुलभ, सुबोध एवं सुगम्य करता है। अनन्त काल से जीर्ण, विशीर्ण, विस्तीर्ण बने हुए वन, पर्वत, नदी, समुद्ररूप पत्रों पर विश्वदेवता ने जो कुछ इतिहास लिख रक्खा है उस को सिवाय विचारसंस्कार के कौन व्यक्त कर सकता है? मनुष्यों ने आकाश को विहारस्थान किया है, वायु के हाथ में व्यजन दिया है, अग्नि के सिर पर धुर रख कर उसे दौड़ाया है, जल से विद्युत् उत्पन्न की है, विद्युत् के क्षणिक वेग को सन्देशवाहक दूत बनाया है, समुद्र को राजपथ किया है, ग्रहतारागण को दीपस्तम्भ एवं कालमापक यंत्र बनाया है—यह सब विचारसंस्कार ही का प्रभाव है विचारसंस्कार—तत्वों का संघटन विघटन करता है, परस्पर विरोधी शक्तियों को अनुकूल करता है, एवं अन्यान्योपकारक व्यापारद्वारा कार्य उत्पन्न करता है। कार्यकारण की शृंखला से—connecting link कार्य की परम्परा को सूत्रबद्ध करता है, पदार्थों की गूढ़ शक्ति को प्रत्यक्ष करता है एवं उस की व्यवस्था लगाता है। रसायनशास्त्रद्वारा पदार्थों का पृथक्करण करता है एवं उन के मूलतत्वों का निदर्शन करता है। विचार के संस्कार की शक्ति—विद्युत् को नीचे गिरा महाविसव करती है, विद्युत् को हाथ में लेकर नचाती है एवं विद्युत्पात को रोक देती है। रज्जु के समान करगत न होनेवाले सूर्यकिरणों को पकड कर उस की रूपरेखा बनाती है, उन में से भव्य तेजःपुंज कणिकाओं का प्रसार करती है एवं नये नये ग्रहताराओं का संगठन करती है। उद्देश्य एवं

भावों का विचारसंस्कार जड़ परमाणुओं को इकठ्ठा करता है, उन की नामरूपाकृति करता है एवं उन को सचेतन करता है। प्रत्येक भाव की वर्णमाला बनाता है, उस में भावों को संगठित करता है एवं उन को प्रत्यक्ष करके अपना अस्तित्व प्रकट करता है।

विचारसंस्कारों से जीवन रसायन बनता है। तेजोमय गोलों से भव्य बने हुए अत्यन्त दूर दिक्प्रदेश में विचार-संस्कार का प्रवेश होके उस प्रदेश का जीवनतत्व एवं उस की सब क्रिया उन्हीं संस्कारों के अनुसार परिणत होती हैं। इसी प्रकार निरवर्य अनन्तरूप असत् में से—तस्मादसतः सज्जायेत—सद्रूप, प्रकाशमान, नामरूपात्मक जगत् भी विचारसंस्कारों के वशवर्त्ती है। विचारसंस्कारों के अनुसार ही प्रकृति देवी ने पृथ्वीतल पर अनन्तकाल से आज तक जो कुछ लिखा है, चित्रित किया है, ग्रथित किया है, अक्स गिराया है, प्रतिबिम्बित किया है, चित्र अंकित किया है—उन सब में उस ने अपनी अभिव्यक्ति दिखाई है, अपना प्रभाव प्रदर्शित किया है, अपना इतिहास लिखा है, अपनी लीला का विस्तार किया है, अपना नामरूप व्यक्त किया है, एवं अपनी समुज्ज्वल शक्ति का निदर्शन किया है। पवित्र वेद, अवस्था, बाइबल, गाथा, सूत्र, क़ुरान, हदीस आदि का धर्मतत्वोपदेश, शास्त्रों का दृढ़ निबन्धन, पुराणों का कथनोपकथन, काव्यों का मधुरालाप, व्यास, वाल्मीकि की दिव्यवाणी का प्रकाश, होमर की कल्पना की सुन्दरता, प्लेटो के तत्वविचार का सामर्थ्य, कणाद, गौतम के न्यायवाद का महत्व, ईसा की मधुर

सत्यवाणी, मुहम्मद का धर्मकार्य, ज़रथोस्त का अप्रतिम अग्निहोत्र, डिम्मेस्थनिस की सर्वसंमोहकशक्ति, ज्यूलिअस सीभ़र का सर्वंकश प्रताप, होरेस का आनन्द–यह सब विचारसंस्कारों ही का फल है। सब के हृदय में आज भी भगवान् रामचन्द्र की नीति, भगवान् श्रीकृष्ण की लीला, भगवान् बुद्ध की अहिंसा, भगवान् महावीर का वीतराग, भगवान् शंकर का संन्यास, स्फुरण पा रहा है। प्राचीन रुधिरक्रमण आज भी ह्यु मिलर की आत्मा के वश है। मनुष्यों के हृदय में आज भी हार्वी का जीवन स्फुरण पा रहा है। आकाश में से आर्यभट, भास्कराचार्य, कोपरनिकस, केप्लर एवं न्यूटन की बुद्धि द्वारा मिला हुआ प्रकाश आज भी अपनी दृष्टि में चमक रहा है। फ्रान्कलीन ने आज भी विद्युत् को अपने हाथ में ले रक्खा है, वाष्प अश्व की लगाम आज भी वाट के हाथ में है, मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य, व्यास, सोलन, जस्टिनियन, एवं ग्रोटिअस आज भी क़ानून क़ायदों के नियन्ता हैं। भास्कराचार्य, वराहमिहिर, युक्लिड गणितशास्त्र के जीव हैं। आरिस्टाटल विचारमात्र का नियामक है। एवं प्रयोग का राजा वेकन है।

लोहमय पार्श्वस्थ भूमि अद्यापि स्टीवन्सन् का अधिकार मान्य करती है। समुद्र के तरंग अद्यापि वेल एवं फुल्टन के वशवर्त्ती हैं। आर्क राइट के शोध से, क्रोम्प्ट के धैर्य से, स्मिथ के विचार से एवं पील के क़ानून से अद्यापि ब्रिटन का व्यापार सजीव है। रोम के धर्मगुरु के दरबार में अद्यापि हिल्डब्रेण्ड प्रधान पद पर नियुक्त है। क्लाइव

अद्यापि भारत पर राज्य कर रहा है। क्रिश्चियन धर्म में वेस्ली नवीन प्रेमोत्साह प्रकट कर रहा है। हावर्ड परोपकार कर रहा है। क्रोमवेल सावधान करता है, भय की प्रेरणा करता है एवं शान्ति का विस्तार करता है। स्केलिगर युद्ध का प्रवन्ध करता है। टेल स्वीत्सरलेंड को जीवित रखता हैं। फ़ौस्ट और गटनवर्ग शब्दों के जाल वनाते हैं। और वेकन के कहने के अनुसार सेक्सपीयर इतिहास का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है।

विचारसंस्कार व्याप्त होके सजीव में जीवन का प्रयोजक होता है एवं अन्दर वाहर सर्वत्र प्रसार पाता है। नवीन योजना, नवीन आविष्कार, शास्त्र, इतिहास, नीति, नियम, धर्म, कला, कुशलता आदि सव का अन्तर्जीवन विचारसंस्कार ही है। पृथ्वी में मनुष्य से वढ़कर कोई नहीं, मनुष्य के विचार वलवान् से कोई नहीं एवं मनुष्य के ज्ञान से सर्वोत्तम कोई नहीं—यही विचारसंस्कार है। मनुष्य का विचार जीवन की सत्ता है, एवं विचारसंस्कार सत्ता का प्रेरक है, विद्या, विज्ञान, ज्ञान, जीवन के जीवन का अन्तिम साध्य है। विचारसंस्कार की लहरी, विचारसंस्कार के विद्युत्कण, विचारसंस्कार के अग्नि स्फुलिंग—सर्वत्र आन्दोलन, द्योतन, उद्दीपन करते हैं एवं कराते हैं। ये आविर्भाव तिरोभाव करते हैं, वृद्धिक्षय करते हैं। एवं विकास विनाश करते हैं। ये जीवन के तत्व हैं, जीवन के जीव हैं एवं जीवन के जीवन हैं। सुख, शान्ति, आनन्द, उत्साह, आरोग्य, वल, ऐश्वर्य—विचारसंस्कार का कार्य है, अन्ध-

कार, अज्ञान, शून्य, अभाव, तिमिर, अहंभाव, कुभाव, शोक, मोह, भय, चिन्ता, दुर्मति, अधःपतन, रोग, मरण, आधिव्याधि—विचारसंस्कार का अकार्य है । विचारसंस्कार के सिवा जगत् नहीं, जगत् का कार्य नहीं, जगत् का संभव नहीं, जगत् का परिवर्त्तन नहीं, जगत् की स्थिति नहीं एवं जगत् का जगत्त्व नहीं । जगत् में सर्वत्र सुख है, शान्ति है, धनवैभव है, पापपुण्य हैं, धर्माधर्म हैं, स्वर्गनरक हैं—किन्तु उन का प्राप्त होना न होना विचारसंस्कार पर ही निर्भर है । आप्तस्वजनों के दर्शन से क्या भाव उत्पन्न होता है ? मातापिता स्त्रीपुत्रों के दर्शन से क्या भाव उत्पन्न होता है ? प्रियजन मित्रों के दर्शन से क्या भाव उत्पन्न होता है ? अप्रिय शत्रुजनों के दर्शन से क्या भाव उत्पन्न होता है ? गुरुस्वामी राजाओं के दर्शन से क्या भाव उत्पन्न होता है ? सर्पव्याघ्रादि हिंसक पशुओं के दर्शन से क्या भाव उत्पन्न होता है ?—विचार-संस्कारों के अनुसार इन भावों की भिन्नता-जीवन का प्रवाह न्यूनाधिक करके, स्थिति, गति, आकर्षणविकर्षण, विकास, विनाश, समय समय करती है किन्तु कदाचित् ये सब भाव युगपत् एकत्रित हो जांय तो न जाने मनुष्य की क्या दशा हो ? जहां तहां विचारसंस्कार का मनोराज्य है, संस्कार की संभूति है, एवं विचारसंस्कार की माया है । मायाके, प्रकृतिके, अविद्याके, उपाधिके—कूट, प्रहेलिका, अपन्हुति, वहिर्लापिका, अन्तर्लापिकाओं का निराकरण विचारसंस्कार ही से होता है । विचार प्रयोग का पिता है एवं उस का संस्कार प्रयोग की शिक्षा है । विचारसंस्कार के सिवा बड़े

बड़े ग्रन्थ, लेख, कविता कोरे काग़ज़ हैं; बड़ी बड़ी कथा कहानियां वक्तृता हवा के गुब्बारे हैं, बड़े बड़े उपदेश, विधिविधान, विज्ञान तुष के ढेर हैं!

आज जगत् भरके धर्म, ज्ञान, विज्ञान, इतिहास, कला, कुशलता, गद्य, पद्य, काव्य, कथा आदि विविधविषयों की सहस्रों पुस्तकें, ग्रन्थ, पत्र, परचे कौडियों के मोल विक रहे हैं—तो क्या उन की वही क़ीमत है? वेद, अवस्था, सूत्र, बाइवल, कुरान की क़ीमत कोई कर सकता है? उपनिषदों के आत्मदर्शन की, स्मृतियों के व्यवहार-निवन्धन की, पुराणों के कथनोपकथन की, काव्यों के रसस्वादन की क़ीमत कोई कर सकता है? वाट की वाष्पगवेषणा, जेनर की शीतला की योजना, स्टीव्हनसन् का रेलपथ, नाइट का सार्वजनिक वाचन, सीमस् का क्लोरोफ़ार्म का मोह, हावर्ड का परमार्थज्ञान, पील का स्वतन्त्र व्यापार का क़ानून—इन सब की इतने रुपये क़ीमत है—इस का कोई शुमार कर सकता है? कालिदास, सेक्सपीयर के नाटक, माघ, भारवी, मिल्टन के काव्य, बाण, सुबन्धु, स्काट की कथायें, हुएन्त्संग, टालेमी, मेकाले, ग्रोट, फ्रूड का इतिहास, दिनकर, जगदीश, जेफ्री के निवन्ध, जयदेव, भानुदास, वर्न के गीत, शंकर, रामानुज, मध्व, रीड, कान्ट, हेमिल्टन का तत्ववाद, शुक्र, कामन्द की, चाणक्य, बटलर, स्टुअर्ट, डावेल का नीतिविवेक—इन सब से जो आनन्द, बोध एवं ज्ञान होता है—उस की क़ीमत का कोई हिसाब कर सकता है? न्यूटन, हर्शल, हटन की खोज, शील,

लीबिग, फ़ेरेडे का रसायनशोध, रोश, हेली, निकल का आकाशगोल परिचय, लीनिअस, जेसो, ओकट का प्राणिवृक्षादिकों का वर्गीकरण, पिट, पिल का राजकीय सुधार, रफ़ेल, होगार्थ, शेफ़र की कलाकुशलता, फ़ाइ, ओवरलिन्, मिस् नाइटिंगेल का नीतिप्रचार, होल, प्रेयर्स, फ़ास्टर का धर्मवृद्ध्युत्साह—इन सब की क़ीमत की कौन संख्या लगा सकता है? जनसमूह के उपकारभूत तात्विक दर्शनों के आविष्कार के पवित्र अक्षर, शब्द एवं वाक्यों का मूल्य अनिश्चित है—इतना ही नहीं उन का मूल्य ही नहीं है । वे अमूल्य हैं, लाकीपत हैं एवं अनर्घ्य हैं। हीरे में क्या है? माणिक्य में क्या है? पन्ने में क्या है? मौक्तिक में क्या है? प्रवाल में क्या है? सुवर्ण में क्या है? रजत में क्या है?—एकमात्र असत्सत्ता का थान है। कोयला, मिट्टी, पत्थर, जल, अस्थि, मांस उन का जननस्थान है। क्या ये असत्, प्राकृत, विनाशी पदार्थ—उन की बराबरी कर सकते हैं, उन की साम्यतापा सकते हैं, एवं उन के मूल्य के अधिकारी हो सकते हैं? इन पवित्र अक्षर, शब्द, वाक्यों का मूलकारण क्या है? वही परावाणी, उस का स्पन्दन, वही मूलकन्द, वही सूर्यचक्र, उस का वेध, वही Solar plexus है । वह वालाग्र शतभाग से भी लघुतम—सूक्ष्मतम होकर भी—उस का मूल्य स्थिरचर, वृक्षपाषाण, नदनदी, समुद्रपेता, पृथ्वी से भी अधिक क्या—उस पृथ्वी के मूल्य का मूल भी वही है—तो फिर उस का मूल्य कौन कर सकता है? इस अमूल्य, लाकीपत, अनर्घ्य पदार्थ की प्राप्ति करोड़ों मन हीरों से, माणिक्यों से,

पन्नों से, मौक्तिकों से, प्रवालों से, सुवर्णों से, रजतों से कभी नहीं होती! किन्तु वात की वात में एकमात्र अमूल्य विचारसंस्कार से होती है–समान का समान आकर्षण करके समान को समान प्राप्त करता है। अक्षर, शब्द, वाक्य–विचारसंस्कार के समवर्त्ती, समसंस्कारी एवं समस्वभावी है–अर्थात् विचारसंस्कार ही परावाणी का उदय है एवं परावाणी का उदय ही विचारसंस्कार है। कोई कहेगा कि–ये ऐसे अक्षर, शब्द, वाक्यों के ढेर के ढेर जहां तहां लगे हुए हैं–उन के लिये हीरे, माणिक्य, मौक्तिक, आदि की क्या आवश्यकता है? चाहे जव, चाहे वह विना मूल्य प्राप्त कर सकता है तो–विचारशील मित्रो!–आवो हमारे पास, हम तुम्हें हीरे, माणिक्य, मौक्तिक, सुवर्ण आदि जो मांगो सो धन, पृथ्वी, पृथ्वी का राज्य देवें–विना विचारसंस्कार के खाली एक अक्षर ही की पहिचान तो करा दो!!

विचारसंस्कार में सचमुच ही इतनी प्रवलता, सत्यविज्ञानता, एवं चितिचित्ता है तभी तो विचार का आविर्भाव करनेवाले, उपर्युक्त महात्मा, विचारक, साधक, शोधक अवश्य ही उस के ग्राहक हुए हैं, होते हैं और होंगे–इस में क्या सन्देह है? विचारसंस्कार के ग्राहकों ने संसार का त्याग किया है, स्वार्थ का त्याग किया है एवं निज का भी त्याग किया है। सव कुछ अर्पण करके स्वात्मसमर्पण किया है तव कहीं वे उस अक्षर के अधिकारी हुए हैं। अगर हीरे, माणिक्य, मौक्तिकों से अक्षर प्राप्त होते तो फिर आज हम क्यों निरक्षर भट्टाचार्य

हैं ? आइये, हम तुझें एक लक्ष्य रुपया देते हैं--ज़रा अक्षर को हमें दिखा तो दो ! हम प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं कि-सिवाय विचारसंस्कार के अक्षर को दिखाना तो दूर, उस की कल्पना तक होना असंभव है--क्योंकि, बुद्धि का अधिकार दृश्यादृश्य पर समान है तो भी, दृश्य व्यापार का मूल पदार्थविज्ञान है एवं अदृश्य व्यापार का मूलतत्व विवेक है। वह मूल एक में सत्य की योजना करता है, अन्य में नियम की योजना करता है। योजना का उद्देश्य एवं लक्ष्य अमुक पद्धति के अनुसार एवं पूर्ववर्त्ती किसी सुश्लिष्ट विचार के अनुसार वर्त्तन करना ही होता है। नियामक कार्य अपनी इच्छा के अनुसार विचारों को उत्पन्न करके उन पर अधिकार प्राप्त कर संस्कारों को प्रकट करता है--इस प्रकार बुद्धि स्वयमेव स्वयं की नियामक होती है। इस नियामक स्वभावसिद्ध एवं साहजिक है। उस को निजस्वरूप में स्थापन करनेवाले जो जो नियम उस में व्याप्त रहते हैं--यथार्थ रीति से या आभास-मात्र से उन का अनुसरण किये विना वह किसी प्रकार का व्यापार करने में अत्यन्त असमर्थ हैं। अपने स्वभाव पर जो पूर्ण अधिकार कर लेता है तब उस के वश रह कर बुद्धि अवश्य विचारसंस्कार का विस्तार करती है किन्तु जिस विषय पर उस की प्रवृत्ति होती है वह भिन्न है तो--विचारों के अनुसार जो व्यापार होते हैं उन के दो स्पष्ट विभाग हो जाते हैं--जिसे हम पदार्थविज्ञान एवं तत्वविवेक कहते हैं। पदार्थविज्ञान अक्षर की सीमा तक पहुंच सकता है एवं तत्वविवेक उस के अंदर पहुंच जाता है तो

भी वह अक्षर—यो बुद्धेः परतस्तु सः—जो बुद्धि से भी आगे है अर्थात् बुद्धिगम्य नहीं है—फिर भला ऐसे अक्षर को कौन दिखा सकता है? वहां रत्न, सुवर्ण, रौप्य का क्या उपयोग है एवं उस का मूल्य या क़ीमत कौन कर सकता है?

विचार, विचार की शक्ति, विचार का संयम एवं विचार-संस्कार—अर्थात् मिट्टी, मिट्टी का गारा, गारे का घट एवं घट का अग्निसंस्कार मिट्टी को परिपक्व करके घट को उपयोगी बनाता है—उसी अनुसार परावाणी से विचार उत्पन्न होके पशन्ती में प्राणगत होके शक्तिसम्पन्न होता है। यदि उस का संयम वहीं होजाता है—अर्थात् उस की द्विधारा होने नहीं पाती है तो उस का मध्यम में संस्कार हो सकता है वरना पश्यन्ती देखती है एक और वैखरी बोलती है अन्य, तो, कच्चे घडे के समान उस का वहीं लय हो जाता है। घटको अग्निसंस्कार होने पर ही उस के अणु बलवान् होते हैं उसी प्रकार विचारसंयम ही से विचारों का संस्कार होके विचारों के अणु शक्तिशाली होते हैं—इसी लिये भावरूप एवं व्यवहारिक पदार्थों को ज्ञानरूप मान कर अरिस्टाटल ज्ञान के अन्य विभागों से मानसशास्त्र को सर्वोपरि मानता है। पदार्थमात्र का कारण भाव एवं स्थिति इस शास्त्र के अधीन है। यह शास्त्र सर्व कला एवं अन्य शास्त्रों से श्रेष्ठ है, इतना ही नहीं—स्वभाविक क्रम देखने पर भी यही प्रतीत होता है कि—यह सब का आदिप्रवर्त्तक है। किन्तु प्रकृति की लीला भी विचित्र ही है। जो बात आरंभ में होनी चाहिये वह अन्त में होती

है एवं अन्त की आरंभ में होती है । जगत् के व्यापार का आरंभ कार्योत्पादक करणों से होता है—किन्तु मनुष्य तो कार्य का आरंभ करके उस कार्य द्वारा कारण को पहुंचता है । इस पर से ज्ञात होगा कि—मनुष्य का ज्ञान स्वाभाविक क्रम को छोड़ कर विपरीत क्रम से परिवर्तित होता है । शरीर की प्रत्यक्ष ग्रहणशक्ति मनोग्राह्य होती है । अर्थात् जो मन शरीर का प्रथम कारण है, उसका कार्य शरीर अंतिम है—उसी से ज्ञान का आरंभ होता है । शारीरिकशास्त्र ज्ञानप्ररोह के क्रमानुसार इस को पदार्थविज्ञान मान कर पदार्थविज्ञान का यह द्योतक होने से इस को तत्वविवेक कहते हैं । इस आशय से—इस शास्त्र का विषय सार्वदेशिक एवं सर्वोपकारक कारणरूप हो के अन्य नियमों की अपेक्षा बहुत गूढ, उच्च तथा कठिन है । इसलिये पदार्थविज्ञान के पीछे ही उसका अभ्यास होना ठीक है । किन्तु इस तत्वविवेकशास्त्र को उस के स्वाभाविक क्रमानुसार लेने ही से ज्ञान मात्र के नियमों का स्वरूप उसीद्वारा प्राप्त होता है एवं उस के पीछे ही भौतिक कलाकुशलता शास्त्रादिकों का संभव होता है—इस बात का लक्ष्य करके आरिस्टाटल ने इस शास्त्र को प्रथम—आदिशास्त्र नाम दिया है । एवं इस शास्त्र का विषय मन, चेतन, एवं सत्—अर्थात् सर्वसाधारण, सर्वमय, सर्वोपकारक होने से इस शास्त्र को उसने सार्वदेशिकशास्त्र भी कहा है । अन्तमें इस आदिशास्त्र या सार्वदेशिकशास्त्र का जो उस के मन में महत्व प्रतीत होता था उस को दिखाने के लिये उसने उस को तत्वज्ञान नाम से प्रस्तावित किया है ।

विचारव्यापार का आरंभ होते ही विचारभूमि में प्रथम प्रश्न का उद्भव होता है कि—"मेरे जानने के योग्य क्या है—शक्य ज्ञान की मर्यादा एवं उस का विषय क्या है ?" हमारे मर्यादित जीवन में अज्ञान भरा हुआ है—यह बिलकुल स्पष्ट है । उस अज्ञान की मर्यादा के पार हम कभी नहीं जा सकते । किन्तु जो दोष, त्रुटि या ग़लती होती है वह हमारी बुद्धि का अपूर्ण उपयोग या दुरुपयोग है । परिपूर्ण एवं अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होना तो विश्व-व्यवस्था के अनुसार देहबुद्धि में अशक्य है तोभी ग़लती होना ही चाहिये, सिवाय ग़लती के चलता ही नहीं—ऐसा विश्वव्यवस्था का नियम नहीं है । 'अस्मि'—मैं हूं—ऐसी जो जीवन की तीव्र भावना है—वही वासनारूप होके सूक्ष्म-विचार का कारण होती है । शुभ अशुभ वासनाओं के अनुसार—वह विचार चाहे भला हो चाहे बुरा हो—उस की सूक्ष्मता हुए सिवा रहती नहीं । हमारे शरीर के व्यापार से—हम में, हम पर, हमारे आसपास जो कुछ मनोगम्य होता है उस का परिणाम होके हमें अपना भान होता है । उसी भान में—अस्मि—का अस्तित्व है । यह 'अस्मि' क्या है ? देहात्मबुद्धि का—अहंभाव का—अर्थात् वासनाओं का समूह है । इन वासनाओं को वश में लानेका हम यत्न करते हैं तोभी कितनी इतनी प्रबल होती हैं कि—उन की तृप्ति हुए विना कभी शान्त नहीं होतीं । विचारसंस्कारों से हमें यह भी स्पष्ट मालूम हो जाता है कि—शुभाशुभवासनाओं का संगठन कैसे होता है एवं यह भी अधिकार प्राप्त हो जाता है कि हमारी इच्छा के अनुसार चाहे उन वासनाओं को हम अपने नज़दीक रहने दें या उन को बिलकुल अलग कर दें । किन्तु जब तक हम अशुभवासना-ओं का त्याग करके शुभवासनाओं का अंगीकार नहीं

करते तबतक उन में भिन्नता उत्पन्न होती नहीं एवं भिन्नता उत्पन्न न होनेही से हमें वासनाओं के वशमें रहना पड़ता है। विचारसंस्कार उस भिन्नता को तत्काल उत्पन्न करके अशुभवासनाओं को हटा कर शुभवासनाओं की वृद्धि करता है एवं वह वृद्धि हमारे विचारों की दृढ़ता करके विचारसंस्कार में लीन हो जाती है। जिस से 'असि' का 'असि' होके अस्मिता का—शुभाशुभवासनाओं का अभाव हो जाता है, एवं 'तत्वमसि'—वह तू है—का पूर्णज्ञान होके हम—'सोऽहम्'—वही हैं—अर्थात् हम आत्मरूप—ईश्वररूप हैं—ऐसा स्पष्ट भान होने लगता है। ऐसा होतेही हम विश्वनिरीक्षण की कक्षा का उल्लंघन करके आत्मनिरीक्षण की कक्षा में जा पहुंचते हैं। फिर विचारभूमि में किसी कूट प्रश्न का आरंभ ही नहीं होता और न उस की समस्या ही का कारण रहता है।

इस प्रकार जब हम आत्मनिरीक्षण की कक्षा में पहुंच जाते हैं तब विचारसंस्कारों के अनुसार स्वयमेव चित्सूर्यका उदय होके क्रमशः उस की कलाओं का विस्तार होकर अन्तःप्रकाश का प्रसार होने लगता है एवं उसी प्रकाश से रूपग्रहणशक्ति प्राप्त होके आत्मदर्शन होने लगता है। आत्मदर्शन होते ही देहभावका निरास होके शरीर की नस नस, कण कण में चितिशक्ति का प्रवाह फैल जाता है। चितिशक्ति ही सब जगत् का कारण होती है। चितिशक्ति द्वारा ही सब कार्य सम्पादन होते हैं। अन्तर्बाह्य सर्वत्र चितिशक्ति—आत्मशक्ति—चैतन्यशक्ति प्रवाहित है। उस का निर्भर जब मूलकन्द से बहने लगजाता है तब सिद्धि तो क्या चीज़ है, अनन्त ब्रह्माण्डगोल की उत्पत्ति स्थिति लयका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

विचार-दर्शन ।

आन्तर जगत् ।

विचार-सिद्धि ।

४-विचार-सिद्धि ।

चितिशक्ति के परिणाम से उत्पन्न होनेवाली विचार-शक्ति—यह चितिशक्ति का स्थूलरूप है और वह मस्तिष्क में आन्दोलनरूप एक प्रकार की नैसर्गिक गति है। उस के क्रियमाण और संचित—दो भेद हैं। क्रियमाणशक्ति को युक्तियुक्त निरुद्ध करके उसे संचितशक्ति का स्वरूप दिया जा सकता है और उस शक्ति द्वारा अनेक अद्भुत कार्य हो सकते हैं। इस वक्त यह प्रमाणित हो चुका है कि—यह संचित विचारशक्ति मनुष्य के मस्तिष्क या अंतःकरण में—समान आन्दोलन-क्रिया करने में या विद्युत् के समान गतिरूप विचारलहरी उत्पन्न करने में समर्थ है। इस विषय में एक पाश्चिमात्य विद्वान् वुइलियम वाकर एटकिन्सन् W. W. Atkinson अपने थाटस् आर थिंग्स्—Thoughts are things में कहता है कि—"इस में जो इतना अपरिमित सत्य भरा हुआ है उस का मुख्य कारण विचारों की निरुद्धावस्था ही है।" तात्पर्य—निरुद्ध अर्थात् संचित-एकाग्रविचारशक्ति के समान अमोघ साधन और कोई इस जगत् में नहीं है।

कुछ दृष्टान्तों द्वारा हम इसे किंचिन्मात्र व्यक्त करना चाहते हैं—पहले पहल एक विद्यार्थी अपना पाठ विचारों में स्थिर करता है। न्यायाधीश मुक़द्दमे का सार जान कर उस का फ़ैसला विचारों में स्थिर करता है। राजा अपने राज्य का प्रबन्ध विचारों में स्थिर करता है। ग्रन्थकार

ग्रन्थ की रचना विचारों में ग्रथित करता है। कवि कविता की रचना विचारों में करता है। कारीगर गृह आदि का चित्र विचारों में खैंचता है। रसायनशास्त्री रसायनप्रयोग विचारों में सिद्ध करता है। फिर वे कार्य में परिणत होके प्रत्यक्ष होते हैं। इन सब दृष्टान्तों में—विचाररूप क्रियमाण-शक्ति का अर्थात् आन्दोलनशक्ति का संचय विचारशक्ति में ग्रन्थीभवन होने से संचितशक्ति प्रत्यक्ष क्रियमाणशक्ति में आविर्भूत होके अतर्क्य आश्चर्यकार्य सम्पादन कर सकती है। उष्णता सर्वव्यापक है, किन्तु आगकाड़ी में योग्य युक्ति द्वारा निरुद्ध करने से उस का ग्रन्थीभवन होके उस में प्रकाशशक्ति अनुद्भूतरूप रह सकती है। भाफ की उष्णता का प्रसार युक्ति से निरुद्ध करने पर उस के संचय द्वारा एंजिन में अद्भुतशक्ति प्राप्त होती है एवं उस से क्या क्या काम लिये जाते हैं—यह आज किसी से छिपा हुआ नहीं है। विद्युत् सर्वत्र व्यापक है किन्तु युक्ति द्वारा उसे बेटरी में निरुद्ध करके नियमित पद्धति से उस को उपयोग में लाने से कैसे कैसे आश्चर्य-कार्य सिद्ध होते हैं—यह सब जानते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य विचारक्रिया को एकाग्रता अर्थात् संयम द्वारा संचित् करके विचारशक्ति को निरुद्ध करता है तो उस क्रिय-माण शक्ति से महापुरुष बन कर नानाप्रकार के अद्भुत कार्य कर के जगत् को चकित् कर देता है। सामान्य मनुष्य विचारशक्ति का जो अनुभव लेता है उस की अपेक्षा निरुद्ध—संचित् शक्तिमान् मनुष्य अतिसूक्ष्म विषय एवं ज्ञान का विशेष अनुभव ले सकता है—यह बात

इस वक्त अनेक प्रक्रिया द्वारा सिद्ध हो चुकी है । विचार-संक्रमण–Brain Telegraphy, विचारवाचन–Thought Reading एवं संस्कारसंक्रमण–Psychometry आदि उसी के मूर्त्तस्वरूप हैं ।

मनुष्य के मस्तिष्क में से विचार का प्रवाह निकलता है उसके तरंग अव्याहत शक्ति से इथर Ether में से प्रवाहित होके मनुष्य मात्र के चित्त पर उस की छाप पडती है और वह छाप जड़चेतन सृष्टि में नियमित कालतक लुप्त नहीं होने पाती । इस प्रकार हम अपने शरीर से जो कुछ कर्म, कार्य, क्रिया करते हैं उन की छाप वाता-वरण में–कि जो एक अत्यन्त प्रचण्ड अनन्त पृष्ठयुक्त पुस्तक है–उस के पृष्ठोंपर अंकित होती है । इस का ज्व-लन्त प्रमाण "फ़ोनोग्राफ़" यंत्र है । जिस प्रकार हम ऊंचें नीचे स्वर से बुरे भले शब्दों का उच्चारण करते हैं–उन की छाप रेकार्डों पर पड़ कर प्रत्यक्ष वे ही शब्द उसी स्वर में सुनाई देते हैं–इतना ही नहीं, किसी मनुष्य का शब्द पहि-चाननेवाला, रेकर्ड सुनता है तो वह तत्काल जान लेता है कि–यह आवाज़ अमुक मनुष्य की है । जब जड, स्थूल, निर्जीव पदार्थ, वाणीसंस्कार को ग्रहण करके प्रत्यक्ष प्रतिध्वनि सुनाता है तो, उस की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्मविचार के स्फुरण के तरंग साक्षात् या परम्परा से आकाशद्रव्य द्वारा प्रवाहित होकर उन के संस्कारों की छाप के अनन्त काल तक रहने में–क्या आश्चर्य है ? हम जो जो विचार करते हैं या शब्द उच्चारण कर ते हैं–उन के स्फुरण के संस्कारों को वाता-वरण तत्काल ग्रहण कर लेता है । इसी का नाम पापपुण्य

का हिसाब रखनेवाला "चित्रगुप्त" है। इसको क़ुरान शरीफ़ में "आमालनामा" कहा है। उस का एक हिस्सा 'सिजिन्' जहन्नम या दोज़ख़ अर्थात् नरक में और दूसरा हिस्सा 'हिलियून'-जिन्नत् या वेहस्त अर्थात् स्वर्ग में रक्खा हुआ है। जिन में बुरे भले कर्मों का हिसाब लिखा जाता है।

प्रतिक्षण मनुष्य जो कुछ विचार करता है या बोलता है उस की छाप अर्थात् चित्र प्रत्येक पदार्थ के पृष्ठभाग पर ही नहीं पडते, बल्कि वे पदार्थों के अंदर प्रवेश कर जाते हैं। वहां उन के संस्कार गुप्तरूप से दीर्घकाल तक जमे रहते हैं—वे किसी के समझ में नहीं आते किन्तु समय आते ही उन का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस पर से सिद्ध होता है कि—हमारे वेद अनादि हैं क्योंकि, उन का अनन्त काल से प्रणयन होके बीजशक्तिभूत थे। समय प्राप्त होते ही उन का उदय हुआ है एवं फिर होगा। वैसेही बुद्ध के धर्मग्रन्थ, जैनों के सूत्रग्रन्थ,—जो महावीर स्वामी के निर्वाण होने पर छ सात सौ वर्ष के अनन्तर लिखे गये हैं—ज़रथोस्त की अवस्था, ईसा की बाइबल, मुहम्मद का क़ुरान आदि महात्माओं के ग्रन्थ अवश्यमेव आदिकारण परमात्माप्रेरित हैं—इस में कोई शंका नहीं। इस पर ऐसा आक्षेप होगा कि—इन के आगे आज तक जो ग्रन्थ बने हैं और बनते जाते हैं वेभी बीजभूत हैं तो फिर उन्हें परमात्माप्रेरित क्यों न मानना चाहिये? इस के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—सब से श्रेष्ठ परमात्मा है। उस से नीचे उपासक, भक्त, ज्ञानी आदि

उच्चावस्थाप्राप्त पुरुष हैं। उन से नीचे मध्यम श्रेणी के मनुष्य हैं और उन से नीचे सामान्य श्रेणी के मनुष्य हैं तो वह प्रेरणाशक्ति भी उसी प्रकार अनुक्रम से उतरती हुई अल्पाऽल्प है—यह अनुभवसिद्ध बात है। प्रेरणाशक्तिका प्रवाह सर्वत्र एकसा है, किन्तु उस की ग्राहकशक्ति एवं निरोधशक्ति प्राणियों में एकसी नहीं है। इसीलिये उच्चनीचता सर्वत्र विद्यमान है और उसी अनुसार—ईश्वर प्रणीत, अवतार-प्रणीत, ऋषिमुनिप्रणीत, विद्वत्प्रणीत एवं सामान्यजन-प्रणीत ग्रन्थादिकों के विषय में प्रेरणाशक्ति का क्रमविकास जान लेना चाहिये।

डाक्टर बुकेनन और डेन्टन नामक पाश्चात्य विद्वानों ने परिश्रमपूर्वक बहुत वर्षों के अनुभव के बाद इस विषय पर कई ग्रन्थ लिख कर इस विषय को खूब समझा दिया है और सिद्ध कर दिखाया है कि—विचारों के परावर्त्तन की छाप अर्थात् फ़ोटो मकानों की दीवारें, दरवाज़े, खिड़कियों के किवाड़, छत, ज़मीन, पत्थर, ईंट, रास्ते की कंकरी, मिट्टी आदि जड़ और मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वनस्पति आदि चेतन पदार्थों पर अंकित होकर अनन्तकाल रहते हैं। जब से पृथ्वी सूर्यमाला से अलग होकर अस्तित्व में आई है और जब से उस पर सूर्यादिकों का प्रकाश आने लगा है तब से आज तक एकमेक के फ़ोटो उतरने की क्रिया लगातार चली आ रही है। अपनी चारों ओर के असंख्य पदार्थों पर पड़नेवाली छाप के चित्र करने के लिये रसायनप्रयोग द्वारा अभी कोई क्रिया प्रस्तुत नहीं हुई तो भी, यह बात सिद्ध है कि—

जिन मनुष्यों की यह शक्ति संचित् होके प्रबल होती है वे इन फ़ोटो का आसानी से निरीक्षण कर सकते हैं। उक्त डाक्टर बुकेनन एम्. डी. की स्त्री में इस शक्ति का विशेष आविर्भाव था। सन १८४० ईसवी में डाक्टर बुकेनन के धर्मगुरु ने उन से कहा था कि-"मैं अनजान अंधेरे में किवाड़ के पीतल के हाथे पर हाथ रख देता हूं तो, मुंह में मुझे पीतल का स्वाद मालूम होता है।" इस पर से-इस के अनुभव के लिये डा० बुकेनन को जिज्ञासा हुई और लगातार कई वर्षों में विचारक्रियाशक्ति को निरुद्ध करके खूब अनुभव लेने पर उन्हों ने अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। डा० डेन्टन ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिखाया है कि-इस प्रकार की शक्ति प्रत्येक मनुष्य में है किन्तु जब तक उस शक्ति का निरोध नहीं किया जाता तब तक वह प्रत्यक्ष नहीं होती। जिस में ऐसी नैसर्गिक दृष्टि हो उस को, या प्राणविनिमय में विधेय के जो लक्षण कहे हैं-वैसे किसी मनुष्य को-स्थिर बैठा के या सुलाके कोई चीज़-वस्त्र या पत्थर या मिट्टी का टुकड़ा-कि जिस का इतिहास या जिस की कोई बात या चिन्ह वह जानता नहो-आंखें मुंद कर, चित्त स्थिर करा के उस की भ्रुकुटि पर लगाना चाहिये और उसे अच्छीतरह कह देना चाहिये कि-और किसी बात का वह संकल्पविकल्प न करे। ठीक उसी वस्तु पर लक्ष्य जमा कर स्वतत्र रीति से जो विचारतरंग उत्पन्न हो-उन को कहता रहे और सुननेवाला उन को लिख कर मिलान करता रहे-ऐसा कुछ समय तक करने से उस मनुष्य की

या विधेय की शक्ति निरुद्ध होके उस पदार्थ का भूतकालिक सब वृत्तान्त वह कह सकेगा । किसी घर में पूर्वकाल में जिन जिन मनुष्यों का निवास हुआ है उन उन के आचार, विचार, घटना आदि की छाप दीवारों पर या अन्यत्र पड़ कर जो चित्र खिंचे हुए रहते हैं—उन को ऐसी शक्तिवाला मनुष्य देख कर सहज ही में सब हाल जान सकता है ।

इस पर से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि—मनुष्य विचारशक्ति को संयम से निरुद्ध करके उस के संस्कारों द्वारा अमोघशक्तिशालिनी चितिशक्ति का उदय करके अलौकिक सिद्धियां प्राप्त कर सकता है । इसलिये भगवान् पतंजलि के कथनानुसार संयम में प्रवृत्त होने के पहिले विक्षेपों को—विघ्नों को दूर करना चाहिये । विघ्नों को हटाने के लिये, विचारों के प्रवाह को रोकने के लिये एवं नियमबद्ध निरंतर चितिशक्ति को प्रत्यक्ष करने के लिये एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये । अर्थात् आकाश, वायु, जल, अग्नि एवं पृथ्वी में से किसी एक तत्व का अनुसन्धान करना चाहिये । पैर से जंघा तक पृथ्वीतत्व है, जंघा से गुदा तक जलतत्व है, गुदा से हृदय तक अग्नितत्व है, हृदय से भ्रुकुटि तक वायुतत्व है एवं भ्रुकुटि से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाशतत्व है । पृथ्वीतत्व का केन्द्र—मूलाधारचक्र है, जलतत्व का केन्द्र—स्वाधिष्ठानचक्र है, अग्नितत्व का केन्द्र—मणिपूरचक्र है, वायुतत्व का केन्द्र—अनाहतचक्र है एवं आकाशतत्व का केन्द्र विशुद्धिचक्र है । जिस तत्व का ध्यान करना हो—उस तत्व की जगह

उस की आकृति एवं वीजाक्षर के साथ धारणा-भावना करने से उस तत्व का जय होके विचारशक्ति निरुद्ध होती है। पृथ्वी की आकृति—चतुष्कोण, पीतवर्ण, लं वीज, ब्रह्मा देवता है; जल की आकृति—अर्धचन्द्र, श्वेतवर्ण, वं वीज, विष्णु देवता है; अग्नि की आकृति—त्रिकोण, रक्त-वर्ण, रं वीज, रुद्र देवता है; वायु की आकृति—वर्तुल, नीलवर्ण, यं वीज, ईश्वर देवता है; आकाश की आकृति—वर्तुल, चित्रवर्ण, हं वीज सदाशिव देवता है। इस प्रकार पंचतत्वों के स्थान का अनुलक्ष्य करके उन की आकृति में उन के वीज का चिन्तन करना चाहिये। अथवा किसी एक विषय पर लगातार विचार करना। किसी में विषय या पदार्थ की भावना करना। अथवा सुखी जनों के साथ मित्रता, दुःखी जनों पर करुणा, पुण्यशाली सच्चरित्र जनों के साथ आनन्द एवं पापी जनों की उपेक्षा की भावना करने से विचारशक्ति निरुद्ध होती है। अथवा प्राण का रेचक कुंभक करने से (इस का परिचय आगे होगा) विचारशक्ति निरुद्ध होती है। अथवा इन्द्रियों की रूपरसगन्धादि प्रवृत्ति को विवेकख्याति—निश्चयरूप सम्यग्ज्ञान तक पहुचाने से विचारशक्ति निरुद्ध होती है। अथवा चित्त प्रकाशमान होके शोकरहित हो जाने से विचारशक्ति निरुद्ध होती है। अथवा चित्त की विषयवासना का नाश हो जाने से विचारशक्ति निरुद्ध होती है। अथवा स्वप्न वा निद्रा के ज्ञान के अवलम्बन से विचारशक्ति निरुद्ध होती है। अथवा इष्टदेव की प्रतिमा के ध्यान से विचारशक्ति निरुद्ध होती है। इस प्रकार की भावना से आक्षेप—विघ्न दूर होके अर्थात्

भगवान् पतंजलि के कथनानुसार—"परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।" परमाणु से लगा कर महत्तत्त्व तक कोई भी विक्षेपकारी न होके विचारों में पूर्ण सात्विकभाव प्रकट होकर पद पद आचरण में, भाषण में, व्यवहार में, कार्य में उस का निरन्तर परिचय होने से संशय, प्रमाद, चिन्ता, भय दूर होके सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

अ–क्रियारूप सिद्धियां।

संयम का विवेचन ऊपर विस्तारपूर्वक हो चुका है तो भी सिद्धियों के वर्णन में आगे जहां तहां संयम शब्द आनेवाला है—उस का विवेचन योगदर्शन के अनुसार फिर हो जाना अवश्य है—क्योंकि, सिद्धियों की प्राप्ति संयम पर ही निर्भर है। भगवान् पतंजलि ने धारणा, ध्यान एवं समाधि को 'संयम' कहा है। योग के आठ अंग हैं। उन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार—ये पांच अंग वाह्यसाधन के हैं और धारणा, ध्यान एवं समाधि—ये तीन अंग आन्तरसाधन के हैं। यम, नियमादि पांच अंगों से सिद्धि प्राप्त होने में विलम्ब होता है एवं धारणा, ध्यान, समाधि से शीघ्रसिद्धि प्राप्त होती है। जिस अपेक्षित विषय को प्राप्त करना हो—उस की प्रथम पूर्णभावना करके अर्थात् ज्वलन्त इच्छा—Burning Desire प्रकट करके लगातार उस पर लक्ष्य जमाना चाहिये—अर्थात् उपर्युक्त बंदूक के निशान के अनुसार चित्त की एकाग्रता कर लेनी चाहिये। इस प्रकार लक्ष्यवेध पूरा जम जाने पर उस का चित्र हृदय पर अंकित करके उस को सामने लाकर निरन्तर उस

का ध्यान करते करते चेष्टारहित होके तदाकार हो जाना चाहिये—अर्थात् चित्त को समाहित कर लेना ही समाधि है। इस प्रकार तीनों अंगों को यथाक्रम सम्पादित करना—इसी का नाम 'संयम' है जिस का युक्तियुक्तवर्णन ऊपर जहां तहां हो चुका है। सिद्धियों के विवेचन में जहां तहां 'संयम' शब्द आवेगा वहां वहां—धारणा, ध्यान, समाधि—ये तीनों अंग हैं—ऐसा जानना चाहिये।

मैत्री, करुणा, मुदिता, वल की प्राप्ति—पूर्वकथितानुसार मित्रता, करुणा एवं आनंद में पृथक् पृथक् भावना करने से—अर्थात् "मैं सब का मित्र हूं"—"दुःखी जनों पर निरन्तर करुणा करता हूं"—"सुखी जनों को देख कर सदा आनन्दित रहता हूं"—एवं तद्रूप हो जाने से—मित्रमय, करुणामय, आनन्दमय बन जाने से अपार मैत्रीवल, अपार करुणावल एवं अपार मुदितावल उत्पन्न होता है—अर्थात् साधक सब को मित्रमूर्त्ति, करुणामूर्त्ति और आनन्दमूर्त्ति दिखाई देता है।

अपार शरीरबल की प्राप्ति—हाथी इत्यादि बलवान् प्राणियों में विचार की एकाग्रता करने से—अर्थात् "ऐसा और इतना बल मेरे शरीर में है या मैं उस प्राणी के समान हूं या वही मैं हूं"—ऐसी भावना करने से साधक वैसा बलवान् बन सकता है। इसी प्रकार सिंह, व्याघ्र, हाथी, गेंडा, घड़ियाल, मगर, गरुड, गृध्र, वायु, जल, अग्नि, विद्युत्, वज्र, शस्त्र, अस्त्र आदि पदार्थों के बल में संयम करने से उन के समान अपार बल की प्राप्ति हो सकती है। इस के प्रत्यक्ष प्रमाण इसवक्त **राममूर्ति, श्रीकृष्ण-**

मिशन, दोरास्वामी, सेण्डो आदि मौजूद हैं। देखिये-विच्छू का दंश अणुमात्र होता है-सारे शरीर को व्याकुल कर देता है। विद्युत् अणुमात्र होती है-बड़े बड़े पर्वतों को गिरा देती है। नाद अत्यन्त हलका होता है-स्त्रियों के गर्भ को गिरा देता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-लिंग शरीर अदृश्य होने पर भी इतना बलवान् है कि-हजारों मनुष्यों से जो काम नहीं हो सकता वह उस के एक सामान्य मनुष्य से एक क्षण में कर दिखाता है। जब ऐसे सूक्ष्म-लिंगशरीर में इतनी अकुंठित अपार शक्ति भरी हुई है तो उस में विचार का संयम करने से अर्थात् तदाकार-तद्रूप हो जाने से साधक में उपर्युक्त बल क्यों न उत्पन्न होना चाहिये? सूक्ष्म-शरीर के साथ इथर Ether, विद्युत् Electricity, शब्द एवं नाद का घनीभूत संबन्ध होने से-जिस जिस पदार्थ में संयम किया जाता है उस में की सत्वशक्ति को वह आकर्षित कर लेता है एवं स्थूलशरीर उसी का मूर्त्त-दृश्यरूप होने से वह शक्ति उस में प्रत्यक्ष हो जाती है।

शरीर एवं चित्त की स्थिरता—हृदय के नीचे एक कूर्माकार नाड़ीचक्र है-जिसे 'कूर्मनाड़ी' कहते हैं-उस में संयम करने से साधक का चित्त स्थिर हो जाता है। अर्थात् विचारशक्ति निरुद्ध होके चितिशक्ति का उदय होता है। यही सूर्यचक्र-मणिपूरचक्र-Solar Plexus, मूलकन्द है। (देखो सूर्यचक्रवेध) यही वा इस के साथ सर्पाकार साढ़े तीन घेरेवाली नाड़ी रहती है-जिस को कुंडलिनी कहते हैं। वह प्रचण्ड सुवर्णवर्ण तेजःस्वरूप सत्व, रज एवं तम-गुणों को उत्पन्न करनेवाली आत्मशक्ति है। यह

त्रिकोणाकार योनिमंडल में (देखो पङ्कवेध) वन्धूक पुष्पसमान रक्तवर्ण कामवीज "क्लीं"—"क्लीं" में विराजमान है—अर्थात् इसी अक्षरगुच्छ के समान उस की आकृति है। पृष्ठवंश Spinal Cord अस्थिमणि की आकृति 'ळ' अक्षर के समान हैं उसी के यह साढ़े तीन घेरे हैं। इस कामवीज को तप्तसुवर्णसमान त्रिकोणगत लक्ष्य कर के ॐ के साथ जपना चाहिये। इसी कुंडलिनी से प्राणवायु उत्पन्न होता है एवं परावाणी का स्फुरण होता है। योगी इसी कुंडलिनीशक्ति को वायु एवं अग्नि के सूक्ष्मांश तड़िन्मय—विजली के कण—Electron स्वरूप मानते हैं। विद्युत् क्या पदार्थ है—इसका पूरा पता अभी जडविज्ञान को लगा नहीं। इस वक्त तक इतना ही मालूम हुआ है कि—विद्युत् यह एक प्रकार की गतिमात्र है। किन्तु एक ही दिशा को जिस गति का विचलन होता है उसे विद्युच्छक्ति कहते हैं। हमारे घर में फैले हुए वायु को यदि हम रुद्ध करके एक ही दिशा में संचालित करें तो एक महाविद्युदाधार—वेटरी Battery वन सकती है। उसीप्रकार मनुष्य के शरीर में श्वासप्रश्वास का एक केन्द्र है। वह हृदयप्रदेश के पीछे मेरुदण्ड—Spinal Cord है—उस में अवस्थित है। वह श्वासप्रश्वास की नलिकायन्त्रों को नियमितरूप से चलाता है एवं अन्यान्य स्नायुचक्रों पर अधिकार रखता है। उसी को सूर्यचक्रगतकुंडलिनी कहते हैं। प्राणायाम वा प्राणसंयम द्वारा सब नाड़ियों की शक्ति उस में सम्मिलित करने से, उस में अपार विद्युच्छक्ति उत्पन्न

होती है । वह मेरुदण्ड में रह कर ज्ञान–Cognition, इच्छा–Desire, क्रिया–Action रूप बन कर सब बाह्य एवं आन्तर शारीरिक कार्य सम्पादन करती है । असंख्य शून्य अथवा वायुवाहिनी धमनियां मेरुदण्ड में सम्मिलित रहती हैं उन में–ज्ञानशक्तिवाहिनी, इच्छाशक्तिवाहिनी एवं क्रियाशक्तिवाहिनी–ये तीन नाड़ियां मुख्य हैं । इन्हीं के द्वारा देह में सर्वत्र ज्ञान, इच्छा, क्रिया का संचालन होके देह के अणु अणु में विद्युच्छक्ति उत्पन्न होती है । डा० डाडस् कहते हैं कि–"मेरुदण्ड से लगा कर हृदय के ऊपर के भाग तक एक नाड़ी है उसी के द्वारा रक्ताभिसरण होता है । यदि उस का च्छेदन कर दिया जाय तो रक्ताभिसरणक्रिया एकदम बन्द हो जायगी । अर्थात् इसी नाड़ी द्वारा हृदय में रक्तसंचालिनीशक्ति उत्पन्न होती है ।" एक शरीरतत्ववेत्ता डाक्टर कहता है कि–"मेरुदण्ड के दोनों बाजू ज्ञानशक्तिवाहिनी, एवं क्रियाशक्तिवाहिनी नाड़ियां हैं । इन दो नाड़ियों के बीच में एक मुख्य नाड़ी है । उस के मूल में एक मज्जा का त्रिकोन टुकड़ा है–वहां से मस्तिष्क तक इन का संबन्ध है ।" शरीर की चीरफाड में उसे इस का ज्ञान हुआ है । (देखो आन्तर जगत का चित्र) मेरुदण्ड से मिली हुई असंख्य नाड़ियों में जो श्वासप्रश्वासक्रिया होती है वही देहस्थ मूलवायु है । उसी वायवीशक्ति का शक्तिकेन्द्र "कुंडलिनी" शक्ति है ।

अब देखिये—हमारे परमपूज्य भगवान् वासिष्ठ इस के लिये क्या कहते हैं–"देह के मर्मस्थान में–गोलाकृति,

आंतड़ियों को वेष्टन करनेवाली, सब नाड़ियों को आश्रयभूत, वीणादण्ड के मूलभाग में लगे हुए तारों की गुछली-समान, पानी के भंवरेसमान, 'ॐ' अक्षर के उत्तरार्ध-समान—(ॐ यह 'ॐ' का उत्तरार्ध 'क्लीं' अक्षर ही का स्वरूप है। एवं इस पर से ज्ञात होता है कि 'ओम्' की आकृति 'ओम्' ऐसी नहीं 'ॐ' ऐसी ही है।) एवं कुंडलाकार एक नाड़ी है। वह—देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, पक्षी, कीटकादि सब प्राणियों में विराजमान है। वह शीतनिवारणार्थ कुंडलाकार बैठे हुए सर्प के समान है। वह शुभ्र है। कल्पान्तअग्नि से विगलितचन्द्र के समान—अर्थात् जठराग्नि से विगलित मूर्धास्थितचन्द्र—मस्तिष्क में से एक प्रकार का कंठकूप पर स्राव होता है उस को चन्द्रामृत कहते हैं—वह मूलाधार में घनीभूत होके वर्तुलाकार होता है—उस के समान कुंडलाकृति, जंघामूल से अर्थात् गुदाद्वार से लगा कर भ्रूमध्य तक जितने रन्ध्र हैं उन का स्पर्श करनेवाली, मन की वृत्तियों को चंचल करके वारंवार श्वासप्रश्वास चलानेवाली नाड़ी है। उस के मूलके अन्दर कदलीगर्भकन्द के समान कोमल—वीणादण्ड के मूल के तार के समान नाद के वेग का स्फुरण करनेवाली—पराशक्ति जैसे वीणा में लगे हुए मूलतार में आघात पहुंचते ही स्पन्द होके नाद उत्पन्न होता है, उसीप्रकार मूलाधार में परमसूक्ष्म सर्व शब्दों की मूलभूतगति—शब्द-ब्रह्मरूपास्फूर्त्ति—परावाणी प्रकट होके प्राण की संगति द्वारा नाभि, हृदय, कंठप्रदेश में उत्तरोत्तर व्यक्त होकर पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का रूप धारण करती है।

टीकाकार कहते हैं—मंत्रशास्त्र में कहा है—"प्राणिमात्र का चैतन्य शब्दब्रह्म है। वह कुंडलीरूप धारण करके प्राणियों के शरीर मध्यभाग में गद्यपद्यादि भेद से वर्णात्मक होकर आविर्भूत होता है।"—ऐसी कुंडलाकार चलनेवाली, सर्व शक्तियों को वेग देनेवाली, प्राणिमात्र की परमशक्ति—कुंडलिनी नामक नाड़ी है। वह क्रुद्ध सर्पिणी के समान वारंवार प्रश्वास करनेवाली उर्ध्वमुखी अर्थात् श्वासयुक्त होके स्पन्दन का मूलकारण होती है। जब प्राणवायु हृदय में कुंडलिनीरूप होता है तब महाभूत पंचतन्मात्रा अर्थात् शीतोष्ण स्पर्शादिरूप वीजभूत संवित्—ज्ञानशक्ति का उदय होता है। कमल पर भ्रमरी के समान देह में कुंडलिनी जैसा स्फुरण करती है वैसी मृदुस्पर्शवशोदया अर्थात् प्रथम कोमल स्पर्श होके प्रकाशित होनेवाली संवित्—ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है। जैसे दोनों यंत्रों पर परस्पर कोमल—थोड़ा आघात होकर उत्तरोत्तर शक्ति—गति वढ़ती है—उसीप्रकार कुंडलिनी के वेग से संवित्—ज्ञानशक्ति उत्तरोत्तर वढ़ती है। जैसे महासमुद्र में विकाससंकोच होके नदियां रहती हैं वैसे हृदय-कोश की सव नाड़ियां कुंडलिनी में वद्ध होकर रहती हैं। वही एक श्वासप्रश्वासरूपा सर्व ज्ञानशक्ति की वीजभूत मूलाधार संवित् है।" इसी को भगवान् पतंजलि ने कूर्मनाड़ी कही है। अर्थात् यह कछुआ की आकृतिसमान है। जैसे कछुआ अपने अवयवों को संकुचित कर लेता है या विस्तृत कर देता है वैसे ही इस का संकोचविकास होता है—इसीलिये इस को 'कूर्मनाड़ी' संज्ञा दी है। यही शरीर की संवित्—ज्ञानस्फु-

रणशक्ति है। नाभिस्थान में साढ़े तीन घेरे देकर मुख में पुच्छ दबाई हुई सर्पाकृति कुंडलिनी की धारणा-भावना सूर्यचक्र-मणिपूरचक्र के साथ करके संयम करने से चित्त एवं शरीर का स्थिर होना तो क्या—जगत् में फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं। यही संविद्रूपाकुंडलिनी इच्छित साध्य करनेवाली महाशक्ति है।

क्षुत्पिपासा की निवृत्ति—भूख प्यास न लगना। जिह्वा के नीचे मूलभाग में एक नाड़ी है। वह कंठप्रदेश में कूपाकार है—इसलिये उसे कंठकूप कहते हैं। आजकल के डाक्टर उसी को फ़ेरिन्क्स—Pharynx और लेरिन्क्स—Larynx कंठनलिका और श्वासनलिका कहते हैं—जिन के द्वारा प्राणवायु शरीर के वाहर आता है और अन्दर जाता है जिस से भूख और प्यास का वोध होता है। क्यों कि, प्राणवायु के आने जाने से वहां घर्षण होके मुख में लाला उत्पन्न होती है, वह कंठकूप में जाते ही—उस के द्वारा क्षुत्पिपासा का ज्ञान होता है। अतएव कंठकूप में संयम करने से प्राणवायु का प्रवाह कम हो जाता है; तिस के घर्षणाभाव से भूख प्यास का अभाव हो जाता है। वैसे ही शरीर में विचारान्दोलन के साथ श्वासप्रश्वास का जितना अधिक वेग होता है—उतने ही अधिक अन्नजल की आवश्यकता होती है। जैसे एंजिन के अधिक वेग से वाइलर में अधिक ईन्धन जलता है, कम वेग में कम एवं वेग के अभाव में कुछ नहीं। वैसे ही श्वास के नासाग्रगामी हो जाने से—अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार—"प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचा-

रिणौ" प्राण एवं अपान को नासिका के अंदर समानरूप स्थिर रखने से क्षुत्पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। खेचरी मुद्रा करनेवाले साधक अभी विद्यमान हैं जिन्हें इस बात का पूर्ण अनुभव है।

अग्निसमान तेजस्वी शरीर—हृदय से नाभि तक रहनेवाला, भुक्त अन्न का रस नाडियों में पहुंचानेवाला, एवं जठराग्नि को दबा रखनेवाला—समान वायु है। जब इस वायु में संयम कर के इस पर अधिकार कर लिया जाता है तब साधक का शरीर प्रज्वलित अग्नि के समान देख पड़ता है। या मूर्धास्थान, त्रिकुटिस्थान, मुख एवं स्कन्धों में से अग्नि की ज्वाला निकलती हुई दिखाई देती है—इस का कारण यह है कि—जठरस्थ अग्नि—समान वायु के ज़ोर से अपने स्थान में स्थिर रहती है। समान वायु का जय करने से जठराग्नि पर का भार हट जाता है जिस से वह अग्नि बाहर निकल आती है। अथवा यों कहने में कोई बाधा नहीं है कि—संयम द्वारा विद्युत् का अधिक आविर्भाव होने से ओजस–प्राणशक्ति एवं वीर्य–बल अपने तैजस–प्रकाशक–तत्वोंसहित झलक उठते हैं। अथवा सूर्यचक्र का उदय होके शरीर के चहुं ओर उस के किरणों का तेजोवलय Aura घिर जाता है एवं उस का प्रकाश प्रत्यक्ष हो जाता है।

अन्तर्धानसिद्धि—गुप्त-अदृश्य हो जाना। अपने शरीर के रूप में संयम करने से दूसरों के नेत्रों में जो रूप देखने की शक्ति है वह स्तंभित हो जाती है। अर्थात् देखनेवाले मनुष्य के नेत्रों के प्रकाश का संयोग, साधक

के शरीर के रूप के साथ न होने से, वह अदृश्य हो जाता है—सुतरां अन्यों की दृष्टि का स्तंभन होकर वह किसी को दिखाई नहीं देता । सत्वप्रकाश द्वारा नेत्रों में रूपग्रहण-शक्ति प्राप्त होती है । उस का अन्योन्य परावर्त्तन होने से एकमेक को एकमेक देख सकता है । सत्व का प्रकाश प्रत्येक पदार्थ से निकलता रहता है । मि० कोलव्हिले W. J. Colville के ह्युमन ओरा एण्ड दि सिग्निफ़िकन्स आफ् कलर The Human Aura and the Significance of Color, प्रो० ग्रम्बिन Pro. Grumbine के ओरस् एण्ड कलर Auras and Color, और मि० हाश्नुहारा O Hashnu Hara के ह्युमन ओरा The Human Aura नामक ग्रन्थों पर से एवं पूर्व कथितानुसार मिसेस एनि बिझान्ट और डा० किलनेर इत्यादि कों के अनुसन्धानानुसार प्रत्येक मनुष्य शरीर के चारों ओर न्यूनाधिक प्रकाश वर्त्तुलाकार परिवेष्टित रहता है । जिन मनुष्यों का पवित्राचरण है, या साधक सिद्ध अवस्था है उन के परिवेश—वर्त्तुल का प्रकाश स्पष्ट एवं तेजस्वी होता है । इस परिवेश का प्रकाश—तेज बहुत सूक्ष्म होता है इसलिये वह स्थूल दृष्टि से नज़र नहीं आता । मेस्मेरिझम्, स्पिरिचुआलिझम्, हिप्नोटिझम् आदि के प्रयोग करने में इसी का उपयोग होता है । विचारस्थि-रता—चित्तैकाग्रता से वा त्राटक से एवं पूर्व कथितानु-सार इस प्रकाश का अनुभव हो सकता है । जब साधक अपने शरीर के रूप का संयम करता है—अर्थात् अपना फ़ोटो सामने रख कर निमिषोन्मेषरहित दृष्टि जमा कर लगा-तार अपने रूप का ध्यान कर के संयम करता है तब उस

का वह शरीरस्थ सत्व-प्रकाश—अर्थात् प्रकाशपरिवेश—तेजो-वलय या किरणों का वर्त्तुल—Aura अन्दर खिंच जाता है, या देखनेवाले की दृष्टि का अतिक्रम कर जाता है—जिस से कोई साधक को देख नहीं सकता—इस प्रकार साधक अन्तर्धान हो जाता है । यह तो एक रूप की बात हुई—इसी प्रकार साधक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि तन्मात्राओं का संयम करेगा तो उस का शब्द किसी को सुनाई नहीं देगा, उस का स्पर्श किसी को मालूम न होगा, उक्त विवेचनानुसार उस का रूप किसी को न दीखेगा एवं उस के रसगन्ध आदि को कोई न जान सकेगा—अर्थात् उस की शारीरिक क्रिया का ज्ञान किसी को न होगा । इस के प्रत्यक्ष प्रमाण में एक पाश्चिमात्य विज्ञानवेत्ता कहता है कि—"नेत्रविन्दु में एक ऐसा घटकावयव है कि जिस से कोई वस्तु देख नहीं पड़ती—उस अवयव को 'अन्ध विन्दु' कहते हैं । नेत्रों में उस अन्धविन्दु के होने का प्रमाण यह है कि—दोनों बाज़ू o*o गोलवृत्त एवं मध्य में तारा हैं । यदि तारे पर दृष्टि जमाई जाय और नाकपर नेत्रों के बीच सादी छोटे काग़ज़ की तख़्ती रक्खी जाय तो दोनों ओर के गोलवृत्त अदृश्य हो जावेंगे ।" इसी प्रकार अन्य दृष्टि के स्तंभन होने में क्या शंका है ?

शरीर को हलका बनाना—प्राणापान आदि एवं इंन्द्रियों के व्यापार को जीवन कहते हैं । यह इंन्द्रियों की जीवनवृत्ति दो प्रकार की है—एक ज्ञानरूप एवं अन्य कर्म-रूप है । जीवनवृत्ति इन्द्रियों का व्यापार है—और वह

व्यापार प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यानरूप पांच प्रकार का है—इन का परिचय आगे होगा। इन्हीं पांचों में से कंठनासिकाग्र से ब्रह्मरन्ध्र तक उदानवायु रहता है। वही मरण के अनन्तर सूक्ष्म-लिंग शरीर की उन्नावस्था का कारण होता है। इसलिये उदानवायु का संयम द्वारा जय करने से अन्य प्राण, अपान, समान, एवं व्यान वायुओं के व्यापार का निरोध होता है और उदानवायु अति प्रबल होके साधक का शरीर अत्यन्त हलका रूई के समान बना देता है—उस से साधक पानी पर, कीचडपर और कांटों पर से चला जाता है किन्तु उन का उस के शरीर को स्पर्श-तक नहीं होता। वैसेही वह इच्छामरणी होके अर्चि-रादि उत्तरायण—उत्तरमार्ग द्वारा मुक्ति को प्राप्त होता है। इस का तात्पर्य यही है कि—उदान वायु की आकृति, बीज एवं स्थान पर यथोक्तरीति से धारणा-भावना कर के संयम करने से साधक को ऊर्ध्वगति प्राप्त होके उस का शरीर पुष्पवत् हलका हो जाता है—किन्तु एक इंच हम चौरस जगहपर १५ पौंड याने ७॥ सेर वायु का भार रहता है तो—औसत् ६४ इंच लंबे और १६ इंच सामने और १६ इंच पीछे मिल कर ३२ इंच चौड़े शरीरपर—दोनों संख्या का गुणाकार करने से २०४८ इंच होते हैं, पंधरह पौंड के हिसाब से ३०७२० पौंड भार होता है जिस के ३८४ मन होते हैं; पहिले ही शरीर का डेढ़ दोन मन बोझ है एवं उस पर इतने प्रचण्ड बोझ का आवरण है तो वह कैसे रूई के समान हलका हो सकता है?—इस भूगोल के चारों ओर विस्तीर्ण

वायुमंडल है। उस का प्रवाह जितना पृथ्वी के निकट आता है उतना उतना उस में पार्थिवांश अधिकाधिक मिल कर वह भारी होता है; एवं पृथ्वी से जितना जितना वह दूर रहता है उतना उतना उस में पार्थिवांश कम कम रह कर वह हलका होता है। वायु में से पार्थिवांश निकाल कर उसको शुद्ध–सात्विक–मूलरूप हलका वना लेने से पदार्थ पर का भार कम होके वह रूई या पुष्प के समान हलका वन सकता है। इसी तत्व पर आजकल विमान आकाश में उड़ाये जाते हैं। वे जिस रासायनिक क्रिया के द्वारा पार्थिव जड़वायु को शुद्ध–सात्विक एवं हलका कर के विमान की उर्ध्वगति कर सकते हैं–वही नैसर्गिक गति–रासायनिक क्रिया, उदानवायु के जय से स्वयमेव प्राप्त हो के वायु का भार निकल जाते ही साधक अवश्यमेव चाहे जितना हलका हो सकता है। किसी किसी पत्ती का शरीर मनुष्य के शरीर इतना या उस से भी भारी एवं विशाल होता है तो भी वह उड़ सकता है इस का कारण यह है कि–उस की हड्डियां पोली रहती हैं, उन में पार्थिववायु को भर कर नैसर्गिक उड्डान द्वारा वह अपने पंखों से वायु का भार कम कर सकता है और जितना आकाश में ऊंचा चला जाता है उतना सुखपूर्वक उड़ता रहता हैं। अर्थात् उदान वायु के संयम से पार्थिववायु का भार हटा कर साधक रूई से भी हलका वन जाता है–इस का प्रत्यक्ष प्रमाण इस वक़ प्रसिद्ध नर्त्तकाचार्य पं० गिरिधारीलालजी तिवारी हैं। जो पानी के हौज़ पर, वताशों पर, नंगी तलवारोंकी धारों-पर, भालों की नौकों पर, कांटों पर नाचते हैं। पानीमें

डूबते नहीं, बताशे टूटते नहीं, शस्त्रकारों से जखम होते नहीं। वे अब अमेरिका जानेवाले हैं—ऐसा "सरस्वती" पर से मालूम हुआ है।

आकाशगमन—साधक आसन लगा कर जहां बैठता है उस के इतस्ततः सर्वत्र आकाश भरा हुआ रहता है। अर्थात् आकाश का आवरण शरीर के चारों ओर है एवं शरीर और आकाश का व्याप्यव्यापक संबन्ध है। उस में संयम करने से साधक उस 'संबन्ध' का साक्षात्कार करके उस को अपने अधिकार में लेता है तब उस का शरीर बिलकुल पार्थिवांशरहित हलके पवन के समान हो जाता है—क्योंकि उपर्युक्त संयम और इस संयम द्वारा अर्थात् उदान के जय से एवं आकाश के 'संबन्ध' के जय से आकाश की व्यापकसत्ता एवं पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणसत्ता पर अधिकार होते ही पूर्वकथितानुसार आकाश में उड़ जाने की अद्भुतशक्ति प्राप्त होती है। उस का क्रम ऐसा है कि—जैसे जैसे पार्थिवांश वायु का बोझ हट कर शरीर हलका होता जाता है वैसे वैसे वह आसानी से प्रथम पानी पर, कांटों के जाल पर एवं मकड़ी के जाल आदि पर और पीछे सूर्य के किरणों पर चलते चलते अन्त में साधक का शरीर इतना हलका हो जाता है कि—वह यथेच्छ अनन्त आकाश में विहार कर सकता है।

परकायाप्रवेश—चित्त अति चंचल होने से वायु से भी उस का अधिक वेग है एवं अतिसूक्ष्म होने से सर्वत्र शरीरादिकों में प्रवेश कर सकता है। किन्तु पूर्व के धर्माधर्म-

रूप कर्मबल से अपने शरीर ही में बद्ध रहता है एवं वहीं वह अपना नियमित व्यापार करके सुखदुःखादिकों का अनुभव लेता है। चित्त के बन्धन का कारण क्या है—धर्माधर्मरूप कर्म एवं उस कर्म के संस्कार हैं। इन संस्कारों को शिथिल किया जाता है तब चित्त के बन्धन के कारण का नाश हो जाता है। जिस से चित्त अपनी स्वाभाविक गति द्वारा शरीर के बाहर जा सकता है। तथापि चित्त के बन्धकारण के शैथिल्य ही से उस का परशरीर में प्रवेश नहीं हो सकता। किन्तु जिन नाड़ीचक्रों द्वारा चित्त परशरीर में प्रवेश कर सकता है या बाहर निकल सकता है—उन नाड़ीचक्रों का पूरा ज्ञान प्राप्त करके, बन्धरहित स्वतन्त्र चित्त हो जाने पर दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। चित्त की इस प्रवेशाप्रवेश क्रिया को नाड़ी का प्रचार कहते हैं। प्रचाररूप चित्त की गति के आनेजाने के मार्ग का यथार्थ ज्ञान होने ही से सूक्ष्मशरीरसहित चित्त परकाया में प्रवेश कर सकता है—इसलिये भगवान् पातंजलि कहते हैं कि—चित्त को बन्धन करनेवाले कर्मरूप कारणों में संयम करने से उन कारणों की शिथिलता होती है और प्रचार में संयम करके उस का साक्षात्कार कर लेने पर यथार्थ ज्ञान होता है। वह ज्ञान होते ही—जैसे कोई अपने घर में या पराये घर में किवाड़ खोल कर झट चला जाता है; वैसे ही साधक का चित्त मृतकशरीर में या जीवितशरीर में झट प्रवेश कर जाता है। प्रश्नोपनिषत् के कथनानुसार भाष्यकार कहते हैं कि—"यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते" जैसे मधुम-

चिकाओं का राजा एक पुष्प पर से उठ कर अन्य पुष्प पर जा बैठते ही उस के पीछे सब मक्खियां उड़ कर उस के पास आ बैठती हैं-उसी प्रकार चित्त के साथ ही ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियांदि सब परशरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं या पीछे अपने शरीर में आ जाते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने एक मृतक राजा के शरीर में प्रवेश करके कितने ही दिन राज्योपभोग लेने पर पीछे अपने शरीर में प्रवेश करके मंडनमिश्र की स्त्री को पराजित किया था। प्रसिद्ध शीलनाथ महाराज इस वक्त देवास में विराजमान हैं। उन को यह सिद्धि प्राप्त है और उन्हों ने एकवार इस का प्रयोग भी किया था।

क-ज्ञानरूप सिद्धियां।

सब प्राणियों की भाषा का ज्ञान—छोटे बड़े सब प्राणी अनेक प्रकार के शब्द अथवा ध्वनि उच्चारण करते हैं-वह उन की भाषा कहलाती है। अब तक ऐसा माना जाता था कि प्राणियों की भाषा नहीं है। किन्तु कुछ समय के पहिले एक पाश्चिमात्य विद्वान ने फ़ोनोग्राफ़ यंत्र की सहायता से सिद्ध कर दिखाया है कि-मनुष्येतर प्राणियों की भी भाषा है। (१) वागिन्द्रिय में से शब्द उत्पन्न होकर बाहर आते हैं उन के-उर, कंठ, शिर, जिव्हा, दन्त, नासिका, ओष्ठ एवं तालु-आठ स्थान हैं-उन को वर्णात्मक शब्द कहते हैं। (२) इन शब्दों के वीचितरंगन्याय-अर्थात् जलाशय में पत्थर की कंकरी डालने से जो वर्तुलाकार आवर्त्त बनते हैं; उस के अनुसार

आन्दोलन Vibration द्वारा उदानवायु एक पीछे एक अनेक शब्दों को उत्पन्न करके कर्णगोचर कराता है। शब्द ध्वनि का नादात्मक परिणाम है एवं ध्वनि उदानवायु द्वारा वागिन्द्रिय पर होनेवाले आघात-स्फुरण का परिणाम है। नादात्मक शब्द सजातीय होने से उन्हें वर्णसमुद्भूत जानना चाहिये। (३) उक्त शब्द वक्ता के मुख से बाहर निकल कर श्रोता के कान पर आघात पहुंचा कर अन्तः-करण में प्रवेश करते हैं-फिर उन्हें बुद्धि ग्रहण करती है, बुद्धि पर उन का संस्कार होता है, उस संस्कार से बने हुए वर्णों से एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है-उसे स्फोट कहते हैं। अर्थात् अन्तःकरण का ग्रहण किया हुआ तीसरे प्रकार का यह शब्द है। इसी को पद भी कहते हैं और वह युगपत् उत्पन्न होता है-इसलिये वर्ण से भिन्न है। वर्णों के मिश्रण से पद बनता है, अनेक पदों से वाक्य बनता है एवं पदों की विशिष्ट संख्या से अर्थ का बोध होता है-अर्थात् अर्थ का बोध करने की शक्ति पद में और वाक्य में रहती है। अर्थ-जाति, गुण, क्रिया आदि को कहते हैं। जैसे मनुष्य, अश्व, गो आदि-जाति। सफ़ेद, काला, पीला, खट्टा, मीठा आदि-गुण आना, जाना, लेना, देना आदि-क्रिया होती हैं। प्रत्यय-ज्ञान, अर्थात् विषयाकार वा अर्थाकार बुद्धि की वृत्ति को कहते हैं। अब ये तीनों-शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय-ज्ञान भिन्न भिन्न होकर भी व्यवहार में एक ही प्रतीत होते हैं-इस को हम उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं-"गाय" यह एक पद (शब्दस्फोट) है। यह जिस को "सास्ना"-अर्थात्

जिस के गले पर लंबी मांस की झालर है–ऐसे प्राणी के स्वरूप की जाति का बोध करता है–इसलिये वह पदार्थ या अर्थ कहलाता है। "गाय" शब्द का आघात कर्ण पर होते ही–वह अन्तःकरण में पहुंचने पर उस शब्द के अर्थ की आकृति का रूप अन्तःकरण की वृत्ति बनती है–अर्थात् शब्द का ज्ञान होता है–इस को 'प्रत्यय' कहते हैं। इस प्रकार–"गाय" यह शब्द "गाय" यह अर्थ, एवं "गाय" यह प्रत्यय–तीनों परस्पर भिन्न हैं। वैसे ही उन के आश्रयस्थान भी भिन्न भिन्न हैं। जैसे शब्द का आश्रयस्थान वक्ता के कंठ, जिव्हा, दन्त आदि हैं, अर्थ का आश्रयस्थान अमुक नाम, जाति, गुणधर्मवान् कोई पदार्थ है और प्रत्यय का आश्रयस्थान श्रोता का अन्तः-करण है–ऐसे ये तीनों भिन्न भिन्न हैं तो भी, व्यवहार में एक ही भासमान होते हैं। जैसे हम अपने नौकर से कहें कि–"गाय ला" तो "गाय" के शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय–ज्ञान भिन्न भिन्न हैं–इस का उसे ज्ञान नहीं होता; और वह एक ही है ऐसा जान कर तुरन्त "गाय" को ले आता है। यदि उसे पूछा जाय कि–"मैंने–गाय ला–कहा"–इस में शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय क्या क्या है–तो वह "गाय" के सिवा अन्य कुछ नहीं कह सकेगा। कभी कभी वक्ता एवं श्रोता के मनोभाव–विचारप्रवाह की गति भिन्न हो जाने से–शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय–ज्ञान में भिन्नता–विपर्यास हो जाता है। जैसे–कोई अपने नौकर से कहे कि–"सन्दूक़ ला" तो वह "बन्दूक़" ला देता है–यह शब्दविपर्यास हुआ। कोई कहे–"बाजा ला" तो वह फ़ोनोग्राफ़ के बदले

हारमोनियम ला देता है—यह अर्थविपर्यास हुआ। कोई कहे—"टाइम्स ला" तो वह कुछ नहीं लाता और कहता है कि—"क्या लावूं ?" यह प्रत्यय—ज्ञानविपर्यास हुआ। ऐसा है तोभी, शब्द से अर्थ और अर्थ से ज्ञान प्रकट होता है—उसे प्रत्यय—अनुभव कहते हैं—इसलिये इन तीनों के पृथक् पृथक् विभाग कर के अर्थात् शब्द में, अर्थ में एवं प्रत्यय में संयम करने से पशुपक्षी आदि स्थलचर, जलचर, नभश्चर प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होके साधक को उन के अर्थ का ज्ञान होता है।

परचित्त का ज्ञान—दूसरे मनुष्य की चित्तवृत्ति का सामान्य ज्ञान उस के मुख पर हर्षशोकादि विकारों पर से ठीक हो सकता है—इसलिये उन विकारों को ग्रहण करके उन पर संयम करने से विकार अथवा वृत्ति आश्रयरूप चित्त का साक्षात्कार होता है। जिस से "अमुक प्रकार का चित्त है"—ऐसा विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है। अर्थात् दूसरे के चित्त में वैराग्यवृत्ति है या विषयासक्ति है—आदि चित्त के सामान्य धर्मज्ञात हो सकते हैं। किन्तु अमुक मनुष्य के चित्त में अमुक विषय है या अमुक विचार चल रहा है—इत्यादि विशेष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि साधक ने अमुक मनुष्य के चित्त में क्या विषय है और क्या विचार चल रहा है—ऐसे चित्त के धर्म पर धारणा—भावना करके संयम किया नहीं है। केवल हर्षशोकादिकों से मनुष्य के मुख पर जो परिणाम व्यक्त होता है—उस पर संयम किया हुआ है, इसलिये

इस संयम से खाली मनुष्य का चित्त दुःखित, आनन्दित, आसक्त, विरक्त आदि किस प्रकार का है–इतना ही सामान्य ज्ञान हो सकता है । जब अन्य मनुष्य के चित्त में–"किस विषय का चिन्तन या विचार चल रहा है–इस का साक्षात्कार हो"–इस प्रकार धारणापूर्वक संयम किया जाता है, तब उस के चित्त के विषय या विचार का ज्ञान होता है ।

शरीररचना का ज्ञान–नाभिचक्र में–मूलकन्द में–सूर्यचक्र में मणिपूरचक्र में Solar Plexus में संयम करने से शरीर के अन्दर के सब अवयव अर्थात् रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, स्नायु, नाड़ी, तन्तु, शिरा, रस, मल, धातु–इत्यादिकों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । स्थूलसूक्ष्म नाड़ीजाल के असंख्य चक्र रहते हैं–उन में कितने नेत्रों से दीख सकते हैं, कितने सूक्ष्मदर्शक यंत्र से दीख सकते हैं एवं कितने मुतलक नहीं दीख सकते–किन्तु सब प्रकार के स्थूल से स्थूल एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म चेतनशक्तियुक्त सक्रिय नाड़ीचक्र संयमशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष नज़र आ सकते हैं । पाश्चात्य डाक्टरों ने अनेक मुर्दों की चीरफाड करके, अनेक रोगी मनुष्यों की शस्त्रक्रिया करके, अनेक प्राणियों को चीरचार के एवं शारीरिक बाह्य रचना की क्रियाओं पर से, आन्तर शरीररचना का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करके अनेक सचित्र पुस्तकें प्रकाशित कर सर्वतोपरि अपना प्रभाव जमाया है । और इस वक्त उन्हों ने शरीर की अन्तःक्रिया का प्रत्यक्ष निरीक्षण करने के लिये–X Rays एक्स रेझ नामक अपूर्व

पदार्थ भी प्राप्त कर लिया है—तथापि हमारे ऋषि, मुनि, महात्मा, भिषगाचार्य—अश्विनीकुमार, सुषेण, अत्रि, हारीत, अग्निवेष, सुश्रुत, धन्वन्तरि, वाग्भट—इत्यादिकों ने संयमशक्ति द्वारा जो सजीव एवं सक्रिय आन्तर शरीर-रचना का ज्ञान प्राप्त किया था—उस के समान ज्ञान मुर्दों की चीरफाड़ से या स्थूलयन्त्र एक्सरेफ़ इत्यादिकों से कैसे हो सकता है? इस के लिये **स्वामी ए. पी. मुकरजी** अपनी "युवर इनर फ़ोर्स" नामक पुस्तक में लिखते हैं कि—"इस वक़् के वहुत आगे वढ़े हुए वैज्ञानिकों का मत है कि—विचारान्दोलनशक्ति का ज्ञान आधुनिक प्रस्तुत 'एक्स-रेफ़' आदि अच्छे से अच्छे पदार्थ या यंत्रों द्वारा कभी प्राप्त नहीं हो सकता।" शरीर में २०० हड्डियां हैं—ऐसा मुर्दों की चीरफ़ाड से डाक्टरों ने स्थिर किया है किन्तु हमारे सुश्रुत में उन की संख्या ३६० है। अर्थात् प्रत्यत्त प्रमाण के आगे अव यह वात झूठ प्रमाणित होने में शंका ही क्या रही? किन्तु आक्सफ़ोर्ड युनिवरसिटी के प्रसिद्ध डाक्टर **हार्नलेने** अपनी 'आस्टिओलजी आफ़ दि एन्शान्ट हिन्दूस्-' Ostiology of the ancient Hindus नामक पुस्तक में वड़ी योग्यता के साथ प्रमाणित किया है कि—**सुश्रुताचार्य** का कहना ठीक है। **फिलाडेल्फिया** के डाक्टर **जार्ज क्लर्क** एम्. ए., एम्. डी. महाशय ने कहा है। कि—"चरक के पढ़ने पर मेरा सिद्धान्त हुआ है कि समग्र फ़ार्माकोपिया का एवं नवाविष्कृत औषधों का त्याग करके चरक के अनुसार चिकित्सा की जाय तो, अकाल मृत्यु की संख्या वहुत घट जायगी।" नाभिचक्र—Solar Plexus

में संयम करने का कारण यह है कि—मूलाधार-गुदा का पिछला भाग, स्वाधिष्ठान-जननेन्द्रिय का पिछला भाग एवं मणिपूरचक्र—नाभिस्थान के नीचे मेरुदण्ड से मिला हुआ भाग—ये सब, पीठ के मेरुदण्ड के आरंभ से नाभि तक एक पर एक चक्राकार नाड़ियों के भिन्न भिन्न जाल हैं। वीर्य का परिणाम गर्भस्थान में होता है तब उस का प्रथम Solar Plexus—मणिपूरचक्र अर्थात् नाभिचक्र—मूलकन्द बनता है; फिर क्रमशः हृदय, हस्त, पादादि अवयव बनते हैं। यह कदली के कन्द के समान शरीर का मूलकन्द है—इसलिये इस में संयम करने से शरीर के सब स्थूलसूक्ष्म अवयवों का ज्ञान होना अत्यन्त संभव है।

मृत्यु का ज्ञान—सामान्य मनुष्य, कई मरणसूचक चिन्हों पर से मृत्यु समय का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अध्यात्मिक अरिष्ट—दोनों कानों के छिद्र बन्द कर लेने पर फड़ फड़ आवाज़ न सुनाई देना या नित्य जिस प्रकार की आवाज सुनते हैं उस के विपरीत आवाज़ सुनाई देना; आधिभौतिक अरिष्ट—एकाएक शरीर का रूपान्तर प्रतीत होना, भ्रुकुटि का मध्य, नासिका का अग्र या ध्रुव का तारा न देख पड़ना और आधिदैविक अरिष्ट—यमदूतों का दर्शन, दुष्ट स्वप्न, अशुभ लक्षण नज़र आना—इत्यादि चिन्हों पर से, कालज्ञान वा अनुमान पर से मृत्यु का ज्ञान हो सकता है। किन्तु वह संशयित रहता है, और उस में निश्चित समय का एवं स्थल का बोध नहीं होता है। सोपक्रम—अर्थात् पूर्वजन्म में किया हुआ अविलम्ब फलोन्मुख

कर्म—थोड़े समय में फल देनेवाला कर्म एवं निरुपक्रम—अर्थात् पूर्वजन्म में किया हुआ सविलम्ब फलोन्मुख कर्म—कुछ समय पीछे फल देनेवाला कर्म—इन दोनों कर्मों में संयम करने से ये दोनों कर्म—किस समय में और किस स्थल में सम्पूर्ण फल प्राप्त करेंगे—यह स्पष्ट ज्ञात होता है। इस से मृत्यु किस प्रदेश में एवं किस समय में होगी—यह प्रथम मालूम हो जाता है। इस में—सोपक्रम कर्म में संयम करने से समीपस्थ मरण का ज्ञान होता है; एवं निरुपक्रम कर्म में संयम करने से दूरस्थ मरण का ज्ञान होता है। यह सभी जानते हैं कि—कितने ही सामान्य मनुष्यों को स्वयमेव मृत्यु का ज्ञान होता है—इस के कई उदाहरण हैं; वैसे ही बड़े बड़े महात्मा, साधु, संन्यासी, महन्त, त्यागी, श्रमणक, जती, फ़क़ीर, वली आदि कितने ही सत्पुरुषों को मृत्यु के समय, स्थल का सम्पूर्ण ज्ञान होके उन का पूर्ण शान्ति एवं समारोह के साथ निर्वाण हुआ है—यह भी किसी से छिपा नहीं है।

तारों की रचना का ज्ञान—चन्द्रमंडल में संयम करने से प्रत्येक तारे की रचना का ज्ञान होता है। सूर्य के तेज से तारों का तेज अतिन्यून होने के कारण वे सूर्य के तेज से निस्तेज रहते हैं—इसलिये सूर्य के संयम से तारों का ज्ञान होना संभव नहीं। चन्द्रमा का संपूर्ण प्रकाश होने पर भी तारे प्रकाशमान रह कर दिखाई देते हैं—अतएव चन्द्रमंडल में संयम करने से तारों के व्यूह—गोल का ज्ञान होना संभव है। क्योंकि भौतिक पदार्थों का ओरा Aura

अर्थात् विचारकिरणों का प्रकाश आकर्षित हो जाने से जगत् के अपार प्रदेश में फैले हुए तारों की रचना साधक देख सकता है। वैसे ही ध्रुव के तारे में संयम करने से प्रत्येक तारे की गति, उदय एवं अस्त का ज्ञान होता है। आजकल बड़ी बड़ी ७५ फुट लंबी और जिस के अंदर से घोड़े पर बैठा हुआ सवार निकल जाय—ऐसी दूरबीनो द्वारा पाश्चात्य पंडित ग्रहतारों को प्रत्यक्ष देख कर उन की गति आदिका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। उन्हों ने पता लगाया है कि—बहुधा सब ग्रह उपग्रह गतिमान् हैं—किन्तु कितने स्थिर भी हैं। सूर्य स्थिर है किन्तु वह भी सम्पूर्ण ग्रह-माला के साथ किसी महान् सूर्य के आसपास एक सेकण्ड में पांच हजार मील के वेग से फिरता है। आकाशगंगा में असंख्य तारागण खचाखच भरे हुए हैं—उन को कौन गिन सकता है या उन का पता लगा सकता है? हमारे ऋषिमुनि महर्षियों ने पूर्वकाल में जो कुछ पता लगा कर लगा कर ज्योतिषशास्त्र बनाया था वह सब सूर्य, चन्द्र, एवं ध्रुव तारा में संयम ही का फल था। सब प्राचीन भारतीय ज्योतिषी—'पृथ्वी स्थिर है और आकाश गतिमान् है'—ऐसा मानते थे—ऐसा कहना संस्कृत भाषा का अज्ञान एवं गवेषणा का अभाव है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, ऐतरेय ब्राह्मणादिकों के देखने से विदित हो जायगा कि—"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरंपुरः" एवं "गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यह मोजसा" इत्यादि अनेक प्रमाण जहां तहां विद्यमान हैं। दूरबीन, स्पेक्ट्रास्कोप आदि यंत्र स्थूलदृष्टि

के लिये हैं । स्थूलदृष्टि मर्यादित है—उस को सूक्ष्म करने के लिये चाहे जिस पदार्थ की सहायता ली जाय तोभी वह अमर्याद नहीं हो सकती । संयम करने से विचारशक्ति द्वारा दिव्यदृष्टि हो जाने पर हम चाहे सो देख सकते हैं—इस के लिये अब कोई शंका नहीं है । अर्थात् चन्द्र एवं ध्रुव तारा में संयम करने से जो दूरबीन, स्पेक्ट्रास्कोप आदि साधनों द्वारा तारागण नहीं देख पड़ते वे सब दीख सकते हैं ।

सूक्ष्म, आच्छादित एवं दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान—हम कोई कोई पदार्थ देख नहीं सकते—इसके तीन कारण हैं । एक—अत्यन्त सूक्ष्मता, जैसे—सूक्ष्म रजःकण, परमाणु आदि; दूसरा—अच्छादन—पदार्थ के और हमारे बीच में कोई पदार्थ आपड़ा हो, जैसे—किसी गठरी में, संदूक में, कमरे में, घर में, कोठे में रक्खा हुआ पदार्थ या भूमि में दटा हुआ द्रव्यादि पदार्थ; तीसरा—दूरप्रदेशस्थिति, जैसे—अन्यग्राम, नगर, देश प्रदेश आदि में रहे हुए पदार्थ—ये सूक्ष्मता, आच्छादन एवं दूर स्थिति दूर होकर पदार्थों को दृष्टिगोचर करने या उन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्योतिष्य प्रवृत्ति का उदय होना चाहिये । अर्थात् ज्ञानरूप सात्विक प्रकाश से चित्त शान्त होके एकाग्र होता है एवं एकही स्थानपर उस का लय होता है । चित्त का लय करने के लिये हृमध्य—अनाहत पद्म जो बारह दल का है एवं जिस का मणिपूरचक्र—Solar Plexs के सम्बन्ध है (इस का विवरण आगे होगा) उस में धा-

रणा करने से ज्योतिष्मती—आत्मज्योति; चितिशक्ति का साक्षात्कार होता है। ज्योतिष्मती से चित्त में ज्ञानरूप सात्विक चितिप्रकाश उत्पन्न होता है—उसे आलोक कहते हैं। उस आलोक में संयम करने से साक्षात्कार होनेपर जब साधक उस विद्युद्रूप सत्व प्रकाश को जिस जिस सूक्ष्म, आच्छादित एवं दूरस्थ पदार्थ में प्रेरित करता है तब उस की सूक्ष्मता, आच्छादन एवं दूरस्थिति आदि आवरणों का भंग होकर वह पदार्थ स्पष्ट दिखाई देता है एवं उस का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। आजकल सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा—अतिसूक्ष्म रजःकणादि पदार्थ, एक्स किरणों द्वारा—आच्छादित पदार्थ एवं दूरबीनो द्वारा—दूरस्थ पदार्थ देख पडते है। उस में एक्स किरणों द्वारा तो डाक, सायर आदि महक्मों के कर्मचारी बन्द बंगी पारसलों के पदार्थ देख सकते हैं। डाक्टर शरीर में घुसे हुए बंदूक के छर्रे, गोली, सूई, कांच, पिन आदि पदार्थ किस गुप्त भाग में हैं—देख सकते हैं, इतना ही नहीं, शरीर के अंदर के अस्थि मांस शिरा आदि देख कर रक्ताभिसरणादि अन्तःक्रिया को भी देख सकते हैं तो, फिर, उस ज्योतिष्मती के सात्विक प्रकाश द्वारा प्रत्येक सूक्ष्म, प्रच्छन्न, दूरस्थ एवं समीपस्थ पदार्थ दीखने में एवं उस का ज्ञान होने में क्या शंका है?

दिव्यश्रोत्रज्ञान—शब्द अथवा अनेक सूक्ष्म गंभीर ध्वनियों को ग्रहण करने की शक्ति हमारे कर्णेन्द्रिय में है। शब्द अथवा ध्वनि यह आकाश का गुण है—इस-

लिये उस का आकाश में स्फुरण होकर अर्थात् आन्दोलन उत्पन्न होकर हमारे कर्णेन्द्रिय पर आघात होता है तब हमें उस का ज्ञान होता है। इस प्रकार आकाश और श्रवणेन्द्रिय का आधाराधेय भाव है । कान के अन्दर जो श्रवण ज्ञानतन्तु का परदा है वह आधेय— आधारभूत एवं जिस स्थान से ध्वनि का बोध होता है वहां से कान के परदे तक का अवकाश—आकाश का भाग आधार है- इस प्रकार दोनों का अधाराधेय संबन्ध है। इस संबन्ध में संयम करने से साधक को सूक्ष्म, आच्छादित एवं दूरस्थ शब्द तथा ध्वनि सुनने का अपार बल प्राप्त होता है। इसे दिव्यश्रोत्र कहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियों के—शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पांच विषय अहंकार का परिणाम हैं। इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं—इसलिये उन में आकाश, तेज, वायु आदि पंच महाभूतों का परिणाम न माना जाय तो भी पंचमहाभूतों द्वारा ही उन की अभिव्यक्ति—प्रत्यक्षता—उन उन तत्वों के अणुओं द्वारा होती है। जैसे शब्द, आकाश द्वारा, स्पर्श, वायुद्वारा, रूप, तेज द्वारा, रस, जलद्वारा एवं, गन्ध, पृथ्वीद्वारा प्रकट होते हैं—इसलिये परस्पर आधाराधेय—भाव है। इस पर से सिद्ध होता है कि—उन उन तत्वों की आकृति, बीज, रंग की यथार्थ भावना करके संयम करने से दिव्यश्रोत्र, दिव्यदृष्टि, दिव्यत्वचा, दिव्यरसना एवं दिव्यघ्राण का ज्ञान अनायास हो सकता है।

भुवनज्ञान—सूर्यमंडल में चित्त को एकाग्र कर के संयम करने से यह सिद्धि प्राप्त होती है। घडा, घर, पशु आदि पदार्थ जैसे प्रत्यक्ष दीखते हैं—वैसे इस से सब भुवनों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सूर्य—मंडल में—बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि इत्यादि ग्रह है—ये सब स्थूल भुवन है—इन का इस वक्त बड़ी बड़ी दूरबीनों द्वारा सामान्य ज्ञान हुआ है। जैसें कि—शुक्र पर वातावरण है, मंगल पर लोकवसति है—एवं उस पर रहनेवाले मनुष्य बुद्धिमान्, कलायुक्त तथा दीर्घायुषी हैं। शनि और बृहस्पति के गोल अभी शीतल नहीं हुए—इसलिये उनपर मनुष्य वसति नहीं है। शायद उन के उपग्रहोंपर वसति हो—किन्तु इस का यदि पूरा हाल जानना हो तो—सूर्यमंडल के संयम द्वारा साधक जान सकता है। भगवान् व्यास अपने भाष्य में लिखते हैं कि—इस संयम से कुल स्थूलसूक्ष्म १४ भुवनों का ज्ञान हो सकता है। चौदह भुवन=भूर्लोक—मनुष्यलोक, मृत्युलोक, भूवर्लोक—द्यौः= तारालोक, द्युलोक एवं स्वर्लोक—स्वर्गलोक—इन मुख्य तीन लोकों में १४ लोक अन्तर्भूत हैं। इनमें से सात नीचे और सात ऊपर हैं। सब के नीचे (१) महातल, उस के ऊपर (२) रसातल, उस के ऊपर (३) अतल, उस के ऊपर (४) वितल, उस के ऊपर (५) तलातल, उस के ऊपर (६) सुतल, उस के ऊपर (७) पाताल एवं उस के ऊपर (८) भूगोल है। भूगोल के ऊपर (९) द्यौ= तारालोक, तारों का लोक है। तारालोक के ऊपर मुख्य

स्वर्लोक है—जिसमें—इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक एवं ब्रह्मलोक ये तीन उपलोक हैं। उन में के इन्द्रलोक में (१०) महेन्द्र-भुवन है। प्रजापतिलोक में (११) महर्भुवन है (एवं ब्रह्मलोक में) (१२) जन, (१३) तप और (१४) सत्य—ये तीनलोक अन्तर्भूत हैं। इन चौदह भुवनों का परस्पर कुछ न कुछ स्थूलसूक्ष्म संवन्ध है एवं उस पारस्परिक संवन्ध से परस्पर कुछ न कुछ परिणाम भी होता रहता है। जैसे सूर्यचन्द्र की उष्णता शीतता से हमारे भूमंडल पर क्या परिणाम होता है—यह किसी से छिपा नहीं है। जड़चेतन पदार्थमात्र की स्थितिस्थापकता, जीवनमरण आदि सब उन्हीं पर निर्भर हैं। ग्रहतारों की गति, युति, ग्रहणादिकों का प्रभाव जैसे हमारे लोक पर पड़ता है उसी प्रकार हमारे लोक का भी प्रभाव अन्य भुवनों पर पड़ना चाहिये—क्योंकि हमारा भूलोक भी एक प्रज्वलित प्रकाशपूर्ण वडा ग्रह है और वह गतिमान् है। चन्द्र, पृथ्वी, बुध, मंगल, बृहस्पति आदि सब ग्रह—सूर्य द्वारा ही प्रकाशित हैं एवं सूर्य स्थूलसूक्ष्म पदार्थसहित—सब भुवनों का संचालक है—इसलिये सूर्यमंडल में संयम अर्थात् विधिपूर्वक सुषुम्णा (इस का परिचय आगे होगा) के अभ्यास द्वारा उक्त चतुर्दश भुवनों का ज्ञान साधक को हो सकता है—इस में सन्देह नहीं। इसी संयम-शक्ति द्वारा ऋषिमुनियों ने इस विशाल जगत् का पता लगा कर जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक और सत्य है। आजकल के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग चाहे उस की अज्ञानता के कारण उस पर विश्वास न करें या आजकल

के पाश्चात्य, विज्ञान द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुरेणु तक पदार्थों की खोज करके नवाविष्कार कर रहे हैं उन के स्थूलरूप में मुग्ध होकर पतंगवत् आत्मसमर्पण कर दें तो भी, हमारे यहां उन आविष्कारों का मूल या पता नहीं था—ऐसा नहीं है एवं आज जगत् भर के लोगों को मान्य है कि इन सब का मूलकारण अध्यात्मविद्या है और वह अध्यात्मविद्या भारतवर्ष ही की है—इस में कुछ भी सन्देह नहीं ।

सिद्धपुरुषों का दर्शन—मस्तिष्क में एक अत्यन्त प्रकाशमय छिद्र है—जिस से ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं । जैसे सूर्य के किरणों द्वारा चन्द्रादि ग्रह प्रकाशित होते हैं वैसे ही उस ज्योतिर्मय ब्रह्मरन्ध्र से चक्षुरादि इन्द्रियों में प्रकाश पहुंच कर सर्वत्र शरीर में उस के किरण फैलते हैं अर्थात् चेतनाशक्ति उत्पन्न होती है । किन्तु फिर उस प्रकाश का आकर्षण उसी ब्रह्मरन्ध्र में होता है क्योंकि वह विचार का केन्द्र है—इसलिये उस ब्रह्मरन्ध्र संयम अर्थात् वहां विचार स्थिर करने से मनुष्य के देखने में नहीं आते ऐसे पृथ्वी और आकाश में विचरण करनेवाले गुप्त महात्मा एवं सिद्धपुरुषों के दर्शन हो सकते हैं एवं उन के साथ वातचीत भी हो सकती है । आजकल प्रेतावाहन अर्थात् मृतआत्माओं को बुला कर उन से वातचीत करना—सब कोई जानते हैं । इस से भी बढ़ कर मृतआत्माओं के फ़ोटो लिये जाते हैं एवं उन के साथ पत्रव्यवहार भी हो सकता है—इत्यादि वातें आज प्रत्यक्ष हैं तो फिर अदृश्य महात्माओं का दर्शन

होना या उन के साथ वातचीत होना—कुछ भी असं-
भव नहीं ।

पूर्वजन्म का ज्ञान—जिन जिन पदार्थ, मनुष्य एवं प्रा-
णियों को हम देखते हैं, अनुभव लेते हैं और उपभोग
लेते हैं—उन उन के सब संस्कार चित्त में प्रतिविम्बित होते
हैं एवं उन के अनुसार चित्त का परिणाम होता है । यह
जैसा विद्यमान जन्म के लिये है उसी प्रकार पिछले अनेक
जन्मों के लिये भी है । पूर्व पूर्व के संस्कारों के अनुसार
उत्तरोत्तर जन्म होता रहता है। अथवा यों कह सकते हैं कि—
चित्त, संस्कारों के समुदाय एवं वल के प्रमाण में परिणत
होता है—उसी से जन्ममरण का चक्र प्रचलित रहता है ।
इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि—वालक जनमते ही रोता
है, स्तनपान करता है, निद्रा में चौंकता है एवं हंसता भी
है—तो क्या यह दो चार ही दिन के संस्कार का परिणाम
है? अर्थात् संस्कारों का—अनुभूत विचारों का वीजभूत
चित्त है । उस संस्काररूप वीज में संयम करने से साधक
को उस का साक्षात्कार होता है—उस से उस को पूर्व-
जन्मादिकों का एवं पूर्वप्रवर्त्तित चित्त के अनेक परिणामों
का सहज में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । चित्त में दो प्रकार के
संस्कार प्रतिविम्बित होते हैं—एक ज्ञानजन्य, दूसरा वासना-
जन्य । अनुभव से प्राप्त होके स्मरण को उत्पन्न करनेवाले
सब संस्कार ज्ञानजन्य होते हैं एवं अनेक जन्मादि, जाति,
आयुष्य और उपभोग को उत्पन्न करनेवाले सब संस्कार
वासनाजन्य होते हैं । ये दोनों संस्कार—विचारसंस्कार में

वर्णन किये अनुसार चित्त के धर्म के प्रत्यक्ष रूप हैं—उन का ज्ञान सामान्य मनुष्य को नहीं होता। किन्तु साधक जब—"मैं इन सब संस्कारों का पहिले अनुभव ले चुका हूं या पहिले मैंने अमुक अमुक क्रिया की है"—इस प्रकार सम्पादित कर्मों पर अनुसन्धानपूर्वक लक्ष्यप्रदान कर संयम करता है तब उस के संस्कार को किसी प्रकार का उत्तेजन देनेवाला कुछ न होने पर भी खाली ऐसा चित्त में दृढ अनुसन्धान करते ही अज्ञातशक्ति द्वारा वे संस्कार प्रकट होके फिर पूर्वसम्पादित कर्मों का क्रमशः स्मरण होता रहता है और ये संस्कारसंचित विचारशक्ति द्वारा बुद्धि में प्रकट होते ही पूर्वजन्म के अनुभूत मनुष्यादि जाति, आयुष्य, भोग, ये सब प्रत्यक्ष देखने में आते हैं—जिस से पूर्वजन्म में किस जगह, किस ज़ाति में, कब जन्म लेकर कितने वर्ष पूर्व किस किस का सहवास किया था—यह साधक आसानी से जान सकता है। इस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार जैगीषव्य नामक महात्मा को एवं चूडाला विदुषी को हुआ था। जैगीषव्य को दस महाकल्प तक के पूर्वजन्मों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त था—ऐसा भगवान् व्यास अपने भाष्य में लिखते हैं।

भूत एवं भविष्य का ज्ञान—प्रकृति से लगा कर स्थूल पदार्थ तक सब जगत् परिणामशील है, अर्थात् उत्क्रान्ति नियमानुसार जगत् का उत्तरोत्तर रूपान्तर होता रहता है। धर्म, लक्षण, एवं अवस्था ऐसे परिणाम के तीन प्रकार हैं। (१) धर्मपरिणाम—अर्थात् पदार्थ का रूपान्तर होना। जैसे दूध का दही। दूध में द्रवरूप एक धर्म था उस का घनरूप में अवस्थान्तर परिणाम होके

दहीवना। अर्थात् द्रवत्व यह धर्म हुआ और यह धर्म जिस में है–यह दूध–धर्मी हुआ। सुतरां धर्मी के एक धर्म का लोप होकर अन्य धर्म का प्रकट होना–इस को धर्म-परिणाम कहते हैं। (२) लक्षण परिणाम–अर्थात् उक्त-धर्म प्रत्येक पदार्थ में रहता है वह–अनागत–न आया हुआ अर्थात् आगे आनेवाला भविष्यकाल, वर्त्तमान–प्रचलित–विद्यमान अर्थात् वर्त्तमानकाल और अतीत–गया हुआ, वीता हुआ अर्थात् भूतकाल–ऐसे तीन प्रकार से प्रतीत होता है अर्थात् धर्मस्वरूप विद्यमान रह कर अतितादि अवस्था को प्राप्त होता है–इस को लक्षणपरिणाम कहते हैं। (३) अवस्थापरिणाम–अर्थात् जब कोई द्रव्य एक मार्ग में रहकर वहीं दो अवस्था से संवन्ध रखता है तव वह द्रव्य का अवस्थापरिणाम कहलाता है। जैसे एक ही वर्त्तमान मार्ग में रह कर घट नवीनता एवं जीर्णतादि अवस्था-युक्त होता है तव उस के वर्त्तमान मार्ग का अवस्था परिणाम होता है–इस को अवस्थापरिणाम कहते हैं। इन तीन परिणामों में संयम करने से साधक को परि-णामों के संवन्ध की–भूत एवं भविष्य काल की अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। वह इस रीति से कि–जैसे सामने मिट्टी पड़ी हुई है–वह मिट्टी धर्मी है–उस का घटादिप-रिणामधर्म है। इसी प्रकार अमुक धर्मी का धर्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम–एवं अवस्थापरिणाम भविष्य में किन किन परिणामों को प्राप्त होंगे, अथवा पहिले किन किन परिणामों को प्राप्त हुए थे–ऐसा पूर्ण

विचारशक्तिपूर्वक शुद्ध संकल्प कर के दृढ भावना से संयम करने पर धर्मीपदार्थ की भूतभविष्यकाल की अवस्था का संपूर्ण ज्ञान हो सकता है। चित्त स्वयं निर्मल स्फटिक के समान शुद्ध सत्वगुणी है—इसलिये वह प्रकाश-रूप है। अर्थात् उस में सब पदार्थों के जानने की शक्ति है। किन्तु प्रकृति में के अन्य रजस्, तमस गुणों के आवरण से उस की शक्ति का अवरोध होता है और उस आवरण का भंग संयम से होता है—अर्थात् अपार विचारशक्ति द्वारा ध्येय विषय से अन्य धर्मियों का—धर्म, लक्षण, अवस्था इन तीन परिणामों में, जो भूत एवं भविष्यपरिणाम होता है वह इस रीती से पूर्ण विदित होने पर अनायास साधक को भूतभविष्य का ज्ञान होता है।

चित्त का ज्ञान—मनुष्य का हृदय अधोमुख कमल के समान है। उस की कर्णिका में—गर्भकोप में अन्तः-करण रहता है इसलिये उस में—हृदयकमल में संयम करने से समष्टिचित्त अर्थात् विचारसमूह—मनोराज्य अथवा बुद्धिसत्व का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार होते ही निज के एवं अन्य मनुष्यो के चित्त का ज्ञान हो जाता है अर्थात् निज के चित्त में एवं अन्य के चित्त में भरे हुए रागद्वेषादिकों का ज्ञान होता है जिस से विवेकख्याति का एक अंश पूर्ण होता है। विवेकख्याति शब्द से निश्चयात्मक सम्यग्ज्ञान अर्थात् विचार-स्फुरण के केन्द्र का वोध होता है एवं चित शब्द से निश्चयात्मक सम्यगूचिंतन अर्थात् विचारस्फुरण का बोध होता है।

महाविदेहास्थिति—शरीर के बहार चित्त की पदार्थरूप यथार्थस्थिति दो प्रकार की होती है(१) चित्त जब बाहर के विषयों में संलग्न रहता है या स्थिति करता है एवं बाह्य विषयाकार बन जाता है, उस समय चित्त में शरीर के लिये अभिमान उत्पन्न होता—इस प्रकार की देहाभिमान सहित बाह्यवृत्ति को कल्पिता—कल्पनायुक्त विदेहा कहते हैं—अर्थात् वह देह से भिन्न बाहर के पदार्थों को ग्रहण करने-वाली स्थिति होती है। (२) इस कल्पिता विदेह की सिद्धि के दृढ अभ्यास के—साथ ही चित्त में से देहाभिमान—ममत्व का निरास होके चित्त की अवस्था बाह्य हो जाती है तब उसे अकल्पिता—कल्पनारहित—महाविदेहा कहते हैं—अर्थात् प्रथम प्रकार में यह चित्तवृत्ति कल्पनामय होती है एवं अन्य प्रकार में यह कल्पनातीत होती है—इसलिये प्रथम की शरीर के बाहर रहनेवाली चित्तवृत्ति को 'विदेहा' कहते हैं एवं दूसरी उच्चतम होने से उसे 'महाविदेहा' कहते हैं। इस विषय में भाष्यकार भगवान् व्यास लिखते हैं कि—प्रथम कल्पिताविदेहा की धारणा—भावना करके पीछे आकल्पिता महाविदेहा की धारणा करना चाहिये । इस धारणा में संयम करने से चित्त के प्रकाश को आच्छा-दन करनेवाले क्लेश, कर्म एवं विपाक रूप रजस, तमस मल का नाश होता है और चित्त के शुद्धसात्विक रजःकणों की अधिकता से अतीत, अनागत—भूत, भविष्य सब विषयों का ज्ञान होता है, साधक सर्वत्र गमन कर सकता है एवं परकायाप्रवेश भी कर सकता है। सिद्धियों के लिये—चित्त, बुद्धि, अहंकार, ज्ञान, शक्ति, जप, धारणा,

ध्यान, समाधि आदि संयम की प्रणाली का विवेचन करते करते भगवान् पातंजलि इसी विचारपरम्परा के साथ कितनी उत्तमता एवं कुशलता से सब का विचारान्दोलन में पर्यवसान कर रहे हैं—एवं प्रमाणित कर रहे हैं कि महाविदेहा, पुरुष, प्रतिभा, विवेकख्याति, कैवल्य आदि सब सिद्धियों का मूलबीज विचारसंयम ही है।

प्रातिभश्रवण वेदनादिकों का ज्ञान—साधक स्वार्थ एवं पदार्थभोग से भिन्न स्वतंत्र बुद्धिसत्व में संयम करने के लिये प्रवृत्त होता है तब संयम की उच्चावस्था प्राप्त कर लेने पर एवं पुरुष साक्षात्कार रूप महासिद्धि—विवेकख्याति प्राप्त करलेने के पूर्व—उस को इस प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। प्रातिभश्रवण अर्थात् मलरहित शुक्ल—स्वच्छ (white) चित्त में किसी प्रकार की सहायता विना उत्पन्न होनेवाले निश्चयात्मक ज्ञान को 'प्रतिभा' कहते हैं एवं उस के भाव को 'प्रातिभ' कहते हैं—इस का पूर्ण परिचय आगे होगा। दिव्यशब्द के ग्रहण को श्रवण कहते हैं—उस की वेदना अर्थात् श्रोत्र—कर्ण से ग्रहण होनेवाले दिव्य स्वर्गीय शब्द के यथार्थज्ञान को 'प्रातिभश्रवणवेदना' कहते हैं—उस का साधक का ज्ञान होता है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रियरूप त्वचा से ग्रहण होनेवाला दिव्यस्पर्श का ज्ञान, रूपेन्द्रिय रूप नेत्रों से ग्रहण होनेवाला दिव्यरूप का ज्ञान रसनेन्द्रिय रूप जिव्हा से ग्रहण होनेवाला दिव्य रस का ज्ञान, एवं घ्राणेन्द्रिय रूप घ्राण से ग्रहण होनेवाला दिव्य गन्ध का

ज्ञान होता है—अर्थात् ऐसे साधक का चित्त भूत, भविष्य, सूक्ष्म तथा व्यवहित—आच्छादित व्यवहारभूत सब विषयों को जान सकता है एवं उस की पांचों ज्ञानेन्द्रियां दिव्य—स्वर्गीय विषयों के जानने में समर्थ होती हैं। हरएक साधक को महासिद्धि प्राप्त होने के पहिले इस प्रकार मोहमय विभूतियां प्राप्त होती हैं किन्तु उन में उच्चतम साधक का चित्त लुब्ध नहीं होता तभी, उसे विवेक-ख्यातिरूप महासिद्धि प्राप्त होती है—इस का पूर्ण विवेचन-इस के आगे होगा।

पुरुष-आत्मा का ज्ञान—सत्व तथा पुरुष ये दोनों अत्यंत भिन्न है। सत्व अर्थात् बुद्धितत्व—यह जड़ प्रकृति का कार्य है। पुरुष अर्थात् आत्मा—यह चेतन, अजड़, अपरिणामी है—इसलिये दोनों भिन्न भिन्न हैं। सत्व अत्यन्त स्वच्छ—निर्मल स्फटिकसमान द्रव्य है तो भी वह जड़ है, ज्ञानशक्तिरहित हैं, दृश्य है, पदार्थ—परभोग्य है एवं परिणामशील है। चैतन्यशक्तियुक्त पुरुष भी अत्यन्त स्वच्छ तथा स्वयंप्रकाश है—इसलिये सत्व तथा पुरुष की बहुधा साम्यावस्था है—इसी से परस्पर भेदरहित भासमान होते हैं। उस में जब सत्वबुद्धि विवेकख्याति में परिणत होती है तब तो दोनों बिलकुल अभिन्न एकरूप भासमान होते हैं। तथापि सत्वपरिणामशील होने से पुरुष से अत्यन्त भिन्न है—क्योंकि बुद्धिसत्वभोग्य है, दृश्य है, परिणामी है, पदार्थ है, एवं जड़ है और पुरुष भोक्ता है, द्रष्टा है, अपरिणामी है, स्वार्थ है, एवं नित्य चेतन है। पुरुष स्वयंभूत चैतन्यमय है तोभी उस का प्रतिबिम्ब

बुद्धिसत्व—अतिसूक्ष्मबुद्धि के कार्य में पड़ता है—इसी से जड़अचेतनबुद्धि चेतनवत् प्रतीत होती है। ऐसा होने से मानो पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धिसत्व पुरुष ही है—ऐसा भ्रम होता है, जिस से सुख, दुःख, मोह आदि सब बुद्धिसत्व की वृत्तियां पुरुष ही की हैं—ऐसा भास होता है। इस भास से बुद्धिसत्व में संस्थित वृत्तिरूप भोग का पुरुष में वृथा आरोप होता है और उस आरोप से—"मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, मूढ़ हूं, ज्ञानी हूं"—ऐसा अनुभव होता है। इसी अनुभव का नाम 'भोग' है—इस पर से स्पष्ट दिखाई देता है कि—बुद्धिसत्व तथा पुरुष का अभेद है—ऐसा जो अविवेक है वही 'भोग' है और वह 'भोग' पदार्थ है। अर्थात् अन्य का अंगभूत है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं—इत्यादि भोग भी बुद्धिसत्व की जड़वृत्ति है, वह परतंत्र एवं अन्य के अंगभूत है—यह स्पष्ट है। इसी से—'मैं सुखी हूं, दुःखी हूं'—इत्यादि वृत्ति-रूप भोग भी दृश्य होने से पदार्थ हैं अर्थात् भोक्तृत्व की योग्यतावाले पुरुष के अंगभूत हैं। किन्तु पौरुषेय प्रत्ययरूप पुरुष का बुद्धिसत्व में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब तो पदार्थभोग से भिन्न एवं विचित्र है और वह किसी का अंगभूत न होने से स्वार्थ है अर्थात् उक्त पदार्थ-भोग से बुद्धिसत्व में पड़े हुए प्रतिबिम्बरूप पौरुष-प्रत्यय भिन्न हैं—ऐसी विवेकपूर्वक बुद्धिगत चितिछाया में संयम की सिद्धि की जाती है—जिस से पुरुष का—आत्मा का साक्षात्कार होता है—अर्थात् विवेकख्याति का उदय होता है। इस पर से सप्रमाण सिद्ध होता है कि—विचारस्फुरण

से लगा कर विचारसिद्धि तक की अवस्था अर्थात् विचारों का निश्चयात्मक ज्ञान 'विवेकख्याति' है । विवेक—Discrimination अर्थात् यह बुरा है, यह भला है, यह करना, यह न करना इत्यादि चित्त का व्यापार—सारासार विचार का प्रवाह; और ख्याति—Cognition अर्थात् वेदन, ज्ञान, वोधन, संवित्—विचार की ज्ञानावस्था है एवं यही मूलभूत महासिद्धि का द्वार है—इसी को जैन-सम्यक्त्व—सम्यग्ज्ञान कहते हैं, वौद्ध-ज्योर्तिदर्शन—अनुभवज्ञान, केवलज्ञान कहते हैं, पाश्चिमात्य—Christ's second birth, Righteousness और Cosmic Consciousness कहते हैं । प्रतिभाशक्ति से विवेकख्याति प्राप्त होके महासिद्धि का द्वार खुल जाता है और आन्तर जगत् में झट प्रवेश हो जाता है । वहां साधक आत्मलीन होकर तद्रूप वन जाता है ।

ख—सत्वरूप सिद्धियां ।

ऊपर प्रथम क्रियारूप सिद्धियों का वर्णन करने पर ज्ञानरूप सिद्धियों का वर्णन किया गया है । उसी प्रकार मैत्री, मुदिता आदि का वर्णन हो चुका है एवं समाधि के लिये सहायभूत विदेहा, महाविदेहा आदि सिद्धियों का प्रतिपादन हो चुका है। अव सिद्धियों में मुख्य ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहितृ विषयों का संयम है—कि जिस से सत्वरूप सिद्धियां प्राप्त होके कैवल्यप्राप्ति होती है—उन का निरूपण करना अवश्य है क्योंकि—वही विचारों का अन्तिम साध्य है ।

पंचमहाभूतों का जय—पृथ्वी, आप, तेज, वायु एवं आकाश—इन पांच तत्वों को पंचमहाभूत कहते हैं । ये

सामान्य एवं विशेपरूप से कारणभूत होकर पदार्थमात्र की स्थिति करते हैं—अर्थात् इन्हीं के द्वारा सब सृष्टि बनती है। प्रत्येक भूत के—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय एवं अर्थवत्व ऐसे पांच पांच भेद हैं और इन पांचों के शब्दादि तथा अकारादि धर्म भिन्न भिन्न हैं। शब्दादि धर्मों में—आकाश में रहे हुए षड्जगांधारादि स्वर, वायु में रहे हुए उग्र शीतोष्णादि स्पर्श, तेज में रहे हुए नीलपीतादिरूप, जल में रहे हुए मधुर आम्ल आदि रस एवं पृथ्वी में रहे हुए उग्र मधुरादि गन्ध—होते हैं। आकारादि धर्मों में—आकाश में रहा हुआ विभुत्व-व्यापकता, सब पदार्थों को अवकाश देना आदि धर्म; वायु में रहा हुआ तीर्यग्गामित्व—बांका टेढा चलना, पवित्रत्व, चंचलत्व गतिमत्वादि धर्म; तेज में रहा हुआ ऊर्ध्वगामित्व—ऊपर जाना, पाचनक्रिया, दाहकत्व, लघुत्व, तेजस्विता आदि धर्म; जल में रहा हुआ प्रभा, शुक्लता, मृदुत्व, गुरुत्व, शीतत्वादि धर्म; एवं पृथ्वी में रहा हुआ अवयव-रचना, गुरुता, आधारता, सहिष्णुता आदि धर्म—होते हैं। आकाश में असंख्य अणु होने से आकाश की आकाशत्व जाति, वायु की वायुत्व जाति, तेज की प्रकाशत्व जाति, जल की जलत्व जाति, एवं पृथ्वी की पृथ्वीत्व जाति—इन को सामान्य कहा जाता है। इन सबों के साथ जो प्रकृतितत्व है वही पृथ्व्यादि पंचभूत है—इसलिये उस में विशेष और सामान्य दो अंश हैं। विशेष स्थूल अंश है एवं सामान्य सूक्ष्म अंश है। शब्दादि धर्मों में सामान्य अंश आ जाता है इसी से वह पंचभूतों का स्थूल (१) रूप है, आकारादि धर्मों में विशेष अंश है वह

उन का स्वरूप (२) रूप है, पंचभूतों की कारणरूप गंधादि तन्मात्रा हैं वह उन का सूक्ष्म (३) रूप है, सत्व, रज, तम त्रिविध प्रकृतिद्रव्य उन का अन्वय (४) रूप है एवं इन भूतों में रही हुई—भोग और मोक्षभूत दो प्रयोजनों को सिद्ध करने की शक्ति—वह उन का अर्थत्व (५) रूप है। इन का विशेष स्पष्टीकरण यह है कि—पृथ्व्यादि पंचभूतों के अंशों का विचार करना चाहिये कि—इन में पृथित्वादि जाति है, आकारादि धर्म कार्यरूप हैं, कार्य—यह कारणद्रव्य की अवस्था विशेष होने से गन्धादि तन्मात्रारूप साक्षात् उपादानकारण की अवस्था है। वैसे ही यह संपूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्यरूप होने से सब में प्रकृतिद्रव्य भरा हुआ है—जिस से इन पांच भूतों में भी चरमपरिणामी उपादानकारण सत्वादि तीन गुण संस्थित हैं। यहां यह शंका होगी कि—पृथ्व्यादि-भूत तामस अहंकार में से उत्पन्न होते हैं तो फिर उन में सत्वांश कहां से आता है?—इस का उत्तर यह है कि—तामस अहंकार के अणुओं में केवल तामस द्रव्य ही नहीं है किन्तु तामस द्रव्य प्रधानमात्र है—जिस से अंशरूप गौणसत्व की स्थिति तामस अहंकार के अणुओं में होने से पंचभूतों में उस के कार्यरूप सत्वांश का होना असंभव नहीं है। इसी से इन भूतों को अन्तःकरण का पोषक कहा गया है। सब से तामस अंशवाला अणु—पार्थिव अणु है। उस अणु का परिणाम विशेष ही अन्न है एवं वह अन्न मन का पोषक है—यह सब जानते हैं। श्रुतिभी—"अन्नमय हि मनः"—ऐसा कहती है।

अन्य प्रकार से भी देखा जाय तो—इन पार्थिवादि अणुओं में सत्व नहीं, केवल तामस है सो, तामस का गुण केवल आवरण करना है, उस के अणुओं का कभी प्रकाश (ज्ञान) नहीं हो सकता। इस का प्रमाण पूर्वकथनानुसार यह है कि—साधक अपने शरीर का सत्वांश—प्रकाश Aura विचारों का तेजोवलय खींच लेता है तब वह किसी को दिखाई नहीं देता। अर्थात् किसी पदार्थ में सत्वांश का न रहना—उस का दिखाई न देना है। पार्थिव अणु तो दृग्गोचर हैं, इसलिये उनमें सत्वांश होना ही चाहिये। जब पार्थिव अणुओं में सत्वांश सिद्ध होता है तो—अन्य भूतों के लिये कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। जिस प्रकार पंचभूतों में सत्व, रज, तम त्रिविध द्रव्य की स्थिति है उसी प्रकार इन में पांचवां अंश, भोग एवं मोक्ष की भी स्थिति है। ये दोनों प्रयोजन बुद्धि-सत्व ही में हैं—अन्य में नहीं—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कारण की अवस्था विशेषकार्य है, जिस से कार्य के सब गुणकारण में किसी न किसी अवस्था में उद्भूतरूप रहते हैं। वैसे ही कारण के गुणों का कार्य-आकार—होने से उस का नाश नहीं होता। अर्थात् कार्य के आकार के समय उस की भी स्थिति होती है अतएव भोग एवं मोक्ष—ये दोनों प्रयोजन बुद्धिसत्व में नज़र आते हैं। ये दोनों अर्थ और बुद्धिसत्व भी कार्यरूप होने से प्रकृतिमूल हैं। प्रकृतिमूल होने से प्रकृति का परिणाम होतें होते पंचभूतों का रूप बनता है—इसलिये पंचभूतों की किसी अवस्था में भोगमोक्ष की स्थिति होना ही चाहिये।

इस पर से यह सिद्ध हुआ कि—(१) पृथिवीत्यादि सामान्य, (२) आकारादि धर्मविशेष, (३) गन्धादि तन्मात्रा, (४) सत्त्वरजतमरूप प्रकृतिद्रव्य, (५) भोगमोक्षरूप दोनों अर्थों का साधन सामर्थ्य—इन पांच अंशों का समूह पृथ्व्यादि पंचभूत हैं। इन पांच अंशों को क्रमशः—(१) स्थूल, (२) स्वरूप, (३) सूक्ष्म, (४) अन्वय, (५) अर्थवत्व—कहा है। इन पांचों अंशों में यथाक्रम एक पीछे एक दृढ़संयम करने से साधक को साक्षात्कार होता है—साक्षात्कार होनाही जय का लक्षण है। संयम में कुछ भी न्यूनता रह गई तो भूतजय नहीं होता, अर्थात् पूर्णजय के विना उन पर पूरा अधिकार नहीं होता। उन का पूर्णसंयम होने पर प्रकृति स्वयमेव साधक के अधीन होके—जैसी गाय, अपने वत्स पर प्रेम करके उस का अनुसरण करती है उसी प्रकार प्रकृति वशीभूत होके साधक के संकल्पानुसार पंचभूतों को प्रवृत्त करती है।

अणिमादि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति—पूर्वोक्तरीति से पंचभूतों का पूर्णविजय होने पर साधक को अणिमादि अष्टसिद्धियां प्राप्त होकर शरीरसम्पत्ति अत्यन्त बलवान् होती है कि जिस का कभी महाभूत भी पराजय नहीं कर सकते। ये सिद्धियां आठ हैं। (१) अणिमा—परमाणुसमान शरीर का सूक्ष्म बनना, जिस से साधक चाहे वहां सूक्ष्मरूप से जा सके। (२) महिमा—पर्वतसमान शरीर का स्थूल बनना, जिस से साधक चाहे जिस पर आक्रमण कर सके। (३) लघिमा—रुईसमान शरीर का हलका बनना, जिस से साधक चाहे जहां आकाशगमनादि कर सके। (४)

प्राप्ति—दूरस्थ पदार्थोंको समीपस्थ करना या उनके समीप जाना, जिस से साधक इच्छा करने पर लोकलोकान्तर में, चतुर्दश भुवनों में, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, ग्रह आदि गोलों में स्वयं प्रवेश कर सके या उन को समीप ला सके। ये चार सिद्धियां भूतों के स्थूलरूप में संयम करने का फल हैं। भूतों के स्थूलरूप का जय होने से उन के आकार का एवं गुरुत्व का जय आपही आप हो जाता है—जिस से साधक अपनी इच्छा के अनुसार भूतों के परिणाम को और गुरुत्व को प्रवृत्त करता है—अतएव महान् को अणु, अणु को महान् एवं गुरु को लघु, लघु को गुरु कर सकता है। (५) प्राकाम्य—पंचभूतों के स्वयंसिद्ध काठिन्यादि धर्मों के विरुद्ध साधक की प्रवृत्ति का अवरोध न होना—अर्थात् साधक अपनी इच्छा के अनुसार पंचमहाभूतों के धर्मों का अतिक्रम करके इच्छित कार्य सम्पादन कर सके। सामान्य मनुष्य मृदुधर्मवाले जल में प्रवेश करके पीछा बाहर आसकता है किन्तु वह पृथ्वी में प्रवेश करके बाहर नहीं आ सकता। क्योंकि—पृथ्वी का स्वयंसिद्ध काठिन्य धर्म उस को रोक देता है। भूतों के स्वरूप में संयम करने से कठिनत्वादि धर्म साधक को प्रतिबन्धक नहीं हो सकते—इसलिये साधक जल के समान पृथ्वीतल में गोता लगा के प्रवेश कर सकता है एवं पृथ्वी को भेद कर बाहर आ सकता है। यह प्राकाम्य सिद्धि भूतों के स्वरूप—रूप में जय प्राप्त करने का फल है। (६) वशित्व—ब्रह्माण्डस्थित पृथ्व्यादिक पंचभूतों को तथा इन के कार्यरूप गोघटादि भौतिक पदार्थों को अपनी

इच्छा के अनुसार परिणत करना—अर्थात् जब साधक भूतों की सूक्ष्म अंशरूप तन्मात्राओं का संयम से जय करता है तब तन्मात्राओं के कारण को साधक अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त कर सकता है एवं उन तन्मात्राओं में से इच्छानुसार भूतभौतिक पदार्थों को उत्पन्न कर सकता है। यह भूतों के सूक्ष्मरूप में संयम करने का फल है। (७) ईशिता—ब्रह्माण्डस्थ भूतभौतिक पदार्थों को तन्मात्रा द्वारा उत्पन्न करना, तन्मात्रा द्वारा उन की स्थिति करना एवं तन्मात्रा द्वारा उन का लय करना—अर्थात् प्रकृतिरूप त्रिविध द्रव्य में संयम कर के साधक जय करता है तब त्रिविध द्रव्य से तन्मात्रा, तन्मात्रा से भूतभौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति, लय कर सकता है। यह अन्वयरूप में संयम करने का फल है। प्रकृति के सत्व रज तम त्रिविध द्रव्य को अन्वय कहते हैं एवं सत्व, रज, तम तीनों गुणों से पदार्थ उत्पन्न होते हैं—इसलिये यह प्रकृति के तीन द्रव्य कहलाते हैं। (८) कामावसायित्व—भूत एवं भौतिक पदार्थों को-इच्छा के अनुसार सम्पादन करना—साधक अपने संकल्प से विष का अमृत एवं अमृत का विष कर सके—अर्थात् नई सृष्टि की रचना कर सके, उस का पालन कर सके एवं उस का संहार कर सके। यह सिद्धि भूतों के अर्थवत्व रूप में संयम करने का फल है। इस प्रकार भाष्यकारवृत्तिकारोंने अष्ट सिद्धियों का वर्णन किया है। तथापि अन्यत्र—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व एवं ईशित्व—ऐसी आठ सिद्धियां कही गई हैं। अर्थात् 'गरिमा' यह एक अधिक है और 'कामावसा-

यित्व' का 'प्राकाम्य' में अन्तर्भाव किया गया है । यहां 'गरिमा' का नाम नहीं है एवं अन्यत्र 'कामावसायित्व' का नाम नहीं है । गरिमा—शरीर को मेरुतुल्य बनाना है। इस प्रकार अष्टसिद्धियों की प्राप्ति होकर पंचभूतों के जय से शरीरस्थ धातुओं का घनीभाव होके रूप, लावण्य, बल एवं वज्रवत् शरीर की दृढ़ता प्राप्त होती है—अर्थात् अमरत्व सिद्ध होता है । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण औरंगाबाद दक्षिण का श्रीकृष्णमिशन है—जिस में के विद्यार्थी क्षण ही में शरीर को वज्रवत् बना लेते हैं, जिस से उन के शरीर पर बड़े बड़े पत्थर, तलवार, शस्त्र आदि के प्रहार का कोई परिणाम नहीं होता । ये ग्राह्य विषय की सिद्धियां हुईं । अब ग्रहणविषय की सिद्धियों का प्रतिपादन करते हैं ।

इन्द्रियों का जय—अर्थात् (१) इन्द्रियों के कार्य, (२) स्वरूप, (३) उपादान कारण, (४) मूलद्रव्यरूप परिणामी उपादान कारण, (५) भोग एवं मोक्ष प्रयोजन साधक सामर्थ्य—में इन्द्रियों के सहकारित्व से षड्जादि शब्द, शीतादि स्पर्श, प्रकाशादि रूप, मधुरादि रस, सुगन्धादि गन्ध—इन पांच विषयों को ग्रहण करनेवाली अन्तःकरण की पंचविध वृत्तियां उदित होती हैं । इन विषयवती वृत्तियों को ग्रहण कहते हैं। इन वृत्तियों का उदय इन्द्रियों से होता है अर्थात् वृत्तियां इन्द्रियों का कार्य हैं । इस प्रथम अंश को यहां 'ग्रहण' कहा गया है । इन्द्रियां सात्विक अहंकार में से उत्पन्न हुई हैं—इसलिये इन का स्वभाव प्रकाशरूप है एवं प्रकाशरूपत्व यह इन्द्रियों का

प्रभाव है । इस द्वितीय अंश को यहां 'स्वरूप' संज्ञा दी गई है । इन्द्रियां सात्विक अहंकार के कार्य का रूप होने से इन्द्रियों के सामान्य एवं विशेपरूप में अहंकार का अनुगम है ही । इन्द्रियों के सात्विक अहंकार के तृतीय अंश को यहां 'अस्मिता' कहा है । चतुर्थांश प्रकृति द्रव्यरूप सत्व, रज, तम—यह त्रिविध द्रव्य है, एवं पांचवां अंश भोगमोक्ष-रूप प्रयोजन का साधक—सामर्थ्य है—और इन पांच अंशों का समूह इन्द्रियां हैं । यथाक्रम इन पांचों में संयम करने से इन का जय होनेपर संपूर्ण इन्द्रियों का जय होता है । पांचों अंशों में से यदि कोई अंश रह जायगा तो फिर पूर्णजय नहीं होगा—इसलिये साधक को भूतजय के पीछे इन्द्रियजय के लिये पांचों अंशों में पूर्णसाक्षात्कार होने तक संयम करना चाहिये । इन्द्रियों का जय होनेपर मन के समान शरीर की शीघ्रगति होती है, इन्द्रियों की व्याप-कता होती है एवं प्रकृति वशीभूत होती है—अर्थात् इन्द्रियवृत्ति का जय होने से कर्मेन्द्रियों का जय होके उन की वृत्ति पर स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, जिस से शरीर को कर्मेन्द्रिय द्वारा अत्युत्तम वेग दिया जा सकता है । स्थूलदेह से रहित इन्द्रियों को इच्छितदेश तथा काल में प्रेरित कर सकती है—वही —साधक की विदेहस्थिति है—जिस से प्रकृति और उस के सब विकारों पर साधक को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है—अर्थात् साधक उस का चाहे जैसा परिणाम कर सकता है । इन्द्रिय-संयम में प्रकृति का भी संयम आ जाता है—इसलिये इन्द्रिय के जय से प्रकृति का जय होना संभव है । इस अवस्था में साधक को "प्रकृतिलय" कहते हैं अर्थात् जिस

में प्रकृति का पूर्णलय हो चुका है। पूर्वकथितानुसार यह इन्द्रियदमन नहीं है—यह इन्द्रियों का महान् विजय है। यह साध्य होने पर साधक को कोई विषय विचलित नहीं कर सकता एवं वह जितेन्द्रियता की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लेता है। शास्त्र में इन तीन सिद्धियों को "मधुप्रतीका" कहा है—अर्थात् मधु शहद मीठा है वैसी ये सिद्धियां मीठी हैं—इसलिये सिद्धि की पूर्णावस्था का नाम 'मधुप्रतीका' है। इस प्रकार ग्राह्यग्रहण संयम की सिद्धियों का प्रतिपादन होने पर क्रमप्राप्त अब ग्रहितृ विषय के संयम की सिद्धियों का वर्णन करते हैं।

सर्व आधिष्ठातृत्वशक्ति एवं सर्वज्ञत्वसिद्धि—अर्थात् सब को नियमन करने का सामर्थ्य एवं सब कुछ जानने की सिद्धि। बुद्धिसत्व एवं पुरुष के भेद साक्षात्काररूप विवेकख्याति में पूर्णतया लीन—तदाकार होजाने से साधक को सर्वोपरि नियन्तृत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। रज एवं तम से पुरुष का भेद तत्काल मालूम हो जाता है किन्तु बुद्धिसत्व के साथ पुरुष के अत्यन्त सादृश्य होने के कारण सत्व एवं पुरुष का भेद जानना बहुत कठिन होता है। पूर्वोक्त स्वार्थ में संयम करके पुरुष का ज्ञान होने पर जिस का रजस् एवं तमसरूपी मल अत्यन्त क्षीण हो गया हो, जिस को वशीकाररूप अपर वैराग्य अत्यन्त दृढ़ता से प्राप्त हो गया हो एवं जिस का बुद्धिसत्व मलिनसत्व की मर्यादा का अतिक्रम करके शुद्धसात्विक द्रव्यमय हो गया हो—ऐसा साधक जब बुद्धिसत्व एवं पुरुष के भेद साक्षात्कार में तत्पर होता है तब सर्व-

शक्तिमत्व एवं सर्वज्ञत्व प्राप्त होकर साधक सब भूत, भविष्य, वर्त्तमानधर्म को, परीणामवादी सब भूतभौतिक अहंकारादि पदार्थों को, सब की मूल उपादान कारणरूप प्रकृति को एवं पुरुष को जान सकता है । इस अपरोक्षज्ञान को ही 'विवेकख्याति' कहते हैं । (देखो पुरुष-आत्मा का ज्ञान) । बुद्धिसत्व और पुरुष में संयम करने से 'विवेकख्याति' का साक्षात्कार होके प्रकृति एवं उस के कार्यरूप सब पदार्थों पर स्वतंत्र सामर्थ्य प्राप्त होता है—अर्थात् साधक सब का नियन्ता बनाता है । जब साधक तीव्र वैराग्ययुक्त होकर भ्रमकारी ऐश्वर्योंकी ओर मुंह फेर कर भी नहीं देखता तब आप ही आप ऐसे शान्तिमय स्थान में पहुंच जाता है जहां उस की सब मनोवासनायें स्वयमेव पूर्ण हो जाती हैं एवं वह भगवद्दर्शन में समर्थ हो जाता है । उस के अन्तःकरण में 'ऋतंभरा' नामक पूर्ण ज्ञानमय प्रज्ञा का उदय होता है । मल ही के कारण भगवत्साक्षात्कार नहीं कर सकता था—जब मल ही नहीं रहा तो अन्तःकरण स्वयमेव भगवद्दर्शन में समर्थ हो जाता है । साधक की इस अवस्था का नाम 'विशोका'—अर्थात् शोकरहित अवस्था है । इस प्रकार सिद्धियां प्राप्त करके क्या साधक दूसरा ईश्वर बन जाता है ? इस का उत्तर यह है कि—साधक दूसरा ईश्वर नहीं बनता किन्तु अपना रूप ईश्वर में मिला कर तद्रूप बन जाता है । जब साधक की सिद्धदशा होकर ईश्वर लीन होजाता है तो ईश्वर की इच्छा या ईश्वर के नियम के विरुद्ध वह कुछ नहीं करता । उस की किसी विभूति द्वारा यदि कोई कार्यसंपादन हो जाता है तो वह ईश्वर की इच्छा के या नियम ही के अनुकूल होता है ।

कैवल्यप्राप्ति—विवेकख्याति—अर्थात् विभूतियों की चरम सीमा में परमवैराग्य—वीतरागता प्राप्त होने से अविद्यादि क्लेश, दुःख, दोषबीजरूप समग्र संस्कार एवं कर्म का चित्त-सहित लय होके कैवल्यप्राप्त होता है। महासिद्धि 'विवेक-ख्याति' शुद्धसात्विक बुद्धिवृत्ति है—यह वृत्तिरूपा है, इस-लिये जड़त्वपरिणामिनी एवं अनात्मधर्मिणी है; जिस से चितिशक्तिस्वरूप पुरुष से भिन्न है—ऐसा पूर्ण विचारसंयम द्वारा साधक जान कर विवेकख्याति वृत्ति में पूर्ण दृढ़-वैराग्य—वीतरागता प्राप्त करता है तब उस की इस वृत्ति का शमन हो जाता है। वृत्ति का शमन होते ही अत्यन्त प्रबल सर्वशक्तिमती महाचितिशक्ति का पूर्ण निरोध होके असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। असंप्रज्ञात के अभ्यास से जब अविद्या संस्काररूप दोषबीज दग्ध होके अस्मितारूप कारण में उस का अत्यन्त लय होजाता है तब चित्त का फिर उदय नहीं होता—अर्थात् वह साधक के साथ संयुक्त नहीं होने पाता। इस प्रकार चित्त का और साधक का संयोग सदा के लिये नष्ट हो जाता है। संयोग का नाश हो जाने से साधक एकाकी होके अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर रहता है—अर्थात आत्मदर्शन करने में समर्थ हो जाता है। पूर्ण होके पूर्ण में पूर्ण देखता है। एवं केवल भावस्वरूप स्थितिरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। विवेकख्याति में होनेवाले परमवैराग्य से विकारों का अत्यन्त लय हो जाता है—तब दृश्यरूप बुद्धि-सत्व एवं मोक्षरूप दोनों प्रयोजन साध्य होके कारण में लीन हो जाते हैं—अर्थात् झट साधक को सिद्धदशा प्राप्त होके वह—अन्तिम साध्य, जन्म का सार्थक्य, जीवात्मापरमात्मा

का एकीभाव, चिरशान्ति के आनन्दनिदान, सच्चिदानन्द स्वरूप में लीन होके—ब्रह्ममय, ईश्वरैक्य परममुक्ति—कैवल्य का 'केवलीभाव' वन जाता है। वस, यही सव सिद्धियों का सार एवं मनुष्यमात्र के अन्तिम परमकर्त्तव्य का महाफल—महासिद्धियों की 'चरम सीमा' है।

प्रतिभा का ज्ञान—उपर्युक्त सिद्धियों के विवेचन पर से साधक को सिद्धियों का वड़ा भारी जाल प्रतीत होके—उन की प्राप्ति के साधन में अत्यन्त कठिनता—एवं भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार—"अनेक जन्म संसिद्धस्ततो परां गतिम्" अनेक जन्म में सिद्धि प्राप्त होती है—जान कर साधक की विचारशक्ति में—संशयप्रधानता, चित्त-विमुखता, प्रयत्नशिथिलता एवं उदासीनता—होना संभव है। नहीं नहीं, किन्तु कभी ऐसा नहीं है—परमकारुणिक भगवान् श्रीकृष्ण ने आरम्भ ही में कह रक्खा है कि—"एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।" ब्राह्मी-स्थिति—ब्रह्म में विचार की एकाग्रता होने पर फिर मोह नहीं होता—और झट—"परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानु-चिन्तयन्।"—अर्थात् 'अनुचिन्तयन्' वारंवार चिन्तन से—विचारों के लगातार से—एकान्त लक्ष्यवेध से—साधकदशा सिद्धदशा में—परमदिव्य पुरुष के पास पहुंचने के लिये—फिर देर नहीं होती। इस ब्राह्मीस्थिति की प्राप्ति के लिये—'अनुचिन्तन'—विचारपरिशीलन ही अमोघ साधन है एवं विचारपरिशीलन का साधन, प्रभावशालिनी 'प्रतिभा' है। प्रतिभा—बुद्धि का एक अलौकिक कार्य है। उस की शक्ति, बुद्धिविज्ञान द्वारा ही प्रकट हो सकती है। प्रति-भा-बुद्धि

की प्रति-अन्य-सदृश, भा-प्रकाश-विकास--अर्थात् चिति-शक्ति पुंज का प्रतिबिम्ब--"यो बुद्धेः परतस्तु सः" बुद्धि के आगे है। बुद्धि वहां पहुंच नहीं सकती, किन्तु वहां बुद्धि को पहुंचाने का साधन मनुष्यमात्र में है। यह शक्ति व्यक्ति-विशेष ही में होती है--ऐसा नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण के कहने के अनुसार--"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति" जब ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान है और--"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।"--जीव-लोक में जीवभूत सनातन मेरा ही अंश है तो--"एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना" वह बुद्धि के आगे है ऐसा जान कर आत्मा से आत्मा को स्तम्भित करके उस में लीन होने के सिवा उस बुद्धि से पर शक्ति में पहुंचने के लिये किसी को कहीं जाने की, प्रवास करने की, एवं बड़ा भारी प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धि--अनुचिन्तन--विचार की परम्परा है एवं अनुचिन्तन--विचार की परम्परा बुद्धि है। वह सब प्राणियों में बीजभूत है। मन, मस्तिष्क एवं आत्मा के एकीकरण से बुद्धि में प्रतिभा का अंकुर उत्पन्न होता है। विचारभावना--अनुचिन्तन--द्योतन का मन आदिम स्थान है--अर्थात् परा में स्फुरण होते ही उस का आघात मस्तिष्क में पहुंच कर--"यो बुद्धेः परतस्तु सः" जो बुद्धि के आगे 'आत्मा' है उस का ज्ञान होना ही बुद्धि का कार्य है। चित्त का स्फुरण--विचार--अनुचिन्तन शरीर के जिस जिस भाग में एकाग्र होता है--एकान्त लक्ष्यवेध करता है--उस भाग में बहुत तेज़ी के साथ रक्त की गति एवं ज्ञानतन्तुओं का व्यापार होता है। यह बात

विज्ञान द्वारा प्रमाणित हो चुकी है इतना ही नहीं—इस का हर कोई अनुभव ले सकता है । किसी शरीर के भाग पर हथेली फिराते हुए दृढ़ एकाग्रता से वहां लक्ष्यवेध किया जायगा तो उस भाग में रक्ताभिसरण की तेजी का अनुभव इस प्रकार होगा कि—उष्णता बढ़ कर अन्तः-स्फुरण होके नसों में सनसनाहट मालूम होगी । रूपकुरूप के देखने से नेत्रों में संकोचविकास होता है, मधुराम्ल रसों का स्मरण होते ही मुख में लाला का स्राव होता है, सुगन्धदुर्गन्धादिकों का स्पर्श होते ही घ्राण में श्वासोच्छ्वास का न्यूनाधिक प्रवाह होता है, मृदु कठिन शब्दों का श्रवण होते ही कर्णों में मधुर उग्रता का भान होता है एवं शीतोष्ण का स्पर्श होते ही त्वचा में सहनाऽसहन का बोध होता है—यह ज्ञानतन्तुओं के व्यापार के सिवा और क्या है एवं अनुचिन्तित विषयग्राहकबुद्धि के सिवा और क्या है ?

विधिपूर्वक एकाग्रता के विना बुद्धि का परिणाम प्रकट नहीं होता । संकल्पशक्ति अथवा अनुचिन्तन विना बला-त्कार के स्थिर होता हैं एवं उन की स्थिरता का यह परिचय है कि—बलउत्साह की प्राप्ति होके चित्त के परिश्रम का विलय हो जाता है । चित्त शान्त होके स्थिर होता है तभी किसी भी शक्ति Faculty का उपयोग करने से उस का एकान्त रहस्य प्रकट होता है । एकाग्रचित्त कुछ काम नहीं करता, कहीं प्रवृत्त नहीं होता तो भी बुद्धिशक्ति—Ability द्वारा प्रतिभा के आविष्कार करने का मार्ग खोल देता है अर्थात् एकाग्रचित्त स्वयं कोई काम नहीं करता

या अपने में किसी क्रिया को नहीं होने देता किन्तु उस के भाव को तत्काल प्रकट कर देता है–इसीलिये एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये। एकाग्रता–अनेक विषयों का त्याग करके एक ही विषय पर चित्त को एकरस करना है एवं चित्त में किसी विषय का अत्यन्त अनिर्वचनीय प्रेम उत्पन्न होके लगातार उस का अनुचिन्तन–नित्यचिन्तन करना–एकरस होना है। यह सब अभ्यास द्वारा ही बुद्धिगम्य होता है। आरिस्टाटल कहता है कि–"खाली जानने ही से बुद्धि पूर्ण नहीं होती–अभ्यास से पूर्ण होती है।" भगवान् शंकराचार्य का कहना है कि–"सूर्य के प्रकाश विना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता वैसे ही विचार के विना साधन का ज्ञान नहीं होता।" भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है कि–"अनन्यचित्त से नित्यचिन्तन द्वाराही नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ होता हूं।"

अनन्यचित्त का नित्यचिन्तन–अर्थात् विचारैकाग्रता का अभ्यास बड़ा ही सरल, सहज एवं सुसाध्य है–इस के लिये कहीं जाने की खोज करने की, किसी पाठशाला में भरती होने की या किसी बोर्डिंग हौस में रहने की आवश्यकता नहीं है। यह एक कल्पनात्मक मनोराज्य की अद्भुत सृष्टि है–इसीलिये भगवान् पातंजलि ने कहा है कि–"प्रतिभाद्वा सर्वम्"–इस एक प्रतिभाशक्ति द्वारा ही सब सिद्धियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं–अर्थात् विना किसी प्रकार के उपदेश के एवं विना किसी प्रकार की अपेक्षा के स्वयमेव क्षण क्षण विद्युत् के चमकने समान

मन ही मन नई-नई कल्पनात्मक ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है—उस को 'प्रतिभा' कहते हैं—यह एक विचार की विशिष्ट श्रेणी है। माधुर्य-चित्त को द्रवीभूत करनेवाला आनन्द, ओज-चित्त को विशाल करनेवाली चमत्कारिक शक्ति, प्रसाद—सुनते ही चित्त में शब्दों का भाव प्रविष्ट हो जाना—ये प्रतिभा के तीन विभाग हैं। माधुर्य से चित्त में अग्निकण—Electron उत्पन्न होते हैं, ओज से ये अग्निकण प्रदीप्त होते हैं एवं प्रसाद से उन का प्रकाश फैलता है—अर्थात् मधुरता, वल एवं प्रसन्नता ये प्रतिभा के विशेषरूप हैं। यह एक नवनवोन्मेषशालिनी—अर्थात् क्षण क्षण में नये नये भाव व्यंजित करनेवाली आकलन शक्तिबुद्धि का शुद्ध सत्वतत्व है। इस में संयम करने से उस का साक्षात्कार होता है तब, प्रतिभाशक्ति प्राप्त होती है एवं उस का उत्तरोत्तर विकास होके वह चिरस्थायिनी होती है। भगवान् वासिष्ठ ने कहा है कि—"प्रतिभा सार्थतामेति क्षणादेव मनो मुने। स्पन्दमात्रात्मकं वारि यथा तुङ्गतरङ्गताम्॥" वायु के स्पन्दनमात्र ही से जैसे जल उछल कर उस के तरङ्ग वनते हैं वैसे ही क्षण ही में मन प्रतिभा का रूप वन जाता है। इस प्रकार प्रतिभाशक्ति प्राप्त होने पर उपर्युक्त सब सिद्धियां विना किसी संयम के या विना किसी प्रक्रिया के केवल इस प्रतिभाशक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। जिस प्रकार अरुणोदय सूर्य के उदय को सूचित करता है, उसी प्रकार प्रतिभाज्ञान विवेकख्याति के को उदय को सूचित करता है—अर्थात् प्रतिभा का प्रादुर्भाव होते ही विवेकख्याति महासिद्धि का साथ ही प्रादुर्भाव

होता है। एवं वह जन्मजन्मातर में भी नष्ट नहीं होती। इस के ज्वलन्तप्रमाण इस वक्त मास्टर मदन मोहन चटरजी जो ६।७ वर्ष का लड़का है वह अपनी ३।४ वर्ष ही की उमर से अच्छे अच्छे विद्वान् प्रतिभाशाली गायकों को मात कर रहा है। वेलोर में काव्यघण्ट गणपतिशास्त्रालु गारु नामक गृहस्थ का ६।१० वर्ष का लड़का तैलंग भापा में अच्छे अच्छे वेदान्त तत्वज्ञों को मात करता है। "रिव्यु आफ़ रिव्हूज्" में लिखा है कि-लंडन में लास्टन नामक एक मनुष्य है उसे दुनियाभर की चालीस हज़ार घटनायें याद हैं एवं चौदह सौ लड़ाइयों की तारीखें याद हैं। फ़्रान्स में मिलीडायमण्डी नाम की एक लडकी है वह पच्चीस का वर्ग, वारह की जोड बाक़ी, आठ और वारह का वर्गमूल और दस तक का घनमूल विना काग़ज़ स्लेट के मुंह से निकाल सकती है। एक्स-रेज़ किरणों की शक्ति डा० ब्रेट के लडके में है वह अपनी आंखों ही से मनुष्य के शरीर के अन्दर के अस्थिमांसादि और रक्ताभिसरण देख सकता है—इत्यादि अनेक प्रमाण मौजूद हैं। क्या ये मास्टर मदन, लास्टन, मिलीडाय-मण्डी आदि किसी गुरु, मास्टर, प्रोफ़ेसर के पास इस प्रकार की शक्ति प्राप्त करना सीखे थे? क्या कहीं अष्टा-वधानी, शतावधानी, एवं कवियों की पाठशालाएं हैं? व्यास, कणाद, गौतम, पाणिनि, पातंजलि आदि महात्माओं ने तत्वज्ञान को सूत्रवद्ध करने के लिये किन पाठशालाओं में पाठ लिया था? वाट को वाष्पगति का ज्ञान किस ने कराया था? ज़ेनर को किस ने गोशीतला

की योजना दिखाई थी? व्हीटस्टान को किस ने तार का पता दिया था? मारकोनी ने वेतार का तार चलाना किस प्रोफ़ेसर से सीखा था? एडीसन ने फ़ोनोग्राफ़ का मधुरालाप किस गायनशाला में आलापा था? तार, टेलिफ़ोन द्वारा समाचार, वक्तृता, गान, गीत आदि भेजना, अग्निजल आदि द्वारा आगगाड़ी, आगबोट, पूतलीघर आदि चलाना, फ़ोनोग्राफ़ी, फ़ोटोग्राफ़ी, टेलिपथी, आदि अनेक आविष्कार प्रतिभा का ही फल है। इस पर से पाठकों को पूर्णतया विदित हो जायगा कि—विचारशक्ति का विचारसंयम द्वारा विचार की एकाग्रता में उदय करके विचार का संस्कार करना ही 'प्रतिभा' है—जिस से आज वुइलियम वाकर एटकिन्सन् W. W. Walker Atkinson, फ्रेन्क पोडमोर एम्. ए. Frank Podmore, M. A., फ्रेडरिक मायर्स Frederic Myers, प्रो० जेम्स एलेन Pro. James Allen, प्रो० जेम्स कोटेज् Pro. James Coates Ph. D., F. A. S., हाश्नु हारा O Hashnu Hara, डिम्स्डेले स्टोकर R. Dimsdale Stocker, एला वीलर वुइलकाक्स Ella Wheeler Wilcox, प्रो० कोलविले Pro. Colville, मिसेस एलिझावेथ टौन Misses Elizabeth Towne आदि कितने ही बड़े बड़े आधुनिक विद्यमान पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अनेक युक्ति, विज्ञान, शक्ति, क्रिया, संयम, अभ्यास, प्रयत्न अनुभव द्वारा सिद्ध कर दिखाया है कि—जगत् पर विचार ही का साम्राज्य है एवं विचार ही से सब सिद्धियां हस्तामलकवत् होती हैं—इस का पूर्ण अनुभव आजकल यूरोप,

अमेरिका के साहसी प्रयत्नशील विद्वान् विज्ञानवेत्ता भली-भांति ले रहे हैं और इस हमारी विद्या के लिये हमें सचेत कर रहे हैं इतना ही नहीं—हमारी ही विद्या से हमें चकित कर रहे हैं!!

ग—सिद्धियों का परिणाम।

उपर्युक्त सब सिद्धियां क्रमशः साधक को लुभानेवाली हैं एवं संप्रज्ञातसमाधी में विघ्नरूप हैं। सिद्धियां प्राप्त होने से साधक को आनन्द, आश्चर्य, उत्साह होके अभ्यास में विशेष प्रवृत्ति होती है एवं क्रमशः उन्नति भी होती जाती है—किन्तु उन के उपयोग के लिये साधक का चित्त आतुर होता है—इतना ही नहीं; रजोगुण की एवं तमोगुण की वृद्धि होके प्रबल निरुद्ध—संचितशक्ति क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार चित्त की शुद्धसात्विक अवस्था क्रमशः क्षीण हो जाने पर चित्त की चंचलता बढ़ती जाती है एवं स्थिरता का नाश होता जाता है। अन्त में साधक अत्यन्त दुर्लभसिद्ध कैवल्य अमृतफल से वंचित होकर योगभ्रष्ट हो जाता है। यह तो सामान्य सिद्धियों की बात हुई, किन्तु साधक जब श्रेष्ठ भूमिका में पदार्पण करके उन्न सिद्धियों की प्राप्ति करता है तब इन्द्रादि देव स्वर्गादि लोकों में आने के लिये उस की प्रार्थना करते हैं। उस वक्त साधक को मोहग्रसित न होना चाहिये एवं अपने सामर्थ्य का भी अभिमान न करना चाहिये—क्योंकि ऐसा करने से अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

सावकों की चार भूमिकायें हैं। क्रमशः साधक उन में प्रवेश कर सकता है। भूमिका के अनुसार (१) प्रथम-

कल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति एवं (४) अतिक्रान्त भावनीय–साधक होते हैं । (१) निश्चय करके साधक साधन में प्रवृत्त हुआ है किन्तु उस को अभी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हुई–प्राथमिक साधनदशा में है–उसे 'प्रथमकल्पिक' कहते हैं । (२) जिस साधक ने संप्रज्ञात समाधि प्राप्त करके 'मधुमती' नामक भूमिका में प्रवेश किया है अर्थात् जो निर्वितर्का–निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त होके जिस में 'ऋतंभरा' प्रज्ञा का उदय हो चुका है–जिस के द्वारा उस ने पंचभूत एवं इन्द्रियरूप स्थूल ग्राह्यविषय में संयम किया है–उस को 'मधुभूमिक' कहते हैं । (३) जिस साधक ने मधुभूमिका का अतिक्रम करके निर्विकल्प समाधि द्वारा ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त की है; पंचभूत एवं इन्द्रियों का जय किया है । विशोका तथा कैवल्यरूप दो सिद्धियां प्राप्त करना अवशिष्ट हैं जिन के लिये प्रयत्न कर रहा है–उस को 'प्रज्ञाज्योति' कहते हैं । (४) जिस साधक ने तृतीय भूमिका का अतिक्रम करके विशोका सिद्धि प्राप्त की है एवं कैवल्यरूप–सिद्धियों की चरमसीमा, महासिद्धि की प्राप्ति के लिये साधन कर रहा है–उस जीवन्मुक्त महात्मा साधक को 'अतिक्रान्त भावनीय' कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के साधक होते हैं । उन में प्रथमकल्पिक साधक को किसी महासिद्धि की प्राप्ति न होने से उस को दिव्यभोगों के लिये लुभाने की देवों को आवश्यकता नहीं होती । तृतीय प्रज्ञाज्योति साधक दृढ़ वैराग्यशील एवं पंचभूत तथा इन्द्रियों को वश में चलानेवाला होता है जिस से दिव्यभोगों के मोह में नहीं आ सकता एवं चतुर्थ

अतिक्रान्त भावनीय—जीवन्मुक्त महात्मा प्रकृतिलये से भी अधिक होता है—इसलिये उस को मोह में डालने के लिये कोई समर्थ नहीं है। अब रहा द्वितीय मधुभूमिक साधक उस के लिये योगसिद्धि, महापुरुष, महात्माओं का उपदेश है कि—जिस समय देवता प्रत्यक्ष होके कहें कि—"हम तुझ पर प्रसन्न हैं—'इच्छित वर मांग'—स्वर्ग के भोग अत्यन्त प्रीति कर हैं। यहां दिव्यरसायन है जिस से जरा एवं मृत्यु की बाधा नहीं होती। यहां कल्पद्रुम है, चिन्तामणि है, कामधेनु है, परमपावनी मन्दाकिनी है, अप्सरां हैं। यहां चक्षुरादि इन्द्रियों को दिव्यसामर्थ्य प्राप्त होता है। वज्रसमान शरीर होता है। दिव्यभोग प्राप्त होते हैं। अटूट ऐश्वर्य भरा हुआ है। यह सब तेरे पुण्यबल से तुझे प्राप्त होता हैं—इसलिये स्वर्ग में आकर तू यथेच्छ विहार कर—इत्यादि।" किन्तु साधक को किसी अवस्था में भी लोभ में न आना चाहिये एवं—"अहाहा! कैसा मेरा सामर्थ्य है—जिस से अन्य प्राणियों को—स्वप्न में या कल्पना में भी प्राप्त न होनेवाले दिव्यभोग मुझे अनायास प्राप्त होते हैं—इसलिये मैं कृत्य कृत्य हूँ"—इत्यादि अपने सामर्थ्य का भी अभिमान न करना चाहिये। प्रत्युत नित्य यह विचार करना चाहिये कि—"चौरासी लक्ष योनियों में घूमते घूमते अत्यन्त दुःख सहन करने पर बहुत कठिनता से मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है—मेरा कर्त्तव्य है कि—जिस परमेश्वर का मैं अंश हूं एवं जिस से भिन्न होकर इधर उधर घूम रहा हूं—पीछा उसी में सन्मिलित होके तदाकार बनूं एवं जन्ममरणरूप घटियन्त्र के चक्र में से

निकल कर-संसारिक या स्वर्गीय अनन्तकोटि दिव्यभोगों की अपेक्षा अनन्तानन्त दिव्यातिदिव्य चरमफल महासिद्धि कैवल्य को प्राप्त करूं । इसी अन्तिम महासिद्धि के लिये- कि जो इस मानवशरीर ही में प्राप्त हो सकती है-मैं साधन कर रहा हूं तो, क्या इन क्षणिकभोगों के लोभ में आकर- भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार-"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" अर्थात् पुण्य का क्षय हो जाने पर फिर मृत्यु-लोक में आना होता है-संसारचक्र में आ पड़ूं ?"-इत्यादि पूर्ण विचार करके सिद्धियों के लोभ में न पड़ना चाहिये एवं मिथ्या कृतकृत्यता भी न मानना चाहिये । साधक के भोगसंगम से या विस्मय पाने से वहिर्मुखता होके विचार निरुद्धावस्था की चितिशक्ति का क्षय होता जाता है, जिस से योगभ्रष्ट होकर साधक को-स्वर्गादिक दिव्यभोग भोगने पर, पुण्य का क्षय होते ही फिर मृत्युलोक में आना होता है या अन्यलोक में कहीं अन्यत्र भ्रमण करना होता है । यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार-"पार्थ नैवेह-नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते" इस लोक में या परलोक में उस का कहीं विनाश नहीं होता-तोभी साधक को पूर्ण विचार करना चाहिये कि-वारवार चक्र में पड़ कर भ्रमण करने की अपेक्षा एकवार ही में मुक्त होकर उस पूर्ण अनन्त में पूर्ण होके पूर्ण हो जाना ही अत्यन्त श्रेष्ठ है एवं मनुष्य जन्म के इतिकर्त्तव्य का सार्थक्य है ।

श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में महात्मा उद्धव के प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण सिद्धियों के विषय में यों कहते हैं कि-"कुलसिद्धियां अठारह हैं, उन में आठ मुख्य

हैं और दस गौण हैं। (१) अणिमा, (२) महिमा एवं (३) लघिमा—ये तीन देह से सम्बन्ध रखनेवाली सिद्धियां हैं। (४) प्राप्ति—यह एक इन्द्रियों से संबन्ध रखनेवाली सिद्धि है। (५) प्राकाश्य—यह एक इन्द्रियों के भोग-विषय से संबन्ध रखनेवाली सिद्धि है। (६) ईशिता—यह ईश्वर के सदृश अधिकार रखनेवाली सिद्धि है। (७) वशिता—यह विषयभोग में अनासक्ति रखनेवाली अर्थात् इन्द्रियों को वश में चलानेवाली सिद्धि है। (८) कामावसायित्व—यह जिस जिस बात की इच्छा हो उस को पूर्ण करनेवाली सिद्धि है। इस प्रकार ये आठ सिद्धियां मुख्य हैं एवं अवशेष दस में से पांच गौण और पांच क्षुद्र हैं। (९) अनूर्मिमत्व—क्षुत्पिपासानिवृत्ति, (१०) दूरश्रवणदर्शन, (११) परकायाप्रवेश, (१२) स्वच्छन्दमृत्यु—इच्छामरण, (१३)-संकल्पसंसिद्धि—इच्छितप्राप्ति। ये पांच सिद्धियां गौण हैं (१४) त्रिकालिकज्ञान, (१५) द्वन्द्व-राहित्य—शीतोष्णादिकों का शमन, (१६) परचित्त का ज्ञान, (१७) सूर्याग्निजलविषादिकों का अवष्टम्भ-स्तम्भन (१८) अपराजय—सर्वत्रविजय। ये पांच सिद्धियां क्षुद्र हैं—सब मिल कर अठारह सिद्धियां हैं।" आगे इन का विशेष विवेचन करते हैं कि—" (१) पंचभूतों के सूक्ष्म-शरीर में धारणा करके, तन्मात्रा के सूक्ष्मत्व में मेरी उपासना करने पर, साधक अणुरूप होके चाहे जहां संचार कर सकता है—इतना ही नहीं, पाषाणादि कठिन से कठिन पदार्थ में भी प्रवेश कर सकता है। (२) महानात्मा की ज्ञानशक्ति में महत्तत्वाकार धारणा करके, महत्व में मेरी

उपासना करने पर, साधक पृथ्वी को व्याप्त करके आकाश तक को भी व्याप्त कर सकता है। (३) वायु आदि भूतों के परमाणुओं में धारणा करके, परमाणु के रूप तथा काल के सूक्ष्मत्व में मेरी उपासना करने पर, साधक लघु से लघु हो सकता है। (४) सात्विक अहंकार के मनोविकार में धारणा करके, सर्वेन्द्रिय उपाधिभूत आत्मा में मेरी उपासना करने पर, साधक सर्व प्राणियों की अधिष्ठातृरूपशक्ति को—प्राप्ति को प्राप्त कर सकता है। (५) क्रियाशक्तिप्रधान महत्तत्व में धारणा करके, परमेष्ठी अव्यक्त में मेरी उपासना करने पर, साधक प्राकाश्यसिद्धि प्राप्त कर सकता है। (६) त्रिगुणमायाधीश्वर भगवान् विष्णु में धारणा करके, उस के व्यापकत्व एवं अन्तर्यामित्व में मेरी उपासना करने पर, साधक देहादि क्षेत्र में प्रेरकशक्तिभूत ईशितासिद्धि प्राप्त कर सकता है। (७) नारायणरूप में धारणा करके, विराट्स्वरूप में मेरी उपासना करने पर, साधक वशितासिद्धि प्राप्त कर सकता है। (८) निर्गुणब्रह्म में धारणा करके, परमानन्द में मेरी उपासना करने पर, साधक इच्छितफलदायिनी कामावसायित्वसिद्धि प्राप्त कर सकता है। (९) श्वेतद्वीप के पति में धारणा करके, शुद्धधर्ममय चित्त में मेरी उपासना करने पर, षडूर्मि—अर्थात् क्षुत्पिपासादि देहधर्म नष्ट होते हैं। (१०) आकाश के अणुओं में धारणा करके, 'हंसः' 'सोऽहम्' में मेरी उपासना करने पर, दूरश्रवण होता है एवं सूर्य की प्रभा में धारणा करके, त्राटक में मेरी उपासना करने पर, साधक दूरदर्शन तो क्या—अखिल

विश्वदर्शन कर सकता है। (११) मन और देह को लीन करके, मेरे स्वरूप में धारणा करके, निज के स्वरूप में मेरी उपासना करने पर, साधक परकायाप्रवेश कर सकता है एवं साथ ही भ्रमर के समान इन्द्रियां भी परशरीर में प्रवेश कर जाती हैं। (१२) पांवों की एडियों से गुदद्वार का संकोच करके प्राण को ब्रह्माण्ड में ले जाकर, स्वर्ग की धारणा करके, स्वर्गविहार में मेरी उपासना करने पर, साधक अपनी इच्छा के अनुसार मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। (१३) इच्छित संकल्प में धारणा करके, ईशित्ववशित्व में मेरी उपासना करने पर, ईश्वर की आज्ञा के समान साधक की आज्ञा का कोई भंग नहीं कर सकता। (१४) चित्त के शुद्ध-सत्व में धारणा करके, त्रैकालिकी बुद्धि में मेरी उपासना करने पर, साधक त्रैकालिक अर्थात् भूत, भविष्य, वर्त्तमान-काल का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। (१५) शीतोष्णादि द्वन्द्वों में धारणा करके, उन के भाव में मेरी उपासना करने पर, साधक अपने शरीर पर द्वन्द्वों का आघात नहीं होने देता। (१६) त्रैकालिकज्ञान में धारणा करके, चित्त में मेरी उपासना करने पर, साधक परचित्त का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। (१७) अग्निजलादि में धारणा करके, उन के अधिष्ठातृदेवताओं में मेरी उपासना करने पर, साधक उन का स्तम्भन कर सकता है। (१८) ईश्वर की विभूति में धारणा करके, षड्गुणैश्वर्यादि भावों में मेरी उपासना करने पर, साधक सर्वत्र अपराजित अर्थात् विजयशाली होता है। इस प्रकार जितेन्द्रिय, पूर्णनिग्रही, जितश्वास को सिद्धियां प्राप्त होती हैं। यह सब मेरी ही

उपासना का फल है। मेरी धारणा करके, उपासना करनेवाले को कोई भी सिद्धि दुर्लभ नहीं है—किन्तु उपासक को अन्तिम मुक्तिरूपी फल साध्य होने में सिद्धियां अन्तरायजनक—विघ्नरूप हैं अर्थात् मेरी प्राप्ति में सिद्धियां विलम्ब करती हैं। ये सब सिद्धियां जन्म, औषधि, तप, मन्त्रादिकों से भी प्राप्त होती हैं। अर्थात् जन्म से—देवादिकों की दिव्यता, ऋषिमुनियों की पवित्रता, पंचमहाभूतों की निसर्गता एवं पक्षियों की आकाशगामिता आदि; औषधि से—वलीपलित, रोग, जरा आदि का नाश; तप से—विश्वामित्रादिकों के समान नई सृष्टिरचनादि सामर्थ्य; मंत्र से—जारण, मारण, वशीकरणादि प्रभाव—निसर्गसिद्ध प्राप्त होते हैं। सब सिद्धियों का देनेवाला मैं हूं, योग तथा सांख्य का प्रवर्त्तक मैं हूं एवं प्राणिमात्र के अन्तर्बाह्य रहनेवाला परमात्मा मैं हूं।" भगवान् श्रीकृष्ण के कहने का तात्पर्य यही है कि—"मेरी उपासना में जो चाहिये सो सब कुछ है। सिद्धियां कोई चीज़ नहीं। उन के मोह से मनुष्य मोहित होके परमपदप्राप्ति महालाभ से वंचित होता है एवं जन्ममरणचक्र में चक्राकार फिरता है।"

"जीवन्मुक्त महात्माओं में आकाशगमनादिक शक्तियां क्यों नहीं देखने में आतीं?" ऐसे भगवान् श्रीरामचन्द्र के प्रश्न के उत्तर में—सिद्धियों के लिये भगवान् वासिष्ठ कहते हैं कि—"हे रघूद्वह! आकाशगमनादिक जितनी सिद्धियां हैं; वे सब पदार्थों की स्वभावसिद्ध शक्तियां हैं—यह प्रमाणित हो चुका है। यह आकाशगमनादि विचित्र क्रियाजाल देखने में आता है एवं नहीं भी आता है।

यह केवल वस्तुस्वभाव है। आत्मज्ञमहात्मा इस में संलग्न नहीं होता, अर्थात् इस की इच्छा नहीं करता। क्योंकि,— आत्मा को न जाननेवाला वासनाबद्ध सामान्य मनुष्य भी आकाशगमनादिक सिद्धियां—मंत्र, कर्म, क्रिया, कालशक्ति से प्राप्त कर सकता है। वासनारहित आत्मज्ञमहात्मा— आत्मभावना से आत्मा में नित्यतृप्त रहता है—इसलिये यह उस का विषय नहीं है, और न वह अविद्या की तरफ़ लक्ष्य ही प्रदान करता है। जगत् के सब भाव अविद्यामय हैं—फिर अविद्यारहित आत्मज्ञमहात्मा उन में कैसे निमग्न हो सकता है? जो सुखविनाशकयुक्ति द्वारा अविद्या का साधन करता है, वह उस की भावना से अविद्यामय होता है—वैसा आत्मज्ञ नहीं होता, क्योंकि, वह अविद्या की तरफ़ लक्ष ही नहीं देता। तत्वज्ञ हो, या न हो—काल, द्रव्य, कर्म से चिरकाल नियमित प्रयत्न करने पर, मणि, मंत्र, औषधि द्वारा आकाशगमनादिक सिद्धियां प्राप्त कर सकता है। आत्मज्ञमहात्मा, वासना-इच्छादिरहित होने से, आत्मा ही में संतुष्ट रह कर—कुछ भी नहीं चाहता। उस को आकाशगति से कुछ लाभ नहीं, सिद्धि से कुछ लाभ नहीं, प्रभाव से कुछ लाभ नहीं, मान से कुछ लाभ नहीं, और न आशा, मरण, जीवन से लाभ है। नित्यतृप्त, प्रशान्तात्मा, वीतराग, वासनारहित, आत्मज्ञ स्वयं आकाश बन कर आकाश में रममाण रहता है। उसे सुखदुःख की शंका नहीं रहती। वह जीवनमरण की उपेक्षा करके नित्यतृप्त रहता है। आत्मज्ञान का लेश भी न जाननेवाला, सिद्धिजाल की इच्छा करता है तो—सिद्धि-साधक मणि, मंत्र, औषधि, कालक्रिया द्वारा क्रमशः वह इन्हें प्राप्त कर सकता है; क्योंकि, आयुर्वेद मंत्रशास्त्रादि-

प्रतिपादित नैसर्गिक प्रक्रिया के संयम द्वारा सिद्धियां सिद्ध होनी ही चाहिये—उन को साक्षात् शंकरादिक देव भी व्यर्थ नहीं कर सकते। वस्तुमात्र का स्वभाव स्वयंसिद्ध होता है, उस के गुणधर्म का कभी लोप नहीं होता—जैसे चन्द्रमा की शीतलता का लोप कोई नहीं कर सकता। चाहे सब जाननेवाला हो, चाहे बहुत जाननेवाला हो, चाहे लक्ष्मी-पति विष्णु हो, चाहे महेश्वरशंकर हो—पदार्थ के गुणधर्म का कोई लोप नहीं कर सकता। आकाशगमनादि सि-द्धियां—सब, द्रव्य, काल, क्रिया, मंत्र प्रयोगों की स्वाभा-विक शक्तियां हैं। जैसे मनुष्य को विष मार देता है, मद्य उन्मत्त कर देता है, शुक्त अर्थात् शिर का और मदनफल अर्थात् धत्तूरबीज वमन कराते हैं। वैसे ही द्रव्य, काल, क्रियाओं से युक्तियुक्त प्रयोग करने पर, स्वाभाविक गुण-धर्म द्वारा सिद्धियां साध्य होती हैं। अविद्यारहित, सि-द्धियों की इच्छा न करनेवाले आत्मज्ञानी को कुछ करना कराना नहीं होता है; एवं द्रव्य, देश, क्रिया, काल, युक्तियां अच्छी होने पर भी, परमात्मपदप्राप्ति के लिये सहायकारक नहीं होती। तथापि इच्छा होने पर, आत्मज्ञ चाहे सो सिद्धि प्राप्त कर सकता है—किन्तु, परिपूर्ण आ-त्मज्ञ को कभी कुछ इच्छा ही नहीं होती। सब प्रकार की इच्छायें शान्त हो जाने पर, जिस को आत्मा का लाभ हुआ है तो फिर, उस के विरुद्ध उस को कैसे इच्छा उत्पन्न हो सकती है? विद्वान् हो, या मूढ हो—अपनी दृढ इच्छा के अनुसार प्रयत्न करने पर, वह यथाकाल सिद्धियां

प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार काल, क्रिया, कर्म, द्रव्य आदि के द्वारा युक्ति से स्वयमेव स्वाभाविक गुणधर्म से यथेच्छ सिद्धियां प्राप्त होतीं हैं। जो जैसी इच्छा करता है—उस इच्छा के अनुसार दीर्घप्रयत्न होने पर, उसे अवश्य-मेव वैसे ही फल की प्राप्ति होती है—किन्तु नित्यतृप्त वासना-रहित ज्ञानी महात्माओं का सिद्धियां कुछ उपकार नहीं कर सकतीं।"

भगवान् वासिष्ठ के इतना विवेचन करने पर, भगवान् श्रीरामचन्द्र फिर प्रश्न करते हैं कि—"हे ब्रह्मन्! यह मुझे संशय है कि, वीतहव्य की देह को हिंस्रपशुओं ने कैसे भक्षण नहीं की और वह पृथ्वी पर पानी कीचड़ से कैसे नहीं सड़ी?"—इस के उत्तर में भगवान् वासिष्ठ कहते हैं कि—"जो संवित्—ज्ञानस्फुरण अर्थात् बुद्धि, देहाभिमान वासनारूपरागादि मलदूषित तन्तुओं से बद्ध होती है वही देह के भक्षण, विनाश करने का, सड़ने मरने आदि सुखदुःख दशा का कारण होती है एवं जो वासनारहित शुद्धज्ञानमयी तनु होती है उस का छेदन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। हे महाबाहो राम! सुनो—किस युक्ति से योगी का शरीर सैंकड़ों वर्ष गिरता सड़ता नहीं और उसे कोई हिंस्रपशु खा नहीं सकता। जिस जिस पदार्थ पर चित्त जा गिरता है, उस उस पदार्थ में तत्काल तन्मय होके तदाकार होता है। जैसे शत्रु को देखते ही चित्त शत्रुमय हो जाता है एवं मित्र को देखते ही मित्रमय हो जाता है—इस का प्रत्यक्ष अनुभव है। वैसे ही मार्ग पर चलनेवाले पथिक को मार्ग में के झाड़, पर्वत

आदि से किसी प्रकार का राग, द्वेष नहीं होता—इस का प्रत्यक्ष अनुभव है। एवं रोचक भोजन में रुचि होती है, अरोचक भोजन में अरुचि होती है और कटु भोजन में विरसता होती है—इस का भी प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी प्रकार रागद्वेषादि शून्यसमबुद्धि ज्ञानी के ऊपर जब कभी हिंस्रपशु का चित्त जा गिरता है तो—उसी वक्त ज्ञानी की समता से उस में का हिंस्रभाव दूर होके समभाव होजाता है। जैसे रस्ते चलनेवाला मनुष्य रस्ते में के गांवों के व्यर्थ ग्रामीण कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता वैसे वह हिंस्रपशु, हिंस्रभाव से मुक्त होकर आक्रमण नहीं करता और योगी की देह के समीप से दूर जाते ही फिर उस में हिंसाभाव उत्पन्न होता है—क्योंकि, किसी भी व्यक्ति में जिस जिस प्रकार का भाव व्यक्त होता है वैसा वैसा वह हो जाता है। इस प्रकार भूमितल पर बहुत काल रहने पर भी वीतहव्य की तनु पर, हिंस्रपशु सिंह, व्याघ्र, सर्प, कीट आदि प्राणी आक्रमण नहीं कर सके। लकड़ी, मिट्टी, पत्थर आदि में सब जगह मूलबीजभूत, सामान्यरूप से सूक्ष्मसंवित्-स्फुरणशक्ति भरी हुई है। अस्थिर चित्त के मनुष्य में वह पानी में चंचल प्रतिबिम्ब के समान हिलती हुई नजर आती है। किन्तु वीतहव्य के तत्वबोध समाधि द्वारा समभाव—एकरूप हो जाने से उस की तनु को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि कुछ विकार नहीं कर सके। दूसरी बात यह है कि—जगत् के व्यवहार में चित्त से या प्राणवायु से जो विकृतस्पन्द उत्पन्न होता है वही नाश का कारण होता है—किन्तु धारणाध्यान द्वारा वह प्राणस्पन्द पत्थर के समान

स्थिर हो जाता है तो फिर, किसी प्रकार नाश की आशंका नहीं होती—इसलिये वीतहव्य का शरीर नष्ट नहीं हुआ। जिस के शरीर के अन्दर बाहर प्राणवायु या चित्त का स्पन्दन नहीं होता है उस के शरीर की क्षयवृद्धि नहीं होती। अंदर बाहर का प्राणवायु स्थिर हो जाता है, तब शरीर के धातु भी स्थिर होके शरीर को कभी नहीं छोड़ते। चित्त एवं प्राण-वायु शान्त हो जाने पर शरीर में सब धातु मेरुपर्वतसमान स्थिर हो जाते हैं। प्राणस्पन्दन शान्त हो जाने पर, काष्ट के समान एवं शव के समान शरीर निःस्पन्द हो जाता है—इसलिये योगियों के शरीर हज़ारों वर्ष—जैसे मेघ पानी में नहीं सड़ते या पत्थर पृथ्वी में नहीं गलते—उस प्रकार वैसे के वैसे रह सकते हैं। जो कुछ जानना था—जिन्हों ने जान लिया है, जिन का मोह नष्ट हो चुका है, जिन की बुद्धि गंभीर है, जिन के सब बन्धन टूट गये हैं—ऐसे महात्मा के शरीर बिलकुल स्वतंत्र होते हैं। वासना आदि प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्म उन का कुछ नहीं कर सकते। काकतालीयन्याय—अर्थात् कौवे के बैठने और झाड़ की डाली के टूटने की घटना के समान—योगी को अक-स्मात् यदा कदाचित् कोई भावना हो जाती है तो—उसी वक़्त वह वैसी की वैसी प्रत्यक्ष हो जाती है। जिस की वासना का नाश हो चुका है एवं जिस का मन आत्मा में लीन होकर पाशरहित हो चुका है—ऐसे योगी की भावना उसी वक़्त फलीभूत होती है, इतना ही नहीं—वह प्रत्यक्ष सकल शक्तिमय महेश्वर बन जाता है—अर्थात् छिलकों से बन्धा हुआ चावल धान कहलाता है और छिलके

निकल जाने पर, धान चावल कहलाती है उसी प्रकार पाशबद्ध सदा जीव होता है एवं पाशमुक्त सदा शिव होता है ।"

देखिये—अब भगवान् वासिष्ठ के कहने का क्या सार निकलता है—हरएक सिद्धि, द्रव्य-पदार्थ, काल-समय, क्रिया-विधि, मंत्रों के प्रयोग द्वारा सिद्ध हो सकती है—उस के लिये योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं है। सामान्य मनुष्य भी प्रयत्न करने पर, सिद्धियां प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी महात्मा सत्पुरुष कभी सिद्धियों की इच्छा नहीं करते, क्योंकि—वे स्वयं परिपूर्ण सब सिद्धिमय, सिद्धियों के उत्पादक होते हैं। साधक का सिद्धियों से कुछ उपकार नहीं हो सकता—उलटी हानि होती है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होगा कि—प्राचीनकाल में ऋषिमुनि आदि महात्माओं ने एवं अर्वाचीनकाल में साधुसन्त साधकों ने समय समय सिद्धियों द्वारा अनेक चमत्कार दिखा कर अपने अलौकिक प्रभाव द्वारा अघटित कार्यों को सम्पादन करके सब को चकित किया है तो, फिर इस का क्या कारण है ? इस प्रश्न का उत्तर पहिले ही भगवान् वासिष्ठ ने—'काकतालीयन्याय' द्वारा दे रक्खा है—जिस से विदित हो जायगा कि—यह नैसर्गिक विचारस्फुरण की अघटित लीला है। सिद्धि—सिद्धि नहीं एवं चमत्कार—चमत्कार नहीं। ईश्वर के नियमानुकूल स्वयमेव यथाक्रम एवं यथासमय—काकतालीयन्याय किसी कार्य का स्वाभाविक सम्पादन होना ही—हम सिद्धिजन्य आश्चर्य मानते हैं, वस्तुतः इस के सिवा और कुछ भी नहीं है।

भगवान् पातंजलि ने सिद्धियों के प्रकार, अभ्यास अनुभव आदि का योगदर्शन में विस्तारपूर्वक वर्णन करके, अन्त में, उन्हों ने भी यही कहा है कि—"समाधि से प्राप्त की हुई सिद्धियां उच्चतम चिरस्थायिनी होती हैं तो भी, उन के लोभ में साधक को कभी न पड़ना चाहिये।" भगवान् वासिष्ठ के कहने के अनुसार ही भगवान् पातंजलि भी कहते हैं कि—"सिद्धियों की प्राप्ति की परम्परा—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"—"जन्म, औषधि, मंत्र, तप, समाधि है।" यही कारण होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में "सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।"—सिद्धि और सिद्धि में समान रहना ही योग्य है—इस के सिवाय कहीं भी सिद्धियों का ज़िक्र तक नहीं किया। किन्तु श्रीमद्भागवत में सिद्धियों का सविस्तर वर्णन करने पर भी अन्त में उन का निषेध किया है, क्योंकि, सिद्धियां कोई चीज़ नहीं है। साधन के प्रभाव से उन का स्वाभाविक आविर्भाव हो जाता है। उन की इच्छा करने की या उन के लिये प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानशक्ति द्वारा मनुष्य का जब समभाव, निर्वैरचित्त हो जाता है तब उस पर हिंसकपशु आदि प्राणी क्यों आक्रमण कर सकते हैं? हिंसकपशुओं में स्वाभाविक हिंसाधर्म अपने रक्षण करने ही के लिये है—व्यर्थ किसी पर आक्रमण करने के लिये नहीं। यदि यह धर्म अस्वभाविक होता तो, वे अपनी सन्तान की हिंसा करके उस के खाने में कभी देर नहीं करते। हिंसकपशु की

आत्मा में और मनुष्य की आत्मा में कुछ भी भिन्नता नहीं है । आत्मा सर्वत्र समसमान एवं समभाव है । जब हमारा समभाव हो चुका है तो—क्या आत्मा पर आत्मा आक्रमण करके आत्मा का आत्मा नाश कर सकती है ? आत्मा एक है, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राणी आदि उस के भिन्न भिन्न रूप हैं; किन्तु हैं सब एक ही । इस का गूढ़ विचारभावना में तिरोहित है एवं विचारभावना ही से उस का ज्ञान होता है । भगवान् पातंजलि ने साफ़ कहा है कि—"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः"—अर्थात् साधक के विचारों में, अहिंसा की पूर्ण स्थिरता हो जाने पर, उस के समीप आते ही हिंस्रपशुओं के हिंसक स्वभाव का लोप हो जाता है—अर्थात् वे निर्वैर होके पालतू कुत्ते बिल्ली के समान हो जाते हैं । वैसे ही—पंचमहाभूतों ही से शरीर बना है एवं उन्हीं के समविषम भाव से शरीर का संरक्षण विनाश होता है—अर्थात् उन पांचों का एक होना—एकत्र रहना—शरीरका जन्मस्थिति है और विषमभाव होना—अलग अलग होना—शरीर का मरण है। जब उनकी भावना से ध्यान द्वारा संयम करनेपर, साधक पंचमहाभूतों पर पूरा अधिकार करके उन को अपने शरीर में स्थिर कर लेता है तो फिर, आग, पानी, वायु आदि से जलने, सड़ने, सूखने का कारण ही नहीं रहता और वे पंचभूततत्व जब तक शरीर में धातुमय घनीभूत होके स्थिर रहते हैं तब तक सहस्रों वर्ष योगी का शरीर नहीं मरता—यह बात ज्ञान, विज्ञान, आयुर्वेद के सिद्धान्तों के अनुकूल है—इसी पर से मार्कण्डेय, व्यास, बली, परशुराम, राम, हनु-

मान्, विभीषण, कृष्ण, अश्वत्थामा, भर्तृहरि, गोपीचन्द, गोरख, बुद्ध, महावीर, ईसा, ज़रथोस्त, हयातुन्नवी, मुहम्मद, कवीर, नानक आदि महात्मा चिरंजीव हैं–ऐसा मानना बिलकुल सत्यधर्मानुकूल है।

आजकल ऐसी सिद्धियों को लोग अद्भुत चमत्कार miracles मानते हैं। एवं अनुभव लेना तो दूर, खाली उन का वर्णन सुनने ही से आश्चर्यचकित होते हैं–किन्तु इस में ज़रा भी चमत्कार या आश्चर्य नहीं है। कर्नेल इन्जरसोल R. G. Ingersoll अपने एक लेक्चर में कहते हैं कि–"In this world there is neither chance nor caprice, neither magic nor miracle. Behind every event, every thought and dream, is the efficient, the natural and necessary cause." इस दुनिया में न कहीं दैव है न कहीं स्फुरण है, न कहीं जादू है और न कहीं चमत्कार ही है। हरएक वात, विचार और स्वप्नके पीछे कार्यसाधक, स्वाभाविक और आवश्यकीय कारण है। यह स्पष्ट है कि–जव आगगाड़ी, तार, विजली आदि का नामोनिशान तो क्या–स्वप्न भी न था, उस वक़ उन का प्रथम ज़िक्र सुनने से एवं अनन्तर उन को प्रत्यक्ष देखने से कैसा आश्चर्य हुआ था, एवं कितना चित्त का मूढ़भाव वना था? अव वह आश्चर्य या मूढ़भाव कहां है? उसी प्रकार पूर्वकाल में देवता, ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा, वोधिसत्व, तीर्थंकर, मोवेद, दस्तूर, पीर, पैग़म्बर, वली आदि चाहे सो चमत्कार दिखाते थे–सव के लिये वह सामान्य वात थी। अव उन वातों का लोप हो जाने से–

पहिले तो, हम ऐसी सिद्धियों का या चमत्कारों का विश्वास ही नहीं करते—यदि करते हैं तो,—अब सिद्धियां प्राप्त ही नहीं होतीं और कहीं कहीं उन का होना सुनने में आता है तो—वड़ा ही आश्चर्य होता है। इस विषय में महात्मा राल्फ वाल्डो ट्राइन Ralph Waldo Trine अपने इन ट्यून वुइथ दि इन्फिनिट In Tune with the Infinite में कहते हैं कि—"चमत्कार miracles की मीमांसा यह है कि—सामान्य मनुष्य की अपेक्षा दैवी-सम्पत्तियुक्त मनुष्य में आध्यात्मिक यल का अधिक होना—है; इस के सिवा और कुछ नहीं। सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा के साथ जिस की एकता उत्पन्न हुई है ऐसा महात्मा—सामान्य अज्ञानी मनुष्य नहीं जान सकता ऐसे अनेक ईश्वरीनियम एवं शक्तियों को परिपूर्ण जानता है एवं उन नियमों का तथा शक्तियों का जब चाहे उपयोग कर सकता है। अल्पबुद्धि एवं मर्यादित शक्तिवाला सामान्य मनुष्य जब अत्युच्च ईश्वरीनियम एवं शक्तियों का उपयोग करते हुए किसी महात्मा को देखता है तब वह चकराकर मुग्ध हो जाता है—अर्थात् अनजान सामान्य मनुष्य महात्मा की उस अगम्यकृति को अद्भुत चमत्कार समझता है एवं उस महात्मा को लोकोत्तर पुरुष मानता है। किन्तु, सामान्य मनुष्य यदि दैवीप्रकृतियुक्त हो जायगा तो, उस को भी वही लोकोत्तरबुद्धि, अपारशक्ति, एवं अतुलसामर्थ्य प्राप्त हो जायगी और वह स्वयं ऐसे चमत्कारों को सहज दिखाने लगेगा। जैसी जैसी मनुष्य जाति की उत्क्रान्ति होती जाती है—वैसे वैसे कल जो

अस्वभाविक एवं अशक्य मालूम होता था, आज वह स्वाभाविक एवं शक्य जान पड़ता है—इसलिये उत्क्रान्ति के नियमानुसार दैवीप्रकृति जैसी जैसी बढ़ती जाती है—वैसे वैसे पहिले जो अद्भुत चमत्कार मालूम होते थे वे आज मामूली मालूम होने लगते हैं; एवं आज जो अद्भुत चमत्कार मालूम होते हैं वे आगे मामूली मालूम होंगे—सुतरां भूतकाल में जो दैवीकृति मानी जाती थी वह वर्त्तमानकाल में बिलकुल सादी मनुष्यकृति मानी जाती है; एवं वर्त्तमानकाल में जो दैवीकृति मानी जाती है—भविष्यत् में वही सीधी सादी मानवीकृति मानी जायगी—ऐसा सृष्टिक्रम आज तक चला आ रहा है और आगे भी ऐसा ही चलनेवाला है। सार बात यह है कि—सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक उन्नत मनुष्य अपनी आन्तर प्रचण्डशक्ति को उद्बोधित करके जो स्वाभाविक कृति करता है, उसे सामान्य मनुष्य अद्भुत चमत्कार कहता है। किन्तु परमात्मा ने सब के अंदर समान अद्भुतशक्ति भर रक्खी है—इसलिये हर-एक मनुष्य उस शक्ति को प्रकट कर सकता है। क्योंकि, सब मनुष्यों के जीवन के नियमन करनेवाले ईश्वरीनियम सर्वत्र समान हैं।"

संदूक में बन्द करके जमीन में गाड़ देने पर छः महीने के अनन्तर निकाला हुआ योगी पुरुष चैतन्य प्राप्त करके फिर वैसा ही जीवनक्रम व्यतीत करता रहा—यह कह कर, श्रीरामतीर्थ स्वामी इस के कारण का प्रतिपादन करते हैं कि—"It is a genuine physiological and psychological

process, a scientific process." अर्थात् एक प्राणिगुण-धर्मशास्त्र एवं मानसशास्त्र के तत्वों पर सिद्ध की हुई वैज्ञानिक पद्धति है। आगे चल कर स्वामीजी कहते हैं कि-दिव्य दृष्टि अर्थात् अपनी स्थूल दृष्टि द्वारा न दिखाई देनेवाली घटनाओं को देखने की शक्ति—यदि सत्य है तो-दोसौ मील के फ़ासले पर कुरुक्षेत्र में होनेवाली घटनाओं का यथार्थ वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाया है, एवं भगवान् रामचन्द्र के अवतार के पूर्व ही वाल्मिकि ने रामायण लिखी है तो, यह वही दिव्य दृष्टि है। इसी दिव्य दृष्टि से न देखे हुए कई राजपुत्रों की तसवीरें हूबहू निकाल कर चित्रलेखा ने उपा को दिखाई हैं—इत्यादि कह कर श्री-रामतीर्थ स्वामी अमेरिका के वैज्ञानिक तत्वज्ञ श्रोताओं के सामने इस का समर्थन करते हैं कि—"Suffice is to say that there is vision and sight, rather there is an inner light, which makes us possessed of all the knowledge in this world." अर्थात् यह कहना पर्याप्त होगा कि—साक्षात्कार एवं दिव्य दृष्टि—यह एक आन्तरिक प्रकाश मात्र है, जिस के द्वारा हम जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

बहुत वादविवाद हो जाने पर चमत्कारों के विषय में स्टोवर्ट और टेट Stewart and Tait अपनी 'अनसीन युनिवर्स' Unseen universe नामक पुस्तक में पूरा खुलासा करते हैं कि—"क्षण भर के लिये हमें पूरा विचार करना होगा कि—विज्ञान Science ने हम को किस अवस्था को पहुंचाया है—वैज्ञानिक तर्क Scientific Logic ने हमें

अदृश्य का ज्ञान कराया है एवं वैज्ञानिक अनुमान–Scientific anology ने हमें उस अदृश्य के अध्यात्मिक ज्ञान में पहुंचाया है। सारांश यह है कि–अदृश्य में रही हुई ज्ञानशक्ति–स्पन्दशक्ति द्वारा दृश्य जगत् की यह उत्क्रान्ति मात्र है–अर्थात् आन्तर जगत् ही से वाह्य जगत् वना है। इस नैसर्गिक अदृश्य ज्ञान के विषय में विज्ञानशास्त्रदृष्टि से हम विलकुल अनजान हैं। विज्ञान से केवल इतना ही ज्ञान हो सकता है कि–गूढ़तत्वज्ञों के मतानुसार अनेक या क्राइस्ट के अनुवर्त्तियों के मतानुसार एक–कोई सर्वज्ञ कर्ता है–इस के सिवा विज्ञानवादी इस विषय के लिये विलकुल अनजान हैं। जवतक किसी विश्वसनीय रीति द्वारा हमारा अदृश्य जगत् में प्रवेश होकर संवन्ध न हो जाय, तव तक हम कुछ नहीं जान सकते। केवल विज्ञानशक्ति–द्वारा अदृश्य जगत् को जानने के लिये आशा करना व्यर्थ है। मध्य आफ़रीका में या न्यूगिनी में या उत्तरध्रुव में किस प्रकार के प्राणी हैं–वहां जाकर देखने के सिवाय कोई विज्ञानवादी क्या इस का परिचय करा सकता था? अर्थात् अदृश्य जगत् में हम स्वयं जाकर देखने के सिवा या वहां से कोई आकर हमें कहने के सिवा अदृश्य जगत् का कुछ भी ज्ञान होना विलकुल असंभव है।"

टामस् कारलाइल Thomas Carlyle अपनी 'सारटर रीसारटस' Sartor Resartus नामक पुस्तक में चमत्कारों के विषय में विवेचन करते हैं कि–"चमत्कारों में हमारी कल्पना के सिवा और कुछ भी गूढ़ नहीं है। चमत्कार क्या है?–सयाम के डच राजा को वर्फ़ का

टुकड़ा मिलना ही एक चमत्कार था, एअर पम्प Air pump-वायुशोपक यंत्र और ईथर तेज़ाब की शीशी भी चमत्कार थे। मेरा घोड़ा—इस राजा के समान बुद्धिमान् नहीं इसलिये आज तक यह अज्ञान दशा में है—तो क्या अस्त-बल का फाटक खोल देना—उस के लिये चमत्कार नहीं है ? कितनों ही का प्रश्न है कि—क्या चमत्कार प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन करनेवाले नहीं हैं ?—जिस का उत्तर मैं अपने इस नवीन प्रश्न द्वारा देता हूं कि—वे प्राकृतिक नियम ही क्या हैं ? मेरे लिये तो शायद किसी मृत मनुष्य का पुनर्जीवित होना भी प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं है—किन्तु उन नियमों का एक प्रकार का समर्थन है । यह कोई अति गंभीर प्राकृतिक नियम है या कोई अध्यात्मिक वल है कि जिससे मृत शरीर का पुनर्जीवन होगा है—इस पर हमें विश्वास करना होगा। इसपर चकित होकर कोई यह प्रश्न करे कि—जो मनुष्य लोह को पानी में तैरा सकता है वह किन प्रमाणों के आधार पर धर्म का प्रचार कर सकता है—तो, यह प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी के लोगों के लिये पूर्ण निरर्थक है एवं प्रथम शताब्दी के हमारे पूर्वजों के लिये पूर्ण सार्थक था ? और भी—प्राकृतिक नियम क्या अटल नहीं हैं, एवं जगद्रूपी यंत्र उन अटल नियमों में बद्ध नहीं है ? तो—मेरे मित्रो ! मुझे भी यह मानना होगा कि—प्राचीन महात्माओंने जिस ईश्वर को निर्विकार एवं अव्यय माना है, उसी प्रकार वास्तव में वह अटल है—कि जिस को किसी के 'यंत्ररूप' कहने पर भी नहीं रोका जा सकता—यह सृष्टि उन्हीं पूर्ण अटल

नियमों में बद्ध है । अब मैं तुम से फिर वही प्रश्न करता हूं कि—वे अटल नियम जो प्रकृतिरूप प्रतिमा की एक पुस्तक हैं—संभवतः वे क्या हैं ? यदि तुम कहोगे कि—वे अटल नियम हमारी वैज्ञानिक पुस्तक में लिखे पड़े हैं और वे मनुष्य के अनुभव के अनुसार उल्लिखित हैं तो—क्या मनुष्य, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस का अनुसंधान करने के लिये—अपने अनुभव के साथ उस समय वहां उपस्थित थी ? कोई गंभीर से गंभीर विचारशाली विज्ञानवेत्ता, सृष्टि की रचना के मूलकारण तक पहुंचा है ? एवं उस के सब पदार्थ प्रत्यक्ष कर लिये हैं ? क्या सृष्टिकर्त्ता ने उसे अपना सहायकारक बनाया था—कि, जिससे परमेश्वर की अतर्क्य योजना को उसने जान लिया था, एवं यह बात, ऐसी और इतनी ही है—इस से कुछ अधिक नहीं—यह वह कह सकता है ? अफ़सोस है कि—ऐसी बात नहीं है ! ऐसे ये विज्ञानवेत्ता हम से आगे कुछ भी नहीं बढे हैं । हम अनन्त ज्ञानसमुद्र के तल में या किनारों में जितने गहरे जाते हैं उस से वे एक बिलिस्त भर अधिक जाते हैं—न तो वे तल ही का पता लगा सकते हैं और न किनारों ही का । रूढि Custom हमें मूर्ख बनाती है । तत्वज्ञान—यह इस रूढि के विरुद्ध नित्य प्रचलित रहने-वाला कलह है । इस अन्ध विश्वास को अलग करने की जो परिपाटी है—वही तत्वज्ञान है एवं उसी से हम तत्वज्ञानी बनते हैं । देखिये—यह कारलाइल का कहना हमारे परम पवित्र ऋग्वेद के मं० १ सू० १६४ के मन्त्र

के भावार्थ से कितना मिलता जुलता है—"को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति । भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत् ।" सृष्टि के पूर्व—अव्याकृत अवस्था में प्रथम क्या उत्पन्न हुआ—उस को किस ने देखा है ? जिस अव्यक्त अवस्था में जगत् था उस में प्राण, रक्त और आत्मा कहां है—यह पूछने के लिये उस वक्त किस विद्वान् के पास कौन गया था ? कहां कारलाइल और कहां हमारा ऋग्वेद—किन्तु 'सतां हि चेतःशुचितात्मसाक्षिका ।' यह श्रीहर्ष का कहना कितना यथार्थ है—क्या यह कारलाइल ऋग्वेद का सम भावार्थ अन्तःकरण की पवित्रता की साक्षी का ज्वलन्त प्रमाण नहीं या लोकोत्तर चमत्कार का एक अलौकिक उदाहरण नहीं ?

चमत्कारों के कार्यकारणभाव का पता लगाने के लिये लंडन में सन १८६६ साल में डाइलेक्टिकल सोसाइटी Dialectical Society स्थापित होके उस के मेंबरोंने हज़ारों चमत्कार प्रत्यक्ष देख कर—वे किस किस प्रकार ज्ञात हुए एवं अनुभव में आये—उनके वर्णन की लगभग चार चार सौ पृष्ठों की एक एक ऐसी बीस पुस्तकें छाप कर प्रकाशित की हैं । इस वक्त इन पुस्तकों में वर्णन की हुई बातों के, अनुभव के, एवं अन्य प्रमाणों के आधार पर, उधर के तत्वज्ञानी विज्ञानशास्त्र के समान—इस अध्यात्मशास्त्र के गूढ़ तत्वों का पता लगाने में निमग्न हैं । इस सोसाइटी में डा० रसेल वालेस, सर वुइलियम क्रुक्स, सर आलिवर लाज, प्रो० बेरेट, प्रो० वुइलियम जेम्स और

एम् केमिली फ्रेमेरियान् जैसे बड़े बड़े तत्वज्ञानी सम्मिलित हैं। वे कहते हैं कि–Investigations into superphisical science are not only worthy of their attention, but are likely to yeald fruitful results, we may well set-aside an hour or two for the purpose of asking ourselves whether such a problem as the present, is not of the greatest possible moment and the utmost use to us." चमत्कारों के विज्ञान का पता लगाना–यह विषय खाली लक्ष देने योग्य ही नहीं, किन्तु उन का सफल होना भी संभव है। इस के लिये हम ठीक घण्टा दो घण्टा निकाल कर अपने आप को पूछें कि–इस वक्त ऐसा प्रश्न बहुत संभवनीय है और बहुधा उपयोगी है या नहीं।

हमारे यहां तो हज़ारों वर्ष पूर्व ही सिद्धियों वा चमत्कारों के विज्ञान वा कार्यकारण का पता हमारे ऋषिमुनि महात्माओं ने लगा रक्खा है, इतना ही नहीं–समय समय स्वयं अनुभव करके, जनसमूह को उन का परिचय देके चकित किया है, मुग्ध किया है एवं उद्बोधित किया है और उन को तुच्छ समझ कर उनका त्याग किया है–इस का ऊपर पूर्ण विवेचन हो चुका है तो भी अन्त में सुप्रसिद्ध महात्मा भट्ट मोक्षमूलर की–अपनी 'सिक्स सिस्टिम आफ़ इन्डियन फ़िलासफ़ी' Six System of Indian philosophy नामक पुस्तक में, श्रीशचन्द्र वसु सम्पादित '<ॐ>' वेदान्तिक राजयोग फ़िलासफ़ी के आधार पर–लिखी हुई, ज्ञानगुरुयोगी सभापति सवर्णी की–अद्भुत सुन्दर भावपूर्ण घटना का यहां उल्लेख करना–हम बहुत उपयोगी एवं उपकारी

समझते हैं—"अलेक्झाण्ड्रिया के महात्माओं ने जो चमत्कार दिखाये हैं, उन को पढ़ने से जितना आश्चर्य होता है—भारत के योगियों ने जो चमत्कार दिखाये हैं उन को पढ़ने पर उतना ही आश्चर्य हम को होता है। जो ग्रन्थकार तत्वज्ञान के अति गूढ़ प्रश्नों का विवेचन कर सकता है—वही ग्रन्थकार विश्वासपूर्ण श्रद्धा से हमें कहेगा कि,—'इस प्रकार, इतने फ़ुट, ऊपर हवा में निराधार बैठते हुए मैंने अपने गुरु को देखा है।' इस विषय में भारतवर्ष के एक योगी के दिखाये हुए एक ही चमत्कार का उल्लेख करना हम काफ़ी समझते हैं—"मद्रास में सन १८४० ईसवी में जन्मे हुये सभापति नामक एक योगी का जिस ने चरित लिखा है इस के साथ मेरा पत्रव्यवहार हुआ है—उस में उस ने, सब लोगों के सामने किये हुए सभापति के चमत्कारों के विषय में लिखा है कि—जिस वक़ सभापति की उनतीस साल की उम्र थी उस वक़ उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये बड़ी भारी उत्कण्ठा हुई। एक दिन उनको स्वप्न हुआ कि—'Know, O Sabhapati, that I the Infinite Spirit am in all creations, and all the creations are in me. You are not separate from me, neither is any soul distinct from me. I reveal this directely to you, because I see that you are holy and sincere. I accept you as my disciple, and bid you rise and go to the Agastya Ashrama, where you will find me in the shape of Rishis and Yogis.' हे सभापति, तुम जानो—मैं पूर्णब्रह्म हूं, दृश्य जगत् में जो कुछ सत्व भरा हुआ है—वह मैं हूं एवं सृष्टि मात्र सब मुझ में लीन है। तू मुझ

से भिन्न नहीं और न कोई भी आत्मा मुझ से भिन्न है। यह मैं तुझे प्रत्यक्ष दिखाता हूं—क्योंकि तू पवित्र और स्वच्छ है। मैं तुझे अपना शिष्य बनाता हूं और कहता हूं कि—अब तुम उठो और अगस्त्याश्रम को जावो, वहां ऋषि एवं योगिरूप में मैं ही तुझे प्राप्त हूंगा। यह दृष्टान्त उन्हें रात्रि के एक बजे हुआ। उसी वक्त सभापति घर, स्त्री और दो पुत्रों को त्याग करके—वेदश्रेणी स्वयंभूस्थलं-नामक महादेव का मन्दिर जो कि मद्रास से सात मील के फ़ासले पर है—प्रातःकाल वहां पहुंचे। तीन दिन और तीन रात लगातार वहां ध्यान करते रहने पर उन को वही दृष्टान्त हुआ कि—तुम अगस्त्याश्रम को जावो। बहुत परिश्रम से अगस्त्याश्रम को पहुंचने पर वहां दो सौ वर्ष के उपरवाले एक बड़ी गुहा में बैठे हुए योगीराज के दर्शन हुए। उन का गंभीर मुख, प्रेम और ईश्वरीय तेज से झलकता हुआ देख पडा। सभापति उन के शिष्य बने। उन से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया और बहुत दिन तक सिवाय खानेपीने के उन से समाधि लगाना सीखा। सात वरस के बाद गुरू ने घर जाने की आज्ञा दी। उस वक्त गुरू ने उपदेश किया कि—"Go my son, and try to do good to the world by revealing the truths which thou hast learned from me. Be liberal in imparting the truths that should benefit the Grihastas. But beware lest thy vanity or the impartunity of the world lead thee to perform miracles and show wonderes to the profane." जावो मेरे पुत्र, मेरे पास से जो कुछ सत्य ज्ञान सम्पादन

किया है—उस का उपदेश देते हुए लोक कल्याण का प्रयत्न करो । गृहस्थों को जिस सत्य ज्ञान से लाभ होगा उस का उदारता से उपदेश करो और ध्यान में रक्खो—दंभ में आकर या लोगों के आग्रह में आकर कभी अपवित्र लोगों को चमत्कार मत दिखलावो । वहां से विदा होने पर सभापति ने कई बड़े बड़े शहरों में सत्यज्ञान का प्रसार किया एवं कई पुस्तकें प्रकाशित कीं । किन्तु चमत्कारों के लिये इन्कार ही करते रहे । सन १८८० ईसवी में वे लाहोरमें विद्यमान थे । यद्यपि वे किसी भी चमत्कार के दिखाने में इन्कार करते थे, तो भी उन के आश्रम के एक भूतपूर्व योगी ने जो चमत्कार दिखाया था उस का उन्हों ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है—लगभग १८० वर्ष के पहिले एक योगी मायसोर के नज़दीक से जाते हुए राजा से मिले । राजा ने उन का पूज्य भाव से स्वागत किया । उसी समय अर्काट के नव्वाब भी वहां उपस्थित थे । राजा और नव्वाब मिल कर योगी के साथ उन के आश्रम को गये । नव्वाब मुसलमान थे—उन्हों ने पूछा कि—तुम ख़ुदाई दावा रखते हो तो तुम में ऐसी क्या ताक़त हैं? और तुम ख़ुदाई नूर हो—यह किस वजूद पर कहते हो? योगी ने जवाब दिया—"हां, ईश्वर जो कुछ कर सकता है, वह सब कुछ करने की शक्ति हम में हैं । अनन्तर उस योगी ने एक लकड़ी हाथ में ली और उस में अपनी आत्मिकशक्ति भर के उस को आकाश मे फेंक दिया। तत्काल उस लकड़ी के लाखों बाण हो गये । उन बाणों ने फलवृक्षों की डालियों के टुकड़े टुकड़े कर डाले । हवा में गर्जना होने

लगी, बिजली चमकने लगी, सब दूर अंधेरा छा गया, आकाश मेघाच्छन्न होके खूब ज़ोर से पानी बरसने लगा। सब को भयंकर मूर्त्तिमान नाश दीखने लगा। इस पंचभूतों के क्षोभ में योगी की आवाज़ सुनाई दी कि—अगर मैं इस में अधिक शक्तिप्रदान करूंगा तो जगत् का नाश हो जायगा—सब लोगों ने योगी की हाथ जोड़ प्रार्थना की कि बस, अब इस जगत् के सर्व नाश को मिटा दो। योगी के इच्छामात्र ही से तूफ़ान, बिजली, वर्षा, वायु, आग सब तत्काल बंद हो गये और आकाश स्वच्छ एवं शान्त हो गया।"

उपर्युक्त प्रतिपादन पर से—शंकराचार्य का तप्तधातु रसपान करना, प्रल्हाद मीराबाई का विषपान करना, रामचन्द्र का मृत ब्राह्मण पुत्र को जिलाना, जन्मतः मृत परीक्षित् को कृष्ण का जीवित करना, फांसी हो जाने पर अपालसस—फ़िरश्तों के सामने ईसा का आकाश में जाना, ईसाई धर्म असत्य है—ऐसा बोलनेवाले की जीभ काट डालने पर भी उस का बोलते रहना, पाडे के मुख से ज्ञानेश्वर का वेदपाठ कराना, कबीर का अपने गुरु को पुनर्जीवित करना, नानक का मीठे रीठे बनाना, मन्सूर का पत्थरों से 'अनल्हक़्' कहाना, शमस्तब्रेज़ के 'क़ुमबइज़नी' कहते ही बादशहा के मृतपुत्र का जीवित हो जाना, योगी हरिदास का छः महीने ज़मीन में गड़ा रहना, महात्मा रामकृष्ण परमहंस को महारानी जगदम्बा भगवती कालि का प्रत्यक्ष दर्शन होना—आदि जगत् भर में प्रतीत होनेवाले अनेक चमत्कार या अद्भुत कार्य क्या

हैं–इन का ठीक पता लग जायगा और नेपोलियन् के कथनानुसार–"There is nothing impossible in the world and impossible word will be found in the dictionary of fools" अर्थात् इस जगत् में कुछ भी असंभव नहीं है और 'असंभव' यह शब्द अकर्मण्य मूर्खों के शब्दकोष में उपलब्ध होता है ।

बस, इस विचार-सिद्धि के विस्तृत वर्णन करने का सार-तात्पर्य–यही है कि–सर्वत्र सब में बीजभूत विचार-शक्ति पूर्ण भरी हुई है–जो चाहे वह उसे साध्य कर सकता है–इसलिये अब हम 'विचारपरिशीलन' में यथानुक्रम, इस की अभ्यास-प्रणाली का साधनक्रम व्यक्त करते हैं ।

विचार-दर्शन ।

आन्तर जगत् ।

विचार-परिशीलन ।

४–विचार-परिशीलन ।

विचार का परिशीलन अर्थात् विचार का अनुशीलन–अवगाहन–लगातार अभ्यास का करना है। परिशीलन द्वारा ही शील–स्वभाव–चरित्र बनता है, एवं चरित्र द्वारा ही शुभाशुभ का उदय होके, सुखदुःखादि परिणाम होते हैं। विना विचार के जिज्ञासा–जानने की इच्छा नहीं होती एवं विना जिज्ञासा के परिशीलन नहीं होता। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन–इस की परम्परा है। श्रवण का बुद्धिपर संस्कार होके ग्राह्याग्राह्य शक्ति उत्पन्न होती है, उस से मनन होता है एवं मनन द्वारा बुद्धि और चित्त का घर्षण होके निदिध्यासन होता है। "आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्" अरणि वृक्ष की दो लकड़ियों के घर्षण के समान 'आत्मा' और 'ॐ' का घर्षण होते ही 'ज्ञानाग्नि'–विद्युत्कण Electron–चिति प्रत्यक्ष होती है। यही प्रणव–ॐकार रूप धनुष्य का आत्मरूपी बाण है एवं ब्रह्म उस का लक्ष्य है। मुण्डकोपनिषत् की उक्ति–'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्'–के अनुसार निश्चल प्रमाद रहित होके, बाण के समान उस का लक्ष्य-वेध कर के, उस में तन्मय–तदाकार होना ही–आत्मशर-सन्धान साध्य–ब्रह्म लक्ष्यवेध है अर्थात् तन्मयता ही–विचारपरिशीलन–है।

अमेरिका की सर्वधर्मपरिषद् के सामने सन १८९३ के सितम्बर की १९ तारीख को–हिन्दुधर्म का स्वरूप–शीर्षक व्याख्यान देते हुए महात्मा श्री विवेकानन्द ने कहा है कि–"प्रत्येक शास्त्र का अन्तिम साध्य–मूलतत्त्व–परमसत्य

की गवेषणा करना है। उस मूलतत्व का पता लगते ही फिर उस शास्त्र की गति कुंठित हो जाती है, एवं वह पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। पृथ्वी पर के अनेक पदार्थ एक ही पदार्थ से बन ने लग जावेंगे तो फिर, रसायनशास्त्र की गति कुंठित होने में शंका ही क्या है? वैसे ही पृथ्वी में, अनेक प्रकार से अनुभव में आनेवाली शक्ति कि जिस के अनन्त रूप हैं—वह उसी मूलशक्ति के अनन्तरूप हैं—फिर पदार्थविज्ञानशास्त्र की गति कुंठित होना ही चाहिये। उसी प्रकार, मृत्यु की सत्ता सर्वतोपरि है, उस में परिपूर्ण भरे हुए चैतन्य की प्राप्ति होते ही फिर धर्मवृद्धि की इतिश्री होना ही चाहिये। क्षण क्षण परिवर्त्तनशील विश्व के मूल स्वरूप का पता लगाना, अनन्त रूप से दृग्गोचर होनेवाले जीवात्मा को एक ही विश्वात्मा के अनन्त भ्रामक रूप सिद्ध करना एवं सृष्टि के अनन्त दृश्यरूप में एक-रूप—परम सत्य को देखना—धर्म का अन्तिम साध्य है। उस के साध्य होने पर फिर धर्मशास्त्र का अन्त हो जाता है—क्योंकि, उस के आगे धर्मशास्त्र जा ही नहीं सकता। कभी न कभी यह सिद्धान्त सब शास्त्रों को मानना होगा ही।" कितना यथार्थ भाषण है?

आत्मा एक है, अपरिच्छिन्न है, अव्यय है किन्तु उपाधित भूत होके नाना रूप धारण करता है इसलिये वह भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। अनन्त विश्व में ऐसा प्रत्येक आत्मा सृष्टिनियमानुसार अपने उन्नत होने के लिये उत्क्रान्तिरूप—परिणामरूप धारण करता है एवं उस उन्नतितत्व में उत्क्रान्ति Evolution स्वयं सिद्ध होती

है–इसी लिये आत्मा का किसी वस्तु में, विषय में, परिस्थिति में निवास हो–वह अपने लिये समसमान–इच्छित का आकर्षण करता रहता है, वह इच्छा का अंकुर परिस्थिति–Environment द्वारा प्रवल होता जाता है । किसी कारण वश, इस का वृक्ष वन कर भी फलाभिसन्धि के पूर्व ही उस का विलय हो जाता है तो भी वीज का विलय नहीं होता–इस सिद्धान्त के अनुसार उस में फिर अंकुर उत्पन्न होके फल की प्राप्ति होती है–कभी वीज नष्ट नहीं होता एवं वीज से फल प्राप्त होना अवश्य है–उस का कोई महादेव, महाभूत या महापुरुष लोप नहीं कर सकता–इसी लिये शुभ, सत्य, सुन्दर इच्छाओं का सद्विचार द्वारा शुद्ध चित्तभूमि में वीजारोपण करके अनुशीलन द्वारा उस का वृक्ष वनाके इच्छित फल प्राप्त करना चाहिये । वह इच्छित फल क्या है एवं कैसे प्राप्त हो सकता है?–वही 'परमसत्य' है एवं सर्वत्र भरा हुआ है । उस का अन्वेषण–अर्थात् परिशीलन करना ही परम-कर्त्तव्य है । उस को प्राप्त करने का मार्ग संकुचित नहीं है । उस में से परिमित या थोड़े ही मनुष्य जा सकते हैं–ऐसा वह मार्ग नहीं है एवं वह कण्ठ का कीर्ण, त्रिकट, दुर्गम्य ही नहीं है । वह अत्यन्त विशाल, सरल, सीधा, कंकरी विछा कर रोलर फिराया हुआ पक्का राज-मार्ग है । किन्तु हम अपनी संकुचित दृष्टि से उसे संकुचित करते हैं, भय की दृष्टि से भयानक करते हैं, कठिन दृष्टि से कठिन करते हैं एवं अदूर दृष्टि से दूर करते हैं! अगर कोई शास्त्र, महात्मा, सद्गुरु, आप्तजन–

उस को सरल, सीधा बिलकुल नज़दीक बताता है तो, उपाधि द्वारा भ्रमित होके हम विश्वास नहीं करते एवं विश्वास न होने से हम उस को यथार्थ नहीं जानते। अत्यन्त दुःख का विषय है कि—प्रत्यक्ष हमने पंचमहाभूतों को अपना दास बनाया है—इतना ही नहीं, पृथ्वी को अपनी गृहवाटिका, जल को अपना राजमार्ग, अग्नि को अपना रथ, वायु को अपना कुशीलव एवं आकाश को अपना विहारस्थान बनाया है—तो, क्या हम उस 'परमसत्य' को प्राप्त नहीं कर सकते?

वह 'परमसत्य'—अहाहा! कितना रमणीय, कितना सुन्दर, कितना मधुर, कितना पवित्र, कितना प्रिय है—जिस की कहीं सीमा नहीं, कहीं अवधि नहीं एवं कहीं अन्त नहीं है। 'परमसत्य'—परम ही सत्य है। वहां अपरम एवं असत्य का नामो निशान नहीं एवं कहीं संभव या पता भी नहीं। उस का प्रदेश अनन्त रमणीय है, अनन्त सुन्दर है, एवं अनन्त भव्य है। हमारा उस में दृढ़ परिशीलन द्वारा प्रवेश हो जायगा तो फिर अन्यत्र कहीं रमणीयता, सुन्दरता एवं भव्यता का भान तक होना संभव नहीं एवं हमें अपनी देह का भी अभिमान होना संभव नहीं। अर्थात् हम निरभिमान देहभान रहित होके आत्मलीन हो जावेंगे—यही सहज समाधि—विचारपरिशीलन का फल है। अनन्त रमणीय प्रदेश में रममाण होना ही—जीवन का इतिकर्त्तव्य है, एवं उस का परिशीलन करना ही—जीवन की अथश्री है, एवं उस का लक्ष्यवेध—शरसंधान करना ही विजयश्री है।

रमणीयता के प्रदेश का, प्रत्येक अन्तःकरणपर, परिणाम होता है। वह परिणाम अन्तःकरण को उन्मुख करता है एवं वह उन्मुखताही 'परमसत्य' की प्राप्ति का कारण होती है। इसी अनन्त रमणीयता में 'परमसत्य' भरा हुआ है। उस परमसत्य के सिवाय वाह्य जगत् में यह और क्या है एवं उस परमसत्यके सिवाय आन्तर जगत में और क्या है? वही, वही—परमसत्य—"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये। सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।" यह ब्रह्मदेव, महादेव, एवं नारदादिक महर्षियों की—"गीर्भिर्वृपणमैडयन्"—पवित्रवाणी द्वारा निकला हुआ उस परमसत्यका सत्य स्तुतिवाद कितना गंभीर, कितना मधुर एवं कितना रमणीय है? अनन्त रमणीय प्रदेश में पहुंचानेवाला यही सत्य स्तुतिवाद है, यही अन्तः-करण में मधुरभाव उत्पन्न करनेवाला स्तुतिवाद है एवं यही अनुशीलन है—इस का परिशीलन करना सर्वथा उचित है, सर्वोत्तम उच्च है, एवं सुसाध्य सुन्दर है।

अ-सामर्थ्य।

विचार क्या है, उस की शक्ति क्या है, उस का संयम कैसा है, उस का संस्कार क्या है एवं उस में क्या क्या सिद्धियां हैं—इस का सविस्तर विवेचन ऊपर हो चुका है। उस विवेचन पर से यह बात स्वाभाविक है—कि—विचारपरिशीलन—विचाराभ्यास, विचार ज्ञान के लिये हर एक को जिज्ञासा—जानने की इच्छा होनी ही चाहिये।

अर्थात् उस शक्ति को सम्पादन करने के लिये प्रबल इच्छा, उत्कट लालसा, एवं सद्भावना होनी ही चाहिये। किन्तु ऐसे ज़िज्ञासु को पहिले अपने सामर्थ्य का विचार करना होगा—"मैं कौन हूं, क्यों हूं, क्या हूं, कैसा हूं, किस का हूं, किस लिये हूं, क्यों आया हूं, क्या कर रहा हूं, कहां जाना है, क्या मेरी शक्ति है, महत्व है एवं स्वरूप है?"—इत्यादि बातें भली भांति जानना चाहिये अर्थात् अपने को पूरा पहिचानना चाहिये।

मनुष्य क्या है, मनुष्यत्व क्या है एवं मनुष्य का जन्म इस लोक में क्यों हुआ है? प्रतिक्षण असंख्य कीटकों की उत्पत्ति होती है एवं क्षण ही में उन का नाश भी हो जाता है तो—क्या तुम भी वैसे ही कीटक हो? आत्मा सर्वत्र समान है, सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटक में और तुममें आत्मा का एक ही रूप है। जैसा तुह्मारा जन्म होता है वैसा ही उन का होता है—फिर कीटक में और तुम में क्या भेद है? अकर्मण्य, निराशाभिभूत, निरुत्साह, विचारहीन तुम्हारे जीवन में एवं कीटकों के जीवन में क्या अन्तर है? उन का जीवन एक क्षण है और तुम्हारा जीवन अनन्त क्षण है तो भी, उन में तुम में क्या भिन्नता है? शास्त्रों के कथनानुसार चौरासी लक्ष योनियों का उलंघन करके मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी, कीटकों के समान—कुछ पेट भरा, कुछ नहीं—आधे पेट काल व्यतीत करके मरजाने ही के लिये तुम्हारा जन्म हुआ है? अप्रत्यक्ष तो असंख्य कीटकों का—किन्तु तुम्हारी आंखों के सामने, तुम्हारे हाथों से प्रतिदिन असंख्य कीटकों का नाश होता है

तो, क्या उस का कुछ हिसाब है, या दुखदर्द है ? वैसे ही असंख्य मनुष्य लेगादि रोगों द्वारा देखते ही देखते विद्युत् के झबकारे समान नष्ट हो जाते हैं तो, क्या लेगादि रोग तुम्हारा हिसाब रखते हैं, या तुह्मारे लिये उन को कुछ दुखदर्द होता है ? दुनिया में आज है, कल नहीं ! कहां गये थे ? कहीं नहीं ! कहां आये थे ? कहीं नहीं ! क्या किया ? कुछ भी नहीं ! ! भूख और रोग के शिकार वन कर आये और वैसे चल दिये ! ! ! प्यारे मित्रो, कुछ सोचो तो सही—तुम क्या थे और क्या हो रहे हो ? क्या सच मुच ही तुम कीटकों से भी नियत्तर हो, या कीटकों से भी वदतर हो, या कीटकोंसे भी नीचतर हो—यह क्या है ? आंखें खोलो, हृदय पर हाथ रक्खो, दिल को रोको, विचारों का लगातार लगावो ! चेतो ! चेतो ! ! वहुत जल्द चेतो ! ! !—तुम कीटकों से वहुत ही उच्च, वहुत ही श्रेष्ठ एवं वहुत ही उत्तम हो । कीटकों के समान तुम्हारा जन्म नहीं है, कीटकों के समान तुम्हारा जीवन नहीं है एवं कीटकों के समान तुम्हारा मरण नहीं है । दीन वन कर अन्न के कण कण के लिये तरसते तरसते मरने के लिये तुम्हारा जन्म नहीं है । मनुष्य मात्र के साथ विरोध रखकर जीवनकलह करते करते मरने के लिये तुम्हारा जन्म नहीं है । अनुपकारी वनकर सब के दास गुलाम होके मजदूरी करते करते मरने के लिये तुम्हारा जन्म नहीं है । एवं झूट, छल कपट, दगा, धोका करके विजय, कीर्ति, लक्ष्मी सम्पादन करते करते मरने के लिये तुम्हारा जन्म नहीं है । तुम कीटक नहीं, खाली

कीटकों को उत्पन्न करनेवाले ही नहीं; किन्तु सृष्टि के उत्पन्नकर्त्ता, नियन्ता एवं संहारक हो। तुम पंचभूतों के उत्पादक, प्रेरक एवं निवारक हो, और तुम अन्त-र्बाह्य जगत् के सम्राट हो! तुम्हारा जगत् पर अधिकार है, तुम्हारा जगत् पर स्वत्व है एवं तुम्हारा जगत् पर साम्राज्य है। तुम चाहो सो कर सकते हो, आकाश पाताल एक कर सकते हो, जगत् का रूपान्तर कर सकते हो एवं तुम अपने जगत् को चाहे जैसा बना सकते हो। तुम ईश्वर के अंश हो—बीजभूत ईश्वर तुम में भरा हुआ है—उस बीज में अंकुर उत्पन्न करना तुम्हारे हाथ है। उस का फल 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' है।

महात्मा विवेकानन्द स्वामी शिकागो से अपने एक पत्र में लिखते हैं कि—"मनुष्यमात्र में निरन्तर रहनेवाली ज्योति के आसपासका आवरण—आच्छादन निकलकर उस का प्रकाश फैलना ही—शिक्षा है एवं मनुष्यमात्र में निरन्तर रहनेवाले ईश्वरत्व के आसपास का आवरण—आच्छादन निकल कर उस का ईश्वरत्व उस की कृति में प्रतीत होना ही—धर्म है।" इन वाक्यों के अक्षर अक्षर में, पूर्ण जिज्ञासाशक्ति भरी हुई है, उच्च कल्पना-शक्ति भरी हुई है एवं अमोघ विचारशक्ति भरी हुई है। तुम जानो या न जानो—वही ईश्वरीअंश तुम में भरा हुआ है। तुम उर्वराभूमि हो—उस में अभ्यास रूपी हल में—जिज्ञासा, शिक्षा, विश्वास, एवं प्रयत्न-रूपी चार बैलों को जोतकर, बुरे विचार, संशय, भीति, त्रास, पापपुण्यादि असत्कर्मरूपी—कंटक, वृक्ष, गुल्म

आदि को उखेड़कर—उन को बीजप्ररोहजननी बनाने के लिये—शमदम तितिक्षा तप आदि झाड़ों की डालियां बिछाकर विवेकाग्निसे जला दो। अनन्तर भावना—द्योतन—वर्षा खूब बरस जाने पर सत्यस्वरूप विचार शुद्ध बीजों को बोके चितिशक्ति अंकुर उत्पन्न कर के ईश्वरत्व फल को प्राप्त करो—फिर तुम्हें, कभी निराश नहीं होना पडेगा, अन्नवस्त्र के लिये तरसना नहीं पडेगा, उद्योग धन्धा ढूंढ़ना नहीं पडेगा, देशदेशान्तर को जाना नहीं होगा, किसी की नौकरी गुलामगिरी करना नहीं होगा, किसी की खुशामद करना नहीं होगा, किसी प्रकार की चिन्ता करना नहीं होगा। तुम सब के शिरोमणि, तुम सबके सरताज, तुम सबके पूज्य, तुम सबके माननीय, तुम सब के आनरेबल, तुम सबके लाट, तुम सब के राजा-महाराज, तुम सब के कर्ता हर्त्ता—प्रति ईश्वरस्वरूप बन जावोगे। क्या मजाल है—फिर तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर सता लें? क्या मजाल है—फिर तुम्हें भय, संशय, बुराई, विरोध, दुःख, रोग, चिन्ता सता लें? क्या मजाल है—फिर तुम्हें जन्ममरण, क्लेश, दरिद्र, भूख सता लें? क्या मजाल है—फिर तुम्हें पंचमहाभूत, प्रकृति सता ले? भूतकाल में, चाहे तुम में कितना ही अज्ञान भरा हुआ हो, भूतकाल में, चाहे तुम में कितनी ही बुराई भरी हुई हो, भूतकाल में, चाहे तुम में कितने ही बुरे विचार भरे हुए हों, भूतकाल में, चाहे तुम में कितने ही दुर्गुण भरे हुए हों, भूतकाल में, चाहे तुम पर कितनी ही आप-

त्तियां आ पड़ी हुई हों, भूतकाल में चाहे तुम में—कृत-कार्य न होने से—कितनी ही उदासीनता भरी हुई हो, भूतकाल में, चाहे तुम में ईश्वरशक्ति का विकास न हुआ हो, भूतकाल में, चाहे तुम में ईश्वरत्व न झलका हो, भूतकाल में, चाहे तुम में ईश्वरत्व का भान भी न हुआ हो—तो भी तुम में 'ईश्वरत्व' नहीं—यह कभी सिद्ध नहीं होता। इस में केवल इतना ही गूढ़ है कि—ईश्वरत्व सम्पादन करने के लिये, किस प्रकार या किस रीति से सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिये—इस का शास्त्रीय ज्ञान न होने से, तुम्हें ईश्वरत्व का लाभ नहीं हुआ। तुम चाहे जैसे हो—आज कुछ भी न कर सकते हो एवं कुछ करने की आशा भी न रखते हो—उस का विचार करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं—'Let the dead past bury its dead.' अर्थात् हम भूतकाल का स्मरण और विचार भी न करें। तुम में जो सामर्थ्य भरा हुआ है उस के हजारवें क्या, लाखवें भी अंश का तुमने उपयोग नहीं किया, एवं तुम बड़े ज्ञानी, विज्ञानी, चतुर, कलाकुशल, श्रीमान् हो तथापि तुम्हारे अन्तर में जो सत्य—सामर्थ्य भरा हुआ है उस के हजारवें क्या—लाखवें अंश का भी तुमने अनुभव नहीं लिया।

मेरे परम प्रिय आत्मस्वरूप मित्रो! किसी समय एकान्त में बैठ कर, क्षणभर विचारलीन होके, तुम आनन्द गान की कल्पना करोगे तो—रोम रोम को पुलकित करनेवाले, मधुर से मधुर भाव प्रकट करनेवाले, तानसेन, गंधर्व, अप्सराओं को मात करनेवाले, श्रुतिरम्य श्रुतिगीत

के तान उत्पन्न होंगे—ये तान क्या हैं ?—तुम्हारे अन्तर्लीन मधुर भान के सिवा और कुछ नहीं !

मेरे सहृदय मित्रो ! तुम किसी समय एकान्त में लेटे हुए भावपूर्ण सुन्दर कविता की कल्पना करोगे तो—हृदय का विकास करनेवाले, विचारों को उन्नत करनेवाले, सत्य-धर्म का प्रसार करनेवाले, ज्ञानविज्ञान का उदय करने-वाले, त्रैकालिक दृष्टि देनेवाले, परमात्मदर्शन करानेवाले, कल्पना के तरंग उत्पन्न होंगे—ये तरंग क्या हैं ?—तुम्हारी आन्तरिक उच्च प्रतिभा के सिवा और कुछ नहीं !

मेरे वाग्मिवर प्रिय मित्रो ! तुम किसी समय किसी असंख्य जनसमूह के सामने खडे रह कर वक्तृता देने की भावना करोगे तो—तुम्हारी वक्तृता से लोग प्रसन्न हो कर करतल ध्वनि द्वारा आनन्द प्रदर्शित कर रहे हैं, चकित हो रहे हैं, एवं सद्विचारों के प्रवाह में वह रहे हैं—ऐसा प्रतीत होगा। तुम्हारी इस वक्तृता के आगे डेमास्थनीस, सिसरो, वर्क, मेकाले, जानसन, बेकन, केशव चन्द्रसेन, दयानन्दसरस्वती, विवेकानन्द, रामतीर्थ, सुरेन्द्रनाथ आदि की भी वक्तृता कुछ चीज़ नहीं है तो—यह वक्तृता क्या है? तुम्हारे आन्तरिक उद्गारों के सिवा और कुछ नहीं !

मेरे समरपटु राजन्यगण मित्रो ! तुम किसी समय किसी रणभूमि में प्रचण्ड सेनासमूह को—भीमार्जुन के समान चक्रव्यूहादिकों को भेद कर, हज़ारों शूरवीर, रथी, महारथी, अति रथियों का शस्त्रास्त्रों द्वारा संहार कर रहे हो, सैनिकों के कबन्धों का नृत्य देख रहे हो, रक्त की

नदी वहा रहे हो तो—यह भीषण युद्ध क्या है?—तुम्हारी अगाध सामर्थ्यके सिवा और कुछ नहीं!

मेरे शिल्पकलाप्रचारक मित्रो! तुम किसी समय एकान्त में बैठकर—बडेबडे राजा महाराजाओं के प्रासाद, हर्म्य महल आदि, जिस के सामने छोटे छोटे झोंपडे हैं, ऐसे प्रचण्ड, कल्पनातीत दिव्य प्रासाद की भावना करके—उस में संपूर्ण वैभव के साथ स्त्रीपुत्रसेवकादि सहित अपने को बैठे हुए देखोगे तो—यह प्रासाद क्या है?—तुम्हारे में अन्तर्हित बीजभूत शिल्परचना के सिवा और कुछ नहीं!

मेरे परम प्रिय सत्य साधक सिद्ध मित्रो! तुम किसी समय पूर्ण विचार संयम द्वारा उपर्युक्त, सब सिद्धीयों को साध्य कर के, उनके द्वारा अनेक चमत्कार दिखा के जगत् को चकित कर रहे हो, जगत् को परिपूर्ण ऐश्वर्यसम्पन्न कर रहे हो, अनन्त ब्रह्माण्डगोल की रचना कर रहे हो, जगत् पर पूर्ण अधिकार जमाकर साम्राज्य कर रहे हो, प्रत्यक्ष ईश्वरत्व झलका रहे हो तो—यह शक्ति क्या है?—तुम्हारे में भरे हुए ईश्वरत्व प्राप्ति के गुप्त सामर्थ्य के सिवा और कुछ भी नहीं!

—वह गान, एडिसन के फ़ोनोग्राफ़, बाइस्कोप एवं सेनोमेटोग्राफ़ के चित्रों का मधुर गान है। फ़्रान्स के कप्तान कोयेड का—तसवीरों में लगाये हुए फ़ोनोग्राफ़ का सुन्दर गान है। न्यूयार्क के एवेन्यू और फोर्टियेथ स्ट्रीट में गाये हुए—विना तार के सहारे मेट्रोपालिटन् टावर पर बैठे हुए लोगों के सुने हुए गीतों का मधुरालाप है।

—वह कविता, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण, भवभूति, दण्डी, फ़िरदोसी, निज़ामी, सादी, रूप, क़लन्दर, आज़ाद, दाग़, वामन, मोरोपन्त, होमर, मिल्टन, बायरन्, टेनिसन्, शेक्सपीयर, हेमचन्द्र, मानतुंग, क्षेमेन्द्र, मायकेल, मधुसूदन, दामोदर, हरिश्चन्द्र, शिवप्रसाद, कृष्णाशास्त्री चिपलोनकर आदि कवियों की मधुरभावमयी प्रतिभा की लीला है !

—वह वक्तृता, चित्रों द्वारा भाषण कराने की एडिसन की योग्यता है, हज़ारों मील, तारके सहारे जानेवाली वाक्पटुता है, टेलिफ़ोन का संभाषण है एवं उस के साथ लगा हुआ फ़ोनोग्राफ़ है—जो वक्तृता सुनकर ज्योंकी त्यों, पूछने पर सुना देता है !

—वह युद्ध, महाभारत कारण, भगवान् श्रीकृष्ण का विश्वरूपदर्शन पृथ्वीराज चौहान का घोर संग्राम, शिवाजी का भगवां झण्डा, क्लाइव वाट्सन का स्वाभिमान, लेडी स्मिथ का घेरा, जनरल बोथा की कुशलता, पोर्ट आर्थरका हमला, जनरल नोगी का धैर्य, कुरोपाटकिन का साहस एवं जापान का विजय है ?

—वह शिल्प, एलोरे अजन्टे के विहारस्थान, दौलताबाद का क़िला, आगरे का ताज, फ़तहपुर, सीकरी, विजापुर, मांडूआदि की इमारतें, चीन की पंधरहसौ मील की दीवार, मिश्र के पिरामिड्, स्तूप, मीनार, न्यूयार्क की गगनचुम्बित सौधमाला आदि हैं ।

—वह शक्ति, विश्वामित्र, पराशर, वसिष्ठ, नारद, शंकराचार्य, रामानुज, माध्व, वल्लभ, कबीर, नानक,

ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, ख्वाजा, मन्सूर, शम्सतब्रेज़, महावीर, मानतुंग, गौतम बुद्ध, राम-मोहन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द, रामतीर्थ, श्रीपादस्वामी आदि अलौकिक प्रति ईश्वररूप महात्माओं की विचारपरम्परा है !

अर्थात् यह सब क्या हैं—तुम्हारी आत्मा में भरी हुई पूर्ण शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं एवं अमोघ सामर्थ्य के सिवा और कुछ भी कहीं नहीं है—केवल भेद इतनाही है कि—तुमने उसका विकास नहीं किया है, यह केवल तुम्हारी ही कमजोरी या अज्ञान है ।

प्रिय धर्मधुरंधर भाइयों ! वेदवेदांगों के पढ़ने से, षड्दर्शनों के पढ़ने से, पुराणों के पढ़ने से, काव्य इतिहासादि पूर्वरचित एवं आधुनिक रचित अनेक ग्रन्थोंके पढ़ने से, बौद्धों के सूत्त, महायान, गाथा, धम्मपद के पढ़ने से, जैनों के सूत्र, गाथा, पुराण, स्तोत्र आदि पढ़ने से, ईसाइयों की बाइबल के पढ़ने से, पारसियों की अवस्था, मातृवानी के पढ़ने से, इस्लामियों के क़ुरान हदीस के पढ़ने से—नाना प्रकार की अद्भुत कथायें, नाना प्रकार की अद्भुत घटनायें, नाना प्रकार की धार्मिक क्रियायें एवं नाना प्रकार के सुखदुःखादि प्रसंग, नाना प्रकार के धर्म, नीति, व्यवहारवचन, नाना प्रकार के उपदेश, तत्त्वज्ञान आदि को पढ़ते पढ़ते तद्रूप हो जाने पर—कहिये—तुम्हें तुम्हारे धर्म की, इष्ट की, एवं पूर्वजों की शपथ है—क्या तुम उन्हीं के वंश के नहीं, क्या तुम उन्हीं

के अंश के नहीं, क्या तुम उन्हीं के रक्तमांस के नहीं—जो तुममें वह शक्ति नहीं या न थी या न होगी ?

कोई मनुष्य आजतक किसी उच्चता, श्रेष्ठता एवं महनीयताके ऊपर नहीं पहुंचा—ऐसी आन्तरबाह्य जगत् में कोई उच्चता, श्रेष्ठता एवं महनीयता है ही नहीं, यह हम साहस के साथ कहते हैं । आत्मा के सामर्थ्य की सीमा नहीं है, उसका पार नहीं है एवं उस की कहीं तुलना भी नहीं है ।

उच्च से उच्च—देवअवतारकोटि, ऋषिमुनिकोटि, मनुष्यकोटि,—ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, बृहस्पति, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, ज़रथोस्त, मुहम्मद, द्रोण, भीष्म, अर्जुन, कालिदास, भवभूति, बाण, मिल्टन, शेक्सपियर, नेपोलियन, ग्लेडस्टन, बिसार्क, लिंकन, वाशिंग्टन आदि में जो सामर्थ्य भरा हुआ था वही सामर्थ्य तुममें भी है । सर्व भूतों के आन्तर में आत्मा निगूढ़ है—यह वेदशास्त्रों का सिद्धान्त है एवं महात्माओं को इसका पूर्ण अनुभव है । उपर्युक्त देव, अवतार, ऋषि, मुनि, महात्मा, साधुपुरुष एवं श्रीमान्, विद्वान्, श्रेष्ठ पुरुष में और तुम में जो भेददृष्टि गोचर होता है—वह सामर्थ्य में नहीं, किन्तु उस सामर्थ्य के विकास में है । महापुरुषोंने शास्त्रीयज्ञान द्वारा गुरुकृपा से उसका विकास किया है एवं तुम ने नहीं किया—सिर्फ़ इतना ही फ़र्क है । सब की विचारपरम्परा एक है, सब का विचारसंक्रमण एक है, सब का विचारस्फुरण एक है, सब का विचारबल एक है एवं सब का विचारप्रचार

एक है। सब की विचारशक्ति, मानसशक्ति, आन्तरशक्ति एवं आत्मशक्ति एक है। सब की अन्तःक्रिया, अन्तःकरण, रक्ताभिसरण, श्वासोच्छ्वास समान है। सब में आन्तरभान, सत्, चित्, आनन्द का निधान, चितिशक्ति का निदान, आत्मज्ञान समान भरा हुआ है। जिधर तुम्हारा आत्म-प्रवाह होता है उधर के दरवाजे के कपाट खुले रहते हैं एवं जिधर तुह्मारा आत्मप्रवाह नहीं होता है, उधर के दरवाजे के कपाट बन्द रहते हैं। किन्तु प्रयत्न से, अभ्यास से, गुरुकृपा से चारों ओर के दरवाजों के कपाट निरंतर खुले रख कर मनुष्य को किसी प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त करने में कुछ भी अशक्यता नहीं है।

यद्यपि हमारा संकल्प है कि–ग्रन्थों के अधिक विस्तृत प्रमाण उद्धृत करके खाली ग्रन्थ को बढ़ाना नहीं–तो भी प्रबल समुद्भूत भावना द्वारा उत्तेजित हो कर बड़े ही आनन्द एवं भक्ति के साथ, पूज्यतम महर्षि श्री वासिष्ठ भगवान् के कहे हुए श्लोकाष्टक को यहां उद्धृत करके हमें प्रिय आत्मीय सज्जनों को परिचय कराना पड़ा है—

एकस्मै कृतकृत्याय नित्याय विमलात्मने।
निर्विकल्पचिदाख्याय मह्यमेव नमो नमः ॥१॥
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न चैवाहमहं स्वयम्।
न च नाहं न चान्योऽहं मह्यमेव नमो नमः ॥२॥
न ममाशा न कार्याणि न संसारो न कर्तृता।
न भोक्तृता न देहो मे मह्यमेव नमो नमः ॥३॥
नाहमात्मा न वा कोऽन्यो नाहमस्मि न चेतरः।
सर्वमेवाहमेतस्मै मह्यमेव नमो नमः ॥४॥

अहमादिरहं धाता चिदहं भुवनान्यहम् ।
मम नास्ति व्यवच्छेदो मह्यमेव नमो नमः ॥५॥

निर्विकाराय नित्याय निरंशाय महात्मने ।
सर्वस्मै सर्वकालाय मह्यमेव नमो नमः ॥६॥

समां सर्वगतां सूक्ष्मां जगदेकप्रकाशिनीम् ।
सत्तामुपगतोऽस्म्यन्तर्मह्यमेव नमो नमः ॥७॥

साऽब्ध्याब्ध्युर्वी नदी सेयं नाहमेवाहमेव वा ।
जगत्सर्वं पदार्थाढ्यं मह्यमेव नमो नमः ॥८॥

अर्थात्—एक को, किये हुए कृत्य को, नित्य को, पवित्र आत्मा को, विकल्परहित चित्स्वरूप मुझ को अपना प्रणाम है। न शोक है, न मोह है, न मैं हूं, मैं स्वयं हूं, नहीं हूं, न अन्य हूं—ऐसे मुझ को अपना प्रणाम है। न मुझे आशा है, न कर्म है, न संसार है, न कर्त्तव्य है, न भोक्तृत्व है, न देह है—ऐसे मुझ को अपना प्रणाम है। मैं आदि हूं, मैं उत्पादक हूं, मैं चिच्छक्ति हूं, मैं सब भुवन हूं, मेरा नाश नहीं है—ऐसे मुझ को अपना प्रणाम है। निर्विकार को, नित्य को, अंश-रहित को, महात्मा को, सर्व को, सब के काल को—मुझ को अपना प्रणाम है। समान, सर्वगत, सूक्ष्म, एक मात्र जगत् की प्रकाशक सत्ता के अंदर पहुंचे हुए—मुझ को अपना प्रणाम है। वह पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, वह यह नदी मैं नहीं हूं एवं हूं भी, सब पदार्थरूपी जगत् मैं हूं—ऐसे मुझ को अपना प्रणाम है।

भगवान् वासिष्ठ के कहने का भावार्थ यही है कि– मनुष्य प्रत्यत्त ईश्वर का स्वरूप है। सर्व शक्तिमान् है; जगत् भर की शक्ति का केन्द्रस्थल है एवं चिति महाशक्ति का उत्पादक है। यह सद्विचारों ही के प्रदर्शन से प्राप्त हो सकती है–इस लिये किसी समय भी; कहीं भी; कुछ भी–अभिमान का भान ला के व्यक्त नहीं करना चाहिये कि–"मैं प्रत्यत्त ईश्वर हूं, ईश्वर का स्वरूप हूं, चाहे सो कर सकता हूं, जो कुछ है–सब मैं हूं।" किन्तु मन ही मन गुप्त रीती से उपर्युक्त विवेचना के अनुसार भावना को दृढ़ करते रहना चाहिये। अर्थात् तुम किस शक्ति के अलौकिक शक्तिशाली पुरुष हो–इस की किसी को पहिचान कराने की आवश्यकता नहीं है। "नहि कस्तूरिकामोदं शपथेन विभाव्यते" कस्तूरि का सुगन्ध छिपाये नहीं छिपता। उस को कितना ही दबाये रक्खा जायगा तो भी उस का प्रसार होगा ही। कौतुकोत्पादक वार्ता एवं विमल विद्या– पानी में तैलविन्दु के समान–स्वयमेव प्रसार पाती है। उस के लिये कहीं इश्तिहार देने की जरूरत नहीं है।

निर्जन निविड़ घोर अरण्य में या हिमालय जैसे पर्वत की दरी गुहा में रहनेवाले अज्ञात सत्पुरुषों के भी समुज्वल निर्दोष सद्गुण दूत बन कर सब को आकर्षित करते हैं– केतकीकुसुम कभी मधुकरों को आमन्त्रित नहीं करता, तथापि सुगंध उन को केतकी के पास ला छोड़ता है तो, जनसमूह में तुम्हारा तेज,तुम्हारा पवित्राचरण,तुम्हारी भक्ति, तुम्हारी उपासना, तुम्हारा सत्यज्ञान,तुम्हारा विश्वव्यापी प्रेम,

तुम्हारा आत्मदर्शन, तुम्हारा ईश्वरत्व कैसे कौन छिपा सकता है? तुम्हारे आत्मकमल पर आप ही आप सज्जनभ्रमर दौड़ते हुए आ कर मधुर गुंजारव के साथ प्रदक्षिणा करते रहेंगे। जैसे जैसे तुम्हारी सामर्थ्य का विकाश होता जायगा वैसे वैसे उस का प्रकाश जगत् को प्रकाशित करता रहेगा। तुम्हें अपने मुंह-मिय्या मिट्ठु-बनने की ज़रूरत नहीं, तुम्हें अपने मुंह अपनी तारीफ़ करने की ज़रूरत नहीं, तुम्हें अपने मुंह अपने लिये कुछ कहने की ज़रूरत नहीं-"इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः"-अर्थात् इन्द्र भी अपने मुंह अपने गुणों का वर्णन करता है तो-लघुता को प्राप्त होता है।

उसी प्रकार इस बात पर भी पूरा लक्ष्य रखना चाहिये कि-"मैं कुछ नहीं हूं, मैं कुछ नहीं कर सकता, मैं कुछ चीज़ नहीं हूं"-इस प्रकार की भावनाओं को भी कभी अपने हृदय में न आने देना चाहिये, कभी दुर्बलता का अपने हृदय में प्रवेश न होने देना चाहिये एवं कभी दीनता का अपने हृदय में संचार न होने देना चाहिये। भय, संशय, बुराई, उदासीनता का लेश भी विष से बढ़ कर मारक है। इन का स्फुरण Caprice होते ही तत्काल विष के समान इन की चिकित्सा करना चाहिये। अग्नि को बुझा कर स्फुलिंगों का रक्षण, सांप को मार कर बच्चों का पालन एवं विषवृक्ष को जला कर बीजों का ग्रहण-कभी कुशलप्रद नहीं है। वैसे ही शुभ सद्विचारों को छोड़ कर भय संशय बुराई भरे हुए असद्विचारों का करना अत्यन्त नाशकारक है। विधिमुख affirmatire

एवं निषेधमुख negative—दो प्रकार के विचार होते हैं—जिस का परिचय आगे होगा। हर एक को इस का अनुभव है कि—विधिमुख—विधायक—affirmative अर्थात्—"मैं दृढ़ हूं, दृढ़ विचारी हूं, उत्साही हूं, धैर्यवान् हूं, कार्य करनेवाला हूं, जो चाहूं सो कर सकता हूं, प्रत्येक काम विचार के साथ करता हूं, मैं सब का मित्र हूं, प्रत्येक के चित्त का मैं आकर्षण करता हूं, प्रत्येक पदार्थ का शुभ्रभाग अवलोकन करता हूं, मैं शाश्वत जीवन का उत्पादक हूं, मैं ईश्वर की इच्छा के अनुरूप बना हूं, मैं ईश्वरीशक्ति से पूर्ण भरा हुआ हूं"—इत्यादि सद्विचार मनुष्य को उत्साहित कर के पूर्ण जिज्ञासु करते हैं; एवं निषेधमुख—अविधायक—*negative* अर्थात् "मेरा यह काम नहीं, मैं इस काम के करनेलायक़ नहीं, मैं कुछ कर नहीं सकता, मुझमें काम करने की शक्ति नहीं, यह काम होगा या नहीं, मुझे कहीं विजय नहीं मिलती, मेरे दिन अच्छे नहीं, मेरा भाग्य अच्छा नहीं"—इत्यादि असद्विचार मनुष्य को निरुत्साहित करके अकर्मण्य बनाते हैं।

क—जिज्ञासा।

ज्ञातुमिच्छा—जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं। जिज्ञासा निश्चय कराती है, निश्चय से श्रद्धा होती है, श्रद्धा से गुरुकृपा होती है, गुरुकृपा से अभ्यास होता है एवं अभ्यास से साक्षात्कार होता है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन जिज्ञासा की उत्तरोत्तर भूमिका में हैं। ऊपर कहे अनुसार जिज्ञासा का उदय होते ही श्रवण अर्थात् पठन—वाचन, श्रवण विषय का ज्ञान करानेवाली क्रिया—किसी स्पन्दन, स्फोट, ध्वनि, शब्द,

वाक्यों द्वारा प्रकट हो कर विचार द्वारा अधिकारानुसार ग्राह्याग्राह्यरूप धारण करती है एवं विचारपरम्परा द्वारा उस का मनन—लगातार विचारस्फुरण हो कर निदिध्यासन —अत्यन्त प्रवल, अविरत विचारान्दोलनों का केन्द्रीभवन होता है—यही जिज्ञासा का 'मूर्त्तस्वरूप' है। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि—"जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते" अर्थात् ख़ाली योग को जानने की इच्छा करनेवाला ही शब्दब्रह्म—सम्पूर्ण वेदवेदांग के जाननेवाले से श्रेष्ठ होता है। भगवान् श्रीकृष्ण के कहने का सार यही है कि—जब तक किसी पदार्थ के जानने की इच्छा नहीं होती तब तक वह पदार्थ उस का नहीं एवं उस पदार्थ का वह नहीं। ईश्वर सर्वत्र तो क्या—प्रत्यक्ष देह में भरा हुआ है—विना जिज्ञासा के नहीं जाना जाता, ज्ञान, विज्ञान, सर्वत्र है, विना जिज्ञासा के नहीं जाना जाता, सुख, आरोग्य, धनमालख़जाना जहां तहां अटूट भरा हुआ है—विना जिज्ञासा के प्राप्त नहीं होता। जिज्ञासा वही पदार्थ है—जिस से ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है, जिज्ञासा वही पदार्थ है—जिस से ऐश्वर्य सत्ता महत्व की प्राप्ति होती है, जिज्ञासा वही पदार्थ है—जिस से भक्ति, वैराग्य मुक्ति की प्राप्ति होती है, जिज्ञासा वही पदार्थ है—जिस से आनन्द, सुख, शान्ति की प्राप्ति होती है, जिज्ञासा वही पदार्थ है—जिस से ईश्वररूप ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है। जिज्ञासा—सरस्वती, लक्ष्मी, सावित्री है, जिज्ञासा—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी है, जिज्ञासा—प्रयत्न, उद्यम, पराक्रम है, जिज्ञासा—श्रुतिशास्त्र काव्याध्य-

यन है, जिज्ञासा–तप योग शापानुग्रहसम्पादन है, जिज्ञासा–अकार, उकार, मकार त्रिमात्रा है, जिज्ञासा–विन्दुरूप, अर्थमात्रा चितिकला है, जिज्ञासा–ॐकार है, जिज्ञासा–विश्व, तैजस, प्राज्ञ है, जिज्ञासा–भक्ति, मुक्ति ईश्वर प्राप्ति है।

जिज्ञासा के अधिकारी की चार श्रेणियां हैं। उपर्युक्त प्रथम काल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति एवं अतिक्रान्त भावनीय–जिनका विवेचन पीछे में हो चुका है–उसी अनुसार मृदु, मध्यम, अधिमात्र एवं अधिमात्रतम–क्रम-पूर्वक साधकों की चार श्रेणियां शिवसंहिता में कही गई हैं। उन में—

(१) मृदुसाधक—मन्द–जिस की बुद्धि की शक्ति मन्द है, मूढ़–जिस में अज्ञानता भरी हुई है, रोगी–जिस के शरीर में रोग भरा हुआ है, लोभी–जिस के चित्त में लोभ भरा हुआ है, कातर–जिस के स्वभाव में भय भरा हुआ है, कठोर–जिस के हृदय में कठिनता भरी हुई है, पराधीन–जो परतन्त्र है, वहुभक्षी–जो वहुत खा-नेवाला है, निन्दक–जो दूसरे की वुराई कहनेवाला है, पाप वुद्धि–जिस की वुद्धि में पाप भरा हुआ है, स्त्रैण–स्त्री जाती में चित्त रखनेवाला एवं मन्दवीर्य–जिस का वल अल्प है–उस को मृदुसाधक कहते हैं। जिज्ञासा होने पर गुरु कृपा से ऐसे साधक को वारह वर्ष में साक्षात्कार होता है।

(२) मध्यमसाधक—सामान्य–जिस की वुद्धि की शक्ति सामान्य है, क्षमाशील–जिस के स्वभाव में क्षमा है, पुण्यकर्मेच्छु– पुण्यकर्म की इच्छा रखनेवाला, हर्षामर्ष

रहित—हर्षविषाद से रहित, गुरु, शास्त्र वाक्य विश्वासी—गुरु और शास्त्रों के वचनों में विश्वास रखनेवाला है—उस को मध्यमसाधक कहते हैं । जिज्ञासा होने पर गुरु-कृपा से ऐसे साधक को, छः वर्ष में साक्षात्कार होता है ।

(३) अधिमात्रसाधक—स्थिरबुद्धि—जिस की बुद्धि स्थिर है, स्वतंत्र—जो किसी बन्धन में नहीं है, वीर्यवान्—जिस में पूर्ण बल भरा हुआ है, दयालु—जो प्राणिमात्र पर दया करता है, सत्यवादी—सच बोलनेवाला, श्रद्धावान्—पूर्ण विश्वास रखनेवाला, गुरुभक्त—गुरु की भक्ति करनेवाला, अभ्यासी—अभ्यास करनेवाला है—उस को अधिमात्रसाधक कहते हैं । जिज्ञासा होने पर गुरुकृपा से ऐसे साधक को तीन वर्ष में साक्षात्कार होता है ।

(४) अधिमात्रतमसाधक—महावीर्यवान्—जिस में अत्यन्त शक्ति भरी हुई है, उत्साही—जिस में उत्साह भरा हुआ है, शूर—जिस में वीरता भरी हुई है, शास्त्रज्ञ—शास्त्र को जाननेवाला, अभ्यासशील—खूब अभ्यास करनेवाला, वेदविज्ञ—वेदों को जाननेवाला, दुःखरहित—दुःखों से रहित—अलग रहनेवाला, सावधान—अपने कर्म में नित्य तत्पर रहनेवाला, तरुण—जिस के शरीर में नित्य तारुण्य रहता है, प्रमाणभोजी—प्रमाण से खानेवाला, जितेन्द्रिय—जिस ने इन्द्रियों को स्वाधीन कर दिया है, निर्भय—जिस के चित्त में भय नहीं है, पवित्राचरण—जिस का आचरण शुद्ध है, कर्मनिपुण—कार्य में कुशलता रखनेवाला, दान-शील—दान करनेवाला, स्थिरचित्त—जिस का चित्त शान्त

है, सन्तोषी–जो चित्त में समाधान रखता है, बुद्धिमान्–जिस की प्रज्ञा विशोल है, विश्वासी–निष्ठा रखनेवाला, नीरोगी–जो रोगरहित है–उस को अधिमात्रतमसाधक कहते हैं। जिज्ञासा होनें पर गुरुकृपा से ऐसे साधक को एक वर्ष में साक्षात्कार होता है।

इसी प्रकार गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी चार प्रकार के साधकों का उल्लेख किया है–"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ" आर्त्त–दुःखादिकों से परितप्त, जिज्ञासु–जानने की इच्छा रखनेवाला, अर्थार्थी–धन माल को चाहनेवाला एवं ज्ञानी–मुक्ति–ईश्वर प्राप्ति का ज्ञान जिस ने प्राप्त कर लिया है–जिस के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत ही प्रेम के साथ कहा है कि–"ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्"–ज्ञानी तो केवल मेरी आत्मा है! क्यों नहीं–ज्ञान ही से सब कुछ जाना जाता है। यदि ज्ञान नहीं है तो–"ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"–मनुष्य एवं पशु में क्या भेद है? एवं "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" ज्ञान ही से चरमसिद्धि, मनुष्य जन्म की इतिकर्त्तव्यता, अमृत मोक्षफल कैवल्य की प्राप्ति होती है।

अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसे साधकों को तीन प्रकार दिखाये हैं–वे तामस, राजस एवं सात्विक हैं। तामस–अयुक्त, जिस ने अभ्यास द्वारा चित्त को समाहित किया नहीं, प्राकृत–जिस की बुद्धि का संस्कार हुआ नहीं, स्तब्ध–जो किसी प्रमाण को मानता नहीं, शठ–जो धोकेबाज है, नैष्कृतिक–जो अकर्मण्य क्रूर स्वभावी है, अलस–जिस के शरीर में आलस्य भरा हुआ है, विषादी–सर्व-

काल दुःखशोक करनेवाला, दीर्घसूत्री—छोटे से काम में भी बहुत देर लगानेवाला,—तामस अधिकारी होता है। राजस—रागी, स्त्री पुत्र धनादिकों में जिस की लालसा है, कर्मफलप्रेप्सु—कर्म के फल की इच्छा करनेवाला, लुब्ध—जिस में लोभ भरा हुआ है, हिंसात्मक—प्राणियों को मारनेवाला, हिंसक, अशुचि—अन्तर्बाह्य मलिन रहनेवाला, हर्षशोकान्वित—आनन्द और दुःख से भरा हुआ,—राजस अधिकारी होता है। सात्विक—मुक्तसंग, जो जन संसर्ग से दूर रहता है, एवं फल तृष्णा आदि से अलग रहता है, अनहंवादी—जिस में अहंभाव—अभिमान का लेश नहीं है, धृत्युत्साहसमन्वित—धैर्य और उत्साह से भरा हुआ, सिद्धि असिद्धि में निर्विकार—किसी कार्य में सिद्धि प्राप्त हो, या न हो, जिस के चित्त में विकार नहीं होता—सात्विक अधिकारी होता है। भगवान् पातंजलि ने भी—मन्द, मध्यम एवं उत्तम—तीन प्रकार के अधिकारी कहे हैं—उन का विवेचन आगे होगा।

पाश्चात्य ज्ञानप्रसार के साथ साथ इस वक्त भारतवर्ष के लोगों की जो प्रवृत्ति हो रही है—उस पर से भी साधकों की तीन श्रेणियां हो सकती हैं—

(१) कितने ही कुतूहलवश अध्यात्मविद्या जानने-के लिये प्रवृत्त होते हैं। यथावकाश शिल्प, चित्र, संगीत, विनोदकारिणी ललित कलाओं में दत्तचित्त ameteur हो कर पुस्तकों द्वारा उन का ज्ञान सम्पादन करनेवालों समान एवं फ़ुरसत के समय वर्त्तमान, मासिकपत्र, उपन्यासादि

पढ़नेवालों के समान पुस्तकों द्वारा अध्यात्मज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं—ऐसे अमेच्युरों को—शौकीनों को अध्यात्मज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? ये उस के फल के लिये संशय-ग्रस्त रहते हैं, सिद्धिरूप आत्मोन्नति को असंभव मानते हैं एवं उस को निरर्थक जानते हैं। इन की बुद्धि में—बहिर्दृष्टि में—बाह्यजगत् में, कूपमंडूकन्याय जो कुछ प्रतीत होता है—उसी को सत्य मानते हैं। इन की बुद्धि, इन की दृष्टि इनकी शक्ति बहुत संकुचित, सीमाबद्ध, अल्प रहती है, इस लिये अध्यात्मज्ञान की उपयोगिता, महत्व, एवं योग्यता जान सकते नहीं—उलटा आक्षेप करते हैं कि—इस अध्यात्मज्ञान से भारतीय लोग निरुत्साही हो कर अकर्मण्य बन बैठे हैं—इस लिये वे अपनी जिज्ञासा को यहीं शान्त कर के अध्यात्मविद्या का स्वीकार नहीं करते, किन्तु पाश्चात्यों का धन्यवाद है कि—उन्हों ने इस वक्त अध्यात्मविद्या पर कितने ही अच्छे अच्छे ग्रन्थ लिख कर, ऐसे अमेच्युरों को उद्बोधित किया है—जिस से अभी इन की कुछ कुछ जिज्ञासा बढ़ रही है। तथापि इन की बुद्धि में जो बातें प्रवेश नहीं कर सकतीं, उन के लिये ये उदासीन रह कर अध्यात्मविद्या का अथ से इति तक अभ्यास करने में पराङ्मुख रहते हैं। अर्थात् इन की बुद्धि में ग्राहकशक्ति उतनी ही होने से आगे बढ़ ने का उत्साह नहीं होता एवं निरुत्साह से असंभव मान कर तत्वज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते।

(२) कितने ही श्रद्धापूर्ण, भक्तिमान् होते हैं एवं पवित्राचरण से संसारयात्रा करते हैं। अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति की उत्कट इच्छा अर्थात् पूर्ण जिज्ञासा रखते हैं, किन्तु सांसारिक मोह का जितना त्याग होना चाहिये उतना न होने से आत्मोन्नति नहीं कर सकते। धार्मिक विषय जानने में प्रवृत्ति होती है, किन्तु उत्कट परम वैराग्य का उदय न होने से बुद्धि की सूक्ष्मता एवं चित्त की स्थिरता नहीं होती। इस प्रकार के साधक, अध्यात्म-विद्या की श्रेष्ठता भलीभांति जानते हैं एवं उसके अभ्यास में दत्तचित्त भी रहते हैं तो भी—उसमें पूर्ण निष्ठा से तन्मय हो के तदाकार न होने से स्वस्वरूप का यथार्थ आविर्भाव, उन में नहीं होता। विचारपरम्परा का ज्ञान, विचार की शक्ति को जान कर विचार का संयम करने पर विचार का संस्कार होता है। बिना विचार के संस्कार के कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता—इस लिये ऐसे [illegible]-दशा में रहते हैं।

(३) कितने ही उच्च श्रेणी के साधक [illegible] में रहते हैं। साधनसंपत्ति द्वारा उनके अन्तःकरण मलविक्षेप-रहित होते हैं—इस लिये उन में अध्यात्मज्ञान की ग्रहण-शक्ति तीव्र होती है। पूर्ण जिज्ञासा का उदय होने से आत्मज्ञानसम्पादन के लिये सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न में लगे हुए रहते हैं। उन की भावनायें उच्च रहती हैं। उनके हृदय में शुद्ध विचार, [illegible], संयम का [illegible] नहीं हो सकता, निष्कामी प्रेम निरन्तर रहता [illegible] ईश्वरत्व उन की दृष्टि में, [illegible] मानते हैं।

उनके विचार नये होने पर भी पुराने विचारों को मात करते हैं, उन का आचरण समयानुकूल होने पर भी-सद्धर्माचरण को मात करता है एवं उन का व्यवहार यथाकाल होने पर भी-जगत् के व्यवहार को मात करता है ।

इस प्रकार हरएक को अपना सामर्थ्य जान कर पूर्ण जिज्ञासा उत्पन्न करके क्रमशः एकएक श्रेणी में प्रवेश करके उन्नत होना चाहिये । "देहं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि" अथवा "सिर कट्टे धन संग्रहे सिर सज्जे धन जाय" इन उक्तियों के अनुसार लगातार जिज्ञासा का प्रवाह वलवान् करके उस में निमग्न हो जाना चाहिये अर्थात्—जिज्ञासामान विषयाकार वन जाना चाहिये ।

ख—श्रद्धा ।

भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" अर्थात् श्रद्धावान् साधक ही—तत्पर एवं जितेन्द्रिय हो कर ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है । छान्दोग्य उपनिषत् के सातवें प्रपाठक में कहा है कि—"सनत्कुमार कहते हैं—मनुष्य श्रद्धा करता है तव मनन कर सकता है । विना श्रद्धाके मनन नहीं होता । श्रद्धा करते हुए ही मनन होता है—इस लिये हे नारद! श्रद्धा ही विशेष रूप से जानने योग्य है । नारद पूछते हैं—हे भगवन्! मैं श्रद्धा को विशेषरूप से जानना चाहता हूं । सनत्कुमार कहते हैं कि—हे नारद! जव कोई उपासक निष्ठा करता है तव उस में श्रद्धा उत्पन्न होती है । विना निष्ठा के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती—इस लिये निष्ठा

ही को जानना चाहिये ।" श्रद्धा का कारण निष्ठा है । उपास्य विषय में सर्वतोभाव से निश्चयपूर्वक चित्त को लगा कर दृढ़ भाव को उत्पन्न करना—निष्ठा कहलाती है एवं निष्ठा का रूपान्तर श्रद्धा होती है । श्रद्धा ही से योग की दृढ़ भूमि होती है—अर्थात् अभ्यास पर पूर्ण रुचि होके ज्ञान की प्राप्ति होती है । नैष्टिकी श्रद्धा होने पर संशय का नाश होता है, संशय का नाश होने पर सामर्थ्य का विकास होता है, सामर्थ्य का विकास होने पर गुरु-कृपा होती है एवं गुरुकृपा होने पर ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है । "सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते" अर्थात् जिस से वस्तुलाभ— ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है— महात्मा उसी को श्रद्धा कहते हैं । जिज्ञासा का अंकुर श्रद्धा है, श्रद्धा का पुष्प गुरुकृपा है, गुरुकृपा का फल सत्यज्ञानप्राप्ति है । श्रद्धा ही से प्रयत्न होता है, श्रद्धा ही से अभ्यास होता है, श्रद्धा ही से विश्वास होता है एवं श्रद्धा ही से अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है । शास्त्रविधि का त्याग करके श्रद्धापूर्वक जो देवताओं का पूजन करता है उस की सात्विक, राजस वा तामस स्थिति किस प्रकार की होती है ?—ऐसे अर्जुन के प्रश्न करने पर, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—"हे भारत ! अपने अपने स्वभाव के अनुसार श्रद्धा उत्पन्न होती है—जिस प्रकार की वह श्रद्धा होती है, उसी प्रकार का वह मनुष्य हो जाता है अर्थात् वह उस का रूप बन जाता है ।" जिस प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न होती है उस के अनुसार विचार का स्फुरण होता है एवं उस स्फुरण के अनुसार फलाफलकी प्राप्ति

होती है। श्रद्धारहित मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, श्रद्धारहित मनुष्य इहपरलोक को प्राप्त नहीं कर सकता एवं श्रद्धारहित मनुष्य सम्यग्यान का उपार्जन नहीं कर सकता। श्रद्धा ज्ञान की जननी है एवं ज्ञानश्रद्धा का जनक है। किन्तु "संशयात्मा विनश्यति" संशय श्रद्धा का नाश करता है। श्रद्धा का वड़ा भारी शत्रु संशय है, संशय होते ही श्रद्धा का लय हो जाता है। कोई भी काम, कोई भी विपय, कोई भी धर्म, सव श्रद्धा ही से दृढ़ वनते हैं। उन शक्तियों को जानना वड़ा ही कठिण है कि जो श्रद्धा से श्रद्धामय पुरुषों में प्रकट होती हैं। महात्मा क्राइस्ट का कहना है कि—
"If ye have faith, and doubt not, ye shall not only do this *which is done* to the fig tree, but also if ye shall say unto this mountain, 'Be thou cast into the sea;' it shall be done."
"अगर राई के दानेभर भी श्रद्धा है तो—तुम में इतनी शक्ति होगी कि— तुम्हारी प्रेरणा से पर्वत भी समुद्र में जा गिरेंगे!" इस पर यदि कोई कहेगा कि—ऐसे क्राइस्ट के असंभवनीय एवं अघटित कहने को कौन मानेगा— तो मित्रो? यही संशय है, इस संशय ही का परिणाम अश्रद्धा है एवं अश्रद्धा ही क्राइस्ट के वचन को असंभवनीय वनाती है।

संशय, शंका, सन्देह—ये श्रद्धाविनाशक श्रद्धा के शत्रु के पर्यायवाचि शब्द हैं। खाली यह एक शब्द ही वड़े वड़े तत्वज्ञों के कहे हुए सिद्धान्तों का सिद्ध—अन्त करता है, वड़े वड़े महात्माओं के सच्चरित्र को निश्चरित्र करता है

एवं बड़ेबड़े सद्वचनों को निर्वचन करता है। यह श्रद्धा का कण भी नहीं रहने देता—इसी से महात्माओं के अलौकिक कार्यों का हम उपहास करते हैं, उनके वचनों का हम निरादर करते हैं एवं उनके आचरण का हम दोष निरीक्षण करते हैं। श्रद्धा के अभाव से हमारी भक्ति नामशेष, हमारी दृष्टि स्तब्ध, हमारी जिज्ञासा लुप्त, हमारी वृत्ति चंचल, हमारी आशा निष्फल, एवं हमारी प्रवृत्ति दूषित होती है। हमें अपने अत्यल्प, किंचिन्मात्र स्थूल ज्ञान, परिचय एवं अनुभव के सिवा प्रत्यक्ष बुद्धिगम्य, दृष्टिगम्य एवं आत्मगम्य किसी विषय पर विश्वास नहीं होता—इस का कारण क्या है? हमें अपने पूर्वज, गुरु, मातापिता के कहने पर विश्वास नहीं होता—इस का कारण क्या है? श्रुति, शास्त्र, पुराण, सूत्र, गाथा, बाइबल, अवस्था, क़ुरान आदि में—इस वक्त हमें अघटित, असंभवनीय, अशक्य बातें मालूम होती हैं—जिनका उल्लेख है, इतना ही नहीं, बहुधा ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओंसे उनका बहुत भाग भरा हुआ है तो—पृथ्वी को उलटपलट करनेवाले, नये धर्म का प्रचार करनेवाले, सब को पदाक्रान्त करनेवाले, एवं सब को वश में चलानेवाले महात्मा, क्या ऐसी झूठी, अविश्वसनीय एवं असंभवनीय बातें बना के तुम्हारी हमारी श्रद्धा का नाश कराने ही के लिये निरी गप्पें हांक गये हैं? क्या ऐसी झूठी, गप्पें हांक कर ही उन्हों ने सब को पराजित किया है? क्या ऐसी झूठी गप्पें हांक कर ही उन्होंने सब का धर्म रक्षण किया है? क्या ऐसी झूठी गप्पें हांक कर ही उन्होंने सब पर विजय पायी

है? अश्रद्धा—यह तुम्हारी घोर मोहनिद्रा है, अश्रद्धा—यह तुम्हारा सर्वस्व नाश है एवं अश्रद्धा—यह तुम्हारा अधःपतन है।

किसी बात के संभवासंभव, ग्राह्याग्राह्य एवं प्रमाणाप्रमाण का विचार न करते हुए, सत्य का त्याग कर के—किसी के कहने पर, प्रतिपादन पर या मन्तव्य पर निश्चय करना एवं उस में दृढ़ निष्ठा कर के उस के विरुद्ध किसी का कुछ न मानना—अंधविश्वास कहलाता है—इस का नाम श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा वह पदार्थ है कि—जिस के द्वारा सम्यग्यान Rightousness प्राप्त हो के परम सत्य का अखण्ड लाभ होता है। पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से नवयुवकों को एवं पूर्वशिक्षा के प्रभाव से वृद्धजनों को एक प्रकार का अन्धविश्वास होता है—जिस की इतनी प्रबलता होती है कि—नवयुवक निरादर बुद्धि से पूर्वपुरुषों के कथन, वचन, लेख आदि में कुछ विश्वास नहीं करते एवं वृद्धजन सादर बुद्धि से पूर्वपुरुषों के कथन, वचन, लेख आदि में पूर्ण विश्वास करते हैं। एक की एक नहीं मानते। कितनी विचित्र एवं विपरीत अन्धपरम्परा है? कितना आश्चर्य है कि—एक के अस्तित्व में एक की नास्तिकता है एवं एक की नास्तिकता में एक का अस्तित्व है! इस अन्धपरम्परा का अभाव होके सत्य श्रद्धा का लाभ होने के लिये हठ एवं दुराग्रह का त्याग करके परमसत्य का अन्वेषण करना चाहिये। अन्वेषण क्या है—परम जिज्ञासा के साथ शुक्लकृष्ण का त्याग करके आत्मीय अनुभव द्वारा अखण्ड षोडषकलापूर्ण सत्यस्वरूप—चन्द्रमण्डल का

निरीक्षण करना है। स्थूल दृष्टि से या बुद्धि से प्रतीत होनेवाले पदार्थ या विषयों पर विश्वास करना ही अन्ध-विश्वास है। क्योंकि दृष्टि में द्विचन्द्र का भास होता है एवं बुद्धि में रज्जु पर सर्प का भान होता है।

श्रद्धादेवी का निश्चल ध्यान करने से सब पदार्थों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म आन्तरिक जीवन में प्रवेश होता है—जिस से मनुष्य उस जीवनतत्व को ले कर अपना जीवन सुखमय करके चितिशक्ति में निवास करता है एवं विश्व-व्यापी अखण्ड शक्तिशाली बनता है। जिस प्रकार इस तत्व का ज्ञानी समर्थन करते हैं उसी प्रकार विज्ञानी Scientist भी समर्थन करते हैं—कि, सब पदार्थों में एक व्यापक, अमर्याद, अटूट सामर्थ्य भरा हुआ है। सामर्थ्य का एक निरवधि महोदधि सर्वत्र तरंगित हो रहा है जिस में तुम हम सब हिर फिर के जीवन व्यतीत करते हैं। जैसे एक निरन्तर जलप्रवाहयुक्त महा सरोवर के साथ अपने घर का नल जोड़ देने पर चाहिये जितना जल यथासमय निरन्तर प्राप्त होता रहता है, वैसे ही सामर्थ्य के महासागर के साथ विचार को जोड़ देने पर चाहिये जितना सामर्थ्य यथासमय प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार विचार का सम्बन्ध होना—केवल श्रद्धादेवी का ही वरप्रदान है। श्रद्धातन्तु अभ्यन्तर जीवन के आरपार पिरोया हुआ रहता है—इसलिये श्रद्धामय मनुष्य आन्तर जगत् में रममाण रहती हैं। महापुरुषों में जो असाधारण सामर्थ्य प्रतीत होता है—उस का कारण एकमात्र श्रद्धा ही है। श्रद्धादेवी की उपासना से, उस के साथ उन का घनिष्ठ सम्बन्ध हो के

परिपूर्ण सामर्थ्य स्थिर हो जाती है—उसी से वे जगत् के अधिष्ठाता प्रतिईश्वर बनते हैं। मनुष्य विशेष ही ऐसी श्रद्धा प्राप्त कर सकता है—ऐसा नहीं है, हर कोई इसे प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा प्राप्त करना बिलकुल मामूली, सहज, स्वाभाविक बात है। उस के लिये विशेष परिश्रम वा प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। चाहे जो मनुष्य अपने अन्तःकरण में श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है, चाहे जो मनुष्य श्रद्धा से अपने अन्तःकरण में चैतन्य भर सकता है, चाहे जो मनुष्य श्रद्धा से विचारों की एकाग्रता कर सकता है, चाहे जो मनुष्य अदृष्ट में प्रवेश करनेवाली गंभीर आन्तरीक विचारक्रिया द्वारा श्रद्धा का विकास कर सकता है। जैसे जैसे तुम जडचेतन पदार्थ में श्रद्धा का प्रवाह चलावोगे, वैसी वैसी तुम्हारी श्रद्धा की अखण्ड धारा रोम रोम में, कण कण में, अणु अणु में संचार करती हुई, सजातीय आकर्षण शक्ति द्वारा जहां तहां से श्रद्धा को आकर्षण कर के तुम्हारे श्रद्धारूप जलाशय Reservoir को लबालब करेगी—फिर तुम्हें उस में खूब गोते लगा कर विहार करने में किसी प्रकार की बाधा न होगी। अर्थात् जैसी जैसी तुम जहां तहां पदार्थ-मात्र में श्रद्धा उत्पन्न करोगे वैसी वैसी वह श्रद्धा आकर्षित हो कर तुम में आ कर तुम्हारी श्रद्धा को पुष्ट करती रहेगी-जिस से तुम जो चाहोगे सो साध्य कर सकोगे। श्रद्धा, आसुरी विपत्ति में से दैवी सम्पत्ति में पहुंचने का राजमार्ग है। जो कुछ इच्छा उत्पन्न होती है उस को बलवती करनेवाली एक मात्र श्रद्धा है। इच्छाशक्ति Will power

प्रबल होने पर फिर तुम्हें कुछ भी दुर्लभ नहीं है । चाहिये जितना सामर्थ्य, चाहिये जितना बल, चाहिये जितना वैभव, चाहिये जितनी सत्ता प्राप्त हो सकती है ।

ग—सद्गुरु ।

सत् एवं गुरु—अर्थात् अच्छा, भला, सच्चा—गुरु अर्थात् पूर्वज, मातापिता, पितृत्व, ज्येष्ठ बंधु, वृद्ध, उमरमें बडा, जातकर्मादि उपनयनान्त संस्कार करानेवाला, वेदशास्त्र पढानेवाला, मौंजीबन्धन के समय गायत्री मंत्र का उपदेश करनेवाला, श्रेष्ठ, दीर्घ, उच्च, बड़ा, भारी, उत्तम, अमूल्य, सत्यज्ञान प्रदान कर के 'परमसत्य' का लाभ करानेवाला—सद्गुरु होता है । गुरु दो प्रकार के होते हैं—एक **शिक्षागुरु** अर्थात् लौकिकगुरु—जिस के द्वारा व्यावहारिक विद्याओं का ज्ञान होता है, एवं दूसरा **दीक्षागुरु** अर्थात्—अलौकिक-गुरु—जिसके द्वारा पारमार्थिक विद्याओं का ज्ञान होता है । भगवान् मनुने लौकिक, वैदिक एवं आध्यात्मिक—तीन प्रकार के गुरु कहे हैं । अद्वय तारकोपनिषत् में—गुरु शब्दका अर्थ कितना अच्छा किया है—"गुशब्द-स्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधि-त्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ।"—'गु' शब्द का अर्थ अन्धकार है एवं 'रु' शब्द उसका निरोधक है । इस लिये अन्धकार का निरोध करनेवाला अर्थात् अन्धेरे को रोकनेवाला अज्ञान का नाश करनेवाला—गुरु कहलाता है ।

गुरुपरम्परा अनादि है । विना गुरु के किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता । जडचेतन पदार्थमात्र में ज्ञान स्वयं-सिद्ध है तो भी, विना प्रेरणा के उसका उदय नहीं होता ।

पूर्वजों की आनुवंशिक प्रेरणा का मूर्त्तस्वरूप—बालक है; माता की गोद उस की पाठशाला है, पिता की शिक्षा सद्भावना बालक का पाठक्रम है—इस लिये जन्मतः मातापिता सद्गुरु हैं । उपनयनसंस्कार—अर्थात् उप—समीप—नज़दीक, नयन—इच्छित स्थान पर पहुंचना—गुरुके समीप जाना अर्थात् आठ दस वरसतक मातापिता से ज्ञान सम्पादन करने पर उच्च शिक्षा High Education प्राप्त करने के लिये जनेऊ लेके, गायत्री मंत्र का उपदेश प्राप्त कर के गुरुकुल में भरती होना—सद्गुरु की प्राप्ति करना है ।

पूर्वकालमें ऐसे सद्गुरु पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ, आत्मसाक्षात्कारी, चतुर्दशविद्यासम्पन्न, सदाचारी, विचारशील, परमशांत, निरिच्छ, परिपूर्ण, शिष्यवित्—शिष्यतापहारक होते थे। आधुनिक गुरुजनों के—समान शिष्यवित्तापहारक नहीं थे । निर्जन अरण्य में आश्रम बना कर शिष्यमण्डली को अपने समीप रख कर वेद, वेदांग शास्त्र में निपुण कर के—उनका समावर्त्तन करते थे—अर्थात् चोवीस वर्ष की उमर तक गुरुकुल में रहकर शिष्य को पीछे अपने मातापिता के पास भेजने के संस्कार को—समावर्त्तन कहते हैं ।

अहा ! क्या कहें—कितना वह अच्छा काल था ? कितना वह सुन्दर काल था ? कितना वह पवित्र काल था ? एवं कितना वह पुण्यकाल था ? कैसी हमारी धर्मशिक्षा थी ? कैसी हमारी सत्क्रिया थी ? कैसी हमारी विचार सरणी थी ? कैसी हमारी शिक्षाप्रणाली थी ? कैसी हमारी शास्त्रनिपुणता थी ? कैसी हमारी विद्वत्ता थी ? कैसी हमारी शरीरसम्पत्ति थी ? एवं कैसी हमारी दीर्घायु थी ? काल के

परिवर्त्तन के साथ साथ ही—उनका परिवर्त्तन ही नहीं, खाली स्मरणमात्र रह गया! उस समय—शुद्ध भूमी पर निवास, शुद्ध भूमी पर संचार, शुद्ध भूमी पर शयन—शुद्ध जल का स्नान, शुद्ध जल का आचमन, शुद्ध जल का पान—शुद्ध अग्नि का अर्चन, शुद्ध अग्नि का हवन; शुद्ध अग्निका परिपालन—शुद्ध वायुका सेवन, शुद्ध वायु का वहन, शुद्ध वायुका श्वसन—एवं भगवान् सविता की उपासना—प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, सायंकाल के सन्ध्यावन्दन, अर्घ्यप्रदान, ॐकार गायत्री का जप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, गुरुसेवा, परापरा विद्याध्ययन—कितना पवित्र, कितना लोकोत्तर, एवं कितना उच्चतम था? शुद्ध अन्न जल वायु के सेवन से, स्त्रीदर्शन के अभाव से, शृंगार विलास विनोदादिकों के विराग से, मानसिक शक्ति के विकास से एवं दृढ़ ब्रह्मचर्य से—कितनी अच्छी शरीरसम्पत्ति थी, कितनी अच्छी विचारशक्ति थी, एवं कितनी अच्छी बुद्धि थी? कैसी हृदय की विशालता, कैसी बुद्धि की ग्राहकता, कैसी विचार की प्रबलता एवं कैसी विद्या की परिशीलनता थी—कुछ कहा नहीं जाता! अहाहा! वह समय! वह स्वाध्याय! वह ब्रह्मचर्य! वह विचार! एवं वह व्यवहार!—स्मरणमात्र हीसे किस को पवित्र नहीं करता, किस को साभिमान नहीं करता किस को उत्तेजित नहीं करता, किस को प्रगल्भ नहीं करता एवं किस को विचार पूर्ण नहीं करता? साथ ही सब के अभाव का स्मरण—किस को उदासीन नहीं करता, किस को दुःखित नहीं करता, किस को शोकाकुल नहीं करता, किस को व्यथित नहीं करता, किस को कंपित नहीं करता एवं किस को मुग्ध नहीं करता? क्या था—

और क्या हो गया ? याद रक्खो, कभी मत भूलो, खूब सोचो, कभी मत निराश बनो और अटल विश्वास रक्खो कि—हम वही ब्राह्मण हैं, हम वही क्षत्रिय हैं, हम वही वैश्य हैं, हम वही शूद्र हैं एवं हम वही अतिशूद्र हैं। हमारा ज्ञान, हमारा धर्म, हमारा आचरण, हमारा व्यवहार—वैसा ही उच्च, वैसा ही पवित्र, वैसा ही शुद्ध एवं वैसा ही सत्य है।

मेरे उन्नत विचारशील मित्रो! मैं विनीत भाव से विनय करता हूं कि—थोड़ी देर एकान्त में बैठ कर, शरीर को शिथिल कर के, विचारशून्य हो कर, क्षणभर के लिये भावना करो कि—उसी पूर्वकाल में, उसी पुण्यारण्य के आश्रम में, उसी गुरुकुल में, उसी सहाध्यायी मंडल में, ब्रह्मचारी बन कर महात्मा सद्गुरु का प्रवचन सुन रहे हो। इतस्ततः गोवत्स, हरिणशावक, मयूर, सारस, शुकआदि पशु पक्षी स्वछन्द निर्भय संचार कर रहे हैं, नाना प्रकार के पुष्पफलवृक्ष, लतागुल्म लग रहे हैं—उन की शीतल पवित्र छाया में हरित कोमल दर्भतृणांकुरों पर, दर्भासन लगा कर, सद्गुरु अध्ययन करा रहे हैं—ऐसे रम्य सुन्दर, शान्त, आश्रम के जटावल्कलमंडित तुम्हारे रम्य स्वरूप के एवं भव्य, विचारपूर्ण, ज्ञानमय, तेजस्वी, सद्गुरु की लोकोत्तर, मूर्ति को सुन्दर भावपूर्ण चित्र को—फ़ोटो को अपने हृदयपट पर खींच कर, एकाग्रता से शुक्लध्यान करने पर—कहिये मित्रो, क्या तुम ब्रह्मचारी नहीं, क्या तुम स्वाधायी नहीं, क्या तुम धार्मिक छात्र नहीं, क्या तुम गुरु भक्त नहीं, क्या तुम सद्गुरुउपासक नहीं, एवं क्या तुम सद्गुरु के सच्छिष्य नहीं ?

यही सद्गुरु प्राचीन काल में आत्मपंथदर्शक थे, यही सद्गुरु प्राचीन काल में परापराविद्या के शिक्षक थे । एवं यही सद्गुरु प्राचीन काल में ईश्वरत्व के प्रकाशक थे। आरण्यकोपनिषत्, उन्हीं का प्रवचन है, सूत्रवृत्ति उन्हीं का ग्रन्थन है एवं कर्म उपासना ज्ञान उन्हीं का कथन है। उस समय इस समय के समान नाना प्रकारके चित्र-विचित्र मोटे पतले कागज़ नहीं थे, भांति भांति की स्याही, पेन, पेन्सिल, होल्डर नहीं थे, व्रौन, कवरिंग, ब्लाटिंग पेपर नहीं थे एवं शिला टाइप के छापेखाने नहीं थे–तोभी, कैसे कैसे गंभीर, प्रचंड, भावपूर्ण–वेद, वेदांग, पुराण, महाभारत जैसे हज़ारों ग्रन्थ बने हैं एवं पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक प्रसिद्ध हुए हैं–जिनमें के एकाध श्लोक के समान श्लोक का बनाना तो दूर किन्तु आजकल के बड़े बड़े बी. ए., एम्. ए., बी. एल्., प्रोफ़ेसर, रैंगलर आदि उनका भाव जान कर अर्थतक नहीं जान सकते! हमारे परम पूज्य सद्गुरुराज किसी स्कूल, कालेज, युनिवरसिटी के–शिक्षक, अध्यापक, एवं संचालक नहीं थे, और न वे कहीं के उपाधिकारी ग्रेजुएट थे। इन के रचे हुए ग्रन्थोंपर विविध भाष्य, टीका, टिप्पणियां हो चुकी हैं, एवं प्रचलित भाषाओं में भी अनुवाद हो चुके हैं–किन्तु, उन का गंभीर भाव, उनकी गंभीर रचना, उनके गंभीर विचार सिवाय सद्गुरु महात्मा के समझाये–समझ में नहीं आसकते।

ऐसी यह गुरुपरम्परा भारतवर्ष के समान अन्यत्र कहीं न थी तथापि विना गुरु के ज्ञानप्राप्तिका कोई मार्ग ही नहीं–इस सिद्धान्त के अनुसार गुरु, गुरुपरम्परा वा गुरु-

मण्डल का यथा संभव सर्वत्र अस्तित्व था। यहुदियों के धर्मग्रन्थ में गुरु का उल्लेख है, अवस्था, वाइवल, कुरान में तो जगह जगह गुरु के गुरुत्व का वर्णन है एवं मिश्र, ईरान, तुर्क में धर्मगुरुओं के महत्व का प्रतिपादन है। ग्रीस और असीरिया देशमें गुरुजनोंकी मिस्टरीज् Mysteries नामक सम्प्रदायपरम्परा थी। इस मिस्टरी का ज्ञान जिस को हो जाता था वह अमर बन जाता था—ऐसा प्लेटोने लिखा है। ईसाई धर्म में भी—"मिस्टरीज् आफ़ जीजस्" नामक एक धर्मसंस्था थी—उस में गूढ़ तत्वज्ञान सिखाया जाता था—इस का प्रमाण उस धर्म के अनुयायियों के लेखों में मिलता है। ईसा के वाद एक दो शताब्दीही में जिज्ञासु लोगों के कम हो जाने से गुरुसम्प्रदाय का महत्व कम होते होते, उस का लोप होने लगा। कानस्टंटाइन के समय में तो गूढ़ तत्वज्ञान के अभ्यासी राजद्रोही माने जाने लगे। इतनेही में भौतिक पदार्थवादियों का उदय हुआ—जिस से दिनोंदिन अध्यात्मविद्या पर का विश्वास कम होकर लोग भौतिक पदार्थवादी बनते चले। कुछ समय के अनन्तर तो, अध्यात्मवादियों की जिव्हा तक काटने की नौवत आई—इस लिये गुरुपरम्परा लुप्तप्राय होके जहां तहां जिस के जी में आया—वह गुरु वनने लगा। उस वक्त अध्यात्मदीपक का प्रकाश अतिमन्द हो चुका था तो भी, विलकुल वुझ नहीं गया था। अन्त में अध्यात्मवादियों पर के अत्याचार का, यह परिणाम हुआ कि—जहां तहां इस विद्या के गुप्तमण्डल स्थापित हो कर अध्यात्मज्ञान का वीज नष्ट न होने पाया।

पाश्चिमात्य देशों में ऐसी गुरुपरम्परा लुप्त होने में थी, तो भी—समय पाते ही उन में तत्वज्ञानी, सिद्ध, गुरु, महात्माओं का उदय हुआ । ईसा की पांचवी शताब्दी में एथेन्स के एक श्रीमान् कुल में अफ़लातून का जन्म हुआ। उस ने सुक़रात से अध्यात्मविद्या सीखी एवं उस का खूब प्रचार किया । अनन्तर थोड़े ही काल में अरस्तु हुआ उस ने भी अध्यात्मविद्या का खूब प्रसार किया । आगे चल कर इस अध्यात्मविद्या के—धर्म और तत्व—दो विभाग हुए । सेन्ट अगस्टीन् ने धर्म की नीव जमा के तर्क को हटाने का पूरा प्रयत्न किया । तार्किकों ने भी धर्म पर खूब आक्षेप किये—जिस से अत्यन्त वादविवाद बढ़ा और यह वादविवाद समय समय घटता बढ़ता रहा । अन्त में, ईसा की सोलहवीं शताब्दी में, पश्चिम में नवजीवन का आविष्कार हुआ । विज्ञान प्रचलित हो के भौतिकशास्त्र Science की उन्नति होने लगी । डेकार्ट, स्पाइनोभा, लाइन्पिटस आदि महात्माओं का उदय हुआ । जिन्होंने साइन्सविज्ञान का सत्कार कर के, उस के साथ अध्यात्म-तत्व का संयोग किया । बेकन और ब्रूनो की सहायता मिली—जिस से परस्परविरोधी वाद कम हो के पीछा अध्यात्मविद्या को बल प्राप्त हुआ । साइन्स और अध्यात्म-तत्व की एकता का श्रेय डेकार्ट ही को देना चाहिये । उस के पीछे लाक, बर्कें और ह्यूम हुए । थोड़े ही समय के अनन्तर कान्ट का जन्म हुआ । कान्ट ने अध्यात्मज्ञान का अच्छा प्रसार किया । कान्ट के समय से पहिले ही वहां भारतीय अध्यात्मज्ञान का कुछ कुछ प्रकाश पड़ चुका था

एवं उत्तरोत्तर उस का प्रसार हो रहा था। अद्वैतवाद का बीज पश्चिम की भूमि में पड़ते ही ज़ोर के साथ उस का अंकुर निकला, फिक्टे, शेलिंग, इमरसन, शोपेनहोर ने उस का वृक्ष वनाया एवं अन्त में हक्स्ले और स्पेन्सर ने उस का फल प्राप्त किया।

आज पृथ्वी पर अनेक धर्म प्रचलित हैं—उन सब की एकवाक्यता इसी अध्यात्मिकतत्व में होती है, एवं उस तत्व का प्रचार करनेवाले भारतवर्ष ही के सद्गुरु महात्मा हैं। कोई धर्म—चाहे जिस कल्पना, तर्क एवं तत्व पर आविष्कृत हुआ हो, तो भी पृथ्वी भर के धर्म का पर्यवसान एकही है। सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान रंगरूपाकृति है किन्तु जुदे जुदे रंग के कांच में से वह जुदे जुदे रंग का देख पड़ता है—उसी प्रकार मिश्र के लोग ज्ञान को अधिक मानते हैं, ईरान के लोग शुचित्व को अधिक मानते हैं, ग्रीस के प्राचीन लोग सौंदर्य और रोमन के लोग विधिनिषेध को अधिक मानते थे एवं आज के ईसाई लोग व्यक्तिमहत्व तथा सेवाधर्म को अधिक मानते हैं और भारतीय महात्मा सर्वत्र सब से ईश्वर को अधिक मानते हैं। जो हो, चाहिये जिस धर्म में कोई—ज्ञान, शुचित्व, सौन्दर्य, विधिनिषेध, व्यक्तिमहत्व एवं सेवाधर्म अधिकाधिक मानें, किन्तु अन्त में सब का ईश्वर एक है, एवं किसी देश के कोई भी महात्मा, गुरु, अवतार, पीर, पैग़म्बर हों—उन का सब को ईश्वर से परिचय करना ही प्रधान कर्त्तव्य था और है।

गुरुत्व क्या है एवं गुरु शब्द क्या है? गुरु शब्द का भाव 'गुरुत्व' है एवं गुरुत्व अर्थात् गुरुभाव व्यक्त कर के सब का–ज्ञानद्वारा गुरु बनना है। चाहे, गुरु–ऐसी भावना या कल्पना करे या माने कि–छात्र मेरे सेवक हैं–मैं ज्ञान देनेवाला उन का गुरु–स्वामी हूं–किन्तु ऐसा नहीं है। चणमात्र ही के सोचने से, साफ़ दिखाई देगा कि–सच्चा गुरु छात्रों का सेवक होता है। छात्र उस के सेवक नहीं होते–क्योंकि उन को समझा बुझा कर, डराडुरा कर, लुचकार पुचकार कर अपने जैसा बनाना होता है। जैसा भंवरा कीड़े को ला कर उसे अपने घर में रख कर वारवार डंक चुभा कर अपने समान बना लेता है तो–कीड़ा भंवरे का सेवक नहीं, भंवरा कीड़े का सेवक होता है–यही प्रकार गुरु का है, सच्चे गुरु जगत् के सेवक होते हैं। वे अपनी पवित्र सेवा से जगत् को ज्ञानी बना के जगत् का उद्धार करते हैं। पृथ्वी भर के महात्मा, साधु, सद्गुरु, ज्ञानियों के चरित्र देखने पर यही विदित होगा कि–राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य्य, ज़रथोस्त, मुहम्मद आदि महापुरुष–आजन्म लोकसेवा कर के ही जगत् के गुरु बने हैं और अपने समान कितने ही छात्रों को बना गये हैं। महात्मा कबीर का कहना है कि–"जा को गुरु ने रंग दिया, कब हुँ न होत कुरंग। दिन दिन बानी ऊजली, चढे सवाया रंग।" इस में क्या शंका है? गुरु प्राप्ति की तीव्र इच्छावालों को चाहिये कि–वे सेवाधर्म का स्वीकार करें एवं जगत् के पूर्ण सेवक गुरु को प्राप्त करें।

आजकल एक ही धर्म पर आरूढ हो कर गुरु की खोज करना, या गुरु बनना, या जिज्ञासु बन कर विद्याध्ययन करना और अन्धविश्वास में आ कर केवल एकधर्मी बन कर अन्य धर्मों का, अन्य धर्मगुरुओं का एवं अन्यधर्म जिज्ञासुओं का तिरस्कार करना—कभी कल्याणप्रद नहीं है। अमेरिका में, स्वामी विवेकानन्द ने, अपने एक व्याख्यान में कहा है कि—"धर्म—चाहे मुहम्मद का कहा हुआ हो, चाहे ज़रथोस्त का कहा हुआ हो, चाहे क्राइस्ट का कहा हुआ हो—उस का सार ग्रहण करने के लिये हम सर्वथा तत्पर हैं। बिलकुल अनजान देश के धर्म से लगा कर, अत्युच्च धर्म तक सब धर्म परमेश्वर प्राप्ति के—अनन्त से एक रूप होने के मार्ग हैं—यह बात आज तक हमारे लक्ष्य से कभी गई नहीं—इसी से सब धर्मरूप पुष्प, प्रेमसूत्र में इकट्ठे पिरो कर अनन्त के चरणों में समर्पित करना यही हमारी पूजा है।" डीन स्टानले कहता है कि—"जगत् में जितने धर्म मत एवं धर्मवाद हैं—उन में का विरोध हटा के, उन में के उच्च तत्वों पर दृष्टि रखना चाहिये कि जिस से अपनी उन्नति हो—यही मैं अपने जीवन का प्रधान कर्त्तव्य समझता हूं।"

अब बाह्य जगत् पर का आवरण—आच्छादन—परदा हट गया है। सब की सब से पहिचान हो गई है। सब धर्मों का रहस्य सब जान गये हैं—तो हमारा कर्त्तव्य है कि—हम अपने हृदय में विश्वव्यापी प्रेम की धारा बहा के प्राणिमात्र का प्राणिमात्र के, धर्म का एवं प्राणिमात्र के आचार, विचार, व्यवहार का—प्रेम करें, निरीक्षण करें

एवं आदर करें । चाहे, हमारे आचार, विचार, व्यवहार, क्रिया, कर्म, उपासना, ज्ञान, किसी के साथ मिलते जुलते हों, या न हों—उन को गुरु करने में या उन के गुरु होने में—हमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है । 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"—यह भगवान् श्रीकृष्ण का कहना यथार्थ है—तथापि हमें धर्मान्तर करना नहीं है किन्तु धर्म का अन्तर मिटाना है—तो,—"यथा हि चौरः स तथाहि वद्धः", "न गच्छेज्जैनमन्दिरम्", "न वदेद्यावनीं भाषाम्," "न नीचो यवनात्परः" "कलौ द्वौ राक्षसावेतौ रामानुज-महम्मदौ" आदि निषेधदर्शक वाक्य—विश्वव्यापी, उच्चतर, उदारमतवादी सनातन भारतीय धर्मग्रन्थों में एवं धर्म-वाक्यों में किसी अनुसार, संकुचित, घृणित विचार करनेवालों ने प्रक्षिप्त कर रक्खे हैं—उन को एकदम निकाल देना चाहिये । विवेकानन्द स्वामी ने कितना अच्छा कहा है—"India's doom was sealed the very day they invented the word Mleachha! and stopped from communnion with others." जिस दिन 'म्लेच्छ' शब्द की सृष्टि हुई और अन्यों के साथ व्यवहार वन्द हुआ उसी दिन भारत की अवनति की नींव पड़ी । इस में क्या सन्देह है? जिस सनातन धर्म का तत्त्व है कि—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।" एवं "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ।"—अर्थात् जैसे सूत्र में मणि पिरोये हुए रहते हैं, वैसे ही यह सब मुझ में भरा हुआ है । जो जो विभूतियुक्त सत्व है,

लक्ष्मीयुक्त तेजस्वी है एवं बलवान् है, वह वह सब मेरे तेज से समुद्भूत है—अर्थात् वह मेरी विभूति है—यह भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है । इस उदार तत्व का यही रहस्य है कि—कोई धर्म हो; कोई व्यक्ति हो, कोई पदार्थ हो—जिस में कुछ भी विशेषता, उच्चता, श्रेष्ठता, अलौकिकता है तो वह मेरी विभूति है अर्थात् वह मेरा विशेष अंश है । इसी लिये स्वामी विवेकानन्द ने अपना उदारभाव प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—"वेदान्त के अत्युच तत्व से लगा कर पौराणिक स्वरूप की मूर्तिपूजा तक के सब पन्थ, वैसे ही बुद्ध का शून्यवाद, एवं जैनों का निरीश्वर-वाद—इन सब का सनातनधर्म में अन्तर्भाव होता है । हिन्दुओं के अनेक मतामत एवं मूर्तिपूजादिकों के प्रकार—अन्धपरम्परा प्रतीत होती हो, तो भी, परिस्थिति के अनुसार बने हुए सब एकही सनातनधर्म के अनेक रूप हैं ।"—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धा तामेव विदधाम्यहम् ।" अर्थात् जो जो जिस जिस तनुशरीर, मूर्त्ति, स्वरूप में श्रद्धा रख कर उस का अर्चन—पूजन—सत्कार करना चाहता है—उस में उस उस की मैं अचल श्रद्धा उत्पन्न करता हूं । यह भगवान् श्रीकृष्ण का कहना—सार्वधार्मिकएकता का कितना उदात्त तत्व है ?

ऐसे पवित्र एवं सार्वदेशिक उदार सनातन धर्म में उपर्युक्त निषेधात्मक वाक्यों का रहना सर्वथा हानिप्रद है । इन्हीं कुत्सित, अनुदार; संकुचित विचारों द्वारा—परस्पर एक भाव, एक मत एवं एकता का नाश हो के देश भर

में अनेक धर्म, अनेक मत, अनेक पन्थ संस्थापित हो के वादविवाद प्रचलित हुआ--जिस से सर्वत्र कुभाव, वैरभाव, भिन्नभाव उत्पन्न हो कर विरोध, कलह, झगड़े कहां तक वढ़े हैं--यह किसी से छिपा नहीं है । इन धार्मिक मतामत के झगड़ों ने हमारा सर्व नाश किया है, हमारा सर्वस्व हरण किया है एवं हमारा अधःपतन किया है! इतनी विगड़ी हुई दशा में भी, आज भी, विना आवश्यकता के नये नये धर्म पंथ एवं नये नये मतों का प्रचार हो के-- उन के लिये सभा, समिति, पंचायत, व्याख्यान, लेक्चर, वादविवाद, गालीगुफ्ता, ईंट, पत्थर, कीचड़, मिट्टी, धूल का उपयोग हो रहा है! यह क्या है--क्या यही हमारे भारतवर्ष का सत्यधर्मप्रचार है? क्या यही हमारे भारतवर्ष का उदात्त धर्मतत्व है? क्या यही हमारे भारतवर्ष का समुज्वल आध्यात्मिक धर्मज्ञान है? क्या तुम नहीं जानते--सव धर्मों का मूलतत्व एक है एवं पर्यवसान भी एक है। सव ने ईश्वर को माना है, सव ने ईश्वर की उपासना की है एवं सव ने ईश्वर का गुणगान किया है। विष्णु शंकर के मन्दिर में, महावीर पार्श्वनाथ के मन्दिर में, वुद्ध माध्यामिक के मन्दिर में, आतश वहराम में, गिरजाघर में, एवं मस्जिद में जा कर दर्शन, पूजन, कीर्त्तन, ध्यान, जप आदि करें तो--क्या हम पतित अपवित्र वन के मनुष्य के मूढ़पशु वन जावेंगे, या मनुष्य के अज्ञान पत्ती वन जावेंगे, या मनुष्य के क्षुद्र कीटक वन जावेंगे? क्या सर्वव्यापी ईश्वर--पृथ्वी के या देश के या स्थल के किसी एक विशिष्ट भाग ही में है अन्यत्र कहीं नहीं?--"अयं निजः परो वेति

गणना लघुचेतसां । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।" अर्थात् वह निज, यह पर—ऐसी गणना छोटे दिलवालों की है । उदारचरित महाशयों को तो सारी पृथ्वी निज का कुटुम्ब है । यह कितनी बड़ी एकता, कितनी बड़ी राष्ट्र-कल्पना, कितनी बड़ी नेशन् nation की रचना है? आज इसी के अभाव से परदेशीयों के सामने हम कुछ चीज़ नहीं, हमारी जातीयता कुछ चीज़ नहीं एवं हमारा देश कुछ चीज़ नहीं! स्वामी रामतीर्थ अपने राष्ट्रीय-national धर्म में कहते हैं कि—"परदेश भी अपने उदाहरणों से—सब जगत् की ब्रह्मभूमि भारत को आज यही धर्म सिखा रहे हैं । जब एक जापानी युवा को—पुत्रधर्मानुसार अपनी माता की सेवा में रहना चाहिये, इस लिये सैनिक-गणमें भरती होने की आज्ञा न मिली तब उस की माताने आत्महत्या कर ली! इस प्रकार उस ने उच्च राष्ट्रीय धर्म के लिये न्यून गृहधर्म का त्याग कर दिया! अतुल प्रतापी गुरु गोविन्दसिंह ने राष्ट्रीय धर्म के लिये—व्यक्तिगत, प्रपंचगत एवं समाजगत धर्मों का त्याग किया । इस की साम्यता पानेवाले, आज कौन से शूर कर्म हैं? सब को शक्ति की इच्छा है । जब तुम्हारा व्यक्तित्व सब राष्ट्र के व्यक्तित्व में एकरूप हो जायगा तब ऐसी कौनसी प्रचण्ड शक्ति है कि जो तुम्हारे हस्तगत न हो! अन्त में मुहम्मद पैग़म्बर के शब्दों से मुझे इस शक्ति का उदाहरण देने दो—'सूर्य, यदि मेरे सीधे हाथ पर और चन्द्र यदि मेरे बांये हाथ पर आ बैठे और वे दोनों भी मुझे पिछे फिरने के लिये कहें तो—मैं कभी न मानूंगा ।" महात्मा क्राइस्ट ने

अपने शिष्यों से कहा है कि–"Think not that I am come to destroy the law, or the prophets: I am not come to destroy but to fulfil." "अर्थात् वह विचार नहीं करना कि–मैं नियमों का या धर्मस्थापकों का विध्वंस करने के लिये आया हूं। मैं विध्वंस करने के लिये नहीं आया हूं बल्कि उन को पूर्ण करने के लिये आया हूं।" कितना गंभीर, उदात्त एवं श्रेष्ठ विचार है? आज इसी के द्वारा पाश्चिमात्य सर्वत्र विजयी हैं। हमारे यहां तो, हमारे ऋषिमुनियों ने, गुरु महात्माओं ने एवं साधुसंतों ने इस–"वसुधैव कुटुम्बता" का जहां तहां परिचय दिया है, उपदेश दिया है एवं पाठ दिया है–यहां तक कि–"तुम सब के हो–सब तुम्हारे हैं, तुम जगत् के हो–जगत् तुम्हारा है, तुम पृथ्वी के हो–पृथ्वी तुम्हारी है, तुम मनुष्यों के हो–मनुष्य तुम्हारे हैं, तुम प्राणिमात्र के हो–प्राणिमात्र तुम्हारे हैं।" फिर क्या कारण है–जो संसार में एक के एक शत्रु मित्र हैं एवं एक के एक संहारक रक्षक हैं?

मेरे परम प्रिय भारतीय प्रेमियो! मैं विनीत भाव से–विश्वव्यापी विश्वधर्म के लिये दृढ़ आशा एवं उत्साह के साथ कहता हूं कि–प्यारे! तुम अपने कालवश, अज्ञानवश, दुर्भाग्यवश–अन्य धर्मों की घृणा करते हो, या उन को तुम अपने धर्म से नीचा समझते हो, या तुम उन को दूषित दृष्टि से देखते हो, या तुम मत्सरभाव से उन का निरादर करते हो–और कुभाव से उन पर आक्रमण करते हो, या बिगड़ कर उन का द्वेष करते हो या विरोध कर उन की निन्दा करते हो एवं कदाचित् शुद्धभाव से सत्यान्वेषण के लिये भी खण्डनमण्डन

करते हो—तो मित्रो! यह तुम्हारी घृणा, नीचत्व, दोषदृष्टि; मत्सर, निन्दा, आक्रमण, खण्डन मण्डन—अन्यधर्म या अन्यों के लिये नहीं—उन के प्रचारक ईश्वर के लिये हैं एवं तुम उसी ईश्वर के अंश हो इस लिये, यह सब; बुराई भलाई तुम्हारे ही लिये है—और यही कारण है जो तुम आज इस दशा को पहुंच रहे हो! प्यारे सज्जनों, तुम्हें चाहिये कि—तुम जिस धर्म के हो, जिस मत के हो, जिस फिरक़े के हो—उस को नीचे रख कर तुम जिस धर्म, मत एवं फिरक़े के विरोधी हो—उस को सब के ऊपर रख कर, उस का प्रेमपूर्वक आदर करो, निरीक्षण करो, एवं उस का पाठ करो। धर्म किसी का बनाया बनता नहीं, धर्म किसी का किया होता नहीं एवं धर्म किसी का चलाया चलता नहीं। समय समय, देश, काल, पात्र की आवश्यकता के अनुसार—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।" जब जब अधर्म का प्रचार हो के धर्म की ग्लानि—हानि होती है तब तब फिर धर्म का प्रचार करने के लिये धर्मप्रचारक सद्गुरुओं का आगमन हो के—धर्म का पुनरुज्जीवन, रूपान्तर या नवीन प्रचार होता है—तो, तुम्हें क्या अधिकार है, क्या मजाज़ है, क्या हक़ है—जो तुम कुभाव से, द्वेषभाव से, एवं मत्सरभाव से अन्य धर्मों पर घृणा, निरादर, आक्रमण कर के, विरोध को बढ़ा कर अपने धर्म का महत्व, व्यापकत्व एवं श्रेष्ठत्व स्थापित कर रहे हो और उस से अपना, अपने धर्म का, अपने कुल का, अपनी जाति का, एवं अपने देश का संहार कर रहे हो!!

देश, काल, पात्र के अनुसार—चाहे जिसका चाहे जो धर्म हो, चाहे जिस धर्मके चाहे जो आचारविचार हों और चाहे जिस धर्मके चाहे जो बुरेभले प्रचार हों—जिस उसके लिये वे प्रिय, उद्धारक, कल्याणप्रद, श्रेयस्कर, सहायक एवं ईश्वरप्रापक हैं—"हमारा, हमारा" कह कर तुम्हारे बड़े जोर से चिल्लाने से क्या होता है? तुम्हारे बड़े जोर से पुकारने से या चिल्लाने से या रोने से कभी अन्य धर्म तुमसे नीचे नहीं हो सकते और न तुम कभी किसी से ऊंचे हो सकते हो! फिर क्यों तुम "हमारा हमारा, अपना अपना" कर रहे हो, कह रहे हो और सुना रहे हो? सभासमिति करके वादविवाद कर रहे हो, शास्त्रार्थ कर रहे हो, धूमधाम कर रहे हो और मुक़द्दमेबाजी कर रहे हो? क्या ऐसा करने से तुम अपने धर्म की, भलाई, बड़ाई, बेहतरी समझते हो, क्या ऐसा करने से तुम अपने धर्म की उन्नति, विजय, कीर्ति मानते हो और क्या ऐसा करने से तुम अपने धर्म की विश्वव्यापकता, उदारता, महत्ता जानते हो। भाइयो! क्यों अपने शरीरका, चित्तका, वित्तका अपव्यय कर रहे हो, क्यों अपने धर्म का, मतका, सत्यका विनाश कर रहे हो, और क्यों अपने काल का, चरित्र का, मनुष्यत्व का प्रलय कर रहे हो? ऐसा करने से तुम कभी किसी के मित्र, सहायक एवं प्रिय नहीं हो सकते और कभी कोई तुम्हारा मित्र, सहायक एवं प्रिय नहीं हो सकता—फिर क्या कारण है जो तुम जहां तहां धर्म के झगड़े मचा रहे हो, वादविवाद शास्त्रार्थ कर रहे हो एवं अपने मुंह—मिय्या मिट्ठू बन रहे हो?

अपने देश की ओर लक्ष्य करो, अपने पूर्वजों की ओर देखो, अपने कुल का विचार करो, अपना लक्ष्य, अपना ध्यान, अपना साध्य—अन्तिम जान कर उसमें बहुत दृढ़तासे, बहुत तत्परता से, बहुत उच्चतासे—प्रवेश करो, तन्मय बनो, तदाकार हो जावो—जर्मन पण्डित गुटे का कहना है कि—"Higher aims are in themselves more valuable, even if unfulfilled, than lower ones quite attained" उच्चतर लक्ष्य कदाचित् अप्राप्त भी हों तो भी वे स्वयं, प्राप्त होनेवाले नीचतर लक्ष्यों से अधिक मूल्यवान् हैं।

जिस दिन हम, सनातनधर्मी के हाथमें—आर्यसमाज, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, जरथोस्त आदि की धर्म पुस्तकें देखेंगे; जिस दिन हम, जैनधर्मी के हाथमें—सनातन, आर्यसमाज, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि की धर्मपुस्तकें देखेंगे; जिस दिन हम, बौद्धधर्मी के हाथमें—सनातन, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि की धर्मपुस्तकें देखेंगे; जिस दिन हम, ईसाईधर्मी के हाथमें—सनातन, बौद्ध, जैन, इस्लाम आदि की धर्मपुस्तकें देखेंगे; और जिस दिन हम, इस्लामधर्मी के हाथमें—ईसाई, सनातन, जैन, बौद्ध आदि की धर्मपुस्तकें देखेंगे;—सब धर्मपर—सबका समान सद्भाव, पूज्यभाव, भक्तिभाव देखेंगे और जहां तहां सब धर्मों की एकवाक्यता देखेंगे—उसी दिन, उसी घडी, उसी क्षण हम भारत का कल्याण, भारत का गौरव, भारत का सुधार, भारत का उद्धार देखेंगे। मेरे प्रिय भारतनिवासियो! अब वसुधाकुटुम्बी, अब विश्वप्रेमी, अब विश्वधर्मी बनने

में कुछ भी विलम्ब न करो, कुछ भी देर न करो एवं कुछ भी पशोपेश न करो ।

पूर्वकाल में, ऐसे वसुधाकुटुम्बी, राष्ट्रसम्पादक, महात्मा सद्गुरु जहां तहां—सब कहीं उपलब्ध हो जाते थे—इतना ही नहीं, वे स्वयं छात्रों को ढूंढ ढूंढ कर गुरुत्व सिखला कर गुरु बनाते थे। वे सर्व शास्त्रपारंगत, आत्मज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ, विचारलीन, जीवन्मुक्त महात्मा होते थे। क्रियारूप, ज्ञानरूप एवं सत्वरूप सब सिद्धियां उनकी किंकरी होती थीं। लोकसेवा, धर्मसेवा, एवं ईश्वरसेवा ही—वे अपना परम कर्तव्य समझते थे। उनका ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम—दृढ़, पवित्र, सत्य एवं ब्रह्मरूप था। उनकी मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—अनुकरणीय, अनुसरणीय, प्रशंसनीय, अपेक्षणीय थीं। उनके आचार, विचार, व्यवहार संस्मरणीय थे एवं उनके कर्म, उपासना, ज्ञान अतुलनीय थे। दलीप, रघु, रामचन्द्र, कृष्ण, नल, युधिष्ठिर, अर्जुन, परिक्षित् आदि के गुरु—वासिष्ठ, विश्वामित्र, धौम्य, संदीपन, द्रोण, व्यास, शुक्र आदि महात्मा कितने तत्वज्ञानी, समाजसंस्कारक एवं व्यहारचतुर थे? वे उनके सिद्धारण्य, नैमिषारण्य, काम्यवन, तपोवन एवं उनके आश्रम, विहार, कुटिर कितने पवित्र, स्वच्छ एवं रमणीय थे? उनका विद्याज्ञान, समाजसेवा, एवं परोपकार कितना अच्छा था? जिस कालमें अमेरिका का पता नहीं था, आफ़रीका का ठिकाना नहीं था, यूरूप वस्त्र पहनना और धातुका व्यवहार करना नहीं जानता था एवं एशिया का

बहुतसा भाग अज्ञानदशा में था—उस कालमें भारत का ज्ञानसूर्य आकाश के मध्य में पूर्ण प्रकाशित हो रहा था। जिस के प्रकाश द्वारा ही उनकी जीवनयात्रा सुखमय होती थी। किन्तु—"सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः।" उस कालही के प्रभावसे अब वे सब वातें केवल स्मृतिपथमें रह गईं—इस लिये उसकाल को प्रणाम है! इस भर्तृहरि के कहने में क्या असत्य है? आज हमें उन देशों के विद्वानों के सामने सिर झुकाना पड़ता है, धनिकोंका मुंह ताकना पड़ता है एवं उनका वैभव देख कर चकित होना पडता है! हमारी ही विद्या, हमारा ही वैभव, हमारी ही सत्ता लेकर आज वे हमसे बहुत बढ़कर विद्वान्, श्रीमान्, राजाधिराज बन बैठे हैं। ऐसे होने का कारण उसी काल के परिवर्त्तन का प्रभाव है कि—जिस से हमारे परमपूज्य, पूज्यपाद, सद्गुरु, आचार्य, पुरोहित, ऋषि, मुनि, महात्मा अन्तर्हित हैं एवं आज उनका वंश भी नाम-शेष है!

भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार—"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये" हजारों मनुष्यों में से कोई एकाध अध्यात्मविद्या की खोज करता है अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करता है। सौभाग्यवश यदि कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहे तो "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने!"—जीवन्मुक्त सिद्ध महात्माओं में नारायणपरायण प्रशान्तात्मा करोडों में भी दुर्लभ है—श्रीमद्भागवत में भगवान् व्यासका ऐसा कहना है एवं इस समय तो, उक्त प्रकार के सद्गुरु प्राप्त

होना बहुधा असंभव है। तथापि बहुत खोजने और ढूंढने पर यदि कोई महात्मा मिल भी जाय तो—प्रथम तो वह इस विद्या का पता ही नहीं देता। कदाचित् भक्तिपूर्वक सेवा चाकरी करने पर प्रसन्न हो जाय तो भी—पूरा सिखाता नहीं—इसका अनुभव जो चाहे सो ले सकता है। न जाने कालके परिवर्त्तन से, न जाने प्रारब्ध के परिवर्त्तनसे, न जाने ईश्वरेच्छा के परिवर्त्तनसे—रहे सहे, बचे खुचे कोई साधु महात्मा सत्पुरुष—अध्यात्म, गुप्त, तर्क, तंत्र, मंत्र, जादू, औषधि, जड़ी, बूंटी आदि की सिद्धक्रिया, विधि-विधान प्रयोग का फलप्रद अनुभव, एकान्त परिचय—प्रिय पुत्र, सच्छिष्य सज्जन को भी न कराते हुए, न बताते हुए एवं न सिखाते हुए—ऐसी विद्या प्रकाशित करने से उस में की सिद्धि नष्ट हो जाती है वह फलहीन हो जाती है—ऐसी भावना दृढ़ कर के, उसको गुप्त रखकर ही उस के साथ साथ ही लोकान्तर में गुप्त हो जाते हैं—जिस से हमारी पवित्र अध्यात्मविद्या, अद्भुत विचार-शक्ति, मंत्रतंत्रऔषधिसिद्धि इस वक्त नामशेष हो रही हैं—अर्थात् इस समय सद्गुरु का प्राप्त होना ही अत्यन्त कठिन है। पूर्वपुण्य के उदय से एवं परम सौभाग्यसे कदाचित् सद्गुरु की प्राप्ति भी हो जाय तो—उस से परापरा-विद्या का लाभ होना महाकठिन है।

किन्तु परम पिता, करुणानिधान, चराचरव्यापक, सर्वज्ञ भगवान्—अत्यन्त उदार, अत्यन्त करुण, अत्यन्त प्रेमल, अत्यन्त समर्थ, अत्यन्त परम सत्य, सद्रूप सर्वोत्तम पुरुषोत्तम हैं—कि जिसने हमें इस वक्त भावपूर्ण, विचार

पूर्ण, उपदेशपूर्ण—गुरु, गुरुत्व, गुरुत्व की चरम सीमा-रूप—वेदवेदान्त, विद्याविज्ञान, शास्त्रदर्शन, स्मृतिपुराण, कथा, कला, कुशलता, काव्य, नाटक, उपन्यास, गल्प आदि अनेकानेक आरंभिक, माध्यमिक, आन्तिक कक्षाओं के विविध विषयों की प्राचीन अर्वाचीन सुन्दर सुन्दर, रुचिर रुचिर, मधुर मधुर, पुस्तकें प्रदान कर के, इतनी दया, इतनी ममता, इतना प्रेम, इतना उपकार किया है कि—जिस की सीमा, जिस की अवधि, जिस की समानता कहीं नहीं है। गुरुजनों के अभाव के समान यदि आज, गुरुजनसम्पादित, गुरुजनग्रथित, गुरुजनरूप अद्वितीय ग्रन्थों का अभाव हो जाता तो—न जाने, हमारा, हमारे देश का, हमारे धर्मका, हमारे कुल का क्या परिणाम होता एवं हम क्या करते और कहां जाते? हमारा कहीं पता भी रहता या नहीं?

पुस्तकों का ग्रहण—तत्वज्ञानग्रहण है, पुस्तकों का स्मरण—पुण्यस्मरण है, पुस्तकों का दर्शन—देवदर्शन है, पुस्तकों का पठन—महावाक्यपठन है, पुस्तकों का चिन्तन—सद्विचारचिन्तन है, पुस्तकों का मनन—अध्यात्ममनन है, पुस्तकों का अध्ययन—परापराविद्याध्ययन है, पुस्तकों का परिशीलन—कर्त्तव्याकर्त्तव्यपरिशीलन है, पुस्तकों का निरीक्षण—ईश्वरनिरीक्षण है एवं पुस्तकों का ग्रथन—जगद्ग्रथन है। ग्रन्थ हमारे मित्र, ग्रन्थ हमारे सहायक, ग्रन्थ हमारे सहाध्यायी, ग्रन्थ हमारे गुरु, ग्रन्थ हमारे आचार्य, ग्रन्थ हमारे नेता, ग्रन्थ हमारे सत्पथदर्शक—ऋषि-मुनि महात्मा हैं। ऐसा होते हुए भी—अत्यन्त खेद एवं

दुर्भाग्य का विषय है कि—हमारे प्रिय बन्धुओं में से कितनो-ही ने, पुरुपार्थ का त्याग करके पुस्तकों का संग्रह करना तो दूर, उन की तरफ़ खाली लक्ष्य देना भी छोड़ दिया है। उन की तरफ़ आंख उठाकर देखना भी ठीक नहीं समझते और साहस के साथ वादविवाद करके कहते हैं कि—"पुस्तकों में क्या रक्खा है ? पुस्तकोंने उलटा हमें जंजाल में डाल दिया है ! पुस्तकों के पढ़ने से लाभ के वदले हानि होती है और समय व्यर्थ जाता है !"

यदा कदाचित् कोई जिज्ञासु हो भी तो—वह यह चाहता है कि—विना किसी अभ्यास के, विना किसी उपदेश के, विना किसी पुस्तक के, विना किसी गुरुसेवा के, विना किसी परिश्रम के, विना किसी गुरुमंत्र के एवं विना किसी विचार के—हम एकदम महात्मा वन जांय, या कोई महात्मा दर्शनमात्रही से हमें महात्मा वना दे—किन्तु ऐसा होना सर्वथा असंभव हैं। इसीका नाम—शिथिलता, अज्ञानता एवं अकर्मण्यता है और वहुधा यही कारण है कि इसवक्त सच्चे महात्माओं का प्राप्त होना अतिदुर्लभ है।

यद्यपि वावन लाख की गिनती है तो भी सच्चे ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त महात्मा सद्गुरु का अभाव है—इस में कोई शंका नहीं किन्तु भगवान् शंकराचार्य के कथनानुसार उनका अत्यन्ताभाव नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण **रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद एवं रामतीर्थ** हैं। पूर्ण आत्मज्ञ महात्मा अमर होते हैं, वे गुप्तरूपसे पृथ्वी में संचार करते हैं एवं धर्म की रक्षा करना, धर्म की दीक्षा देना, धर्म की शिक्षा देना ही—उनका प्रधान कार्य है। जिज्ञासा, सामर्थ्य, श्रद्धा,

अनन्य भक्ति प्राप्त होनेपर, साधक को सद्गुरु प्राप्त होने में देर नहीं लगती। वे स्वयं प्रकट होकर उपदेशप्रदान करते हैं। किन्तु इस जमाने में जब वैसे आर्त, जिज्ञासु, अनन्य-शिष्य ही नहीं हैं तो फिर, गुरु प्रकट होकर भी क्या करें? अज्ञानता के कारण दृष्टिका संकोच होने से ऐसे महात्माओं के दर्शन नहीं होते एवं दर्शन होने पर अयोग्यता के कारण उनसे लाभ नहीं हो सकता एवं लाभ न होने से उनमें तिरस्कारबुद्धि उत्पन्न होती है—अनधिकारियों में प्रकट न होना—यह उनका स्वभाव है। इस वक्त जहां तहां कर्त्तव्यविमुखता, पापाचरण, अश्रद्धा होने से अपवित्रता छा रही है—इस लिये पवित्र महात्माओं का जनसमूह में रहना उनके लिये अच्छा नहीं है। तथापि, पवित्र, एकान्त, गुप्तस्थान में रह कर वहीं से वे संसार का विशेष उपकार करते हैं एवं आवश्यकता मालूम होनेपर समय समय में प्रकट होकर शिष्यों पर अनुग्रह करते हैं। वे कभी—"वसुधैव कुटुम्बकम्" इस सत्यसंकल्प को भूलते नहीं एवं राष्ट्रीयधर्म का त्याग करते नहीं।

पूर्वकाल के समान भारत की अत्युत्कट जिज्ञासा बढ़ के प्रबल इच्छा होने पर अवश्यमेव अनेक **विवेकानन्द, रामतीर्थ क्या—कृष्ण, बुद्ध, महावीर ज़रथोस्त, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, नानक, कबीर** आदि महात्मा प्रकट होकर भारत का उद्धार करेंगे—इस में शंकाही क्या है? आज कल ज्ञानयुग है। किसी न किसी माहात्मा का उदय होता ही है। उदय होने पर फिर क्या देर है—बात की बात में सहस्रों जिज्ञासु बन कर सामर्थ्य की

धारा वह निकलेगी, श्रद्धा का पूर्ण उदय हो के सद्गुरु का पूर्ण रूप दिखाई देने लग जायगा एवं फिर वही—पूर्वकालीन अध्यात्मविद्या की नवीन सुन्दर थिरकती हुई विजय-पताका फहराने लग जायगी। इस का इस वक्त प्रत्यक्ष प्रमाण अमेरिका है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थादिकों के वहां जाकर अध्यात्मविद्या एवं ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते ही उसी वक्त सहस्रों जिज्ञासु तत्पर होकर अध्यात्म-विद्याध्ययन के लिये प्रस्तुत हो गये एवं उनके पूर्ण अनुयायी बनकर उनके शिष्य हो गये।

विवेकानन्दादि महात्माओं की भारतीय भारती की वर्षा होने पर अमेरिका जैसी विद्युत्पूर्ण बीजप्ररोहजननी सुन्दर भूमि में अध्यात्मबीज के अंकुरित होने में क्या देर लगती थी? सहस्रों नरनारियों की आंखों में अध्यात्म-विद्युत्कणों का प्रकाश फैलकर उनको अपूर्व सुन्दर दृश्य दिखाई देने लगे, उन के भौतिक अन्वेषण एवं आविष्कारों पर भावपूर्ण सुन्दर चित्र खिंचा और उन के इतस्ततः संचार करनेवाले गंभीर विचारों का प्रवाह पूर्व की तरफ़ झुका। इन महात्माओं के पीछे लौट आने पर, वहां अध्यात्मविद्या के कई आश्रम खुले। प्रथम न्यूयार्क के नं० १३५ वेस्ट एटटीएथ स्ट्रीट में 'वेदान्तसोसायटी' महात्मा श्रीविवेकानन्द के हाथ से खुली थी। इस के अनन्तर सन १८९६ में, ग्रीनएकर में अध्यात्मविद्या की पाठशाला स्थापित हुई। उस में इस वक्त कई लोग अभ्यास कर रहे हैं। पहिले तो इस विद्या का प्रचार बड़े बड़े शहरों-ही में था किन्तु अब गांवड़ोंतक में इस का प्रचार हो रहा

है । इस संस्था के लिये मिस् सारा फ़ारमर नामक स्त्रीने लाखों रुपये की सम्पत्ति प्रदान की है । पर्ड्यू युनिवरसिटी के प्रोफ़ेसर की स्त्री—संसार का त्याग कर के संन्यासिनी बनकर इस में भरती हुई है । वेदान्तसोसाइटी की व्यवस्था विवेकानन्द के शिष्य स्वामी अभेदानन्द कर रहे हैं । इस वक़्, इस सोसाइटी की शाखाँय कई जगह खुल चुकी हैं । इस में विशेष रूपसे ॐ का पूजन, ध्यान, उपासना होती है। एवं विष्णु, शिव, काली, राम, कृष्ण, बुद्ध, अल्लाह की भी उपासना होती है। स्वामी अभेदानन्द के आश्रम में स्त्रियां भोजन बनाती हैं, गाय का दूध निकालती हैं। स्वामीजी के कपड़े धोती हैं एवं सब आश्रम का काम करती हैं। आश्रम की सब व्यवस्था एक बड़ी श्रीमती रूपवती तरुण स्त्री करती है। वह स्वयं स्वामीजी के लिये बगीचेमें से साग भाजी फूलफल लाती है एवं कुएमें से पानी भरती है । इस प्रकार जहां तहां अध्यात्म-विद्या में लोगों की श्रद्धा बढ़कर उस का बहुत ज़ोर के साथ अभ्यास हो रहा है ।

अब वहां देवीदेवताओं के बड़े बड़े भव्य सुन्दर मन्दिर बनकर मूर्ति यां स्थापित हो के उत्साह के साथ उन का पूजन होती है। सान्फ़ान्सिस्को में शिवालय बना, लास एंजिलिस में कृष्ण का मन्दिर बना, सियाटल में बुद्ध का मन्दिर बना, अब वेस्ट कार्नवाल में एक बड़ा भारी मन्दिर बन रहा है । मन्दिरों को लाल रंग लगा कर प्रवेशद्वार के ऊपर ॐ निकाला जाता है । इलिनाइस, शिकागो और लावेल में ज़रथोस्त के मन्दिर बने हैं।

मांट्रील में ऐसा ही एक नया मन्दिर वन रहा है । शिकागो में एक मसजिद भी वनी है । अमेरिकन लोगों की मूर्ति-पूजा में विशेष भक्ति हो के दिनों दिन अध्यात्मविद्या में विशेष रुचि हो रही है । सब में स्त्रियों की विशेष भक्ति है—यह स्त्रीजाति का नैसर्गिक सुन्दर भाव सर्वत्र समान हैं—वे महात्माओं को पूज्यभाव से देख कर उन की प्रेम एवं भक्ति से सेवा करती हैं । अब वहां के वेप्टिस्ट, प्रेस्बिटेरियन्, मेथोडिस्ट, एपिस्कोपेलियन, रोमन् केथेलिक्, ज्यू आदि पन्थ के लोग वाइवल की अपेक्षा भगवद्गीता, अवस्था का पढना अधिक पसन्द करते हैं एवं चाव के साथ भक्ति भाव से उन का अभ्यास कर रहे हैं । योगविद्या में अत्यन्त श्रद्धा रख कर कितने ही स्त्रीपुरुष योगाभ्यासी हो के सिद्धियां प्राप्त कर रहे हैं, अनेक चमत्कारों का अनुभव ले रहे हैं एवं नये नये लोकोत्तर आविष्कार कर रहे हैं । इन सव पर कमाल है कि—वहीं से बैठे बैठे हमारी ही विद्या हमें सिखाने के लिये प्रत्येक पाठ का पंधरह पंधरह रुपये लेते हैं—जिस को हमारे यहां के सामान्य पढ़े लिखे भी पहिलेही से जानते हैं—देख कर चकित होना पड़ता है एवं हमारी अज्ञानता पर हमें शोक करना होता है ! !

अमेरिकन लोगों की प्रबल इच्छा Strong will—जिज्ञासा का यह अपूर्व मूर्त्तफल है कि—भारतीय योगी वहां पहुंच कर अध्यात्मविद्या की उन्नति कर रहे हैं । अब सर्वत्र उन्हीं का अनुसरण हो रहा है । ॐ एवं सूर्य की उपासना हज़ारों स्त्रीपुरुष कर रहे हैं । अनेक डाक्टर,

सर्जन, फ़िज़िशन, केमिस्ट–सिद्धहस्त, कार्यकुशल, परम प्रवीण होने पर भी उन की तरफ़ लोगों का दुर्लक्ष्य होके वे अध्यात्मविद्या द्वारा अपने रोगों की चिकित्सा करा के सदा के लिये रोगमुक्त हो रहे हैं। अभेदानन्द एवं सानफ़्रान्सिस्को में त्रिगुणातीत स्वामी के सिवा अन्य भारतीय योगी उपस्थित न होने पर भी अब वहां के लोग ख़ूब ज़ोर के साथ अध्यात्मविद्या को बढ़ा रहे हैं।

आजकल मिसेस् एडी बेकर की क्रिश्चन साइन्स सोसाइटी बहुत ही उन्नति पर है। उस के दस लाखसे भी अधिक अनुयायी हैं। उस में अध्यात्मशक्ति द्वारा रोगों की चिकित्सा होती है। उस के पांच हज़ार सदस्य चालीस लाख तक रोगीयों की चिकित्सा बडी सफलता के साथ करते हैं। बडे बडे डाक्टर सर्जनों के असाध्य कह देने पर हताश, मरणोन्मुख रोगियों की अध्यात्मशक्ति द्वारा चिकित्सा कर के इस सोसाइटी के सदस्यों ने उनको बचाया है। बडे बडे कर्मचारी, डाक्टर, सर्जन–इस सोसाइटी के प्रबल विरुद्ध होने पर भी दिनों दिन इस की अधिकाधिक उन्नति हो रही है। इस के मेम्बरों ने अनेक मन्दिर बना के अध्यात्मविद्या की पाठशालायें खोली हैं। इस सोसाइटी के मुख्य नेता–आर्किबोल्ड मेक्क्लेलन्–एवं मिसेस् ओगस्टा स्टेट्सन् हैं। मिसेस् ओगस्टा स्टेट्सन् इस सोसाइटी में सम्मिलित हुई, तब उसके पास पूरे पहिनने के कपडे तक न थे। उसने थोडे ही समय में अध्यात्मविद्या द्वारा लाखों रुपयों की सम्पत्ति प्राप्त कर ली। डाक्टर सर्जनों से निराश होकर आये

हुए आसन्नमरण रोगियों को उसने अच्छा किया। एक रोगी की चिकित्सा करके उसने छः लाख पच्चीस हज़ार रुपये प्राप्त किये ! दूसरे एक रोगी को बचा कर तीन लाख रुपये कमाये। इस प्रकार लाखों रुपये इकट्ठे करके, लगभग एक करोड रुपये के खर्च से एक बडा भारी, भव्य सुन्दर शुभ्र मर्मरोपल का दिव्य मन्दिर बना के उस की वह अधिष्ठात्री बनी है। अब ऐसी विरक्त स्त्रियां— सिस्टर, गाड मदर, नन्स् कहलाती हैं, जिन्हों ने लाखों की सम्पत्ति का उत्सर्ग कर दिया है एवं अब वे सेवाधर्म स्वीकार कर योगिनी बन बैठी हैं। भारतीय योगविद्या का आदर करती हैं एवं नित्य उस का पाठ लेती हैं।

भारतीय योगशास्त्र के आधार पर वहां कई अपूर्व पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं एवं प्रकाशित हो रही हैं। इस विद्या के अनेक मासिक साप्ताहिक पत्र प्रचलित हैं। वहां के लोग पहिले ही—यत्परोनास्ति साहित्यसेवी हैं— ऐसी पुस्तकों की मुंहमांगी क़ीमत देकर, खूब श्रद्धा से उन को पढ़ते हैं एवं जन्म का सार्थक्य मानकर कृतार्थ होते हैं। पुस्तकों ही को वे अपना गुरु समझते हैं, पथदर्शक समझते हैं एवं अभ्यासपरम्परा समझते हैं।

पाश्चात्य देशों में वायु, जल, स्थल आदि की अनुकूलता न होने पर भी एवं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि सम्पादन करने की सुविधान होने पर भी— उन की उत्कट जिज्ञासा का ज़ोरदार अंकुर—श्रद्धा उत्पन्न होके विवेकानन्द, रामतीर्थ, अभेदानन्द आदि गुरुजनों के कृपारूप पुष्प का उद्गम होनेही से उन को सत्यज्ञान

अध्यात्मविद्यारूप फल की प्राप्ती हुई है। यदि हम अपनी इस अगाढ़ गुप्तविद्या की प्राप्ति के लिये प्रवल उत्तेजित होकर फिर अपने गुप्त महात्मा गुरुओं को प्रत्यक्ष करने के लिये प्राण पण से यत्न करें तो—हम प्रतिज्ञा के साथ, सत्यदिव्य के साथ एवं सत्यधर्म की शपथ के साथ कहते हैं कि, अवश्यमेव—सत्य सत्य त्रिकालावाधित सत्य—पृथ्वी भर के लोगों से अत्यन्त श्रेष्ठ, अत्यन्त उच्च एवं अत्यन्त समुज्ज्वल वन सकते हैं। क्या तुम यह जानते नहीं कि—अमेरिकन, यूरोपियन, जापानीज़ आदि लोगोंने हमारी ही विद्या द्वारा जगत में महत्व, श्रेष्ठत्व, श्रीमत्त्व आदि प्राप्त किये हैं—इस का परिचय कराने के लिये—वे वडी कृतज्ञता के साथ—जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ है—उस के लिये उन्हों ने, हमारा, हमारे देशका एवं हमारी विद्या का मुक्तकंठ अभिनन्दन किया है तो—मित्रो, अव भी तुम्हें संशय है ही, कि, हम अपनी विद्या से, हमारे पूर्वजों के समान कृतकार्य नहीं हो सकते, उन के समान दीर्घायु नहीं हो सकते, उन के समान सम्पन्न नहीं हो सकते, उन के समान महात्मा नहीं हो सकते एवं उन के समान अलौकिक नहीं हो सकते?

जिज्ञासु गुरुभक्त सद्गुरु की प्राप्ति के लिये जितनी प्रवल इच्छा Strong will रखते हैं—उन से वढ़कर सद्गुरु, शिष्यप्राप्ति की प्रवल इच्छा रखते हैं। किन्तु उस ओर चलने की कुछ भी प्रवृत्ति न होगी तो, वे भी आसन से उठकर क्यों आगे वढ़ने की प्रवृत्ति करते हैं? अर्थात् वे कैसे प्राप्त हो सकते हैं? यदि गुरुभक्त गुरु की ओर एक

पग बढाता है तो गुरु उस की ओर दो पग बढ़ाते हैं। प्रत्येक मनुष्य को एक इष्टदेव एवं एक सद्गुरु होता है—उन को प्रत्यक्ष करना, अनन्यगतिक, शुद्ध हृदय, सदुपासक भक्त के हाथ है। इष्टदेव एवं सद्गुरु नित्य चाहते हैं कि—कोई भी अनन्यभक्ति से हमारी उपासना कर के हम को प्राप्त करे। जब साधक शिष्यत्व की योग्यता को पहुंच जाता है तब उस के पास आने के लिये सद्गुरु किंचित भी विलम्ब नहीं करते एवं अनुग्रह करने में तनिक भी देर नहीं लगाते। चुंवक और लोह का सीधा होना—सरल होना—सामना होना ही अर्थात् सन्मुख होना ही—आकर्षणशक्ति को प्रवाहित करके एवं अन्योन्यगति उत्पन्न करके चुंवक लोह को खैंच लेता है—वही प्रकार गुरुजनों का है। उन के अभिमुख होते ही वे हम को खैंच लेते हैं—इस में कुछ भी संशय नहीं है। किन्तु खेद है कि—हम सचमुच लोह नहीं, लोह का जंग बन कर असत्कार्य, असदाचरण, अधर्म, असद्विचार, अविद्या आदि मिट्टी के ढेरों में सम्मिलित होकर हमने अपना लोहत्व—आत्मत्व नष्ट कर दिया है तो—फिर, चुम्बक क्या मिट्टि को आकर्षित कर सकता है?

हमने उपास्य देवता और सद्गुरु का नाम सुना है, उन को जाना है एवं उन की उपासना भी की है। देवता सद्गुरु हमारे हैं हम उन के हैं। सिवाय इष्ट—देवके तथा गुरु के हमारा कोई कार्य सम्पादन नहीं होता। बैठते, उठते, सोते, हिरते, फिरते पद पद पर उन का स्मरण होता है, पद पद पर उन का कारण होता है एवं पद पद पर उन का

अभिवादन होता है। क्या किया जाय-दुःख की बात है-कि हमने अपने हाथों से अहंकार, स्वार्थ, आलस्य, अज्ञान, वासना, मलिनतारूप बड़े बड़े ताले लगा कर हृदय के कपाट बन्द कर रक्खे हैं-तो भी, सद्गुरु हमें ज्ञान, विज्ञान, विद्या का बोध करने, उपदेश देने, एवं अनुग्रह करने के लिये वहीं खड़े हुए हैं-ऐसा हमें आन्तरभान होने पर भी, हम उक्त तालों को तोड़ कर हृदयद्वार के कपाट खोलते नहीं एवं स्वयं हृदय में प्रवेश कर के उन का दर्शन लेके अनुग्रहीत होते नहीं। हृदय का द्वार खोलना क्या है-अभिमान, स्वार्थ, आलस्य, अज्ञान, मलिनता, दुराचार को हटाना है। आर्त्त बन कर अनन्यभक्तिसे मनोनिग्रह कर के विचारशक्ति द्वारा गुरु को जानना चाहिये, सर्वत्र समुदाय में गुरु को पहिचानना चाहिये एवं अपनेही में गुरु के दर्शन करना चाहिये। एकनिष्ठा, एकान्तभक्ति, अनन्यभाव से निजरूप में ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है। वन वन, पर्वत पर्वत, नदी नदी, जन निर्जन, देशदेशान्तर, आकाशपाताल खोजने से कहीं कभी सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती। इन्द्रियों के विषय, चित्त की चंचलता, वासना, कुविचार, दुराचरण, अश्रद्धा का त्याग करने पर जिज्ञासा, सामर्थ्य, श्रद्धा का पूर्ण उदय होने पर, उन के प्रकाश में-अपने ही में गुरु की प्राप्ति होती है।

गुरुजनों का अटल नियम है कि-जैसे "हमने लोक-सेवा, धर्मसेवा एवं ईश्वरसेवा के लिये सब ऐहिक विषयों का त्याग कर के सद्विचारों का सेवन किया है-

जिससे हम सद्गुरु को प्राप्त करके कृतकार्य हुए हैं, वैसे ही हमारे समान कोई अधिकारी हम को प्राप्त कर सकता है।" अतएव जबतक ऐसे सद्गुरु की हमें प्राप्ति न हो, तब तक हम को उन के शिष्य होने की योग्यता सम्पादन करते रहना चाहिये एवं अनन्यभक्तियुक्त करके चित्त को उन के अदृश्य चरणकमलों पर भ्रमर के समान लगाना चाहिये। अनधिकारी को कभी सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती, एवं अधिकारी को सद्गुरु की प्राप्ति होने में शंका ही नहीं है। गुरु की भक्ति, गुरु की अनुरक्ति, गुरु की आसक्ति सामान्य नहीं है। गुरु को आकर्षित करती है, गुरु को प्रत्यक्ष करती है एवं गुरु के ज्ञानको हस्तगत करती है। अरुणि और उपमन्यु ने महर्षि धौम्य की आज्ञा के अनुसार एकने खेत के पानी को रोकने में अपने शरीर का बन्ध करके विद्या सम्पादन की थी एवं अन्यने अन्न का त्याग कर के, अन्ध हो के कूप में गिर कर विद्या सम्पादन की थी। धनुर्विद्या का उपदेश देने के लिये द्रोणाचार्य के नट जाने पर एकलव्य ने द्रोणाचार्य गुरु की मिट्टी की प्रतिमा बना के उस को सामने रख कर भावना मात्रहींसे धनुर्विद्या प्राप्त की थी। कच के शरीर की रक्षा बन के शुक्राचार्य के उदर में प्रविष्ट हो जाने पर भी, कच ने शुक्राचार्य से संजीवनीविद्या सीखी थी। विश्वामित्र को आकर्षित करके रामलक्ष्मण ने रस्ते चलते चलते शस्त्रास्त्रविद्या सम्पादन की थी।

स्वामी रामतीर्थ ने एक व्याख्यान में कहा है कि—एक मनुष्य गुरु की खोज करते करते थक जाने पर नाउम्मीद

हो कर बग़दाद के पास जंगल में जा बैठा और उस ने निश्चय किया कि—जब तक गुरु की प्राप्ति न होगी तब तक अन्नजल न लूंगा—चाहे शरीर का अन्त क्यों न हो जाय! उस वक़ बग़दाद में जुनैद नाम के एक बडे तत्वज्ञानी रहते थे। वे उस दिन नित्यक्रम के अनुसार अपने घोडे को दजला नदी पर पानी पिलाने के लिये ले जाते थे। घोडा रास्ते में रुक कर अड़ गया। इस को नदी पर ले जाने के लिये जुनैद ने बहुत कोशिस की किन्तु वह दूसरी ओर ही जाने लगा। आख़िर जुनैद ने सोचा कि—आज घोड़ा नदी पर जाता नहीं और कहीं जाना चाहता है तो—इस में कुछ न कुछ गूढ़ होना चाहिये—इस लिये उन्हों ने उस की लगाम ढीली छोड़ दी और कहा कि—"जा तेरी मरजी हो उधर ही जा। चारों ओर मेरे ही अल्लाह की ज़मीन है।"—घोड़ा दौडते हुए जहां वह गुरु को ढूंढनेवाला मनुष्य बैठा हुआ था—वहां जा कर खडा हुआ। जुनैद घोड़े पर से उतर कर उस मनुष्य को पूछने लगे कि—कहो, यहां क्यों और कैसे बैठे हुए हो?—उसने झट अपना हाल सुना के गुरुप्राप्ति की इच्छा प्रदर्शित की। कुछ देर सवालजवाब होने पर उस को वहीं परमशान्ति प्राप्त हो कर वह आनन्दमय हो गया और उस के गुरुप्राप्ति का सब कार्य सम्पादन हो के वह अनुगृहीत हो गया। जुनैद वापिस जाने के वक़ बहुत उत्कंठा और प्रेमसे उस मनुष्य को कहने लगे कि—"अगर तुझे, किसी वक़ फिर गुरु की ज़रूरत मालूम हो तो—बग़दाद में मेरे मकान पर आना। मेरा नाम जुनैद है—चाहे जिस

से पूछ लेना।" यह सुन कर उस गुरुभक्त ने जवाब दिया कि—"क्या मैं खुद चल कर आप के पास आया था? मुझे सब राज़ मालूम हो गया है। अब मुझे कहीं आने जाने की ज़रूरत नहीं रही। अगर कभी वैसी ही जरूरत होगी तो, खुदा की मरज़ी से आप या आप जैसे और कोई यहां खिंच कर चले आवेंगे। इश्क में अगर कशिश होगी तो, गुरु खुद ही खिंच कर यहां चला आवेगा। "असर है जज़्ब उल्फ़त में तो खिंच कर आ ही जाँयगे। हमें परवाह नहीं, हम से अगर वह तन के बैठे हैं।" मुझ पर वह नाराज़ हो के रूठ बैठे तो भी मुझे उस की परवाह नहीं।" अध्यात्मप्रेम की बलिहारी है—"तू उस के पीछे बेकार क्यों फिरता है? जब सद्गुरु है तो, आप ही आप तेरे नज़दीक आ जायगा। प्रिय जन के हृदय में प्रथम प्रेम उत्पन्न होता है किन्तु दीपक जलाये बिना उस पर पतंग आ कर कैसे गिरते हैं? "इश्क अव्वल दर माशूक़ पैदा मीशवद्। तान सोजद् शमा कै परवानह् शेदा मीशवद्?।" ए ग़नी! तू काबे की चारों ओर कितनी बार फिरेगा? अपनी चारों ओर फिर। क्यों कि, इस मार्ग पर अपनी आत्मा से अधिक अच्छा और कोई पथदर्शक गुरु नहीं है। "गिर्द खुद् गर्द गनी चन्द कुनी तौफे हरम। रहबरे नेस्त दरी रहवि अर्जी क़िबलानुमा।" "आत्म कृपा का बल ऐसा वैसा नहीं, किन्तु वह मेरे भाग्य में नहीं—ईश्वर की इच्छा! आज कल गुरु मिलते ही नहीं, सोहबत अच्छी नहीं, दुनिया बड़ी ख़राब है।" इत्यादि विचार अपने चित्त की नीचता के

प्रदर्शक हैं। स्वामी रामतीर्थ के इस कहने का सार यही है कि—उत्कट जिज्ञासा होने पर, गुरु के चरणों में दृढ़ लक्ष्य लगने पर एवं गुरु के दर्शन के लिये सत्यसंकल्प होने पर जब चाहे तब अवश्यमेव सद्गुरु की प्राप्ति होनी ही चाहिये और उस का प्रसाद हो के अनुग्रह प्राप्त होना ही चाहिये।

इस प्रकार पूर्वकाल में सच्छिष्य को सद्गुरु की प्राप्ति होती थी, आजकल भी होती है एवं आगे भी होगी। वे अधिकारी, वे साधक, वे गुरुभक्त धन्य हैं, मान्य हैं एवं अग्रगण्य हैं कि जिन्होंने सद्गुरु को प्राप्त करके उन की शरण ली है। सब कोई उन्हें चाहता है, सब कोई उन्हें मानता है एवं सब कोई उन्हें जानता है। उन से सब का उपकार होता है, उन से सब का भला होता है एवं उन से सब का उद्धार होता है।

सद्गुरु के विषय में, राल्फवाल्डोट्राइन कहते हैं कि—"सर्वोत्तम ज्ञान एवं दिव्यदृष्टि प्राप्त करने के लिये ईश्वर पर दृढ़ भाव रख कर उसी को अपना गुरु करना चाहिये—अन्य द्वारा उन को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानविज्ञान प्राप्ति के लिये हमें दूसरों के पास क्यों जाना चाहिये? ईश्वर पक्षपातरहित है तो फिर, हम इन को दूसरों में क्यों ढूंढे? एवं ऐसा करकें हम अपनी आन्तरिकशक्ति क्यों घटावें? हम उस आदिकारण अनन्त ही के पास सीधे क्यों न चले जांय?—किसी मनुष्य में विद्याविज्ञान का अभाव है तो, वह उन के लिये ईश्वर से प्रार्थना करे—"Before they call I will

answer, and while they are yet speaking I will hear." अर्थात् उन के पूंछने के पहिले ही मैं उत्तर दे दूंगा और वे जब तक बोलते रहेंगे मैं सुनता रहूंगा । जब हम सीधे उस अनन्त आदिकारण के पास चले जांय तो— भिन्न भिन्न धर्मगुरुओं के, भिन्न भिन्न धर्मों के एवं भिन्न भिन्न धर्मग्रन्थों के उपासक बनने की फिर हमें कोई आवश्यकता नहीं । हमें चाहिये कि—उक्त धर्मगुरु, धर्म, एवं धर्म-ग्रन्थों द्वारा जो कुछ सत्यज्ञान प्राप्त हो उस को ग्रहण करने के लिये हम अपने हृदय के द्वार खुले रक्खें । उन को हम परमात्मप्राप्ति का साधनमात्र समझें किन्तु आदिकारण अनन्त न समझें । इस का तत्व ब्रौनिंग कवि की निम्न लिखित उक्ति पर से अच्छा ज्ञात होगा ।

"Truth is within ourselves; it takes no rise
From outward things, whate'er you may believe,
There is an inmost centre in us all,
Where truth abides in fullness."

सत्य हमारे अन्दर है । बाह्य पदार्थों से वह उत्पन्न नहीं होता । तुम चाहे जैसा विश्वास करो—हम सब में एक ऐसा मध्यकेन्द्र है, जिस में सत्य अपने पूर्णरूप में वास करता है । इस से अधिक महत्व की एवं गंभीर-भाव की कोई भी आज्ञा नहीं है कि—"To thine own-self be true" तुम अपने आप से सच्चे रहो—अर्थात् तुम अपनी आत्मा से सच्चे रहो—क्यों कि, तुम्हारी आत्मा ही के द्वारा तुम में ईश्वरीय ध्वनि प्रकट होती है—वही आन्त-रिक पथदर्शक गुरु है और यह वही प्रकाश है जिस के द्वारा मनुष्य का हृदय प्रकाशित होता है । वही विवेक-

शक्ति है, वही सहजज्ञान है, वही आत्मा वा परमात्मा की ध्वनि है । वही अन्तरध्वनि हमें कहती रहती है कि-यही सन्मार्ग है, तुम इस पर चलो ।"

सब का भावार्थ क्या है-सद्गुरुप्राप्ति की उत्कट इच्छा होने पर आप ही आप सद्गुरु के दर्शन हो कर उपदेश मिलता है । जब तक सद्गुरु की प्राप्ति न हो तब तक उपासना-अर्थात् विचारसंयम करते रहना चाहिये एवं जन साधारण में जिस किसी से जो कुछ ज्ञान प्राप्त हो, उस को ग्रहण करके ग्रन्थों द्वारा अभ्यास बढ़ाना चाहिये । अरुणि के समान देह का बन्ध करके आत्म-ज्ञान को दृढ़ करना चाहिये, उपमन्यु के समान सांसारिक कृत्यों से अंध हो कर विद्या सम्पादन करना चाहिये । एकलव्य के समान नित्य गुरु की भावना करके, कच के समान देह की खाक होने पर भी ज्ञान की प्राप्ति कर लेना चाहिये एवं भगवान् रामचन्द्र के समान आकर्षण-शक्ति द्वारा गुरु को प्राप्त करके मुक्त होना चाहिये ।

घ-संगति ।

"चंदनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः ।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतला साधुसंगतिः ॥"

अर्थात् इस लोक में चन्दन शीतल है, चन्दन से चन्द्रमा शीतल है और चन्द्र के तथा चन्दन के बीच साधुजन की संगति शीतल है । कवि की इस विज्ञानपूर्ण उक्ति में चन्दन और चन्द्र बढ़ कर साधुसंगति को न कहते हुए उन के बीच ही साधुसंगति को शीतल क्यों कहा है-इस का कोई रहस्य जान सकता है ? चन्दन हमारे पास है, चाहे जिस वक्त हम उस से शीतलता प्राप्त कर सकते हैं एवं चन्द्र हम से

हज़ारों मील दूर है तो भी हम उससे शीतलता का लाभ कर सकते हैं—तो उनके बीच में साधुसंगति कैसी, उस की शीतलता कैसी एवं उस की अनुभूति भी कैसी? किन्तु कवि की कितनी गम्भीर कल्पना है, कितनी उच्च भावना है एवं कितनी उत्तम रचना है—"गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा । पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महाशयाः ॥"—गंगा—पाप—मलिनता, चन्द्र—ताप—उष्णता, कल्पतरु—दैन्य—दीनता, दरिद्रता—तीनों एक एक का नाश करते हैं किन्तु महाशय सन्त तो तीनोंही का नाश कर देते हैं । अर्थात् सन्तों में गंगा, चन्द्र एवं कल्पतरु का सामर्थ्य है । चन्दन स्वभावतः शीतल है तो भी चन्द्रकिरणों से अत्यन्त शीतल हो के शरीर को शान्त करता है । चन्दन और चन्द्र की संगति सन्त करा सकते हैं । इस लिये सन्त दोनों के मध्यस्थ हैं—इस के लिये कोई कहेगा कि—इसमें सन्तही की क्या आवश्यकता है, चाहे सो चन्दनचन्द्र को एकत्रित कर सकता है—कभी नहीं, यह काम सामान्य मनुष्य का नहीं है । क्यों कि, 'शशी तापं' चन्द्रमंडल पर जिन की सत्ता है एवं—'चन्द्रमा मनसो जातः' जिस विराट्पुरुष के मनसे चन्द्रमा बना है उस विराट् पुरुष को एवं उस के रूप को—सिवाय सन्तों के सामान्य मनुष्य नहीं जान सकता । साधुजनों के मन पर तम—अज्ञान का आवरण निकला हुआ रहता है । इस लिये उन का मन निर्मल चन्द्र के समान—स्वच्छ स्फटिक के समान प्रकाशग्राही रहता है, अतएव वे भूमिस्थ चन्दन के अणुओं को एवं आकाशस्थ चन्द्र-

किरणों के अणुओं के समान आकर्षित कर के, दोनों की शीतलता का अपूर्व मिश्रण बना कर, भवतापतप्तजनों का—उस शीतल अमृत मिश्रणद्वारा सन्ताप दूर कर के, उन को शान्त कर अमर कर देते हैं—इसी लिये कविने चन्द्रचन्दन के बीच शीतल साधुसंगति का उल्लेख किया है। एक तोता गोभक्षक यवन के यहां था और दूसरा मुनिजन के यहां था। किसी राजाने मुनि के घर पले हुए तोते से पूछा कि—यह तेरा भाई हिंसादिकों की बुरी बातें करता है और तू शास्त्रज्ञानादिकों की अच्छी बातें करता है—यह क्या है? उसने उत्तर दिया कि—"गवाशनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजन्! वचनं मुनीनाम्। न चास्य दोषो न च सद्गुणो वा संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति।"—हे राजन्! यह गोभक्षक लोगों के वाक्य श्रवण करता है और मैं मुनिजनों के वाक्य श्रवण करता हुं—इसमें इस का दोष है न मेरा गुण है। संसर्ग—संगति के अनुसार दोषगुण बनते हैं। यह कितना अच्छा प्रतिपादन है? सहवास, परिस्थिति, संभाषणादी—गुण-दोषों का आविष्कार कर के, मनुष्य को बुराभला बनाते हैं एवं इसी का नाम 'संगति' है।

'समानशीले व्यसनेषु सख्यं' "Friendship is with persons of congenial disposition and similar habits."—जिनका स्वभाव एवं व्यसन समान है—ऐसे सम-स्वभावी तथा समव्यसनियों का परस्परसख्य—मित्रता—संगति होती है। परस्परविरोधी स्वभाव वा व्यसनवालों की कभी संगति नहीं होती। प्रकाश के साथ किरणों का

सख्य होता है, किन्तु अन्धकार का नहीं । अग्नि के साथ उष्णता का सख्य होता है, किन्तु जल का नहीं । सज्जन का सज्जन के साथ सख्य होता है, किन्तु दुर्जन के साथ नहीं। व्यसनी दुर्जन का दुर्जन के साथ सख्य होता है, किन्तु सज्जन के साथ नहीं । घोडे का घोड़े के साथ सख्य होता है, किन्तु हाथी के साथ नहीं । वन्दर का वन्दर के साथ सख्य होता है, किन्तु मनुष्य के साथ नहीं। इस का क्या कारण है—एक मात्र समानासमान आकर्षणविकर्षण है—इस का ऊपर वहुत विवरण हो चुका है, उस परसे ज्ञात हो जायगा कि—नैसर्गिक रीति से सजातीय परमाणु, सजातीय परमाणु का आकर्षण कर के एकता को प्राप्त होते हैं—जिस में विशेषता यह होती है कि—सवलनिर्वल को आकर्षित कर लेता है, इसी लिये सामर्थ्ययुक्त महापुरुप के सहस्रों अनुयायी होते हैं । संघशक्ति इसी को कहते हैं । Positive सवल का प्रभाव Negative निर्वल पर पड़ कर वह उस को खेंच लेता है—अर्थात निर्वल विचारयुक्त मनुष्य सवल—विचारयुक्त मनुष्य पर कभी अपना प्रभाव नहीं डाल सकता एवं कभी उस का आकर्पण भी नहीं कर सकता । इसी लिये एक कविने कहा है कि—"सत्सं-गाद्भवतिहि साधुता खलानां साधूनां नहि खलसंगमात्खल-त्वम् । आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति ।" साधु के संग से दुर्जन का सज्जन वन जाता है तथापि, दुर्जन के समागम से साधु दुर्जन नहीं होता । जैसे पुष्प के सुगन्ध से मिट्टी सुगन्धित हो जाता है किन्तु मिट्टी का गन्ध पुष्प नहीं लेता । सवल Positive और

निर्वल Negative के विषयमें कविने कितना व्यापक उदाहरण देकर सजातीय विजातीय का परिचय कराया है? क्या इस विषय में विज्ञान—इस से वढ़ कर और कुछ कह सकता है?

पृथ्वी भर के अनेक द्वन्द्वों में अर्थात् एक से एक विरोधी जोड़ों में—सत्संगति का भी एक जोड़ा है। सत्संगति और असत्संगति—अच्छी सोहवत और बुरी सोहवत का नाम है। कलाये कलंदरी में कहा है—"कार-पाकाँ वा दगलवाज़ाँ मसंज, गर वसंजी रंज वीनी गंज गंज। पेश येशां मोमिनो काफ़िर यके, दर दिलेशाँ न यक़ीनो न शके।"—महात्माओं के काम की तुलना दगलवाज़ों के साथ मत करो। अगर उस की तुलना करोगे तो, सिवाय रंग गंज के कुछ नहीं देखोगे। उन की दृष्टि में पुण्यात्मा और पापात्मा दोनों समान हैं। उन के हृदय में न तो यक़ीन है और न शकही है। सोहवत का असर वहुत वड़ा होता है—यही 'तुख़्मे तासीर और सोहवते असर'—है। सवलता के कारण अच्छे से वुरे का असर मनुष्य मात्र पर वहुत जल्द होता है। क्यों कि—भगवान् वासिष्ठ के कहने के अनुसार—"देशकाल-क्रियाद्रव्यसम्पत्योदेति भावना। यत्रैवाभ्युदिता सा स्यात्तद्वयोरधिको जयी॥ एवं परस्परजयाज्जयत्यत्राति वीर्यवान्। तस्माच्छुभेन यत्नेन शुभाभ्यासमुदाहरेत्॥" देश, काल, क्रिया, द्रव्य के अनुसार भावना का उदय होके जिस द्वन्द्व के जोडे में जिस की अर्थात् शुभकी या अशुभ की प्रवलता रहती है उसी के प्रमाण में परस्पर

जय पराजय होता है। अर्थात् निर्बल के ऊपर सबल का जय होता है अतएव शुभ यत्न से शुभ का अभ्यास करना चाहिये। यही सत्संगति है, सत्संगति का महत्व है एवं उसी को प्राप्त करने के लिये, जहां तहां-पृथ्वी भर के धर्म, नीति, व्यवहारों में खूब जोर दिया गया है। इस में किसी का कहीं मतभेद नहीं हैं।

एक समय वासिष्ठ ने सत्संग की प्रशंसा की और विश्वामित्र ने तप की प्रशंसा की। वादविवाद करते हुए-दोनों में कौन श्रेष्ठ है-इस के निर्णय के लिये दोनों ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने उन को विष्णु के पास भेजा। विष्णु ने शंकर के पास भेजा और शंकर ने शेषनाग के पास भेजा। शेषनाग को दोनों ने अपनी अपनी सुनाई। नागमहाराज को बड़ा विचार हुआ कि-इस का निर्णय क्या करें दोनों भी समर्थ है-किस को कैसे बुरा भला बनावें? सोचकर युक्ति के साथ कहा कि-इस वक्त मेरे सिर पर पृथ्वी का बहुत भार हो रहा है-इस लिये मैं इस का ठीक निर्णय नहीं कर सकता, अतएव तुम दोनों एकके पीछे एक अपने अपने पुण्य का कुछ अंशप्रदान करो-जिस से पृथ्वी कुछ हलकी होकर ऊंची हो जाय फिर मैं इस का निर्णय करूं। उस पर से, विश्वामित्र ने, एक दिन का, एक महीने का, एक वर्ष का, अन्त में सात वर्ष का तपोबल अर्पण कर दिया। किन्तु पृथ्वी न तो हलकी हुई और न ऊंची ही हुई। पीछे वासिष्ठ ने अपने क्षणमात्र ही सत्संग का पुण्य अर्पण किया जिस से पृथ्वी हलकी हो कर शेष भगवान् के सिर से एक बिलस्त

ऊपर उठ गई। इस अपूर्व निर्णय को देखकर दोनों अपने अपने स्थान पर चले गये। वैसेही सब अयोध्या को वैकुण्ठ ले जाते वक्त भगवान् रामचन्द्र ने दूतों से तलाश कराया कि—शायद पीछे कोई रह तो नहीं गया हो—तलाश करने पर मालूम हुआ कि—एक कुत्ता पीछे रह गया है, जिसका कारण यह है कि—उस का शरीर घावों से अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त है और उसे में हजारों कीडे भरे हुए हैं। भगवान् रामचन्द्र ने उस कुत्ते को सरयू में स्नान कराया। स्नान कराते ही कुत्ते सहित सब जीव चतुर्भुज रूप धारण करके भगवान् रामचन्द्र के सन्मुख खड़े हुए। उन से पूछने पर मालूम हुआ कि—कुत्ता अगले जन्म में एक ब्राह्मण गुरु था और कीड़े उस के छात्र थे। ब्राह्मण ने स्वार्थ में आकर उन को अनात्म ज्ञान सिखा कर कुमार्ग में उतारा जिस से यह दशा प्राप्त हुई। सत्संगति एवं असत्संगति के यह कितने अच्छे दृष्टान्त हैं—इन का प्रत्येक को विचार करना चाहिये! "मायामयः प्रकृत्यैव रागद्वेषमदाकुलः। महतामपि मोहाय संसार इव दुर्जनः।" प्रकृति से मायामय एवं रागद्वेष मदयुक्त संसार के समान दुर्जन—महज्जनों को मोहित करनेवाला होता है—इस में क्या सन्देह है?—"Man is known by his company he keeps"—मनुष्य जैसी संगति में रहता है, वैसा वह जाना जाता है।

लार्ड बिकन्सफील्ड ने कहा है कि—"जिस मनुष्य का चित्त श्रेष्ठ और उदात्त कल्पनाओं में संलग्न नहीं रहता, उस के चित्त में नित्य नीच कल्पना का संचार होता है।

जिस का चित्त उन्नत नहीं है—उस की नाक सदा ज़मीन से घिसती रहती है ।" वर्ड्स्वर्थ कहता है—"मनुष्य में दो परस्पर विरोधी गुणों का एक रूप सम्मेलन हो जाना चाहिये । उचित पारतंत्र्य के साथ उचित स्वातंत्र्य भी होना चाहिये । उचित परावलम्बन के साथ उचित स्वावलंबन भी होना चाहिये । हुक्म की तामील करना सीख लेने पर, दूसरों पर हुकूमत करना सहज ही में आ जाता है । शरीर और मन को व्यायाम से ठीक कर लेने पर ही, मनुष्य बड़े काम करने के लायक़ होता है । जिस को सिपाही का काम नहीं करना आता, वह—कभी सेनापति के काम के लायक़ नहीं बनता ।" फ़िलिपियन्स कहता है कि—"सत्य, नीतिमत्ता, शुद्धता, रमणीयता, सत्कीर्ति आदि सद्गुण प्रदर्शित करनेवाले जो जो पदार्थ हैं नित्य उन का चिन्तन करना चाहिये ।" सेनेका कहता है—"किसी को मालूम न हो—ऐसा गुप्त पदार्थ कभी ईश्वर से न मांगो और जो पदार्थ ईश्वर को प्रिय नहीं—वह कभी मनुष्य से मत मांगो ।" सेन्ट माथ्यू कहता है—"कोई कहते हैं कि—'मित्र से प्रेम और शत्रु से द्वेष करना'—किन्तु मैं कहता हूं कि—शत्रु परभी प्रेम करना, शाप देते हैं उन को आशीर्वाद देना, द्वेष करते हैं उन का हित करना, और जो मत्सरबुद्धि रखते हैं उन के कल्याण के लिये ईश्वर से प्रार्थना करना—हमारा धर्म है । ऐसा होगा तभी हम ईश्वर के भक्त कहलाने के पात्र होंगे । ईश्वर, सूर्य का प्रकाश सज्जन और दुर्जन पर समान

डालता है और वह जो परजन्यवृष्टि करता है उस का उपयोग न्यायी अन्यायी को समान होता है । जो तुम पर प्रीति करते हैं—उन पर तुमने प्रीति की तो क्या हुआ—यह तो सामान्य मनुष्य भी कर सकता है ।" हमारे यहां भी एक कविने कहा है—"उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः । अपकारिषु यः साधुः सः साधुः सद्भिरुच्यते ॥" अर्थात् अपने पर उपकार करनेवाले पर साधुता करने में क्या साधुत्व का गुण है ? अपकार करनेवाले पर साधुता करनेवाला ही सचा साधु है । एपिक्टीटस कहता है—"हम ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलते हैं—यह खाली मनहीसे नहीं, आचरण से भी कर दिखाना चाहिये । इस के निश्चय में जो आनन्द है—उस के आगे सब आनन्द तुच्छ हैं ।" सिसरो का कहना है कि—"सिवाय सज्जन के सचा सुख किसी को प्राप्त नहीं होता एवं जो सज्जन होते हैं वे सुखी होते हैं । ये दो सिद्धान्त यदि सत्य हैं तो—तत्वज्ञान के समान अभ्यास करने के लिये अन्य कोई विषय नहीं है एवं सद्गुण के समान अन्य कोई दैविक वस्तु ही नहीं है ।" किसी कविने कहा है—"माऽभूत्सज्जनयोगो, यदि योगो मा पुनः स्नेहः । स्नेहो यदि विरहो मा, यदि विरहो जीविताशा का ? ।" पहिले तो सज्जन का योग—संग न हो, अगर योग हो तो, उस के साथ स्नेह न हो, अगर स्नेह हो तो, फिर विरह न हो, यदि विरह हो, तो—फिर जीने की आशाही क्या है ? कितना यथार्थ कहना है—पहिले तो सज्जनों के साथ संगति होना ही कठिण है, सौभाग्यवश संगति हो भी जाय तो उन

का कृपापात्र होना, कठिन है, कृपा होने पर उन से अलग. होना कठिन है एवं अलग होने का प्रसंग आ जाय तो फिर, जीवन की आशा ही व्यर्थ है।

इस संगति के साथ देश, काल, द्रव्य और क्रिया की वड़ी भारी संगति है। संगति में—संगति का गठन, तिरोभवन एवं सम्मिलन होना ही चाहिये। क्यों कि, यह नैसर्गिक धर्म है—समान से समान मैत्री, प्रीति, एकता होती है किन्तु उस में अगर विरोधी अणुओं का प्रादुर्भाव हो जाता है तो, तत्काल विपर्यास हो जाता है। रज्जुपर सर्प की भ्रान्ति, शुक्तिपर रजत की भ्रान्ति एवं मनुष्य पर भूल की भ्रान्ति होके, मनुष्य भ्रमित हो जाता है—यहां तक कि, वह अपना मनुष्यत्व भी भूल जाता है। परीक्षित जैसे सत्यसन्ध, सच्चरित्र, धार्मिक राजा का—शमीक ऋषि के आश्रम में पदार्पण होते ही, बुद्धि विपर्यास होके, ऋषि के गले में मृत सर्प का डालना क्या था—शृंगी वालक के शापसे सातही दिन में—उस का मरना था! श्रवण के समान मातापिताका भक्त कौन था? किन्तु उस का भार्या रक्तदूषित दूषित कुरु क्षेत्र में पदार्पण होते ही, उस ने अपने मातापिता से, उन की कावर उठाने के वदले में किराया मांगा। अन्ध पिता ने पूंछा—यह भूमि कौन है? श्रवण ने कहा—कुरुक्षेत्र की भूमि है—हाय हाय! इसी भूमि ने, अपनी सजातीय भूमि का, अपनी सहोदरा भगिनी भूमि का, अपनी समुज्वल भारत जननी का—कैसा नाश किया है, कैसा अधःपात किया है, कैसा सर्व नाश किया है—उस का स्मरणही, हृदय को

विह्वल करता है, शरीर को कम्पित करता है एवं बुद्धि को मुग्ध करता है—ऐसी दारुण, कठोर, निर्घृण—महान् रथी अति रथिओं के संहार करानेवाली, हाय हाय! अभिमन्यु जैसे कोमल वीर बालक का रक्तपात करने वाली—होनहार समरभूमि में—बुद्धिविपर्यास होना क्या आश्चर्य है?—पिता ने कहा, अच्छा है, तू अपनी कावर का जितना किराया मांगेगा उतना ही दूंगा—आगे चल। कुरुक्षेत्र की भूमि का उल्लंघन करतेही श्रवण को अपने सत्य पुत्रधर्म का ज्यों का त्यों भान होके मातापिता के चरणों में गिर कर क्षमा प्रार्थना करने लगा और अपने कहने का बड़ाही दुःख पश्चात्ताप करने लगा। पिताने उसे कंठ से लगा कर प्रेम से कहा—प्रिय पुत्र! इस में तेरा कुछ भी दोष नहीं, यह केवल उस अभागिनी अपवित्र भूमि का ही प्रभाव था! आगे चल कर उसी प्रकार की हिंसक भूमि में फिर प्रवेश होतेही ग़रीब बेचारे महान् पितृभक्त श्रवण का—दशरथ के बाण से घात हुआ। पुत्र के मरण से अत्यन्त विह्वल होके उस अन्ध वृद्ध वैश्य ने दशरथ को शाप दिया। शाप क्या था—दशरथ के यहां भगवान् रामचन्द्र का अवतार लेना था! सुरथ का राज्य हरण होने पर, एवं समाधि का धन हरण होने पर—दोनों का मेधा ऋषि के आश्रम में जाना क्या था—सुरथ को अपने राज्य की प्राप्ति का एवं समाधि को धन के बदले ज्ञान की प्राप्ति का होना था! दुष्यन्त का कण्व ऋषि के आश्रम में जाना क्या था! भरतमाता शकुन्तला का पाणिग्रहण होना था। एक गणिका के पुत्र का वासिष्ठ

होना, एक श्वपाकी—चांडालिनी के पुत्र का पाराशर होना, एक ढीवर की कन्या के पुत्र का द्वैपायन व्यास होना, जबाला समान स्वैरिणी के पुत्र का जाबाल होना—क्या था? अपूर्व सत्संगति के समुज्वलज्वलन्त प्रभाव का प्रदर्शन था!! प्राचीनकाल में, भारत में कैसा अद्वितीय संगति का गठन था, कैसा साधुसंगति का प्रभाव था एवं कैसा श्रेष्ठसंगति का फल था? उस वक्त जाति कुल धर्मादिकों का उच्चनीचत्व न था, केवल संगति एवं उस के गुणधर्मानुसार मनुष्य का उच्चनीचत्व था—"गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः"—केवल गुणोंही की पूजा होती थी और सत्कार होता था। आज इसी के अभाव से हम लोगों में से छ करोड लोग हम से अलग हैं। एक तृतीयांश—एक तिहाई शरीर का जंघा से लेकर नीचे का भाग अर्थात् घुटने और पैर हम से जुदे हो बैठे हैं। पहिले ही रेलने हम को पंगु बना रक्खा हैं और रहे सहे भी अब हम अपने घरही में अपने पैरों खड़े नहीं हो सकते! स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—"अपने गांव के मेहतर चलायियों को पढ़ाने में क्या तुम्हें लज्जा या डर लगता है? अगर ऐसा है तो—धिक्कार है तुम्हारी रीतिभांति को एवं तुम्हारी नीतिमत्ता को!" ऐसी दशा में कैसे हम अपना, अपनी जाति का, अपने धर्म का, अपने कुल का एवं अपने देश का उद्धार कर सकते हैं? भारत का सनातन धर्म, भारत का अध्यात्मज्ञान, भारत का वेदान्तशास्त्र किसी को अलग करने के लिये कभी नहीं कहता, किसी का तिरस्कार करने के लिये किसी

को कुछ नहीं कहता एवं किसी को ज्ञान से वंचित रखने के लिये कहीं कुछ नहीं कहता । "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।" विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में, चांडाल में पण्डितों की समदृष्टि रहती है । वे किसी को ऊंचा नीचा नहीं देखते । वैसे ही—"विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्टम् ।" बारह गुणों से युक्त, भगवान् से विमुख ब्राह्मण से श्वपच—चाण्डाल वरिष्ठ—श्रेष्ठ है । क्या इन भगवान् श्रीकृष्ण एवं भागवतोत्तम प्रह्लाद के वाक्यों को आज हम बिलकुल ही भूल गये?

मनुष्य का जन्म होते ही उस को अपनी प्यारी, स्नेहमयी, मधुरमूर्ति—न मातुः परदैवतम्—परम देवता मा का दर्शन होके उस की पवित्र प्रेममयी संगति होती है । उसी के प्रेममय, मधुर शब्द, मधुर आलाप, मधुर गीत सुनने में आते हैं एवं उस की मृदु से मृदु—पुष्प की शय्या को मात करनेवाली गोदी प्राप्त होके, जितने दुनिया में, स्वर्ग में या और कहीं—मधुर अमृतादि रस हैं, उन से अत्यन्त मिष्ट, अत्यन्त स्वादिष्ट, अत्यन्त पौष्टिक स्तन्य—स्तनरस—स्तन की पवित्र दुग्धधारा का पान मिलता है । माता यदि सुशिक्षिता हो तो फिर, उस बालक के भाग्य का देखनाही क्या है? "It is by ladies that nature writes upon the hearts of men." अर्थात् प्रकृति देवी उस मातृद्वारा ही मनुष्य के हृदय पर लेख लिखती है । जन्मतः उस की शिक्षा का प्रारम्भ हो जाता है । पिता,

पितृव्य, बन्धुभगिनी आदि बड़े छोटों की संगति—क्रीड़ा, शिक्षा, वर्त्तन की सुन्दर लीलामयी विहारवाटिका बनती है एवं उस में विहार करते हुए बालक—भगवान् श्रीकृष्ण के समान मृत्तिकादि भक्षणद्वारा विश्व का दर्शन करा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण का—यशोदा को विश्वरूप—दर्शन कराना क्या था—केवल मातृभक्ति, मातृवात्सल्य, मातृभाव का अद्भुत दृश्य था। खूब लक्ष्य के साथ देखिये—लोकोत्तर सच्चरित्र होनहार बालकों की कितनी मधुर, कितनी रम्य, कितनी सुन्दर बाललीला होती है?—ऐसा कौन शठ है, ऐसा कौन पत्थर है, ऐसा कौन हृदयहीन है—कि जो उस मधुर प्रेममयी कोमल बाललीला का आदर न करे, कौतुक न करे एवं अभिनन्दन न करे! कवि कुलगुरु कालिदास के शाकुन्तल नाटक को पढ़ते पढ़ते-"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्। अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनी—भवन्ति॥" इस अपूर्व वात्सल्य रस का पान करते ही शेभ्री नामक एक फ्रेंच पण्डित आनन्दमग्न होके अपना देहभान भूल गया था! क्यों नहीं—"अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्। आनन्दग्रन्थिरेकोयमपत्यमिति बद्ध्यते।" मातापिता के अन्तःकरणतत्व के अपार प्रेम के आधार से आनन्द की अपत्यरूप गांठ बन्धती है—इस में क्या शंका है? सन्तान के लिये किसी को क्या क्या नहीं करना पड़ा और क्या क्या नहीं पड़ता—यह किसी से छिपा नहीं है। महाराज दलीप को इक्कीस दिन भगवान्

वासिष्ठ की नन्दिनी नामक कामधेनु की सेवा करके अन्त के बाईसवें दिन सिंह के सामने अपनी प्यारी देह को रखना पड़ा था! दशरथ को पुत्रविरह से मरने के शाप को अनुग्रह मानना पड़ा था। कुन्ती, माद्री को अपने स्त्रीधर्म का त्याग करना पड़ा था। वसुदेव को अर्धरात्रि में भयानक यमुना को पार करना पड़ा था।

ऐसी अपनी आनन्दग्रन्थि, ऐसी अपनी—'आत्मा वै पुत्रनामासि'—आत्मा, ऐसी अपनी प्यारी सन्तान का आजकल हम कैसा पालन करते हैं, कैसा कल्याण करते हैं, कैसा सद्भावन करते हैं—सब कोई जानते हैं। मा की गोद से निकल जाने पर, मा की भावमयी दृष्टि के पार हो जाने पर, मा की वत्सलाता का अनुभव ले लेने पर—पिता की शरण, पिता की भावना, पिता की दया के अनुसार, आजकल की छोटी मोटी पाठशालाओं में भरती होकर समवयस्क वयस्थों के साथ पाठ लेते लेते पहले पहल बालक बीड़ी पीना सीखते हैं—उस में प्रवीण हो जाने पर, जैसे जैसे आधुनिक शिक्षाप्रणाली के अनुसार उच्च कक्षा में प्रवेश करते जाते हैं वैसे वैसे चुरुट, चाय, काफ़ी, सोडा, ब्राण्डी का अभ्यास बढ़ता जाता है! इधर चाहे घर में चूहे क्यों न दौड़ मचाते हों—तो भी, माबापों को तंग करके बूट, पटलून, कोट, टोपी लगा कर अकड़ते हुए स्कूल कालेज में जा कर, शरीर की ऐंचातानी में मस्त हो कर, फ़ुटबाल, टेनिस आदि खेलों में मस्त हो कर—बाबू, साहब, मिस्टर, बनने में देर नहीं करते। और अपने को बड़ाभारी स्टूडेन्ट, स्कालर,

ग्रेजुएट, रिफार्मर, सायन्टिस्ट, प्रोफ़ेसर, सुधारक, देशभक्त, भारत का कुल सर्वस्व मान के—अपने मातापिता को मूर्ख कहते हैं, अपनी माता, स्त्री को ग़ुलाम मानते हैं और अपने बालबच्चों को नालायक़ जानते हैं! फल यह होता है कि—न तो पूरे बाबू, साहब, मिस्टर बनते हैं, और न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ही रहते हैं । टेनिस, फ़ुटबाल, लेक्चर, कमेटी, सोसाइटी, पार्टी, आदि में दौड़धूप करके, भारत के सपूत भारत का उद्धार करते हैं, भारत का मुख उज्ज्वल करते हैं, एवं भारत का गौरव करते हैं !

मेरे कुल कानन के सुन्दर सुहावने पेड़ो ! मेरे भारत के समुज्वल आकाश के चमकते हुए तारो ! मेरे होनहार कुलरत्नाकर के अमूल्य मुक्ताफलो ! अब भारत का सुधार, अब भारत का अन्तिम साध्य, अब भारत का भविष्य—केवल तुम्हारे ही हाथ में है । तुमही उस के उद्धारक, सुधारक एवं संरक्षक हो । जब तुम्हारे मुख में—'बीड़ी', 'चुरुट', आंख पर 'चश्मा,' सिर पर 'हेट', गले में 'नेकटाइ' बदन में 'कोट पटलून' एवं पैरों में 'बूट'—देखते हैं तब, हृदय टूक टूक होके फूट फूट रोने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। यह रोना, यह आंसू का—गिरना, यह आंसू का पूर—तुम्हारे बीड़ी, चुरुट, चश्मा, टोपी, नेकटाइ, कोट, पटलून, बूट के लिये नहीं हैं—पंचतन्त्र में कहे हुए गधे की पीठ पर शेर का चमड़ा डाल कर उस को नक़ली शेर बनने के लिये है ! इन कोट, पटलून, चश्मे, हेट, नेकटाइ का तो, तभी सार्थक्य हो

सकता है, जब, उन के असली पहननेवालों के समान कर्मवीर बन कर तुम अपने मातापिता स्त्रीपुत्रादिकों का आनन्द के साथ पालन करते हुए, अपने भाइयों का साथ देते हुए, अपने दारिद्र्य का नाश करते हुए, अपनी सन्तान को उच्चश्रेणी में पहुंचाते हुए--पीछी अपनी सुवर्णभूमि को सुवर्णभूमि बना के उस को स्वर्गापवर्गास्पद् बनावो। होश संभालो, ऊपर नज़र करके झांको, खूब सोच कर देखो--यह कितना सुखसमय है, कितना शान्तसमय है, कितना सुन्दरसमय है--तुम्हें किसी की संगति करने में, किसी का उपदेश लेने में, किसी से कुछ सीखने में या तुम्हें कहीं जाने में, देशादेशान्तर का प्रवास करने में, किसी हुनर, कला, उद्यम का पाठ लेने में, विद्वान्, कलाकुशल, उद्योगी होने में--कहीं किसी की रोकटोक नहीं, कहीं किसी की मनाई नहीं, कहीं किसी की हरकत नहीं। फिर क्या कारण है--जो तुम अपने आयुष्य का, अपने शरीर का अपने कुल का, एवं अपने देश का--ऐसा नाश कर रहे हो, ऐसा विगाड़ कर रहे हो, ऐसा संहार कर रहे हो!!

आजकल छोटी मोटी--शास्त्रीय, सामाजिक, वैज्ञानिक, उपदेशक, सुधारक नाना प्रकार की पुस्तकें लिखते हो, अख़बारों में एवं मासिकपत्रों में लंबे चौडे भांति भांति के लेख निकालते हो और सभा, समाज, मीटिंग, सोसाइटी में खडे रह कर पुकार पुकार धर्म की, जाति की, कुल की, देश की बातें, कहानियां, कथा सुनाते हो--उन के उद्धार, सुधार, गौरव के लिये कहते हो और

अन्तिम साध्य का, मुख्य ध्येय का एवं भविष्य का भविष्य कथन करते हो—किन्तु लिखनेवालों, निकालनेवालों, सुनानेवालों, कहनेवालों, करनेवालों का—कार्य, आचरण, व्यवहार, चरित्र क्या होता है ?—"परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति वै । विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते ।" दूसरों को उपदेश देने में सब शिष्ट—सम्भावित होते हैं किन्तु अपने कार्य में उस को भूल जाते हैं। "पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहि ते नर न घनेरे।" इसी लिये तो, दूसरों पर उन का कुछ प्रभाव नहीं पडता एवं दूसरों का कुछ उपकार नहीं होता । चाहे लेखक के वक्ता के गुणदोष सदसच्चरित्र किसी को विदित हों वा न हों—कहना एक और करना एक, बोलना एक और चलना एक आदि दुराचरण से, उन के विचारों के परमाणु बिलकुल निर्बल रहते हैं—उन का परिणाम किसी पर कुछ नहीं होता। लोगों को सदाचरण का उपदेश देना, स्वयं दुराचरण करना,—लोगों को धर्म का उपदेश देना, स्वयं अधर्म करना,—लोगों को नीति का उपदेश देना, स्वयं अनीति करना—ऐसे लेखक, पाठक, उपदेशक, उद्धारक, सुधारक, विचारक—किस के लिये क्या कर सकते हैं एवं उन के उपदेश का क्या परिणाम हो सकता है ? ब्रह्मचर्य का उपदेश देते हो—स्वयं प्रमेह उपदंश से पीडित रहते हो ! गृहधर्म का उपदेश देते हो—स्वयं स्नानसन्ध्या, खानपान, स्पर्शास्पर्श का कुछ भी विचार नहीं रखते हो ! ! भगवे कपड़े पहन कर, ब्रह्मज्ञान, अध्यात्मविद्या का उपदेश देते हो—स्वयं व्यभिचार, मद्यपान, धनसंग्रह करके, टोपी,

साफ़ा, गंजीफ़ाक्, ओवर कोट, पटलून, बूट पहन कर संन्यासधर्म का पालन करते हो ! ! !—यह क्या है ? इस से क्या भारत का उद्धार, सुधार, गौरव हो सकता है ? कभी नहीं ! स्वामी रामतीर्थ अपने एक व्याख्यान में कहते हैं कि:—"Let all the great lecturers of the age come; let Christ or God himself come and lecture, but lectures from others will be of no avail unless you are prepared to lecture yourself. He alone can raise himself or make progress who lectures to himself."—चाहे इस वक्त के बड़े बड़े लेक्चर देनेवाले आवें, चाहे ईसा या ईश्वर स्वयं आकर लेक्चर देवें, किन्तु जब तक तुम अपने को स्वयं लेक्चर देने के लिये तैयार न होगे तब तक अन्यों के लेक्चरों से तुम्हें कुछ भी लाभ होता नहीं। जो अपने को अपना लेक्चर देता है वही अकेला उन्नत हो सकता है या अपनी तरक्की कर सकता है। देखिये, वे स्वामीजी के वाक्य कैसे और कितने सूत्रबद्ध और उपयोगी हैं ?

इस वक्त स्त्रीजाति का, गृहिणी का—भार्या मित्रं गृहेषु च—भार्या मित्र का, सहधर्मिणी का—शिक्षित होना नितान्त आवश्यक है। स्त्री—पुरुष का अर्धाङ्ग है, स्त्री—पुरुष का मित्र है, स्त्री—पुरुष का सहचर है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"—भगवान् मनु के इस कहने का अर्थ क्या है—उन का आदर, सम्मान, सत्कार होना चाहिये—तभी तुम्हारा जीवन सुखमय हो सकता एवं अनुपम सत्संगति का लाभ हो सकता है। भगवान् की पुरुष पर बड़ी कृपा है कि—

उस ने स्त्री जैसा सहायक मित्र उस को दिया है—जिस की संगति से—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस की संगति से सुख, विजय, श्री की प्राप्ति होती है। जिस की संगति से इहलोक परलोक की प्राप्ति होती है। स्त्रीपुरुष की संगति—विवाह—अनुरागभूत सृष्ट पदार्थ की मनोहरता का पवित्र फल है, सहायकारी, प्रकाशक, विश्वासपूर्ण मित्र का उदय है और सौहार्दभाव का अनुपम सद्भाव है। पाणिग्रहण अर्थात् हस्तस्वीकार—अन्योन्याश्रय, अन्योन्याभेद, और अन्योन्याधार है। वि—वह=विशेपरूप से साथ देना अर्थात् गृहस्थाश्रम-धर्म के लिये अन्योन्य सहचर वनना—इस पर से विवाह शब्द से क्या बोध होता है?—"प्रेयो मित्रं वन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा। स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदारांश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु।"—मालती और माधव के विवाहप्रसंग में, कामन्दकी कहती है कि-हे वत्स! प्रिय मित्र, सारी वन्धुता, सारी इच्छा, धनमाल और जीवित—परस्पर स्त्री को पति एवं पति को धर्मपत्नी है—यह परस्पर तुम उभय को विदित रहो। ऋग्वेद के मंडल १० के ८५ वें सूक्त में कहा है कि—"सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वा यथास्तं विपरेतन॥ यह वधू—कन्या, सुमङ्गली—शोभनमंगला है, इस लिये सब इस के साथ जावें और इसे देखें। इस को सौभाग्य प्रदान करके सब अपने अपने घर को जावें। वैसे ही—"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय

देवाः ।" हे वधू ! मेरे साथ सुहाग में रह कर वृद्ध होने के लिये मैं तेरा कर ग्रहण करता हूं । भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि, पूषा देवोंने मुझे गार्हपत्य–गृहस्थी होने के लिये तुझ को दिया है । इस लिये मैं कभी तेरा साथ न छोड़ूंगा–यह कह कर, आप्तजनों के समक्ष स्त्री का कर-ग्रहण करके, अग्नि को सात प्रदक्षिणा दे कर–यह नवीन संगति, आजन्म कर लेना–केवल अपने ही सुखदुःख के लिये नहीं है वरन् जीवमात्र के लिये है । भगवान् मनुने कहा है–"यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्" ।–जैसे नदी और नद समुद्र में जा मिलते हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, गृहस्थाश्रमी के पास आते हैं–इसी लिये गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि–यथासाध्य, यथासंभव, यथाशक्ति–उन का तनमनधन से स्वागत, सत्कार और आतिथ्य करे । गृहस्थी के पास कुछ भी न हो तो भी– "तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।" बैठने के लिये कदाचित् तृण–घास न हो तो भी भूमि ही सही, जल और 'पधारिये, आइये, विराजिये' इत्यादि सत्कार वचनों का तो कहीं अभाव नहीं है–अर्थात् हो जहां तक, अपने देशबन्धु का सन्तोष करके एकता एवं प्रेमभाव बढ़ाना–प्रत्येक गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है । "परहित बस जिन के मनमाहीं, तिन कह जगदुर्लभ कछु नाहीं"–इस में क्या सन्देह है ?

उक्त वेदशास्त्रों के वचनों पर से स्पष्ट विदित हो जायगा कि, पृथ्वी भर में हमारे ही यहां स्त्रीजनों के लिये गंभीर

भावपूर्ण आदर की अयोजना प्रस्तुत हुई है। पाश्चात्यदेशोंही में क्या सर्वत्र, सब धर्मों में ईश्वर के लिये पितृत्व भावना– The Fatherhood of God–है किन्तु अत्यन्त प्रेमास्पद मातृवात्सल्यपूर्ण ईश्वर के मातृत्व–The Motherhood of God की भावना सिवाय भारत के अन्यत्र कहीं नहीं। इस अपार, विशाल, अपरिमित जगत् का साम्राज्य चलानेवाली उस परात्पर अनन्त शक्तिशाली परमेश्वर की प्रकृति ही, चक्रवर्त्तिनी महाराज्ञी है। चैतन्य संचारक पुरुष तो केवल द्रष्टा है। प्रकृति–देवी–शक्ति–

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणाऽपि दोषै–
र्न ज्ञायते हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाऽखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृताहि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या॥

जो सारे जगत् की कारण है। ब्रह्मा, विष्णु, शंकरने भी जिस का पार न पाया, और जो सब की आधारस्वरूप है। जगत् जिस का अंशभूत है ऐसी वह अव्याकृत आद्य प्रकृति है और–

विद्याः समस्तास्तव देवि! भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिःतव्यपरा परोक्तिः॥

हे देवि! जगत् भर में सब विद्या और सब स्त्रियां तेरे ही भेद हैं। सारे जगत् को तूने व्याप्त किया है–किन स्तुति युक्त उत्तम शब्दों से तेरी क्या प्रार्थना करें? प्रकृति पुरुष अन्योन्याश्रय है–The Male and Female Principles of the Universe–पुरुष और स्त्री ही जगत् का

कारण है—इस की विशेष मीमांसा करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है । हमारे यहां इस स्त्रीतत्व का प्रति-बिम्ब धर्मदर्पणद्वारा गृहसाम्राज्य पर पड़ा हुआ है इसी लिये कुलस्त्री कुल की अधिष्ठात्री महामंगला—सुमंगली वधू है एवं पूर्ण मातृपद की अधिकारिणी है। भारतीय पतिपत्नीत्व एवं गृहधर्म के उदात्त भाव और प्रेमशृंखलाबद्ध विवाह के लिये स्वामी विवेकानन्द की सच्छिष्या भगिनी निवेदिता Nivedita कहती हैं कि—"Anything more beautiful than the life of the Indian home as created and directed by Indian women, it would be difficult to conceive. But if there is one ralative others the idealising energy of the people spends itself, it is that of the wife. Here, according to Hindu ideas, is the very pivot of Society and poetry marriage, in Hinduism, is a Sacrament, and indissolable." हिन्दु कुलस्त्री निर्मित एवं अनुशासित गृहस्थाश्रम के आयुःक्रम की अपेक्षा अधिक सुन्दर वस्तु की कल्पना होना दुश्कर है । और उस में भी—उदात्त एवं दैवी भावना की स्थापना के लिये लोकोत्साह का केन्द्रीभवन करनेवाला जो एक पूजास्थान है—वह पत्नीस्वरूप है । हिन्दुओं की भावना के अनुसार वह समाज एवं कविता का आधार-स्तम्भ है। कभी न टूटनेवाला बन्धनभूत—पवित्र धर्मविधि विवाह है—ऐसा हिन्दुधर्म शास्त्र का अनुशासन है। इसी लिये हमारे यहां विवाहविधि होते ही स्त्री पुरुष का अर्धाङ्ग बन जाती है और उस का प्रधानत्व वामाङ्ग में

होता है कि जहां शरीर के जीवनशक्तिप्रदायक रक्त का केन्द्रस्थल है जिस से शरीर का पोषण होता है—शार्ङ्गधर ने कहा है—"जीवति जीवति नाथे, मृता मृता या मुदा युता मुदिते । सहजस्नेहरसाला, कुलवनिता केन तुल्या स्यात् ।" जो पतिके जीने से जीती है, मरने से मरती है और आनन्द से आनन्दित होती है। ऐसी सहजस्नेहरसाला कुलयुवती की किस से तुलना होती है? अर्थात् किसी के साथ नहीं एवं ऐसा पवित्र दम्पतीधर्म भी दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं ।

आज कल यूरोप अमेरिका आदि देशों में स्त्रियों की शिक्षा एवं स्वतन्त्रता पर वड़ा ध्यान दिया जाता है—ध्यान क्या है—उन की शिक्षा की एवं स्वतन्त्रता का कमाल है। मानो इस वक्त उन देशों के पुरुष, स्त्रियों के दास, गुलाम, किंकर हैं। अब उस का प्रवाह यहां तक आकर उस का अनुकरण हो रहा है—जिस से भविष्यत् में भारत के सुधार के वदले हानि ही की विशेष संभावना है। हमारे यहां के देश, काल, वायु, जल के अनुसार—हमारे पूर्वज ऋषि मुनियोंने जो जो धार्मिक आचार, विचार, व्यवहार प्रतिपादित किये हैं, प्रस्तावित किये है एवं प्रस्थापित किये हैं—उन में यथार्थ, शुद्ध, पवित्र आचार, विचार, व्यवहार का युक्तियुक्त, विज्ञानयुक्त एवं देहधर्मयुक्त निवन्धन किया है—जिस में यथासंभव आदर से, प्रेम से एवं सत्कार से स्त्रियों के लिये वहुत कुछ कहा है, यहां तक कि—"पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च वहु कल्याणमीप्सुभिः ।" जिन को वहुत कल्याण की इच्छा

है—उन को अर्थात् पिता, बन्धु, पति, देवर को चाहिये कि वे स्त्रियों की पूजा करें—सत्कार करें एवं उन को भूषित करें—इस से बढ़ कर और क्या स्त्रियों का आदर, सन्मान, सत्कार होता है ? और भी—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ।" जहां स्त्रियों की पूजा अर्थात् आदरसत्कार होता है वहां देवता रममाण होते हैं और जहां स्त्रियों का आदरसत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल होती है ! इस से बढ़ कर और क्या कोई कह सकता है एवं किसी देश का स्थल का और प्रदेश का कोई मनुष्य इस से बढ़ कर और क्या स्त्रियों का आदर, सन्मान और सत्कार कर सकता है ? और भी देखिये—भगवान् मनु कितने आदर के साथ स्त्रियों का सन्मान करते हैं—

"स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥
प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति किंचन ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥"

स्त्रियों के सुशोभित होने से सब कुल सुशोभित होता है एवं उन के सुशोभित न होने से कुछ भी अच्छा नहीं देख पड़ता । अच्छी सन्तान होने के लिये उन का सत्कार करना चाहिये । घर में स्त्री और लक्ष्मी में कुछ विशेषता

नहीं है। सन्तान, धर्मकार्य, सेवा, उत्तम रति पूर्वजों की एवं अपनी स्वर्गप्राप्ति स्त्रियों के अधीन है—इस लिये आपस में भिन्नता—फूट होकर किसी प्रकार का विगाड़ न हो—इस का विवाहित स्त्री पुरुषों को सदा प्रयत्न रखना चाहिये। यह भगवान् मनु का कहना कितना धर्म-पर, कितना युक्तिसंगत एवं कितना अनुभवपूर्ण है—इस का हरएक दम्पती को पूर्ण लक्ष्य करना चाहिये एवं इस को नित्य आचरण में लाना चाहिये।

स्त्रियों के गृहकार्य एवं अधिकार क्या हैं—इस का भगवान् मनुने कितना अच्छा विवेचन किया है—

"अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपंक्त्यां च पारिणाहस्य चेक्षणे॥
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥
सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥"

धन के संग्रह, घर के खर्चे, सफ़ाई, धर्म, भोजन एवं घर के सब कारोबार में स्त्रियों की योजना करना चाहिये। स्त्री को सदा आनन्दित रहना चाहिये, घर के काम में दक्ष रहना चाहिये, घरका असबाव ठीक रखना चाहिये एवं तंग हाथ से खर्च करना चाहिये। जिस कुल में भार्या से पति संतुष्ट रहता है एवं पति से भार्या संतुष्ट रहती हैं—उस कुल में निश्चय ही कल्याण होता है।

स्त्रियों का बुरा भला, सुचरित्र दुश्चरित्र, अनुकूल प्रतिकूल, प्रिय अप्रिय, सन्तुष्ट असन्तुष्ट, नाराज़ खुश होना

केवल पतिही पर निर्भर है । पति अपनी संगति से स्त्री को चाहे जैसी बना सकता है । भगवान् मनुने साफ़ कहा है—"यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि । तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ।" पति अपनी स्त्री को अपने जिन गुणों से संयुक्त करता है वह उन्हीं गुणवाली हो जाती है । जैसे नदी समुद्र से समुद्ररूप हो जाती है । वैसे ही भगवान् व्यासने क्या अच्छा कहा है—"श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता । पालिता निगृहीताश्च श्रीः स्त्री भवति भारत !"—स्त्रियां लक्ष्मी का रूप हैं—इस लिये कल्याण की इच्छा रखनेवाले को चाहिये कि वह इन का सत्कार करे । इन पर अधिकार रख कर इन का पालन करने से—स्त्री—श्री अर्थात् लक्ष्मी होती है । इस प्रकार स्त्रियों का पति पर निर्भर रहना तो योग्यही है किन्तु सारे जगत् का अस्तित्व ही स्त्रियों पर निर्भर है । बिना स्त्रियों के तुह्मारा हमारा—किसी का जगत् में पदार्पणही नहीं होता—इसी लिये भगवान् मनुने कहा है कि—

"स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्ति रक्षति ॥
पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जाया या स्यद्धि जाया त्वं यस्यां यो जायते पुनः ॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥
अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥"

प्रयत्न करके एक जाया ही के रक्षण से-अपनी सन्तान का, अपने चरित्र का, अपने कुल का, अपना और अपने धर्म का रक्षण होता है । पति अपनी भार्या में प्रवेश कर के, गर्भरूप हो कर उत्पन्न होता है । तभी जाया का जायापन होता है कि जब पति फिर अपनी भार्या से उत्पन्न हो । जैसे पुरुष का स्त्री सेवन करती है वैसाही वह पुत्र जनती है-इस लिये शुद्ध सन्तान की प्राप्ति के लिऐ प्रयत्न से स्त्री का रक्षण करना चाहिये । स्त्रियों को-आप्त स्वजनों के, घर में रोक रखने से-उन का कभी रक्षण नहीं होता । धर्म के प्रभाव ही से जो स्वयं अपना रक्षण करेंगी वेही सुरक्षित रहती हैं । अर्थात् उन को घर में बन्द करके रखने से या परदों में अवगुंठित कर के असूर्यंपश्या बनाने से या उन पर पहरा रखने से-कभी उन का रक्षण नहीं होता या कभी उन का शील सुरक्षित नहीं रहता या कभी उन का सच्चरित्र नहीं बनता । उन का रक्षण तो केवल-धर्म, प्रेम, एवं पातिव्रत्य ही कर सकता है । वे धर्म में विश्वास रखती हैं, प्रेम में बद्ध रहती हैं एवं पातिव्रत्य में देह दग्ध कर देती हैं । देखिये भगवान् मनुने उन के धर्मका भी कितना अच्छा प्रतिपादन किया है-

> " नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
> पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥
> पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य च ।
> पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥
> पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
> सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥"

स्त्रियों का किसी निराले यज्ञ, व्रत और उपवास करने की आवश्यकता नहीं है। एक मात्र पति सेवाही से उन को स्वर्गप्राप्ति होता है । पतिलोककी इच्छा करनेवाली स्त्री को चाहिये कि—वह पति के जीते जी या मर जाने पर कभी उस का किंचित् भी अप्रिय न करे । अर्थात् कभी उस के विरुद्ध आचरण न करे। जो स्त्री—मन से, वाणी से, देह से कभी पति का अप्रिय नहीं करती—उस को पतिलोक प्राप्त होता है एवं सत्पुरुष उस को साध्वी-पतिव्रता कहते हैं । इसी प्रकार भगवान् व्यास का भी कहना है कि—

> "पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः ।
> पत्यागतिः समा नास्ति दैवतं वा यथा पतिः ॥
>
> भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।
> तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥
>
> दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
> पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥"

स्त्रियों का पति ही देव है, पति ही बन्धु है, पति ही गति है। पति के समान स्त्रियों को अन्यगति नहीं और न पति के समान स्त्रियों को अन्य दैवत ही है। निष्कपट पति की सेवा करना ही स्त्री का परमधर्म है । वैसे ही पति बन्धुवों का कल्याण करना एवं अपनी सन्तान का पालन करना—उन का धर्म है। बुरे स्वभाववाला, स्त्री पर प्रेम न रखने-वाला, बूढ़ा, मूरख, रोगी, निर्धन भी पति हो तो भी पतिलोक—स्वर्ग की इच्छा करनेवाली स्त्रियों को चाहिये कि—वे कभी उस का निरादर न करें।

अब जरा गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के वचन को भी देखिये—

"कह ऋषि वधू सरल मृदु बानी । नारिधर्म कछु व्याज बखानी ॥
मातुपिता भ्राता हितकारी । मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी ॥
अमितदानि भर्त्ता वैदेही । अधम सो नारि जो सेवनतेही ॥
धीरज धर्म मित्र अरुनारी । आपद काल परखिये चारी ॥
वृद्ध रोग वस जड धनहीना । अन्ध बधिर क्रोधी अतिदीना ॥
ऐसे हु पति कर किये अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकै धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पतिपदप्रेमा ॥
बिनुश्रम नारि परमगति लहही । पतिव्रत धर्म छांडि छल गहही ॥
पति प्रतिकूल जनमि जँह जाई । विधवा होय पायतरुणाई ॥"

पूर्व काल में—इसी धर्म, प्रेम एवं पातिव्रत्य द्वारा, अनेक स्त्रियां, पति की सहधर्मिणी, सहचारिणी एवं सहकारिणी बनी थीं । उन के धर्म की, प्रेम की एवं पातिव्रत्य की—दुनिया भरमें कहीं किसी के साथ तुलना, समानता एवं एकरूपता न थी । अर्थात् उन के समान धर्म, प्रेम एवं पातिव्रत अन्यत्र कहीं न था । उन का धर्म, उन का प्रेम, उन का पातिव्रत्य—अपूर्व, अनुपम एवं अत्युत्तम था । पति-सेवा, पतिभक्ति, पतिप्रीति ही जिन का पवित्र कर्त्तव्य था । पति की आज्ञा, पति का शब्द, पति का अक्षर ही जिन का पवित्र मन्तव्य था । एवं पति की इच्छा, पति का विचार, पति का व्यवहार ही जिन का पवित्र भवितव्य था । पति के जीने में जीना, करने में करना एवं मरने में मरना था । ऐसी सुचरित्रा, सती, साध्वी, पतिव्रता जिस देश में, जिस प्रान्त में, जिस नगर में, जिस भूमि में, जिस कुल में—हुई हैं, होती हैं एवं

होंगी—उस देश का, उस प्रान्त का, उस नगर का, उस भूमि का, उस कुल का—अहो भाग्य, महाभाग्य श्रेष्ठ भाग्य समझना चाहिये एवं महत्पुण्य, महत्सुकृत, श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिये।

हाय! भारत, सभीके साथ तूने इन अमूल्य, अनर्घ्य, अद्वितीय स्त्रीरत्नों को भी खो दिया है! हाय हाय! तूने कुछ कहीं न रक्खा, संभाला और न रोका है!—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'—इसी तत्वने, इसी सूत्रने, इसी वाक्यने—स्त्रियों को गृहदेवता, पतिपरायणा, साध्वी, सच्चरित्रा बनाया है एवं आज भी वे इसी तत्व, सूत्र एवं वाक्य से—रुद्ध, बद्ध एवं शुद्ध हैं। किन्तु—"हतविधिनिहितानां हा! विचित्रोविपाकः" इस माघ कवि की उक्ति के अनुसार—आज कल पाश्चात्य युवतियों की शिक्षा, स्वतन्त्रता, सभ्यता एवं पातिव्रता की महाधारा का प्रवाह, पूर, स्रोत इधर आरहा है; जिन की धृष्टता, उद्दण्डता, प्रचण्डता आज किसी से छिपी नहीं है। बेचारे घर के बापभाई, मावहन, पतिदेवर, श्वसुर, बेटाबेटी तो—क्या चीज़ हैं? कुछ भी नहीं! किन्तु इस ज़माने के इग्लैण्ड के मुख्य प्रधान मि० एक्विस्थ एवं अमेरिका के प्रेसिडेन्ट तक पर आक्रमण करने में वे ज़रा भी हिचकिचाती नहीं—इस की बड़ी भारी आशंका, चिन्ता एवं व्यथा हो रही है कि—न जाने, समय के हेरफेर से, काल की चक्रगति से एवं दैव की कुटिलता से—रहा सहा, बचा खुचा स्त्रीधर्म, स्त्रीप्रेम, स्त्रीपातिव्रत्य कहीं नामशेष न हो जाय? एवं कहीं रसातल को न पहुंच जाय?

परात्पर करुणामय परमात्मा की बड़ी कृपा है, बड़ा अनुग्रह है, बड़ा प्रसाद है कि—आज ऐसी बिगड़ी हुई अत्यन्त पतित अवस्था में भी कहीं कहीं सतियों का सतित्व झलक उठता है, चमक उठता है एवं भडक उठता है। प्राचीन, पुरानी, अर्वाचीन, आधुनिक—कुछ वर्ष की, महीने की—नहीं नहीं, अभी की, हाल की, आज कल की सत्य घटना सुनिये—जिस का संक्षिप्त वृतान्त "निगमागमचन्द्रिका" की सन् १६१३ की जुलाई की संख्या में प्रकाशित हुआ है—"भारत, असंख्य रत्नों का आगर है। इस में अनन्त जीवरत्न, जडरत्न, मानवरत्न, स्त्रीरत्न, पुरुषरत्न हुए, हैं और होंगे। अन्यदेशों की अपेक्षा इस देश में एक प्रकार के ऐसे रत्न होते हैं जिन की कल्पना भी अन्यदेशवासी नहीं कर सकते। उस रत्न का नाम 'सतीरत्न' है। भारत की दशा बिगड़ रही है, यहां की नीतिरीति दिनोंदिन भ्रष्ट हो रही है, तो भी, सतीरत्नो का यहां पर अत्यन्तभाव नहीं है। अभी मैनपुरी जिले के अन्तर्गत जैरेला नामक स्थान में एक कुलीन ब्राह्मण सज्जन के घर एक १६ वर्ष की युवतीने पति के साथ सहगमन किया है। लोगों ने बहुत रोका, पुलिस ने डांटडपट बताई पर उस ने किसी की न सुनी और चिता में प्रसन्नतापूर्वक देह समर्पण कर दिया। इसी प्रकार लखनऊ के रानी कटरा (खेत गली) मुहल्ले में एक सती मृत पति के साथ सहगमन करना चाहती थी। लोग कहते हैं कि—उस के मुख से ज्वाला निकलती थी। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट, कमिश्नर साहब और अन्यान्य अधिकारियों

के उद्योग से वह अपनी मनोकामना पूर्ण कर न सकी परन्तु इस में सन्देह नहीं कि–उस के हृदय में सतीत्व का उदय पूर्ण हो गया था। कलकत्ता और बम्बई में भी ऐसे ही दो सतियों के मामले हुए हैं। उन को रोकने पर उन्हों ने घर में मट्टी का तेल डालकर अपने आप को जला डाला। सती वीरनवाली का स्मरण पाठकों को भूला न होगा। इन उदाहरणों को देख कर यही कहना पड़ता है कि–धन्य भारत! और धन्य भारत का पवित्रतम सतीत्वधर्म!!"

मेरे प्रिय गृहस्वामी देवो! अपनी ललाम ललनाओं, अपनी सुन्दर कोमल अर्धतनुओं, अपनी प्यारी गृहदेवताओं को–अब विद्यादान, शिक्षादान, हृदयदान, प्रीतिदान, आदि जितने पृथ्वीभर में दान हैं–उदार चित्तसे, उदार हृदयसे, उदार अन्तःकरण से–खुले हाथ, खुले दिल, खुले जी देने में क्षण की भी देर मत करो। इस वक्त एक एक क्षण–तुह्मारे लिये महायुग है। जरा सोचो तो सही–तुह्मारी एक आंख फूट गई तो, क्या तुम चारों तरफ़ देख सकते हो? तुह्मारा एक हाथ टूट गया तो, क्या तुम दो हाथों का काम कर सकते हो? तुह्मारा एक पैरटूट गया तो, क्या तुम खड़े रह कर दौड़धूप कर सकते हो? स्त्रियां तुह्मारा अर्धांग हैं–अर्धांग ही जब तुह्मारा काना, लूला, लंगड़ा है तो–फिर, तुम किस काम के, किस दुनिया के, किस मसरफ़ के हो? कभी मत भूलो,–कभी मत छोड़ो, कभी मत खोवो–सोचो, देखो, चेतो–प्लेग जैसे भयंकर आक्रमण में तुम खुद अपनी प्यारी मा स्त्री को मरने को क़रीब या मरती हुई को छोड़ कर चल दिये हो! किन्तु–धन्य भारत! साधु भारत!!–तुह्मारी जननी, तुम्हारी अर्धांगिनी–

"ऐसी देखी, अगर न सुनी-हृद्विदारा कुवार्त्ता,
भागी होगी-तनय पति को छोड मा स्त्री भयार्ता।
शय्या पे ही रहकर मरी, साथ छोडा न भागी,
होती भर्त्ता सुत विन सुखी कौन नारी अभागी? ॥

बातें हैं-अवतक यहां आज भी विद्यमान,
ऐसा नारी चरित्र-जिससे हिन्द है साभिमान।
है अन्यत्र प्रणय पतिका-एक खाली करार!
होते कैसे-अनुपम वहां, श्रेष्ठ ऐसे विचार? ॥"

मेरे आत्मचरित्र में लिखे हुए अनुभव के अनुसार कभी तुम्हें कहीं न गई और न कहीं जाही सकती है। क्या इस का भी-तुह्मारे पत्थरदिल पर कुछ असर होता है? क्या इस का भी-तुह्मारे वज्रहृदय पर कुछ परिणाम होता है? क्या इस का भी-तुह्मारे कठोर चित्त पर कुछ आघात होता है? हम ऐसी पुण्यस्त्रियों को, कुलवधुओं को, सच्चरित्र सतियों को पूज्यभाव से, साधुभाव से, आदरभाव से इस ऋग्वेद के मन्त्रद्वारा शुभाशीस देकर उन का निरन्तर इहपरलोक में कल्याण चाहते हैं-

"इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं! संसृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः।"-हे वधु! इस पतिकुल में प्रिय प्रजाके साथ तेरी समृद्धि होवे। इस घर में गृहपति को जान। इस पति के साथ तू अपने शरीर को उत्पन्न कर। और मुख्यतः तुम्हें सब जायापति कहें अर्थात् तुम सदा सन्तानयुक्त रहो।

पाश्चात्य देशों में भी, अगले जमाने में-इतनी तो कहां-किन्तु किसी किसी कुलकामिनियोंने अपने कुल की,

अपने नगर की, अपने देशकी शोभा बढ़ाई है–इस में कुछ भी शंका नहीं है। फ़ान्स में डिटाकेल नामक एक विद्वान् गृहस्थ थे । हमेश उन का कहना था कि–"सुख-भावी और सदाचरणी स्त्री के समान, मनुष्य को–गृहस्थाश्रम में और कोई दूसरा आधार नहीं है। ऐसी स्त्रियों की सहायता से कितने ही सामान्य मनुष्य उन्नत हुए हैं और बुरी स्त्रियों की सोहवत से कितने ही उन्नत मनुष्य अवनत हुए हैं।" डिटाकेल को वहुत अच्छी स्त्री मिली थी। वह जैसे जैसे जगत् का अनुभव लेता रहा, वैसे वैसे उसे मालूम हुआ कि–मनुष्य के सद्गुण और सदाचरण बढ़ने के लिये उस के गृहस्थाश्रम का प्रवन्ध अच्छा होना चाहिये । उसने एक जगह अपने लिये लिखा है कि–"मुझे वहुत सुखदायक चीजें मिलीं किन्तु मनुष्यों के सव सुखों में पहिला सुख–स्त्रीसुख होता है–वह मुझे ईश्वरने दिया है–इस लिये मैं उस का कृतज्ञ हूं । तरुणावस्था में जो अयुष्य का समय मुझे बुरा मालूम होता था, आज वही समय मुझे अच्छा मालूम होता है–अब मेरे सर्वस्व का नाश भी हो जाय तो–मुझे उस का जरा भी दुःख न होगा।" डिटाकेल वड़ा निस्पृह था। उस वक्त फ़ान्स में राज्यक्रान्ति की वड़ी हलचल मची हुई थी–जिस से उस पर अनेक संकट आये, तथापि घर में पूर्ण शान्ति होने के कारण–उस ने वड़ी हिम्मत के साथ सव संकटों को पार किया । एक समय उस ने अपने प्रिय मित्र को पत्र लिखा–इस में उसने लिखा था कि–"ईश्वरने मुझे जो सुख दिये हैं–उन में मेरी जैसी अच्छी स्त्री मुझे दी है–

यह सब से बड़ा सुख है । कठिण संकटसमय में, उस का मुझे कितना सहाय था उस की तुम्हें तनिक भी कल्पना न होगी । वह नित्य शान्त रहती है तो भी प्रसंग पड़ने पर उसे अद्भुत धैर्य और उत्साह प्राप्त होते हैं । वह गुप्त रीति से मेरा सहाय करती है । वह मुझे बोध कर के शान्त करती है । जिन संकटों में मैं घवरा जाता हूं—उन में वह शान्त रह कर मुझे धैर्य देती है ।" उस ने अपने दूसरे एक पत्र में एक सज्जन मित्र को लिखा था कि—"तुम्हारे जैसी सुशिक्षित मनवाली स्त्री की संगतिसे मुझे वहुत दिन जो सुख मिला है—उस का मैं वर्णन नहीं कर सकता । जब कोई वात ठीक योग्य जान कर मैं कहता हूं या करता हूं, तव उस का मुख तत्काल प्रफुल्लित हो जाता है—उसे देख कर मुझे वड़ा आनन्द होता है । वैसे ही जो वात मुझे बुरी जान पड़ती है—उस से उस का मुख म्लान हो जाता है । यद्यपि वह मुझसे डरती है तो भी मुझे उस से डरना पड़ता है—इस का मुझे वडा सन्तोष है । ऐसा ही अगर मैं उस पर प्रेम करता रहा तो—मुझे विश्वास है कि—मेरे हाथ से कभी कोई बुरा काम न होगा ।" डिटाकेल के निस्पृह स्वभाव के कारण—उस का सरकारी काम छूट जाने पर, वह अपना वक़्त ग्रन्थ लेखन में गुजारने लगा । फ्रान्सदेश की राज्यक्रान्ति पर उस ने एक अच्छा ग्रन्थ लिखा है । यह उस का आख़री ग्रन्थ था । उस के लिखते समय—उसने लिखा है कि,—"लगा तार पांच छ घण्टे लिखने पर मेरा हाथ स्तब्ध हो जाता था, उस वक़्त मुझे विश्रान्ति की वड़ी आवश्य-

कता होती थी। ग्रन्थ का उपसंहार करते वक्त-ग्रन्थकर्त्ता को जो कठिनाइयां प्राप्त होती हैं उन का विचार करने पर तुम्हें उस का आयुष्यक्रम निःसंशय बुरा मालूम होगा। मेरा मन शान्त कर के मेरी स्त्री मुझे नया उत्साह दिलाती है-इसी से मैं अपना ग्रन्थ लिख रहा हूं, वरना, मुझसे कुछ न होता। उस का स्वभाव मेरे प्रतिकूल होने पर भी-हम दोनों जैसा ऐक्य अन्यत्र देख पड़ना-बहुत असम्भव है। मैं नित्य रोगी रहने के कारण त्रस्त एवं क्रोधाविष्ट रहता हूं तो भी-परमेश्वर ने मुझे उस का सहाय दिया है, जो मुझे सर्वदा उपयोगी है।"-यह डिटाकेल का लिखना-इस वक्त इस लेखक पर वाक्य वाक्य क्या-शब्द शब्द, नहीं नहीं-अक्षर अक्षर घटता है। फ़िल हाल इस लेखक का यही हाल है और उस के डिटाकेल से भी बढ़ कर दस दस बारह बारह घण्टे-इस पुस्तक के लिखने में गुज़र रहे हैं एवं उस में उस को अनेक आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक संकटों का भी सामना करना पड़ता है-किन्तु उसे परमकारुणिक करुणामय परात्पर परमात्मा की बड़ी सहायता है-जिस के लिये वह सदा कृतज्ञता के साथ सर्वतोभाव उस की शरण में रह कर, इस ग्रन्थ को लिख रहा है और इसी लिये वह अपने को कृतकृत्य मानता है।

इंग्लेण्ड में सर वुइलियम हेमिल्टन नामक एक बड़ा तत्ववेत्ता हुआ है। वह कुछ दिन तक एडिम्बरा के विद्यालय में न्याय और मानसशास्त्र का अध्यापक था। उस को बड़ी सुशीला स्त्री प्राप्त हुई थी। वह अपनी आयुष्य

के छप्पनवें वर्ष में अर्धांगवायु के आघात से बीमार हुआ तो भी उस ने अपनी स्त्री की सहायता से इतने उत्तम ग्रन्थ लिखे कि—जिस से सारे यूरोप में उस की कीर्त्ति छा गई । उस की स्त्री ग्रन्थों को पढ़ कर उस को सुनाती, ग्रन्थों के प्रमाण खोज निकालती, उस के ग्रन्थ के हस्त-लेख तैयार कर के शुद्ध करती—अर्थात् जो जो काम ग्रन्थ-रचना में आवश्यक होते थे, वे सब वह कर के पति का श्रम बचाती थी । पति में पूर्ण प्रीति रख कर धैर्य एवं चातुर्य से पति को सहायता देने ही से हेमिल्टन के उत्तम उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे । वैसे ही यूरोप के जिनीवा नामक नगर में ह्यूबर नामक एक सृष्टिशास्त्र-वेत्ता पुरुष हुआ है—उस की स्त्री भी बड़ी पतिभक्ता थी । वह अपनी आयु के सतरहवें वर्ष ही में अन्ध हो गया था, तथापि, तीक्ष्णदृष्टि की आवश्यकता होने पर भी—उस ने अपनी स्त्री ही की तीक्ष्णदृष्टि द्वारा अर्थात् उसी की सहायता से सृष्टिशास्त्र का अभ्यास किया । दृष्टिहानि का दुःख कम होने ही के लिये—वह अपने पति को शास्त्राध्ययन के लिये उत्तेजित करती थी । जिस से उस का जीवन सुखमय हुआ । अन्त में वह कहा करता था कि—"अगर मुझे दृष्टि फिर प्राप्त हो जाय तो मैं दुःखित हूंगा, क्यों कि—मुझ जैसा मनुष्य, मुझे कितना पसंद होगा—यह मैं नहीं कह सकता । मेरी स्त्री मुझे हमेशा तरुण, अभिनव और सुन्दर मालूम होती है—यह सामान्य बात नहीं है ।" ह्यूबर ने 'मक्षिका' विषयक एक अत्युत्तम ग्रन्थ लिखा है—

उस में उस ने मक्खियों की उत्पत्ति और उन के स्वभाव का वहुत अच्छा प्रतिपादन किया है । जिस वक़ उस ने यह ग्रन्थ लिखा था उस वक़ उस को अन्ध हुए पचीस वर्ष हो चुके थे, तथापि उस के पढ़ने से यह जान पड़ता है कि—यह किसी वहुत तीक्ष्णदृष्टिवाले मनुष्य का लिखा हुआ अमूल्य ग्रन्थ है ।

पाश्चात्य देशों में भी—ऐसी अनेक पतिभक्ता, पतिपरायणा, सुशीला, साध्वी स्त्रियां हो चुकी हैं, इस समय भी हैं और आगे भी होंगी—इस में कुछ सन्देह नहीं । किन्तु इस वक़ उन देशों में भौतिकविद्या, शास्त्र, कलाओं का अर्थात् मोहमयी कृत्रिम माया का प्रचार वहुत वढ़ रहा है—जिस से हरएक स्त्रीपुरुष भौतिक पदार्थों द्वारा अपनी अपनी उन्नति में लगे हुए हैं । उन का मयासुर का वाजार दिन पर दिन तरक़्क़ी पा रहा है । नये नये आविष्कारों के साथ साथ—महत्वाकांक्षा, स्वतन्त्रता एवं सभ्यता का ज़ोर, वड़े ज़ोर के साथ वढ़ रहा है । दिनों दिन पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां वहुत ही अग्रसर हो रही हैं । वे विदुषी वन कर वड़ी वड़ी परीक्षाओं को पास कर चुकी हैं और कर रही हैं । वे अनेक घरेलू, व्यापारी, सामाजिक, सार्वजनिक, पारमार्थिक संस्थाओं में नियुक्त हैं, मेम्बर हैं, कर्मचारिणी हैं एवं स्वामिनी हैं । वड़े वड़े कल कारख़ानों में, कम्पनियों में, होटेलों में, अस्पतालों में, दूकानों में, क्लवों में, सरकारी महकमों में, रेलों में, तारघरों में, डाकघरों में, नाटकों में, तमाशों में—जहां जहां उन का

प्रवेश हो सकता है, वहां वहां वे नियुक्त हो के, भरती हो के, सम्मिलित हो के–यथेच्छ वेतन पाती हैं और पुरुषों पर अपना प्रभाव जमाती हैं। अपने घर में, अपने कुटुम्ब में, अपने पति के सहवास में, अपने इष्टमित्र समाज में–बिलकुल स्वतन्त्र, बिलकुल स्वाधीन, बिलकुल आनन्द में रहती हैं। आजकल वे बड़ी बड़ी क़ानून की परीक्षा पास कर के–वकील, बेरिस्टर, जज, मेजिस्ट्रेट होना चाहती हैं एवं कौन्सील, ज्युडिशियल कमेटी, पार्लियामेन्ट तक में प्रवेश करना चाहती हैं। अब वे सार्वजनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजकीय संस्थाओं में अपने को मेम्बर बनाने के लिये और मत देने के अधिकार के लिये–बड़े बड़े राजकर्मचारियों पर धौले दिन–चाहे जहां आक्रमण कर रही हैं, मारपीट कर रही हैं, धौल धप्पा कर रही हैं और जेल में भी जा रही हैं!! देखें, अब वे कहां तक आगे बढ़ती हैं, कहां तक साहस करती हैं, कहां तक कमाल करती हैं और उन का क्या परिणाम होता है? आज इन के प्रचार, व्यवहार, बरताव से कोई अनजान नहीं तो भी, उन की स्त्रीजातीयता का एक छोटा सा नमूना–जो हाल ही में, ता० २२ अगस्त सन् १९१३ के 'वेंकटेश्वर' में प्रकाशित हुआ है–उस को, हम पाठकों के उपदेश, कौतुक एवं मनोरंजनार्थ ज्यों का त्यों यहां उद्धृत करते हैं। हमें दृढ़ आशा है कि–उस से पाठकों कुछ न कुछ लाभ होगा ही।

पति की मट्टी पलीद।

अंग्रेज़ी दम्पती—आईन का अद्भुत दृश्य।

"विलायत में एक चलती हुई रेलगाडी के पहिले दर्जे में एक युवकयुवती की जोडी बैठी है। युवक का नाम मि० एडविन् है। आप विकालत के उम्मीदवार हैं। युवती का नाम है एंजिलीना। वह विकालत की वडी ऊंची परीक्षायें पास किये बैठी है। सारा क़ानून फांकडाला है। उस के नाम के साथ बी. ए., एम. ए., एल्एल्. डी. और एल्. एल्. बी. का पुछिल्ला लगा है। अभी अभी परस्पर इस युगल जोडी का विवाह हुआ है। गिर्जे से निकलने के बाद रेलगाड़ी में सवार होकर अभी इष्टमित्रों से इन का पीछा छूटा है। गाडी छूटते ही पति-पत्नी के परस्पर प्रेमपूर्वक यों बातें होने लगीं—

पति—भगवान का धन्यवाद! अब कहीं जा कर एकान्त हुआ।

पत्नी—हां, अच्छा हुआ जो विवाह की रस्मों का पाखण्ड समाप्त हुआ।

पति—अब तो प्यारी, हम और तुम क़ानून की दृष्टि में एक हुए। दोनों का धन, मन, दिल, शरीर सब एक।

पत्नी—क्षमा करना प्यारे एडविन, क़ानून की वर्त्तमान-दशा में तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है। तुम एक प्रकार निर्धन हो और मैं धनवंती हूं। अंग्रेज़ी क़ानून के अनुसार तुम्हारा धन मेरा, पर मेरा धन मेरा अपना है, तुम्हारा नहीं।

पति—परन्तु मेरा अधिकार—

पत्नी—तुझारा कुछ भी अधिकार नहीं। देखो सन् १८८२ वाला विवाहिता की जायदाद का आईन। उस के अनुसार मेरी अपनी जायदाद ख़ास मेरे लिये है।

पति—हां प्यारी, यह तो ठीक है। पर क्या सम्भव नहीं कि मारपीट कर या दुलार से।

पत्नी—प्यार दुलार! यह तो पुराना पाखंड है। प्यारे एडविन! तुम पहिले मारपीट कर देखो।

पति—यह वो मैं कभी नहीं कर सकता। लेकिन् थोडी देर के लिये मान लो कि मैं मारपीट करूं?

पत्नी—तब मैं तुरन्त अदालत की शरण में दौड़ी जावूंगी और तुम से अलग किये जाने की प्रार्थना करूंगी, देखो सन् १८६५ का विवाहिता संबन्धी सरसरी विचार आईन। यदि लात घूसे ज़ोर ज़ोर से मारोगे, तो अत्याचार की बुनियाद पर सन् १८५७ वाले क़ानून के अनुसार तुम से सदा के लिये छुटकारा पाने की नालिश ठोक दूंगी।

पति—यह सच है, परंतु मेरीजान, तेरे साथ तो प्यार से ही काम निकल आवेगा।

पत्नी—हुँह! यह सब वाहियात! ऐसे चोचलों से तो मैं और भी तंग होकर तुम को छोड दूंगी।

पति—तुम्हें यह अधिकार ही नहीं। पति अपनी पत्नी को बन्द कर सकता है, और दण्ड भी दे सकता है।

पत्नी—वाह प्यारे एडविन वाह! तुम न जाने किस पुराने ज़माने का क़ानून पीट रहे। अजी, क्या सरकार बनाम जेक्सन् सन् १८६१, १ कीन्स बेंच पृष्ट ६७१,

वाला मुक़द्दमा भूल गये ? इम्तहान के लिये इस नज़ीर को तो मैं तुम को वहुत रटा चुकी हूं।

पति—हां हां, ठीक कहती हो । मैं भूल गया। उस नज़ीर का मतलव यही है न, कि पत्नी जब चाहे पति को छोड़ दे, परन्तु, पति बिचारा न उसे छोड़ सकता है और न किसी प्रकार दण्ड दे सकता है । लेकिन एक बात है, प्यारी एंजिलीना, यदि तुम मुझे छोड़ सकती हो, तो मैं भी जब चाहूं तुम्हें छोड़ सकता हूं।

पत्नी—हां, छोड़ सकते हो, पर मेरी इच्छा हो तब। यदि मेरी विना मर्ज़ी मुझे छोडोगे तो मैं तुम पर रोटी कपड़े की नालिश जड़ दूंगी—देखो फिर वही सन् १८९५ वाला विवाहिता संवन्धी सरसरी विचार आईन।

पति—हां, यह तो तुम ठीक कहती हो।

पत्नी—और यह जानते हो न, कि क़ानून ने ऐसा अधिकार केवल स्त्रियों को ही दिया है ? तुम को अन्त में सरकारी दरिद्राश्रम में मेहनत कर के पेट पालना पडेगा। हां, विवाहिता की जायदादवाले क़ानून के अनुसार मैं तुम्हारे भोजन के ख़र्च की ज़िम्मेदार समझी जावूंगी।

पति—लेकिन तुम यदि मुझे छोड़ कर चली जावो, तो मैं अपने वैवाहिक अधिकारों के काम में लाने के लिये तुम को ज़बरदस्ती अपने साथ रखने का दावा कर सकता हूं।

पत्नी—अच्छा! लेकिन प्यारे यह तो बतावो कि दरकार कर के जब डिग्री होगी तो उस की तामील मुझ पर कैसे करोगे ?

पति—नहीं मानोगी, तो अदालत का अपमान करने के अपराध में जेल भेजी जावोगी ।

पत्नी—वाह वाह! कहीं हो न! तुमने क़ानून क्या खाक याद किया है? अजी, क्या वेल्डन वनाम वेल्डन वाली नज़ीर भूल गये! इसी मुक़द्दमे पर तो सन् १८८४ वाला वैवाहिक विवाद आईन पास हुआ, और—

पति—हां, हां, याद आया । वेल्डन वनाम वेल्डन । इसी मुक़द्दमे में तो यह निर्धारित हुआ कि, अदालत के अपमान की आड में स्त्री पर ऐसी डिक्री की तामील ही नहीं हो सकती ।

पत्नी—नहीं, नहीं, फिर भूलते हो । ऐसी डिक्री ही तुम को नहीं मिलेगी । यदि तुम वैवाहिक अधिकार काम में लाने के लिये मुझ को जबर्दस्ती अपने साथ रखने की नालिश करोगे तो, तुम को स्वयं अलग रहने की डिक्री मिलेगी ।

पति—लेकिन प्यारी, एंजिलीना! तुम्हीं सारा क़ानून फांके नहीं बैठी हो । क्या तुम्हें मालूम नहीं, कि मैं तुम्हारे दाजदहेज पर दावा कर सकता हूं—देखो, स्विफ्ट वनाम स्विफ्ट एल्. आर्., ६ पी. डी. ५२.

पत्नी—वाह वाह! यह एक ही कही! तुम तो सचमुच सब क़ानून भुला बैठे । मैं हज़ार दफ़े यह बात रटा चुकी हूं कि स्विफ्ट वनाम स्विफ्टवाले मुक़द्दमे का स्पष्टीकरण 'मिचेल वनाम मिचेल—सन् १८९१ पी. २०८ में किया जा चुका है । उस का मतलब यही है कि यदि मेरी जायदाद के साथ पहले से कोई क़ैद लगी हो तो तुम किसी तरह उस में हस्तक्षेप नहीं कर सकते । यदि ऐसाही

तुम्हें क़ानून याद है तो न जाने इम्तहान में कैसे पास होगे।

पति—अच्छा प्यारी, इस बहस से क्या लाभ। न मैं तुम को छोड़ता और न तुम मुझे छोड़तीं। बस फिर क्या झगड़ा।

पत्नी—यदि तुम मुझे छोड भी दो तोभी मुझे अधिकार है कि तुम्हारा पीछा करूं और जहां कहीं तुम रहते हो, दरवाज़ा तोड़ कर तुम्हारे घर में ज़बर्दस्ती घुस जावूं—देखो, डन हिल बनाम डन हिल वाले मुक़द्दमे में मि० जस्टिस् वार्नेस का फ़ैसला।

पति—यदि यह बात है तो मैं भी तुम्हारा पीछा कर सकता हूं और द्वार तोड कर ज़बरदस्ती तुम्हारे घर में घुस सकता हूं।

पत्नी—जी नहीं। कभी इस भरौसे भी मत रहना। यदि तुम ज़बर्दस्ती मेरे घर में घुसोगे तो मैं अनधिकार प्रवेश की नालिश तुम पर ठोंकदूंगी।

पति—अच्छा जी जाने दो। हम लोगों को कभी ऐसा मौक़ा ही नहीं आवेगा। हम दोनों प्रेमपूर्वक शान्ति से रहेंगे। हां, यह अवश्य है कि हमारी आमदनी—नहीं नहीं मेरी आमदनी—बहुत लम्बी चौड़ी नहीं है, लेकिन यह कैसा आराम है कि विवाह के कारण अब मुझे आमदनी पर इन्कमटेक्स कम देना पड़ेगा।

पत्नी—देखो, फिर तुम भूले। अजी, मैं कहती हूं, तुमने इतना क़ानून रट कर आख़िर किस कुए में डाल दिया? क्या तुम्हें मालूम नहीं कि इनकमटेक्स कमिश-नर पति पत्नी की जायदाद पर अलग अलग नहीं, बल्कि

एकजा ही टेक्स लगाते हैं और उस का देनदार मुख्यतः पति ही होता है । अपना तो अपना, तुम्हें अब मेरी जायदाद का टेक्स भी अदा करना पड़े गा !

पति—अरे वापरे ! तब तो मेरी सारी आमदनी टेक्स में ही चली जायगी, जेबख़र्च के लिये कुछ भी न बचेगा !

पत्नी—अहा ! यही तो मज़ा है ! तभी तो तुम मेरे वश में रहोगे । जितना ख़र्च मुनासिब समझूंगी, दूंगी । तुम्हें मेरा हाथ निहारना पड़ेगा ।

पति—यह तो बड़ी लज्जा की बात है, एंजलीना ! हां, लो भला याद आया । विवाह के पहले जो १५००) रुपये मैंने तुम्हें उधार दिये थे, उन के लिये मैं तुम पर दावा करूंगा ।

पत्नी—अच्छा, तो यह कहिये ! दावा दायर कर के वसूल कीजियेगा आप !

पति—हां, बेशक वसूल करूंगा ।

पत्नी—बस मुंह धो रखिये !. और इम्तहानमें भी पास हो चुके ! आंखें खोल के देखो ज़रा बटलर बनाम बटलर १४ क्यू. बी., डी., ८३१ देखो मि० जस्टिस चिल्स इस मुक़द्दमे में सन् १८८२ वाली विवाहिता की जायदाद के आईन अनुसार क्या फ़रमाते हैं । उन का कथन है कि विवाह के पहले पति पत्नी में जो लेनदेन रहा हो वह विवाह होते ही मिट जाता है । सो प्यारे एडविन् ! हम दोनों का विवाह होते ही वह तुम्हारे १५००) डूब गये ।

पति–अच्छी कही–तो अव कोई वताये की इस ज़माने में विवाह करने का लाभ ही क्यां हुआ।

पत्नी–वाह हुआ क्यों नहीं? एक तो यही लाभ है कि यदि पति अपनी पत्नी की कोई चीज़ चुराये तो वह चोरीका दोषी नहीं माना जायगा।

पति–(उछल कर) हां! यह वात है। तव तो यह लो (मुखचुम्वन करता है)

पत्नी–(छनक कर) हटोजी! यह क्या वात? एल्. एल्. वी. और एल्–एल्. डी. पास स्त्री से ऐसी गुस्ताख़ी! यदि मैं मर्द होती तो कोडों से तुह्मारी खवर लेती।

पति–जी हां, खवर लेतीं तो मैं तुरन्त मेजिस्ट्रेट की शरण में दौडा जाता और सन् १८९५ वाले आईन के अनुसार तुम पर मारपीट की नालिश ठोंक देता।

पत्नी–चलो, वस रहने भी दो! देखली तुह्मारी क़ानूनी लियाक़त। कुछ खवर भी है? उस आईन के अनुसार पत्नी ही नालिश कर कसती है, पति नहीं।

पति–एंजिलीना, तू तो सचमुच क़ानून का पुतला नहीं नहीं क़ानून की पुतली है। तुझे तो 'वार' (Bar) में जाना चाहिये! क्या कहा? नहीं जावूंगी! अच्छा न सही। यह लो स्टेशन आगया। तुम नहीं जातीं तो मैं ही 'वार' (Bar) में जाता हूं। (पतिराम चले गये)

(अन्तिम वाक्य में 'वार' (Bar) शव्द के दो अर्थों की आड़ में पति को शरण लेना पड़ा। वार का एक अर्थ है वकीलों का पेशा और दूसरा अर्थ है शराव की दूकान। पति ने पत्नी से कहा कि यदि तुम 'वार' अर्थात्

वकीली के पेशे में नहीं जातीं तो मैं 'बार' अर्थात् शराब की दूकान में जाता हूं । यों विचारेने क़ानून की पुतली पत्नी से पिण्ड छुडाया। अंगरेज़ी क़ानूनने विवाहिता स्त्रियों को कैसी स्वतंत्रता दे रक्खी है यही दिखाना इस लेख का उद्देश्य है ।)"

पाश्चात्य देशों की स्त्रियों का आजकल ऐसा आचरण हो रहा है—इस का मुख्य कारण, अध्यात्मविद्या का अभाव है एवं अनात्मविद्या का प्रभाव है। विवेकानन्द, रामतीर्थादिकों के लौट आने पीछे अब वहां अध्यात्म-विद्या का ठीक प्रचार हो रहा है । जिन जिन स्त्रीपुरुषों की बीजग्राहिणी हृदयभूमिका में शुभ विचार बीजों का आरोपण हो कर कुछ कुछ अंकुर निकल आया है—वे कभी इस प्रकार की बातें नहीं करते और न ऐसे निसर्ग के विरुद्ध आचरण ही करते हैं । इसके भी वहां इस वक़ अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं एवं उन की तरक्की हो रही है । कालगति, कालचक्र, कालप्रभाव क्या क्या नहीं करता एवं क्या क्या नहीं कर दिखाता ?

अब ज़रा पुस्तकों की संगति की ओर झांकिये—क्या, कितनी और कैसी लाभकारी, सुखकारी और उपदेशकारी हैं ? पुस्तकों के लिये ऊपर कुछ दिग्दर्शन हो चुका है तो भी यहां उन की संगति का, समागम का, सहवास का विवेचन करना अनुचित, अप्रासंगिक, एवं असंगत न होगा । पुस्तकों का—ग्रन्थोंका पोथियों का—प्रणयन, प्रथन, सृजन पहले पहल इसी पुण्य भरतभूमिही में हुआ है । इसी रत्नगर्भा ज्ञानप्रसू वसुंधरा का अत्यन्त समुज्वल ज्ञान-

प्रदीप, अत्यन्तविशाल ज्ञानरत्नाकर, अत्यन्त प्राचीन ज्ञान विजय स्तम्भ ऋग्वेद ही प्रथमप्रणयन है—यह वात पाश्चात्यों को भी सम्मत है एवं इस सत्य सिद्धान्त का कोई भी किसी देश का मनुष्य अन्त नहीं कर सकता। ऋग्वेद के पहले जगत् में कोई पुस्तक वा ग्रन्थ कहीं न था। हमारे ऋषिमुनि महात्माओं ने, पंडित शास्त्रीओं ने, विद्वज्जनसज्जनों ने, विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और आजकल के जैसे कागज़, स्याही, पेन, पेन्सिल, छापेखाने विद्यमान न होने पर भी—पृथ्वी के इस छोरसे उस छोर तक, उन का प्रसार हुआ है, प्रचार हुआ है एवं उपयोग हुआ है—यह ऐसी वैसी सामान्य वात नहीं है। आजकल तो मिनटों में पृथ्वी की इस छोर से उस छोर—चाहे जैसी वुरी भली पुस्तक का प्रसार हो सकता है किन्तु उस वक्त़ कोई पुस्तक वहुत ही उपयोगी, उपादेय एवं उपकारी होती थी तभी उस का आदर होता था; प्रसार होता था एवं वह चिरस्थायिनी होती थी। उस वक्त़ आजकल जैसी निरुपयोगी, वेकार, गन्दी, रद्दी, सद्दी अनुपकारी पुस्तकें वनती ही न थीं; अगर वनती थीं तो पानी के वुलवुले के समान जहां का तहां उन का विलय हो जाता था। ऐसी हमारी अनुपम, श्रेष्ठ, ज्ञानपूर्ण, दुर्लभ, अमूल्य पुस्तकों पर, ग्रन्थों पर क्या आक्रमण, क्या अत्याचार, क्या आघात थोडा हुआ है? पुस्तकों के ढ़ेर के ढ़ेर लगा कर—उन की होली की गई, उन की ज्वाला की गई एवं उन की रक्षा की गई। उन की होली में अत्याचार का चित्र खिंचा है, उन की ज्वाला में पापकर्म

का चित्र देखा गया है एवं उन की रक्षा में रक्षा की रक्षा हुई है ! उन के सिलगते हुए पत्रों में 'आंमाल नामा' लिख कर 'सिज्जिन्' में भेजा गया है, उन की रक्षा में भारत की रक्षा का अन्तर्भाव किया गया है एवं अन्त में रक्षा करनेवालों की भी रक्षा का अन्त लाया गया है ! जो निरन्तर चिरकालिक अमर होते हैं—उन का भला, कभी नाश हो सकता है ? आज भी सैकड़ों क्या—हज़ारों ग्रन्थ विद्यमान हैं और दिन दिन उन का जहां तहां से पता लग कर, प्रकाशित हो रहे हैं । धन्य है—साहसी विद्या प्रिय, साहित्यसेवी, ग्रन्थप्रेमी अंग्रेज़ोंको कि जिन्हों ने हमारे अनेक ग्रन्थों की खोज करके, उन का संग्रह करके, उन को प्रकाशित किये हैं, कर रहे हैं और करते जाते हैं ।

सर जान लबक् लिखते हैं—"पांचसौ वरस पहले एक अंग्रेज़ विद्वानने पुस्तकों की प्रशंसा की है कि—पुस्तकें हमारे गुरु हैं किन्तु अन्य गुरुजनों के समान, विद्यार्थियों को पाठ देते वक़ वे कभी छड़ी का उपयोग नहीं करतीं या कठोर शब्द नहीं सुनातीं । उन्हें वेतन नहीं देना होता, वे कभी नहीं सोतीं जब तुम जाओ वे तब तुम्हें पाठ देने के लिये तैयार रहती हैं । जब तुम कुछ शंकायें में पूछते हो तो वे खुले दिल उस का उत्तर देती हैं—कुछ भी छिपा कर नहीं रखातीं । उन के लिये तुम्हारा मतभेद हो जाय तो भी वे शिकायत नहीं करतीं और तुम्हारा अज्ञान देख कर कभी नहीं हंसतीं—इस लिये ऐसी ज्ञानभाण्डागार पुस्तकों की योग्यता द्रव्य से अधिक है । जिस को सत्य में प्रीति

है—जिसे सत्यसुख की प्राप्ति करना है, जिसे चातुर्य और विविधशास्त्रों में निपुण होना है, जिसे धर्म का रहस्य समझना है—उस को ग्रन्थों के साथ परिचय रखना चाहिये।" सौदे कहता है कि—"Our never failing friends are they, with whom we converse day by day" कभी न भूलनेवाले वे हमारे मित्र हैं कि जिन के साथ हम रोज़ व रोज़ बातचीत करते हैं।

आजकल तो—इस कहने की यथार्थता, सार्थकता एवं अन्वर्थकता स्पष्ट प्रतीत हो रही है। सिवाय पुस्तकों के हमारा क्षणभर नहीं चलता, सिवाय पुस्तकों के हमारा क्षणभर नहीं सरता, सिवाय पुस्तकों के हमारा क्षणभर नहीं गुज़रता। ऐसा होने पर भी आज पुस्तकें कितनी सुलभ हैं, कितनी सुवाच्य सुन्दर हैं और कितने अल्प मूल्य में प्राप्त होती हैं। पूर्वकाल में जो ग्रन्थ, पुस्तक, पोथी—रुपयों क्या गिनी मोहरों में भी मिलना दुश्वार थीं आज वे कौडियों में—चाहे जहां आकाशपाताल में प्राप्त हो सकती हैं—"स्थलाद्रक्षेज्जलाद्रक्षे द्रक्षेच्छिथिलबन्धनात्। मूर्खहस्ते न दातव्यमेवं वदति पुस्तकम्।" स्थल से, जल से एवं शिथिलबन्धन से उस का रक्षण करना चाहिये और उस को कभी मूर्ख के हाथ में न देना चाहिये—ऐसा पुस्तक कहती है—अब, इस की आवश्यकता नहीं है तो भी, पुस्तकों के लिये, वैसी ही भावना, वैसी ही असंभावना, एवं वैसी ही सद्भावना रखनी चाहिये। पूर्वप्रणीत, पूर्वग्रथित, पूर्वरचित, पुरातन, प्राचीन, जीर्ण शीर्ण विकीर्ण पुस्तकों का उद्धार हो कर, प्रकाशित हो कर आज हम को

मिलती हैं—इतना ही नहीं—अनेक भाषाओं की विविध विषयक नई नई, सुन्दर सुन्दर सादी, सचित्र, सजिल्द छोटी बडी अनेक पुस्तकें मिलती हैं । उन में पद पद, शब्द शब्द—अनेक विषयों का प्रतिपादन रहता है, ज्ञानविज्ञान का विवेचन रहता है, रसायन, भूगर्भ, मानसादि शास्त्रों का विवरण रहता है, पदार्थ, तत्वज्ञान, अध्यात्मज्ञान का निरूपण रहता है, नवाविष्कार कलाकुशलताओं का वर्णन रहता है, काव्य, कविता, नाटकों का प्रदर्शन रहता है, कथा, कहानी, उपन्यास आदिका निदर्शन रहता है एवं हंसी ख़ुशी दिल्लगी का ख़ूब दिग्दर्शन रहता है । जिस का जी चाहे जब वह उनको देखले, उन का उपयोग करले, उन का अनुभव लेले, उन से लाभ उठाले एवं उनसे चाहे सो प्राप्त करले, भारत के दुर्भाग्य से इस वक्त धनधान्य, सुवर्णरत्नों की कमती है किन्तु पुस्तकों की नहीं और यही कारण है जो इन्हीं के संग्रह के, पठन के एवं निरीक्षण के अभाव से आज धनधान्य, सुवर्ण रत्नों की कमती है । भारत का अहोभाग्य है कि—इस वक्त पुस्तकों का प्राप्त होना कठिन नहीं । पुस्तकों का संग्रह करना कठिन नहीं एवं पुस्तकों से लाभ उठाना कठिन नहीं । धनी निर्धनी, स्वामी सेवक, ग़रीब भिखारी सभी को प्राप्त हो सकती हैं, ज्ञान दे सकती हैं और बोध करा सकती हैं । इसी लिये कारलाइलने कहा है कि-"The true University in these days is a Collection of books." इन दिनों में सच्चा विश्वविद्यालय पुस्तकालय ही है । आज कल—जितनी कुछ शिक्षा, जितना कुछ अध्ययन, जितना कुछ अभ्यास, जितना कुछ ज्ञान,

जितना कुछ विज्ञान, जितनी कुछ विद्या, जितना कुछ सीखना, पढ़ना, लिखना—किसानी, कुम्हारी, चमारी, लुहारी, सुनारी, सुतारी, दरजी, जुलाहा, कारीगरी, कलाकुशलता, उद्यम धन्धे का छोटा मोटा काम सब कुछ पुस्तकों में ग्रथित है, सब का पाठ पुस्तकों से मिलता है एवं सब का ज्ञान पुस्तकों द्वारा ही प्राप्त होता है। "Reading makes a full man; conversation a ready man; writing an exact man." वाचन मनुष्य को पूर्ण बनाता है, संभाषण मनुष्य को सज्जन बनाता है एवं लेखन मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अर्थात् पुस्तकों के पठनपाठन बिना मनुष्य full man पूरा मनुष्य सब विषयों में पूर्ण नहीं हो सकता। जैसे रक्त का भोजन से सम्बन्ध है वैसे ही मन का पठन से सम्बन्ध है। अगले ज़माने में पुस्तकों का मिलना दुश्वार तो था ही किन्तु उनका दर्शन भी होना असंभव था एवं पता लगना भी मुश्किल था। वेद पुराण स्मृति आदि धार्मिक पुस्तकों के लिये तो कहना ही क्या है किन्तु साधारण कथा कहानीयां और किसी पुस्तक का पता लगाने पर बड़ी कठिनता से प्राप्त होती थीं एवं उसकी प्रति कराने में बडी दिक्कत होती थी। बड़े बड़े श्रीमान् राजामहाराजों के यहां और बड़े बड़े मठ मन्दिरों में पुस्तकों का संग्रह रहता था। उन को खूब कपडों बसनों से बस्तों से लपेट कर नाडोंसे कस कर तह-खानों में या मज़बूत कमरों में बन्द कर के रखते थे एवं साल भर में एक बार दसहरा के एक दिन पहिले सर-स्वतीपूजन के लिये निकाल ते थे। मट उन को धूप

दिखा कर पीछी तहखाने में बन्द कर देते थे । और यहां पुस्तकें या पुस्तकों का संग्रह है—किसी को ख़बर तक न होने देते थे । ईश्वर की कृपासे अब तो ऐसा हाल नहीं है । उस करुणामय भगवान् की दया से अब पुस्तकों का बन्धन नष्ट हो चुका है, उन का लिहाफ़ अलग हो चुका है, एवं उनका कारागार ध्वस्त हो चुका है । उनकी छूतछात दर्शनादर्शन सब जाता रहा, उन का मिलना न मिलना जाता रहा एवं उन की छानबीन पता लगाना भी जाता रहा ।

अब सब को स्पष्ट विदित हो गया है कि—सिर्फ़ पाठशाला स्कूल कालेज ही में रह कर परीक्षोत्तीर्ण हो जाने पर—पाठ, अभ्यास, अध्ययन समाप्त हो जाता है—ऐसा नहीं है । आजन्म पुस्तकों को देखना होता है, पढ़ना होता है एवं जानना होता है । किसी देशमें कहीं भी—देखने से विचारने से सोचने से मालूम होगा कि—पुस्तकों द्वारा, संगति द्वारा, उपदेश द्वारा बिना लिखे पढ़े अज्ञानी किसान मजदूर जैसे हलके मनुष्यों ने भी अपनी बहुत कुछ उन्नति की है । एक किसान के लड़के का चीन का प्रधान मंत्री होना, एक अनाथालय के लडके का लंडन का लार्ड मेयर होना, एक मजदूर नेपोलियन बोनापार्ट का फ्रान्स का बादशाह होना, एक खेतीहर रूज़वेल्ट का अमेरिका का प्रेसिडेन्ट होना, एक दुर्बल डाकू का वाल्मीकि ऋषि होना, एक मानी उद्भट क्षत्रिय के लडके का विश्वामित्र महर्षि होना, एक दासी के लड़के का कवष ऐलूष मंत्रद्रष्टा ऋषि होना—यह सब पठनपाठन संगति ही का फल था ।

वाष्पयंत्र का उत्पादक जेम्स वाट—बढ़ई का लड़का था। यांत्रिक उन्नति करनेवाला हेनरी कार्ट—कारीगर राज का लड़का था। फ़ौलाद को ढालनेवाला हन्टसन—घड़ीसाज़ का लड़का था। क्राम्पटन—जुलाहे का लड़का था। वेजवुड—कुम्हार था। ब्रिडले, टेल्फर, मशट और नेल्सन्—मजदूर थे। रेलमार्ग बनानेवाला स्टीवन्सन्—ग्वाले का लड़का था और १८ वर्ष की उमर तक लिखना पढ़ना भी न जानता था। डाल्टन—जुलाहे का लड़का था। फेरेडे और न्यूकम—लुहार के लडके थे। पुतलीघरों का उत्पादक अर्ल राईट—नाई था। सर हम्फ्रे डेव्ही—दवाई की दूकान का एक उमीदवार था। इस प्रकार कितने ही हलकी जात के हलके मनुष्यों ने उन्नत होकर—अपने देश का ही नहीं सारे जगत् का उपकार किया है।

पुस्तकों का निरीक्षण पठनपाठन अपनी ही उन्नति नहीं बल्कि राष्ट्र की उन्नति है। पुस्तकें हमें धर्म, ज्ञान, जाति, देव, देश की भक्ति सिखाती हैं, हमें अध्यात्मज्ञान, तत्वज्ञान, आत्मज्ञान का परिचय कराती हैं एवं हमारे जन्म का सार्थक्य कर के जन्ममरण का नाश कराती हैं। प्रख्यात् शास्त्रज्ञ सर जान हर्शल ने कहा है—"किसी भी अवस्था में मेरे उपयोग में आनेवाली—कैसा ही भयानक संकट मुझ पर आया और सारे विश्व की मुझ पर वक्रदृष्टि हुई तो भी, निरन्तर सुख और आनन्द देनेवाली—ऐसी एकाध वस्तु मुझे ईश्वर से मांगना होगी तो, मैं पुस्तकपठन की अभिरुचि मांग लूंगा। जिस मनुष्य को यह अभिरुचि है और उस के तृप्त होने का साधन जिस के

पास है—उस को कभी सुख की कमी न होगी । उस को निरन्तर विद्वान्, विनोदी, दयालु, शूर, सद्गुणी एवं मनुष्य-जाति के भूषणभूत महात्माओं की संगति होती है । उसे सब देशमें और सब कालमें रहने का लाभ होता है एवं सब जगत् उस के लिये ही निर्माण हुआ है—ऐसा उस को भासित होता है । " पुस्तकें और ग्रन्थ एक प्रकार के मूर्त्ति-मान् सज्ञान प्राणी हैं । मिल्टन कहता है—" ग्रन्थकर्त्ता के चैतन्य के अनुसार ही कार्यक्षम चैतन्य ग्रन्थों में परि-प्लुत रहता है । " इसी लिये सद्ग्रन्थकार अमर रहते हैं । भर्तृहरि ने कहा है कि—" कीर्तिरक्षरसम्बद्धा चिरा भवति भूतले " अक्षरों में ग्रथित की हुई कीर्ति पृथ्वी में स्थिर रहती है । वैसे ही—" ते धन्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः । यैर्निबद्धानि काव्यानि ये वा काव्येषु वर्णिताः ।" जिन्हों ने काव्य निर्माण किये हैं अथवा जिन का काव्य में वर्णन हुआ है वे धन्य हैं, वे महात्मा हैं और लोक में उन्हीं का यश स्थिर है ।" इस में क्या सन्देह है ?

अनेक प्रकार के कामों में, नित्य के व्यवहार में, घर के खर्च में, तमाखू पान बीड़ी चाय काफ़ी में, और ऐसे ही दुर्व्यसनों में—कितना खर्च होता है, कितना व्यय होता है, कितना धन का नाश होता है—उस का हिसाब लगाने पर, उस का विचार करने पर विदित हो जायगा कि—अगर इस में से थोडीसी भी बचत निकाल कर पुस्तकों में उस का उपयोग किया जाय तो—एक पन्थ दो काज—अर्थात् व्यसनों का छूटना और ज्ञान का लाभ होना—एक ही

समय हो सकता है। पुस्तकों के लिये विशेष व्यय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि, अब दिनों दिन पुस्तकें अल्प मूल्य में प्राप्त हो रही हैं। करुणामय भगवान्—कब वह दिन लायगा कि—हमारा तमाखू, भंग, गांजा, अफ़ीम, शराब, चाय, काफ़ी, सोडा, कोको आदि का व्यसन छूट कर हमें पुस्तकों का व्यसन लग जाय और इस वक़ जहां गांजा, अफ़ीम, शराब, सोडा की दूकानें हैं और चण्डू मदकख़ाने, जुए नीलाम सट्टे फाटकों के अड्डे हैं और नशेबाज़ बदमाशों के अखाडे हैं—उठ कर, हट कर, मिट कर वहां—विविध प्रकार की सुन्दर सुन्दर पुस्तकों की दूकानें लग जांय और वहां पाठकों की, वाचकों की, ख़रीदारों की भीड भाड लगी रहे!

जगत् का इतिहास, जगत् का ज्ञान, जगत् का भान, जगत् की भाषा, जगत् का साहित्य, जगत् का व्यवहार, जगत् का कर्त्तव्य, जगत् का अनुभव—मनुष्य का इतिहास, मनुष्य का आविष्कार, मनुष्य का परिणाम—सृष्टि की रचना, सृष्टि का सौन्दर्य, सृष्टि का दृश्य, सृष्टि का चित्र—सब कुछ पुस्तकें दिखाती हैं, सिखाती हैं, कहती हैं और सुनाती हैं। संकटसमय पुस्तकें हमें सहाय करती हैं, बचाती हैं और पार लगाती हैं एवं सुखसमय में हमें उन्नत करती हैं, श्रेष्ठ करती हैं और लोकोत्तर करती हैं। जिन को संसार में कुछ कमती न थी, जिन को संसार में कुछ दरकार न थी, जिनको संसार में कुछ तंगी न थी—उन्होंने अपना अनुभव दरसाया है कि—चंचल क्षणिक आयु में हमें परम सत्य के आनन्द का जो कुछ लाभ हुआ

है—वह सब पुस्तकों ही के पठन का परिणाम है । इंग्लेण्ड के राजकुलमें जेन ग्रे नामक एक प्रख्यात राजकन्या हुई है—उस के पुस्तकपठनाभिरुचि की एक वडी चित्ताकर्षक आख्यायिका है—" यह विदुषी राजकन्या एक दिन अपने कमरे की खिडकी के पास बैठी हुई थी और प्लेटो की पुस्तक में लिखी हुई सेक्रेटिस की अद्भुत हृदयविदारक घटना के पठन में निमग्न थी । उस वक़्त उस के माता पिता नज़दीक के अरण्य में शिकार खेल रहे थे और शिकारी कुत्तों के भोंकने की आवाज़ तक उस को सुनाई दे रही थी । तब उस को किसीने कहा कि—शिकार की मौजमज़ा छोड कर आप यहां विराज रही हैं—इस का मुझे वडा ही आश्चर्य होता है । उसने कहा कि—प्लेटो की पुस्तक पढ़ने में, जो मुझे मौज मज़ा मालूम होता है उस के शतांश क्या सहस्रांश भी शिकार में नहीं मालूम होता ।"

लार्ड मेकाले को धन, कीर्ति, उपाधि, अधिकार की कुछ कमती न थी तो भी, उसने कहा है कि—"मुझे पुस्तकों से जो सुख प्राप्त हुआ है उस के आगे सब सुख तुच्छ है ।" उसने एक छोटी लड़की को पत्र लिखा है, उस में वह कहता है कि—"प्यारी लड़की, तेरा सुन्दर पत्र पढ़कर मुझे वहुत हर्ष हुआ । तुझे सुखी करने में मुझे वहुत आनन्द होता है । तुझे पुस्तकें वहुत प्यारी लगती हैं, यह जान कर मुझे वहुत सन्तोष होता है । मेरे जितनी वड़ी होने पर तुझे मालूम होगा कि—खाने पीने, खेलने कूदने और जगत् के सब सुन्दर दृश्यों की अपेक्षा पुस्तकों की योग्यता विशेष है । अगर मुझे कोई साम्राज्यपद, वड़े

बड़े हर्म्य प्रासाद, गाड़ी घोड़े, हजारों नौकर आदि वैभव इस शर्त्तपर दे कि—पुस्तकें न पढना—तो, मैं कहूंगा कि—मुझे उस राज्यपद और वैभव की कुछ दरकार नहीं! पठन पाठन का जिस को सौख्य नहीं—ऐसे सम्राट् होने की अपेक्षा विविध विषयक अनेकानेक पुस्तकों से परिपूर्ण झोपड़ी में गरीब बन कर रहना ही मुझे अधिक पसन्द होगा।" रोम देश के सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक गिबनने कहा है कि—"यदि कोई मुझे दुनिया भर की सम्पति समर्पण कर दे तो भी मैं अपनी पुस्तकें किसी को न दूंगा।" प्रीटार्क नामक विद्वान् को पुस्तकों से इतना प्रेम था कि—वह जिस दिन कुछ न पढ़ता—उस के सिर में दर्द होने लगता इस लिये वह अस्वस्थ रहने पर भी पुस्तकें पढ़ा करता था। पुस्तकों के समान—दुनिया में उत्पादक पिता नहीं, प्रतिपालक मां नहीं, सहायक बन्धु मित्र नहीं, उपदेशक गुरु महात्मा नहीं, एवं रक्षक ईश्वर भी नहीं। ये क्षण में रुष्ट, असन्तुष्ट, दुष्ट, नष्ट, वितुष्ट हो जाते हैं वैसे कभी पुस्तकें नहीं होतीं—वे सर्वत्र सर्व काल में समसमान, प्रसन्न, सन्तुष्ट, उपादेय, उपदेशक, सहायक रहती हैं। वे कभी किसी पर क्रोध, घृणा, कुभाव, मत्सर नहीं करतीं और न कभी द्वेष, विषाद, तिरस्कार ही करती हैं। काव्यप्रकाश में मम्मटाचार्य ने कहा है कि—"काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासंमिततयोपदेशयुजे।" अर्थात् काव्य ग्रन्थ—कीर्ति करनेवाले, धन देनेवाले, व्यवहार समझानेवाले, अकल्याण—अशुभ का नाश करनेवाले, तत्काल परम निर्वृत्ति—मुक्ति

को देनेवाले और कान्ता–प्रिय स्त्री के समान उपदेश देने-वाले हैं । अर्थात्–" इत्यभियुक्तोक्तया कालिदासादीनामिव यशोजनकात्, श्रीहर्षादितो बाणादीनामिवार्थप्रापकात्, मयूरादीनां सूर्यस्तुत्यादिनावर्थवारकात्, सद्यःपरमानन्द-जनकात्, कान्तासम्मिततया स्नेहप्रधानोपदेशजनकात्, काव्यादेव भवति । " कालिदासादिकों के समान कीर्ति, श्रीहर्षादिकों से बाणादिकों के समान धनप्राप्ति, सूर्यादिकों की स्तुति से मयूरादि कवियों का अनर्थनिवारण, तत्काल परम आनन्द का लाभ, स्त्रीजनों के समान स्नेहमय उपदेश–काव्यग्रन्थ ही से होता है । जगन्नाथराय उद्भट पंडित ने तो गाली देते हूए अपनी एक पुस्तक को पद्यरत्नों की–मंजूषा–सन्दूक–तिजोरी–Treasury, safe कहा है– " दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शंकया । मदीय-पद्यरत्नानां मंजूषैषा मया कृता ।" बदमाश, बदज़ात मेरे पद्यरत्नों का हरण कर लेंगे इसी शंका से मैं ने अपने पद्य-रत्नों की यह–मंजूषा–पेटी–पुस्तक बनाई है !

जैसे हम–बुरे भले, उपयोगी निरुपयोगी, लायक़ नाला-यक पदार्थ की, वस्तु की, चीज़ की छान बीन कर के उन को अपने काम में लेते हैं वैसे ही हमें पुस्तकों की छान बीन कर के, उन को अपने काम में लेना चाहिये। जिस प्रकार हम अपने हर एक–काम, कृत्य, कर्त्तव्य के लिये ज़िम्मेदार, जबाबदार और पाबन्द रहते हैं–उसी प्रकार पुस्तकों के चुनाव में भी हम को रहना चाहिये । मिल्टन ने ग्रन्थों पर बड़ा सुन्दर रूपक किया है–"महात्माओं का एक जन्म पूरा होते ही, इसी जगत् में उन के दूसरे जन्म का आरम्भ होता

है एवं उस जन्म में उस का जीवनव्यापार प्रचलित रहने के लिये, उस के पूर्वजन्म का रक्त सद्ग्रन्थरूप से अविनाशी बन कर उपयोगी होता है।" क्यों नहीं ? ग्रन्थ ब्रह्मा के समान उत्पादक हैं, विष्णु के समान रक्षक हैं एवं शंकर के समान संहारक हैं। आध्यात्मिक, पारमार्थिक, धार्मिक, शास्त्रीय पवित्र पुस्तकें ब्रह्मरूप बन कर, आत्मसृजन कर के आत्मोत्पादन करती हैं, नैतिक, व्यावहारिक, सामाजिक, सांसारिक, औद्योगिक, उपदेशक पुस्तकें—विष्णुरूप बन कर—कर्त्तव्य सृजन कर के कर्मवीर बना कर आत्मरक्षण करती हैं एवं विषयवासना, कामना, अभिलाषा, कामक्रोध, लोभ मोह मद मत्सर बढ़ानेवाली पुस्तकें शंकररूप बन कर—मूढ़भाव सृजन कर के, अंध बना कर संहार करती हैं। इसी लिये वेदान्त के प्रथम ही पाठ में कहा गया है कि—"काव्यालापांश्च वर्जयेत्" काव्यों के आलापों का त्याग करना चाहिये।

पुस्तकों से यथेष्ट लाभ होने के लिये—मनोरंजन की अपेक्षा आत्मोन्नति पर ही विशेष लक्ष्य देना चाहिये। नाटक उपन्यास कथा कहानियों की पुस्तकें उपयोगी हैं और उन में जुदे जुदे रसों का परिपाक होने से रोचक, मोहक एवं मनोरंजक होती है तो भी उन से कभी आत्मोन्नति नहीं हो सकती। इस लिये हमें नित्य धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, तात्विक, सात्विक, विचारपरिप्लुत, शास्त्रीय, सदुपदेशक पुस्तकें ही पढ़ना चाहिये। ऐसी पुस्तकें रसिक, रोचक, मनोरंजक न होने से उन में चित्त का प्रवेश जल्द नहीं होता एवं प्रवेश न

होने के कारण वे कठिन जान पडती हैं। उनकी एक दो सतर, या दो पेरे, बहुत तो एक दो पृष्ठ पढ़ लेने पर झट मन उकता जाता है और वह हाथ से छूट कर नीचे गिर जाती है। यह पुस्तक का नीचे गिरना क्या है—तुम्हारा नीचे गिरना है। प्यारे मित्रो! ऐसी पुस्तकों से कभी मत उकताना, कभी मत घबराना, कभी मत अकुलाना। धीरे धीरे उन का प्रेमपूर्वक निरीक्षण करके थोड़ा थोड़ा पठन कर के मनन करना चाहिये। नित्य ऐसा करने से प्रवेश होते होते—चंचुप्रवेशे मुशलप्रवेशः—कहावत के अनुसार आप ही आप तुम्हारा खूब गहरा प्रवेश हो जायगा और फिर तुम्हें कठिनाई के बदले आसानी मालूम होने लग जायगी। जो पुस्तक या पुस्तक का भाग तुम्हें पढ़ना हो उस को पूरा आद्योपान्त पढ़ जाना चाहिये न कि इधर उधर के पन्ने उलटपलट कर इधर उधर कहीं पढ़ी कहीं न पढ़ी, पुस्तक को उठा कर अलग रख दो। ऐसा करने से पुस्तक का संग्रह करना, हाथ में लेना या पढ़ना व्यर्थ है, निरर्थक है एवं निरुपयोगी है। "पुस्तकस्था या विद्या परहस्तगतं धनम्। कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्।"—पुस्तकों में रही हुई विद्या और दूसरों के हाथ में रहा हुआ धन—न तो वह विद्या है और न वह धन ही है। स्कूल कालेज की, अपने धन्धे व्यापार की, या उद्योग हुन्नर की पुस्तकें क्या रसिक, रोचक, मनोरंजक होती हैं? उन को जी जान से लक्ष्य लगा कर पढ़ना होता है या नहीं? बस उसी प्रकार उन को भी पढ़ना चाहिये, समझ लेना

चाहिये एवं घोखना चाहिये—अवश्य ही धर्मपुण्य सत्य-प्राप्ति के साथ आत्मोन्नति होगी।

आजकल के ग्रन्थकार लालच में आकर—अपने कुल धर्म जाति, देश का कुछ भी आदर और अभिमान न रख कर ऐसी वैसी अश्लील रद्दी गन्दी पुस्तकें लिख कर उन की कमाई से, अपना पेटपालन करते हैं; किन्तु इस में उन के पेटपालन के बदले पेट ही का सर्व नाश होता है; ऐसी पुस्तकों का कितना बुरा असर होता है—यह किसी से छिपा नहीं है। इस लिये अपने बालबच्चों स्त्रियों के हाथ में कभी बुरी पुस्तकें न देना चाहिये और कौनसी, कैसी और किस विषय की पुस्तकें उन के हाथ पड़ती हैं इस का पूरा लक्ष्य रखना चाहिये। क्यों कि, अश्लील, शृंगारिक, विषयोत्तेजक, अनीतिदर्शक, ऐयारी, अजीब, अद्भुत घटनात्मक पुस्तकें विष से भी बढ़कर मारक होती हैं और ऐसी पुस्तकों का अधिक विक्रय होता है इस लिये उन की भर मार है।

इस समय मुद्रणकला का आविष्कार होकर, उस में दिनों दिन नये नये सुधार हो रहे हैं—जिस से एक दिन यहां लेखनकला का जितना आदर था—काश्मीर आदि देशोंमें रंगबिरंगी स्याहियों से, हाथ के बने हुए कच्चे काग़-ज़ों पर सादी, सचित्र, सुनहली पुस्तकें—हज़ारों के व्यय से लिखी जाती थीं—उस से भी बढ़कर आज छापेखानों का हो रहा है। नाना प्रकार के प्रेस—मेशीन, नानाप्रकार के टाईप, ब्लाक, नानाप्रकार की स्याही, नानाप्रकार के काग़ज़, नानाप्रकार की छपाई देखने में आ रही है, हाफ़टोन लिथो

आदिके नाना प्रकारके सुन्दर हूबहू चित्र प्रस्तुत हो रहे हैं और नई नई प्रकार की सादी, सचित्र, सुनहली जिल्दबन्दी हो रही है । यूरोप अमेरिका की पुस्तकें—उन की छपाई, सफ़ाई, शुद्धता, स्याही, काग़ज, जिल्दबन्दी देख कर तो आश्चर्यनिमग्न हो कर अवाक् होना पड़ता है। खाली पुस्तक का बाह्यांग ही इतना मोहित कर लेता है कि— पुस्तक को हाथ से अलग करने को जी नहीं चाहता। ऐसी पुस्तकें वहां हज़ारों क्या लाखों हैं और प्रेस भी एक दो नहीं सैकड़ों हैं । उधर ही से आकर यहां भी मुद्रण-कला का प्रसार हुआ है और हो रहा है । किन्तु बड़ा ही अफ़सोस है कि—यहां मुद्रणकला को आए कई वर्ष बीत चुके हैं तो भी सारे भारत में भारतीय भाषाओं में अच्छा साफ़, सुथरा, शुद्ध, सुन्दर काम करनेवाले इने गिने दो चार ही प्रेस हैं । पुस्तकों के अन्तर्बाह्यांग की मनोहरता में एवं शुद्ध छापने में—यूरोप अमेरिकामें बहुत ही लक्ष्य दिया जाता है । उधर की बुरी से बुरी छपी हुई पुस्तक में ढूंढने पर भी अशुद्ध शब्द अक्षर का मिलना दुश्वार है किन्तु— अफ़सोस !—यहां की अच्छी से अच्छी छपी हुई पुस्तक में— कोई ऐसा पृष्ठ, पेरा, वाक्य नहीं कि—जिसमें अशुद्धि, ग़लती, टाईप का हेर फेर न हो ! मनुष्य मात्र के स्वभाव में, चित्त में एवं जीवन में—सुन्दर, रुचिर, रमणीय "क्षणं क्षणं यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः।" क्षण क्षण जो नवीनता को प्राप्त होता है वही रमणीयता का रूप है— पदार्थ का विशेष परिणाम हो के निसर्गतः उधर उस का खिंचाव होता है फिर उस में सस्तापन हो तो देखना ही

क्या है ? इसी लिये किसी भी सुन्दर, मोहक, रोचक सस्ते पदार्थ पर मनुष्य की लालसा बढ कर अभिमुखता का प्रकर्ष होता है । किन्तु उस सुन्दरता, मोहकता, रोचकता में अगर कुछ भी दोष, धव्वा, कभी होता है तो तत्काल अरुचि हो जाती है और उन्मुख चित्त झट पराङ्मुख हो जाता है—यही कारण है जो आज साहसी उद्योगी अंग्रेज़ लोग इस पर पूरा लक्ष्यप्रदान कर के कल्पनातीत, सुन्दर, मधुर, रोचक, उपयोगी—दोषरहित अनेक पदार्थ निर्माण करते हैं—जिस से पृथ्वी भर में उन के अनेक पदार्थों का सादर स्वीकार होता है । इसी लिये हमारा कर्त्तव्य है कि— प्रथम तो हमें आत्मोन्नतिसाधक विषय पर ही पुस्तकें लिखना चाहिये और उनकी छपाई, सफ़ाई, कागज़, स्याही, जिल्द वहुत सुघरी, सुहावनी, सुन्दर होना चाहिये । कदाचित् किसी कारणवश इस का अभाव हो भी तो—टाईप की अशुद्धि Correction करेक्शन, ग़लती, हेर फेर तो कभी होना ही न चाहिये ।

सर्वांगसुन्दर, भावपूर्ण, प्रसादपूर्ण, ओजस्पूर्ण, उपदेशपूर्ण, हृदयंगम, हृदयग्राही, हृदयहारी, गद्यपद्यमय, वाङ्मधुर, श्रुतिरम्य पुस्तकों के देखने, पढने, सुनने से किस का चित्त उन्नत नहीं होता, किस का हृदय विशाल नहीं होता एवं किस का अंग पुलकित नहीं होता ? श्रीसमर्थ स्वामी रामदास ने पुस्तकों के लिये कहा है—" क्या ये अमृत के मेघ तरंगित हुए हैं ? क्या ये नवरस के स्रोत वह रहे हैं ? क्या ये अनेक सुख के सरोवर लहरा रहे हैं ? क्या ये विवेकनिधि के भाण्डार हैं ? क्या ये विविध विचारों से भरे हुए

मनुष्य के रूप हैं ? क्या ये अक्षय्य आनन्द से भरे हुए सुख के जहाज़ हैं और जो प्रवृत्ति निवृत्ति के लिये सम्पूर्ण विश्व के उपयोगी हैं ।" इस में कुछ भी अत्युक्ति नहीं एवं वृथा स्तुति नहीं । सम्पूर्ण ग्रन्थों का, पुस्तकों का, पोथियों का मूल कारण सरस्वती, वाणी, वाक् ही है—जिस के लिये महाराज भर्तृहरी ने कहा है—" कामान्दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति । तां चाप्येतां मातरं मंगलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः । " जो मनोरथों को पूर्ण करती है, जो दारिद्र्य का नाश करती है, जो कीर्ति करती है, जो दुष्कृत का हनन करती है उसी मंगलों की मा धेनु को धीर पुरुष सत्यवाणी कहते हैं । श्री गोवर्धनाचार्य ने कहा है—"रतरीतिवीतवसना, प्रियेव शुद्धापि वाङ्मुदे सरसा । अरसा सालंकृतिरपि, न रोचते शालभंजीव ।" सरस वाणी—शुद्ध—सादी, रतिसमय वस्त्ररहित प्रिया के समान आनन्ददायिनी होती है किन्तु अरसा—रसरहित वाणी अलंकारों से परिपूर्ण होने पर भी काष्टपुत्तली के समान रोचक नहीं होती—इस में क्या असत्य है ? वैसे ही—" सुखयतितरां न रक्षति, परिचय—लेशं शशाङ्कनेव श्रीः । कुलकामिनीवगनोज्झति, वाग्देवी जन्मजन्माऽपि ।" कितना भी सुखित करने पर वारस्त्री के समान श्री लक्ष्मी परिचय का लेश भी नहीं रखती किन्तु कुलकामिनी के समान वाग्देवी जन्मन्मातर में भी साथ नहीं छोड़ती । यह कवि का कहना—कितना गम्भीर, विचारपूर्ण, कितना सत्य अनुभवपूर्ण एवं कितना आत्मरहस्यपूर्ण है—इस का परिचय पिच्छले पृष्टों में प्रतिपादित की हुई प्रतिभा में ठीक मिल जायगा ।

ऐसा होने पर भी—पुरानों को तो जाने दो—किसी किसी नवपठित उपाधिधारियों को कहते हुए, हम ने सुना है कि—आत्मज्ञान की वृद्धि के लिये या आत्मोन्नति के लिये—पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? क्या पुस्तकों द्वारा आत्मज्ञान या आत्मोन्नति हो सकती है? हम उन से पूछते हैं कि—क्या नौकरी चाकरी, बहुत तो विकालत बेरिस्टरी करने ही से आत्मज्ञान या आत्मोन्नति होती है? या कोट पटलून बूट पहन कर कुर्सी लगा कर टेवल पर कांटों चमचों से भोजन करने से, या होटेलों में जा कर मद्यमांस के सेवन करने से, या मा बहिन स्त्री को समान देखने से, या बड़े बड़े लेक्चर झाड़ कर इधर उधर झक मारने से, या पैसे पैसे की खातिर झूट बोलते फिरने से, या अपने पेटपालन में दग़ा धोखा, बुराई करने में जरा न हिचकने से—आत्मज्ञान या आत्मोन्नति हो सकती है? हाय हाय! क्यों नहीं जनमते ही मर जाते, क्यों नहीं पेट में कटार मार लेते? क्यों नहीं आत्महत्या कर लेते? हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर! हे करुणानिधान परमात्मन्! हे परात्पर जगदीश्वर प्रभो! वेचारी, ग़रीब, मधुर भावमयी होनहार कन्याओं के गले में जनमते ही नख लगवा के तू उन की हत्या कराता है और ऐसे भारतविद्या तक हिंसक पशु पापियों का तू रक्षण करता है!! क्या कहूँ—मैं कभी ईश्वर होता तो—ऐसे दुष्ट, चांडाल पापियों को जन्मही न देता और जनमने पर अगर वे ऐसे दुष्ट चांडाल पापी बन जाते तो उन का क्षण ही में संहार कर देता!!! . . . . . .

जो हो—जो कुछ हो रहा है वह सब समयानुकूल ही है। उस की शिकायत करने से या तारीफ़ करने से कुछ नहीं होता। यह एक प्रकृति देवी की रम्य लीला है, प्रकृति देवी की अतर्क्य कृति है एवं प्रकृति देवी की दुर्घट घटना है!—तथास्तु।

दुनिया में जब से छापेखानों का प्रचार हुआ है, तब से पुस्तकों के समान समाचारपत्र और मासिकपत्रों का भी खूब प्रसार हो रहा है। इस वक्त तो समाचारपत्रों ने एवं मासिकपत्रों ने अत्यन्त उन्नति की है। पहलेपहल दुनिया भर में समाचारपत्र निकालने के लिये चीन ही का अभिनन्दन करना चाहिये। वहां समाचारपत्र जारी होने को आज १५०० वर्ष के क़रीब होते हैं। उस के बाद युरोप अमेरिका में समाचारपत्रों का प्रचार हुआ। पहला समाचारपत्र सन् १६२२ में निकला था। अब तो वहां सैंकडों क्या हज़ारों—साप्ताहिक, अर्ध साप्ताहिक, दैनिक, अर्धदैनिक प्रकाशित होते हैं। कोई कोई तो दिन में तीन तीन बार भी प्रसिद्ध होते हैं। उन की सहस्रों क्या लाखों कापियां बिकती हैं। राजामहाराजा धनिकों से लगा कर छोटे मोटे किसान मजदूर तक उन के पढ़ने सिवाय रहते नहीं। जगह जगह, रस्ते रस्ते, गली गली, स्टेशन स्टेशन, गाडी, ट्राम, होटेल, क्लब, बाजारों में सर्वत्र उन का विक्रय होता है। उन के विक्रय में छोटे छोटे लड़के दिनभर में दो दो तीन तीन रुपया कमा लेते हैं। वर्त्तमान-पत्र आज सब उन्नत देशों के प्राणस्वरूप हैं। सिवाय उन के किसी का समय व्यतीत नहीं होता, और गुज़र नहीं

होता—है भी बात यही—आज जगत् भर का व्यापार, धन्धा, उद्यम, व्यवहार, खबर, ज्ञानविज्ञान, सामाजिक, राजनैतिक, गृहस्थिक, बातें घटनायें, इश्तिहार विज्ञापन, दरभाव, सब कुछ—समाचार पत्रों ही से जाने जाते हैं, जगत् का हाल मालूम होता है, जगत् का समाचार विदित होता है। आज सूर्य जगच्चक्षु नहीं—समाचारपत्र जगच्चक्षु हैं, आज वायु जगत्प्राण नहीं—समाचारपत्र जगत्प्राण हैं, आज विष्णु सर्वव्यापक नहीं—समाचारपत्र सर्वव्यापक हैं! मासिकों की भी कुछ कमी नहीं—सब प्रकार के ज्ञान विज्ञान, समाज सभा, उद्यम हुनर, धर्म, पन्थ, शास्त्र, नाटक, उपन्यास, कथा, आदि अनेक विषयों के जुदे जुदे सादे, रंगीन, सचित्र, छोटे बड़े अनेकानेक निकलते हैं और सर्वत्र उनका प्रसार होता है। अभी समाचार एवं मासिकों की भारत में इतनी उन्नति नहीं है तो भी दिनों दिन उनकी तरक्की ही है। इस वक़्त उनकी संख्या सैंकड़ों के ऊपर और उन का प्रचार हज़ारों के ऊपर नहीं पहुंचा है। किन्तु आशा है कि—उनकी उन्नति अवश्य होगी। समाचारपत्रों से बहुत बड़ा लाभ होता है—देश-देशान्तर के समाचार मालूम होते हैं, पृथ्वी भर में कहां क्या—हो रहा है घर बैठे मालूम होता है, व्यापार, उद्यम, माल, चीज़ का भाव चलता है, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक लेख पढनेमें आते हैं, ज्ञानविज्ञान का बोध होता है— इस वक़् सब को समाचारपत्र पढना चाहिये। वैसे ही मासिक-पत्रों से भी अकथनीय उपकार होता है—उनमें विविध विषयों का संग्रह रहता है, शास्त्रीय, नैतिक, धार्मिक, मनो-

रंजक, वैज्ञानिक नाना प्रकार के उपयोगी चित्रविचित्र सचित्र गद्यपद्यात्मक लेख रहते हैं, जुदे जुदे ग्रन्थ और अन्यान्य पुस्तकों के संग्रह करने का, देखने का और पढने का कार्य मासिकों द्वारा बहुत ही सुलभता से सम्पादन होता है—इस लिये उनका मुक्तहस्त स्वीकार कर के संग्रह करना चाहिये।

आज कल एक पुस्तक नहीं, एक समाचारपत्र नहीं एवं एक मासिकपत्र नहीं—जो प्रत्येक मनुष्य लेकर उस से लाभ उठावें? दस पांच पुस्तकें, एक दो समाचार मासिक पत्रों से क्या लाभ हो सकता है? अंग्रेजी भाषा की तो बात ही दूर—खाली देशभाषाओं की प्रचलित पुस्तकें, पत्र एवं मासिक लेने के लिये आज किसी को सामर्थ्य एवं समय नहीं है और सर्वसाधारण के मकान में रखने के लिये जगह भी नहीं है—इसी लिये सर्वत्र देश देशान्तरों में और यहां भी लाइब्रेरी Library पुस्तकालयों की स्थापना हुई हैं, जगह जगह हो रही है और सर्वत्र होगी। पुस्तकालयों में कुछ मासिक चन्दा देना होता है—जिस से सब देश के, प्रान्त के— समाचार मासिक और सब प्रकार की पुस्तकें पढने को मिलती हैं। यह एक अल्प मूल्य, अल्प आयास एवं अल्प समय में—ज्ञानार्जन के लिये, विद्योपार्जन के लिये एवं अज्ञानविसर्जन के लिये बहुत अच्छा साधन है। पुस्तकालयों के सदस्य होने में, ज्ञानार्जन के साथ साथ ही अपने अनेक बन्धुओं का दर्शन, मिलन, संगति हो के—परिचय, मित्रता, स्नेह बढकर परस्पर एकता होती है, चित्त की थकावट मिटती है और

मनोरंजन के साथ ज्ञानकी प्राप्ति होती है। पुस्तकालय देवालय हैं, पुस्तकालय धर्मालय हैं, पुस्तकालय जीवनालय हैं।

यूरोप, अमेरिका, जापान आदि उन्नत, स्वतन्त्र, स्वाधीन देशों में तो आज अनेक पुस्तकालय हैं। इन के लिये बड़े बड़े मकान बनाये गये हैं—वे इतने विशाल, इतने सुन्दर और इतने सुव्यवस्थित हैं कि—आज इस भारत में शायद ही किसी राजामहाराजा का प्रासाद Palace भी वैसा हो! इन पुस्तकालयों में की सब पुस्तकों की, अखबारों की, मासिकों की और अन्यान्य साहित्यसम्बन्धी वस्तुओं की कौन गिनती कर सकता है, कौन पहिचान कर सकता है, एवं कौन समालोचना कर सकता है? उन में देश-वैदेशिक, देशदेशान्तर, द्वीपद्वीपकल्प आदि के अनेक समाचारपत्र मासिकपत्र आते हैं। अनेकानेक सहस्रों क्या लाखों पुस्तकों का संग्रह है। लण्डन के ब्रिटिशम्यूझियम में ४० लाख, पेरिस की लाइब्रेरी में ३४ लाख, फ्रान्स की इम्पेरियल लाइब्रेरी में १८ लाख, न्युयार्क कांग्रेस लाइब्रेरी में १७ लाख, बार्लिन की रायल लाइब्रेरी में १४ लाख, म्यूज़िक रायल लाइब्रेरी में ११ लाख, एडिनबरो लाइब्रेरी में ५ लाख, और परम सौभाग्यवश बड़ौदा की सेन्ट्रल लाइब्रेरी में २ लाख पुस्तकों का संग्रह है, इन में जो चाहो सो पुस्तक हैं, अखबार हैं, मासिक हैं, चित्र हैं, नकशा है, प्रत्येक साहित्यसम्बन्धी पदार्थ हैं। बस, उन में जाने की, सम्मिलित होने की, उपस्थित होने की देर है। आजकल तो—इन उन्नतिशील, कर्मवीर, सुधारक, महाशूर धीर पुरुषों ने—इस विषय में अपूर्व

कल्पनातीत आयोजन किया है—महीने का चन्दा या कुछ भी किसी से न लिया जाय और कोई पुस्तकालय में आ भी न सकते हों या न भी आवें—उन के घर, उन के पास, उन के हाथ में—पुस्तकालय के नौकरों द्वारा, चाहे सो पुस्तक, पत्र, मासिक आदि मुफ्त, विना फ़ीस, विना पैसे टके भेजें या दें—इस का वहां वहुत अच्छा अनुभव हुआ है, वहुत अच्छा परिणाम हुआ है और वहुत अच्छा प्रचार हुआ है । वड़ा ही हर्ष का विषय है कि—करुणामय ईश्वर की कृपा से अव यहां भी इस का अनुकरण हुआ है और उस से आशाजनक लाभ दिखाई देने लगा है । वास्तव में, उन विचार विचारसुन्दर देशों की अपेक्षा आज इस अवनत विचारहीन अज्ञान भारत के लिये तो इस वक़ ऐसे हिरते फिरते पुस्तकालयों की अत्यन्त आवश्यकता है । संवत् १६६६ के आषाढ़ के 'श्रीभक्त' नामक मासिक में इस विषयमें एक छोटासा लेख निकाला है उसका मर्मांश हम यहां उद्धृत करते हैं जिस से पाठकों को इस विषय का कुछ कुछ परिचय होगा और उधर कुछ अभिमुखता भी होगी ।

" ज्ञान के प्रसार करने के विविध साधनों में लायब्रेरी—पुस्तकालय भी एक वड़ा आवश्यकीय साधन है । थोड़े समय से लायब्रेरीसंबन्धों के विचारों में वड़ा हेर-फेर होने लगा है । और पहिले जो पुस्तकें ख़ज़ानों में रहतीं थीं उनको वहां से निकाल कर लोगों में घुमाने की योजना अब अपने देश की लायब्रेरीयों को पसन्द होने लगी है ।

बम्बई की युनिवरसिटी लाइब्रेरी University Library, कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी Imperial Library, पूने की नेटिव जनरल लाइब्रेरी Native General Library, बड़ोदे की सेन्ट्रल लाइब्रेरी Central Library और सोशियल सरविस लीग की फ्री ट्रेवेलिंग लाइब्रेरी Free Travelling Libraries के प्रयत्न से, यूरोप अमेरिका की रीति के अनुसार लोगों में पठनाभिरुचि जागृत होने लगी है और आशा है कि—थोड़े ही वर्षों में, अमेरिकन् लोगों में—बालक, युवा, वृद्ध, कारीगर, मजदूर आदि सब मनुष्यवर्ग में शिक्षा और ज्ञान के प्रकाश करने में इस समय जो प्रयत्न हो रहे हैं—वैसे ही प्रयत्न अपने देशमें भी शुरू होंगे । जितनी आवश्यकता से लाइब्रेरियों के स्थापन में और घुमाने में प्रयत्न हो रहा है उतनी ही आवश्यकता के अनुसार उन का उपयोग करने के लिये लोगों की अभिरुचि एवं अभिमुखता बढ़ाने के लिये प्रयत्न होना चाहिये । इस प्रकार दोनों दिशा को समान अवस्था में रखने से लोगों में ज्ञानाभिवृद्धि का प्रचार सिद्ध हो सकता है । जैसे क्षुधित मनुष्य अपने भोजन का उपाय तत्परता से करता है वैसे ही अभिरुचि हो जानेपर पठनपाठन के लिये, मनुष्य स्वयमेव पुस्तकों के प्रसार के लिये जो जो योजना की जाती है उस का लाभ लेता है । ऐसी फ्री लाइब्रेरियों की योजना होनेपर भी अभी बहुत जगह साधारण जन उन से लाभ उठाने के लिये अन्धकार से बाहर निकलते ही नहीं ।

इस प्रकार अमेरिका में दोनों दिशाओं के समसमान रहने के लिये—आफ़िसों में, दुकानों में, घरोंमें—पुस्तकें पहुंचाने की, लाइब्रेरियों में ख़ास तैयार किये हुए कमरों Reading Rooms में आकर पढ़ने की, बालकों और स्त्रियों की शिक्षा के लिये जुदे जुदे वर्ग classes लाइब्रेरी के मकान में रखने की, और उनको उत्तम उत्तम विद्वान् शिक्षकों द्वारा मुफ्त शिक्षाप्रदान करने की, जुदी जुदी पाठशालाओं के कितने ही वर्ग—Classes अमुक अमुक दिन एकत्रित होने की, लाइब्रेरी के केटलाग—पुस्तकों की फ़हरिस्तें बिना मूल्य वितरण करने की, शाखा पुस्तकालय सामान्य मनुष्यों के वसतिस्थानमें खुले रखने की और वहां व्याख्यान एवं सिनेमेटोग्राफ़ से लोगों को आकर्षित करने की योजना में और इसी प्रकार कितनी ही अन्य योजनायें की जाती हैं।

इस के लिये लम्बा चौड़ा लेख लिखकर विवेचन करने की अमेरिका में अभी एक—दो न्युयार्क पब्लिक लाइब्रेरी—The Newyork Public Library स्थापित हुई है—उस में ज्ञानप्रसारार्थ क्या व्यवस्था एवं योजना है और उस से अल्प समय में अमेरिकन लोगों में ज्ञान का कैसा प्रसार हो रहा है—आदि बातों का दिग्दर्शन करानेवाला एक उदाहरण देते हैं—

न्यू यार्क पब्लिक लाइब्रेरी का भव्य भवन सन् १६११ में खोला गया था। थोड़े ही समय में उसकी असंख्य पुस्तकें लोगों में हिरने फिरने लगीं। तीस लाख मनुष्यों में अस्सी लाख पुस्तकें हिर फिर के पीछी आई हैं—यह उस के सम्पादकों की ओर से ज़ाहिर हुआ है।

इस लाइब्रेरी का भव्य भवन फ़ोरटी सेकण्ड और फ़िफ्थ एवेन्यू मार्ग पर बना हुआ है। उस को संगेमर्मर और ओन्फ की चित्रविचित्र शिल्पकारी से सुसज्जित किया हुआ है। भवन में प्रवेश करते ही आश्चर्य एवं आनन्द से मनुष्य का मन प्रफुल्लित हो जाता हैं। उस के वाचनालय में अनेक लम्बे लम्बे टेबल एक के पीछे एक—समान पंक्ति में रक्खे हुए हैं और प्रत्येक टेबल पर—आखों को बचाकर पुस्तकों पर प्रकाश डालनेवाले बिजली के चार चार लेम्प—दीपक लगाये हुए हैं।

इस लाइब्रेरी में जुदी जुदी भाषाओं की पुस्तकों के लिये विशेष आयोजन हुई है। लग भग २६ भाषाओं की पचास हज़ार प्रतियां लोगों में फिरती रहती हैं। अमेरिकनों के सिवाय अन्य मनुष्य भी उनके समानही पुस्तकालय में जाकर इच्छित पुस्तक, अख़बार, मासिक मुफ्त पढ सकते हैं।

इस लाइब्रेरी की इक तालीस ब्रेंचें—शाखायें हैं। प्रत्येक ब्रेंच में एक बार आये हुए मनुष्यको फिर, आकर्षित होके आने के लिये विचित्र योजनामें रहती हैं। हर एक लाइ-ब्रेरीयन्—पुस्तकालय कर्मचारी वहां आनेवालों के साथ बहुत सभ्यवर्त्तन करता है और अपने महमान के समान उन का आदर करता है। हर कोई मनुष्य लाइब्रेरी के कार्ड में अपना नाम दर्ज कर के दूसरे की गवाही करा के वहां की चाहे सो पुस्तक, अख़बार, मासिक आदि अपने घर लाकर उस का उपयोग कर सकता है।

इन ब्रेंचों में अन्यदेशीय लोगों के लिये भी चर्चा, व्याख्यान, संभाषण की, एवं सभाओं की आयोजना रहती है। वहुधा ब्रेंचों की असेम्ब्ली रूम्स्—Assembly Rooms में—Little Mother's League लघुमातृसमाज, Debating Society वक्तृत्वसभा, Boys' and Girls' Club लड़के और लड़कियों के क्लब, Classes in English for foreigners विदेशियों के लिये अंग्रेज़ी के वर्ग—Classes, Boy Scouts वालकों का जासूसी मण्डल, City History Clubs शहर का ऐतिहासिक क्लब, Dramatic Club नाटकों के क्लब, आदि आदि विविध कार्य सम्पादित होते हैं और सिनेमेटोग्राफ़ से अनेक चित्र दिखाये जाते हैं। गतवर्ष, सिटी वोर्ड आफ़ एज्युकेशन—City Board of Education की तरफ़ से लाइब्रेरी के मकानों में ११८ फ़्री ईविनिंग लेक्चर्स Free evening lectures दिये गये थे।

गरमी के दिनों में वाचकों की संख्या कम मालूम होने-पर—भवनों के ऊपर की चान्दनियों में और शीतलवायु के कमरों—Roof Reading Rooms में पठनपाठन के लिये वैठने की योजना की जाती है—जिस से पाठकों की संख्या अधिक होती है। सन् १८१२ में गरमियों के दिनों के सिर्फ़ तीनही कमरों में ४८४६२ मनुष्यों ने प्रवेश कर के लाभ उठाया था।

वहां वालकों के लिये विशेष सुविधा रहती है। तार और अखवार वाटनेवाले आदि मज़दूरों के लड़के तक वहां आकर लाभ उठाते हैं। वैसे ही छोटे छोटे वालकों को इधर उधर की कथा कहानियां सुना के उनकी अभि-

रुचि वढाने के लिये हरतरह के उपाय किये जाते हैं। अच्छे अच्छे शिक्षक नियत किये गये हैं जिन से देशी विदेशी छोटे वड़े वहुत लडके इन क्लासों में भरती होकर खूव लाभ उठाते हैं और नित्य नियमित समय पर वहां मौजूद रहते हैं।

छोटे मोटे जाहिल शरीर लडके कि जो अपने मकानों में घूम घामकर के घरवालों को तंग करते हैं—वे भी वहां आकर सुशील वनते हैं और उत्तम शिक्षा पाते हैं। मिस् एना Miss Anna नामक एक स्त्री ने ऐसे वालकों के जुदे जुदे वर्ग वनाकर उनके क्लव वना दिये हैं। और वह नित्य उन को दन्तकथायें, भूत प्रेत की कहानियां और कौतुकयुक्त आश्चर्य वातें सुनाने का काम करती है। सन् १९१२ के वर्ष के Story hours वातों के घण्टों में ३८१४७ वालक शरीक हुए थे।

इस लाइब्रेरी के साथ न्युयार्क ट्रेवेलिंग लाइब्रेरी Newyork Travelling Library रक्खी गई है। जिसके ८९४ Stations स्थान नियुक्त हैं। सन् १९११ के अखिर में इस योजना का आरंभ किया गया था। एंजिन-हौसेस, विस्कुट फेक्टरीज्, पागलखाने, खैरातखाने, दूकानें और अनेक सामान्यजनों के कारखानों में—पोष्टमेन—चिठ्ठी रसां की तरह लाइब्रेरी के नौकर हरहफ्ते में पचीस पचीस पुस्तकें रख आते हैं और दूसरे हफ्ते में उन को वदल आते हैं—समय मिलते ही थके हुए त्रस्त मजदूर ऐसी पुस्तकों से अपनी थकावट और त्रास दूर कर सकते हैं। उसी प्रकार अन्धों के लिये भी उठाव के अक्षरोंवाली

पुस्तकें रहती हैं । जहां उन की आवश्यकता रहती है–
तुरन्त पहुंचाई जाती हैं ।

ऊपर कहे सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार बहुत
काम कर के लाइब्रेरियां स्थापित की जाती हैं । उसी प्रकार
बड़े भारी व्यय से लोगों की अभिरुचि बढ़ाई जाती है ।
और इन दोनों दिशाओं को समसमान उन्नत रखने ही से
अल्पसमय में न्युयार्क पब्लिक लाइब्रेरी ने असाधारण
विजय प्राप्त किया है ।

इसी ढंग पर, इस देश में भी इस समय जो प्रयत्न
हो रहा है, वह प्रशंसनीय है तो भी, क्रमशः लोगों में
वाचनाभिरुचि जागृत होने के लिये विशेष ज़ोर से प्रयत्न
करने में इन लाइब्रेरीसंचालकों का विशेष लक्ष होगा–
ऐसी आशा की जाती है ।

दी बड़ोदा लाइब्रेरी मिसलेनी–लोकाभिरुचि जागृत
करने के कार्य में विजय सम्पादन कर रही है–सुन कर
हमें बहुत हर्ष होता है ।"

इस के अन्त में–भारत में भी, सर्वत्र गांवड़ोंतक में
भी, ऐसी ही हिरती–फिरती लाइब्रेरियों का संगठन
हो के–मजदूर किसानों तक–उन के निरक्षर होने से पठना-
भाव में भी–उन को खाली पुस्तकों का दर्शन ही कराया
जाय और सर्वसाधारण को उन से लाभ पहुंचाया जाय–
इस लिये करुणामय भगवान् से नम्र प्रार्थना कर के
यहां लाइब्रेरी मिसलेनी–बड़ोदा की उक्ति को उद्धृत कर के
उस की आशा में हम अपनी इस शुभाशा को दृढ़
करते हैं–

"We hope this library spirit will leaven the whole of India and bring enlightenment and happiness into the hum-drum life of the toiling millions of this land of ancient civilization."

हम आशा करते हैं कि–यह पुस्तकालय साहस भारत में सर्वत्र प्रसार पा के इस प्राचीन सभ्यभूमि के लाखों श्रमित मनुष्यों के दौडधूप के जीवन में प्रकाश और सौख्य प्रदान करेगा।

अब उसी आद्यप्रणीत जगत् की प्रथम पुस्तक परम-पूज्य, परमपवित्र, परम श्रेष्ठ ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों द्वारा हम अपने प्रियबन्धु, भगिनी, मित्र, बाल, वृद्ध, नवयुवकों को प्रेमपूर्वक सदुपदेश सुना कर कुछ देर के लिये इस संगति संगति की पराकाष्ठा के चिन्तन में विराम लेते हैं–

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मंत्रः समितिः समानी-
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहा सति॥

सब मिलकर. साथ चलें, सब मिलकर परस्पर बोलें एवं सब मिलकर अपने मनों को समान जानें। जैसे पुरातन देव एक मत होके हविर्भाग लेते हैं वैसे ही हम भी भिन्नता का त्याग कर के धन का स्वीकार करें।

सब का मन्त्र–विचार–स्तुति, समान–एक विध होवो। एवं समिति–प्राप्ति–भी सब की समान–एकरूप होवो। सब का मन–अन्तःकरण समान–एकविधि रहो। सब का चित्त–विचारजन्य ज्ञान, परस्पर समान–एकार्थक रहो। सब मिलकर समान–एक विचार करें एवं सब मिलकर हविप्रदान कर के यज्ञ करें।

तुह्मारे संकल्प समान रहो, तुह्मारे हृदय समान रहो, तुह्मारा मन समान रहो और तुह्मारा साहित्य भी समान रहो।

अन्त में तैत्तरीय आरण्यक के प्रथमानुवाक् के शब्दों में परात्पर परमात्मा से यही नम्र प्रार्थना है कि–

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

सर्व शक्तिमान् प्रभु की कृपासे हम परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें। साथ साथ ही भोगों का उपभोग लें और साथ ही अपना सामर्थ्य बढ़ावें। हे करुणामय भगवान्, आप ही के सामर्थ्य से हमारा अध्ययन जगत् में प्रकाशमान हो और हम आपस में किसी के साथ विरोध न करें।

विचार-दर्शन ।

आन्तर जगत् ।

विचार-परिशीलन ।

ङ–अभ्यास।

ऊपर लिखे अनुसार सद्गुरु की प्राप्ति होने के पहिले प्रबल जिज्ञासा होते ही खूब श्रद्धा को बढ़ाकर भक्तिपूर्वक इस ग्रन्थ के समान शास्त्रीय धार्मिक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्", "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः", "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम्", "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य यथार्थ हैं। विना ज्ञान के आत्मलाभ नहीं होता एवं विना आत्मलाभ के कैवल्य-लाभ नहीं होता। दुर्लभ मनुष्य जन्म का इतिकर्त्तव्य ज्ञान सम्पादन कर के कैवल्यलाभ करना ही है। जीवात्मा परमात्मा का एकीकरण–यही अभ्यास की अथश्री है, यही अभ्यास का आदिकारण है, यही अभ्यास का अन्तिम साध्य है, यही अभ्यास की चरम सीमा है, यही अभ्यास की इतिश्री है एवं यही अभ्यास का कैवल्य सत्यफल है। 'अभ्यास' शब्द में–अभि, आस–ऐसे दो पद हैं। अभि–अर्थात् समीप, एवं आस–अर्थात् रहना–समीप रहना–एक ही विषय पर लगातार विचारों का प्रवाह चलाना अर्थात् किसी विषय का हृदय पर चित्र अंकित करना है। 'आस' शब्द का अर्थ 'धनुष्य' भी है। इसका भी यही भाव निकलता है कि–धनुष्य के समीप–अर्थात् धनुष्य चलाते वक्त जैसे उस की प्रत्यंचा–रस्सी खैंचकर लक्ष्यवेध जमा के बाण छोड़ा जाता है, वैसे ही अभ्यास–अर्थात् किसी विषय को साध्य करने के लिये–विचारों का एकीकरण, समीकरण एवं लक्षीकरण कर के विषय का ग्रहण किया जाता है–उसको अभ्यास कहते हैं। लगातार किसी विषय के

समीप जाना, या उस विषय को समीप लाना एवं उस में तदाकर होना, या उस को तदाकार करना—अर्थात् स्वयं अभ्यास बन जाना, या अभ्यास को अपने में बना लेना एवं अपने में अभ्यास को मिला लेना, या अभ्यास में स्वयं मिल जाना—अभेद हो जाना—इस को अभ्यास दृढ़ता कहते हैं—" सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्टया । कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ।" अर्थात् एकनिष्ठ हो के जिस विषय में मनुष्य सक्त होता है, वह उसी का रूप बन जाता है। जैसे कीटक भ्रमर का ध्यान—अभ्यास कर के भ्रमर बन जाता है। भगवान् शंकराचार्य की इस उक्ति में—एकनिष्टा—शब्द अनुलक्षणीय है एव—ध्यायन्—यह पद संस्मरणीय है। इन्हीं शब्दपदों का रूप ज्वलन्त प्रत्यक्ष प्रमाण—कीटक का भ्रमर होना है। यही—अभ्यास अभ्यास की दृढ़ता एवं अभ्यास की सफलता—प्रत्यक्ष ईश्वर रूप होना है। " अभ्यासाद्रमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया" योग की उपासना करने से चित्त स्थिर होकर अभ्यास की दृढ़ता हो जाने पर परमात्मा में चित्त रममाण होता है—यह भगवान् श्रीकृष्ण का कहना कितना यथार्थ है ? वैसे ही—" इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्याऽपि योगेऽस्मिन्नधिकारिता ।" इस लोक के और परलोक के विषयों का त्याग करनेवाले, एवं संसार के त्याग की इच्छा रखनेवाले किसी जिज्ञासु पुरुष को ही योग में अधिकार होता है। अर्थात् वह योग के अभ्यास करने का अधिकारी होता है—यह भगवान् शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य का कहना कितना अन्वर्थ है ?

पहिले हमें अभ्यास का तत्व जानकर अभ्यास करने की योग्यता सम्पादन करना चाहिये । First deserve then desire—विना योग्यता सम्पादन किये कभी अभ्यास नहीं हो सकता, अर्थात् विना अधिकार के हम किसी कार्य को सम्पादन नहीं कर सकते । जिज्ञासा, निष्ठा, श्रद्धा, विश्वास, प्रयत्न—अधिकार सम्पादन की परम्परा है । एक से एक पर जाना होता है । पूर्वकाल में, गुरुकुल में रह कर उक्त परम्परा द्वारा ही अधिकार प्राप्त हो के गुरु-कृपा होने पर अध्यात्मविद्या प्राप्त होती थी । आजकल खाली बातों ही में, खाली पुस्तकों के पत्रे उलटपलट करने ही में, खाली बुरे भले संकल्प करने ही में एवं खाली सच झूंठ गप्पें हांकने ही में—चाहे जिस विषय का, चाहे जिस विद्या का, चाहे जिस पदार्थ का हम अपने को अधिकारी मान लेते हैं—किन्तु सहसा ऐसा नहीं है । इसी लिये निरुक्त में भगवान् यास्कने कहा है कि—"विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूपरे वपेत्" विद्या को साथ ले कर मर जाना अच्छा किन्तु ऊपर भूमि में विद्या का बीज नहीं बोना—अर्थात् अनधिकारी को कभी विद्यादान नहीं करना । वैसे ही वहीं कहा है कि—

" विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय
न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ॥
यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत्कतमश्चनाह
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥"

विद्या ब्राह्मण—ब्रह्म जाननेवाले के समीप जा कर कहने लगी कि— मैं तुह्मारा अमूल्य धन हूं। मेरा रक्षण करो। श्रद्धाहीन, आर्जवहीन, एवं प्रयत्नहीन, व्यक्ति को मुझे मत दो—जिस से मैं जोरदार बनी रहूं। हे ब्रह्मन्! जो शुद्धाचरण, मदरहित, बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्यसम्पन्न हो और मुझ से द्रोह न करता हो—ऐसे निधिरक्षक को मेरा दान करो। अर्थात् जैसे कंजूस अपने धन की जीजान से रक्षा करता है, ऐसे मेरी रक्षा करनेवाले को मेरा दान करो! इस में क्या असत्य है? कितना अच्छा कथन है, कितना गम्भीर भाव है एवं कितना सुन्दर मंगल वचन है? भगवान् मनु ने भी इसी का अनुवाद किया है—

"विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥"

अर्थात् पूर्ण श्रद्धावान्, सरलस्वभावी, उद्योगी, ब्रह्मचारी, इन्द्रियनिग्रही, अनन्यवृत्ति, सदाचारी हो के—जो विद्याध्ययन में प्रवृत्त होता है एवं जो कृपण के समान विद्याधन की रक्षा करता है—उसी को विद्यादान होना चाहिये—जिस से विद्या की शक्ति यथावत् स्थिर रह कर उस से उस को अमोघ फल प्राप्त होता रहे। आजकल इस उक्ति के विपरीत प्रचार होने ही से संस्कृत भाषा के साथ साथ ही महामंगलप्रद निर्वाणप्रदायिनी अध्यात्मविद्या का निर्वाण हो रहा है, यह कौन नहीं जानता?

पूर्वकाल में ऐसे अधिकारसम्पन्न विद्यार्थी–छात्र–शिष्य गुरुजनों के निकट जा के अध्यात्मविद्या प्राप्ति के लिये नम्रभाव से प्रार्थना कर के उन की शरण लेते थे तो भी, वे अधिकारी हैं या नहीं–इस की पूरी परीक्षा ले कर फिर गुरुजन उन को अध्यात्मविद्या का उपदेश करते थे–इस का प्रमाण उपनिषदों में बहुत ही अच्छा मिलता है । "सुकेशा, भारद्वाज, शैब्य, सत्यकाम, शौर्यायणी, गार्ग्य, कौशल्य, आश्वलायन, भार्गव, वैदर्भी, कबन्धी, कात्यायन सब ब्रह्म पर–ब्रह्मनिष्ट हो के हाथ में समिधा ले कर परब्रह्म को जानने के लिये आचार्य पिप्पलाद के समीप उपस्थित हुए । आचार्य ने उन की जिज्ञासा जान कर कहा कि–इसी आश्रम में एक वर्ष तक रह कर, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर के खूब तपश्चर्या करने के अनन्तर, जिज्ञासा के अनुसार तुह्मारे प्रश्न करने पर अध्यात्मज्ञान का उपदेश दिया जावेगा ।" अर्थात् आचार्य के कहने का तपश्चर्या करने पर उत्कट जिज्ञासा प्राप्त हो के तुम पूरे अधिकारी बन जाओगे तब तुह्में अध्यात्मविद्या सिखाई जावेगी । इन्द्र को प्रजापति के यहां १०१ वर्ष रहना पड़ा था, बत्तीस बत्तीस वर्ष के बाद तीन बार परीक्षा लेने पर फिर कहीं प्रजापति ने इन्द्र को आत्मज्ञान सिखाया था । बहुधा वेदान्तादिक दर्शनों के प्रारम्भिक सूत्र भी ऐसे ही होते हैं–"अथातो धर्मजिज्ञासा", "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा", आदि जिज्ञास्यमान विषय के लिये ही जिन में जिज्ञासा व्यक्त कर के दर्शनों का प्रारंभ किया जाता है । अर्थात् जब पूर्ण

जिज्ञासा—जानने की प्रवल इच्छा Strong will होती है तभी वह अधिकारी वन कर जिज्ञास्यमान विषय को प्राप्त कर सकता है । आजकल वैसी जिज्ञासा Will power का लोप हो जाने से निरधिकारी वन कर हमने अध्यात्मविद्या खो दी है । अध्यात्मविद्या का लोप हो जाने से आचार्यों का लोप हो गया है । अब उन आचार्यों की जगह मास्टर, टीचर, प्रोफ़ेसर, प्रिसेप्टर, आये हैं एवं उन विद्यार्थियों की जगह स्टूडेन्ट, प्युपिल, स्कालर, डिस्साइपल आये हैं । समित् की जगह पेन, पेन्सिल, पेन-होल्डर आये हैं—समित् का पूर्वकाल में यज्ञ में उपयोग होता था और पेनों का आधुनिक काल में लिखने में उपयोग होता है ।

क्रमशः कालानुवशवर्त्ती हो के, अकर्मण्य वन कर—हमीने अध्यात्मविद्या, अध्यात्मविद्या का अभ्यास एवं अध्यात्मविद्या का विचारपरिशीलन खोया है । आजकल उस का, उस के अभ्यास का, उस की उपयोगिता का, एवं उस के महत्व का—नाम, मार्ग, प्रभाव एवं गौरव तक हमें पसंद नहीं है ! आजकल के नवयुवक साहस के साथ कहते हैं कि—मृतभाषा संस्कृत के अभ्यास से हमें क्या उपयोग है एवं अध्यात्मविद्या के अभ्यास से हमें क्या लाभ है ? हम प्रतिज्ञा से जोर के साथ कहते हैं कि—विना अध्यात्मविद्या के तुह्मारा जन्म, जीवन, मरण नहीं है और न तुह्मारा किसी को कुछ उपयोग ही है । अध्यात्म-विद्या ही के अभाव से तुमने शरीर खोया है, आत्मत्व खोया है एवं मनुष्यत्व खोया है । आजकल हम लोगों का

यही विद्याभ्यास है कि—मातापिता के दुराचरण से हमारा जन्म होता है, कूड़े कर्कट मलिनता में हमारा उपजीवन होता है एवं भूख रोग के शिकार बनकर हमारा मरण होता है ! हमने जगत् में आकर क्या किया—आजकल के स्कूल कालेज में भरती होकर, कोट पटलून बूट पहन कर, मुख में बीड़ी चुरुट सिगारेट लगाकर, मद्यमांस का सेवन कर कर, सोडा की शीशियों की फट् बनाकर—धर्म को तिलांजलि दी, पूर्वजों को मूर्ख कहा, अध्यात्मविद्या का उपहास किया, अपनी सन्तान को कुमार्ग में उतारा, स्त्रियों को मूर्ख बनाया एवं अन्न अन्न करते हुए गुलामगिरी में जन्म खोया ! जिस अध्यात्मविद्या को, जिस ब्रह्मविद्या को, जिस वेदान्तविद्या को हमने आलस्य को, निरुत्साह को, अकर्मण्य को बढ़ानेवाली समझ कर उस का त्याग कर के अब हम जिस अनात्म अविद्या का अभ्यास कर रहे हैं—सिवाय दुर्बलता के, दृष्टिमन्दता के एवं दरिद्रता के—उस से और क्या प्राप्त किया है ? एवं और क्या प्राप्त होने की संभावना है ? अंग्रेज़ हमारे राजा हैं, हम उन की प्रजा हैं, हमारी, हमारी विद्या की एवं हमारे धर्म की वे मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं, अभिलाषा करते हैं एवं जिज्ञासा करते हैं। तुम जैसे उनकी हरएक बात का, विषय का एवं आचारविचार का अनुकरण करते हो वैसे वे भी तुम्हारी बात का विषय का एवं आचार विचार का—क्या कभी अनुकरण करते हैं ? कभी वे धोती, पगड़ी पहन कर दुपट्टा लगाकर कहीं स्कूल कालेज में, सभा सुसाइटी में, या राजदरबार में जाते हैं ? कभी वे स्नानसन्ध्या पूजापाठ करके चौके में बनी हुई दालभात रोटी खाते हैं ?

कभी वे उद्योग धन्धा न करते हुए आलसी बनकर, पैसे पैसे के लिये झूंठ, कपट धोखा कर के आपस में विरोध बढ़ाते हैं? फिर तुम्हें क्या हुआ है—जो तुम उन के कोट पटलून पहन कर पगडी साफे की जगह टोपी Hat लगाकर—साहब बनना चाहते हो? उन के हाथ का बना हुआ खाद्यपेयादि हर एक पदार्थ उपयोग में लाते हो एवं उन के आचारविचार व्यवहार का अनुकरण करते हो? क्यों नहीं, उनके उद्योग, साहस एवं परिश्रम का अनुकरण करते? क्यों नहीं, उन के विद्याध्यान, व्यवहार, कलाकुशलता का परिशीलन करते? क्यों नहीं, उनके प्रयत्न, गंभीर विचार, समाजसंशोधन, एकता, परस्पर प्रेम का अनुसरण करते? क्यों नहीं, उन के क़ायदे क़ानून, नियम, इन्साफ़ समय की पावन्दी का अनुलक्ष्य करते? क्यों नहीं, उन की देशभक्ति, समाजसेवा, व्यापार का प्रचार करते? क्यों नहीं, उन के नवाविष्कार, ज्ञानविज्ञान, शिल्प, रसायन आदि का अभ्यास करते? क्या तुम, कोट पटलून पहन कर सिरपर हेट लगाने ही में अपनी सभ्यता समझते हो? क्या तुम, अपने मातापिता पूर्वजों को बुरा भला कहा कर चाय काफ़ी, डबल रोटी बिस्कीट खाने ही में अपनी वेहतरी समझते हो एवं क्या तुम, अपने आचारविचारधर्म को त्यागकर जातिवन्धन कुल-मर्यादा को तोड़कर अपनी धर्मपत्नी का कर अपने हाथ में ग्रहण कर के इधर उधर फिरने ही में अपनी भलाई समझते हो? क्या यही भारत की सभ्यता, नीति, धर्म, शास्त्र, आचारविचार, विद्या, विनय, मर्यादा, कुलीनता आदि की अभ्यास परम्परा है?

हमारी राजभाषा अंग्रेजी है, उस के सिवाय हमारा निर्वाह नहीं है—सत्य है । इस वक़ उस का अभ्यास करना, परिशीलन करना, विचार करना अत्यन्त आवश्यक है । आज उस का साहित्य वहुत वड़ा है, आज उस का ग्रन्थसंग्रह अपरिमित है एवं आज उस का प्रसार पृथ्वी भर में है । अनेक भाषाओं का अभ्यास कर के वड़ा भारी वक्ता होने पर भी, सिवाय अंग्रेज़ी भाषा के—वह मूर्ख है । अनेक विद्याओं का अभ्यास कर के वड़ा भारी पंडित होने पर भी सिवाय अंग्रेज़ी विद्या के—वह मूढ़ है । अनेक आध्यात्मिक तत्वों का अभ्यास कर के वड़ा भारी ब्रह्मज्ञानी होने पर भी, सिवाय अंग्रेज़ी तत्वज्ञान के—वह अज्ञान है। अंग्रेज़ी भाषा का परिचय—पृथ्वी का परिचय है। अंग्रेज़ी भाषा का अभ्यास—सव भाषाओं का अभ्यास है । एवं अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान—सव शास्त्रों का ज्ञान है—आज इस में कुछ भी संशय नहीं, थोड़ासा भी मिथ्यावाद नहीं अथवा ज़रासी भी अत्युक्ति नहीं है । अंग्रेज़ी भाषा के लिये अधिक कहने की, विशेष स्तुति करने की या वड़ी प्रशंसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है । अव हम पूंछते हैं कि—वताइये, इस विश्वव्यापी भाषा में, इस के विशाल साहित्य में एवं प्रचण्ड ग्रन्थसमूह में कहां लिखा है कि—अध्यात्मविद्या का अभ्यास मत करो, वह निरुपयोगी है, उदासीन वनाती है, अकर्मण्य करती है, एवं उत्साहहीन कर देती है । उस में कहां लिखा है कि—अपने धर्म का त्याग कर दो, अपने आचारविचार को छोड़ दो, अपने पूर्वजों को वुरा भला कहो एवं अपने मावाप को गाली दो । उस में कहां लिखा

है कि–मृतभाषा संस्कृत का अध्ययन मत करो, अपनी मातृभाषा को मत सीखो, मातृभाषा में पत्रव्यवहार मत करो एवं मातृभाषा में बातचीत मत करो। उस में कहां लिखा है कि–अपना कुलाचार छोड़ दो, पूर्वज मातापिता श्रेष्ठजनों की मर्यादा तोड दो, स्वतंत्र बनकर ईश्वर तक को मत मानो एवं तुम साहब बनकर अपनी धर्मपत्नी को मेम बना डालो। "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" इस तत्व को सामने रख कर, तुम अपना, अपने घर का एवं जनसमूह का सुधार करने में प्रवृत्त हो के–चाहे जेब में एक पाई नहो, चाहे घर में अनाज का कण नहो, चाहे यह लोक परलोक में कहीं बैठने के लिये स्थल भी नहो– ब्रह्मचर्य का त्याग कर के खूब प्रजा को उत्पन्न करो, उन को अन्नवस्त्र के अभाव से खूब दुर्बल करो एवं उन को विद्या-भ्यास न करा के खूब मूढ़ करो। देश के भविष्य को कभी मत सोचो, अपनी बेहतरी भलाई का कभी ख्याल मत करो एवं गृहसमाज की तरफ़ कभी आंख उठाकर मत देखो–देखें, इस का क्या परिणाम होता है? देखें, इस का क्या नतीजा निकलता है? देखें, इस की क्या होनाहार होती है?

जो हो–था वह आज नहीं है और आज नहीं है वह कल होगा–इस के लिये कौन क्या कह सकता है? काल का प्रभाव विचित्र है। उस का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह अटल नियम है कि–कोई पदार्थ या विषय किसी काल में था किन्तु आज नहीं है तो, वह बीजभूत है एवं समय पाते ही फिर उस का

आविष्कार होना ही चाहिये । हमें इस बात पर पूरा विश्वास रखना चाहिये कि—अगर हमारे ऋषि, मुनि, महात्मा, आचार्य, अध्यापक, सद्गुरु, गुरुजन, विद्वान्, पंडित, ब्रह्मचारी, वर्णी, विद्यार्थी, छात्र, शिष्य, गुरुसेवक, गृहस्थ, वानप्रस्थ, यति, संन्यासी, साधू, सन्त, राजा, महाराज, चक्रवर्त्ती, सार्वभौम, व्यापारी, सेठ, साहूकार, कृषक, खेतीहर, कारीगर, शिल्पकार आदि हमारे ग्रन्थों में, हमारे धर्म में, हमारे देश में, हमारी जाति में, हमारे कुल में—लिखे, कहे, सुने के अनुसार हुए हैं और थे तो—उन का भविष्यकाल में उदय होना सत्यसंभव है । यह अटल सिद्धान्त है कि—भूतकाल का भविष्यकाल हो के पीछे वर्त्तमानकाल होता है । भूतकाल का कभी भूतकाल नहीं होता और उस का वर्त्तमानकाल भी नहीं होता । वर्त्तमानकाल कभी भविष्यकाल नहीं होता किन्तु भूतकाल होता है और भविष्यकाल का कभी भूतकाल नहीं होता किन्तु वर्त्तमानकाल होता है तो—हमारे इस सिद्धान्त के अनुसार—जब हमारे ऋषि, मुनि, महात्मा आदि पूर्वजों का विलय अर्थात् भूतकाल हो चुका है तो—उन का भविष्यकाल अर्थात् पुनरागमन हो के, वर्त्तमानकाल अर्थात् उन का साक्षात् होना ही चाहिये । उन के भूतकाल का कभी भूतकाल नहीं होता अर्थात् उन का अत्यन्ताभाव नहीं होता—इसी लिये हमारे यहां तर्पण श्राद्ध आदि क्रिया द्वारा पूर्वजों का स्मरण, आवाहन, पूजन किया जाता है । उन के अस्तित्व में किसी भी प्रकार की शंका नहीं है । हम पर उन का बड़ा भारी उपकार है कि—उन्हों ने ऐसी

नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को धार्मिक स्वरूप देकर हमें श्रद्धास्पद बना के श्राद्धरूप अपना स्मारक कर रक्खा है।

मि० स्टेडने पंदरह वर्ष के अनुभव बाद अपने 'रिव्यू आफ़ रिव्यूज़' में लिखा है कि—मृत मनुष्य प्रत्यक्ष दीख सकते हैं, उन के फ़ोटो लिये जा सकते हैं, एवं उन के समाचार भी मालूम हो सकते हैं। यह तो उन के जीते जी का लिखना है—किन्तु यह सुन कर पाठकों को अवाक् होना पड़ेगा कि—टिटानिक जहाज़ में उन की मृत्यु हो जाने पर भी, उन्हों ने, मिसेस् रिचमंड के शरीर में प्रवेश कर के टिटानिक जहाज़ डूबने के समय का बड़ा ही हृदय-द्रावक वृत्तान्त सुनाया है एवं परलोक का भी ख़ासा हाल सुना के आश्चर्यचकित किया है। उन्हें वहां आप्तसम्बन्धी जन मिले, इतना ही नहीं उन का पुत्र भी मिला एवं सबों ने उन का स्वागत भी किया! इस से बढ़ कर और क्या आश्चर्य हो सकता है? पाश्चात्यों ने तो इस बात का बहुत अनुभव ले रक्खा है किन्तु उसी के अनुसार यहां भी प्रेतावाहनद्वारा यह बात प्रमाणित हो चुकी है। हमारे वेदपुराणों में तो, पितर और पितृलोकवर्णन जगह जगह आया है एवं इस्लामधर्म में भी कहा गया है कि—जुमेरात के दिन अपने वारिसों को देखने के लिये रुह आती रहती है। भूतप्रेतों के प्रभाव से आज यहां कितने ही संप्रदायों का अस्तित्व विद्यमान है। श्रीसंप्रदाय के रामानुज आचार्य ने राजा की कन्या की भूतबाधा को मिटाकर अपने संप्रदाय की उन्नति की थी। गोस्वामी तुलसीदासजी को प्रेतही के उपदेश से श्री

हनुमानजी के दर्शन हुए थे। यहां के सभी आस्तिकजन भूतप्रेतों पर विश्वास करते हैं । पाश्चात्यों ने भी अव अव इस वात को माना है । सर वाल्टर स्काट की 'लेटर्स ऑन डिमोनोलजी ऐण्ड विच्क्राफ़्ट' Sir Walter Scott's 'Letters on Demonology and Witch Craft' नामक पुस्तक में—इस विषय की अनेक घटनाएं विस्तार-पूर्वक लिखी हुई हैं। हिन्दी भाषा की 'परलोक' नामक पुस्तक में भी अच्छा वर्णन है। महात्मा क्राइस्ट ने भी कितने ही लोगों को भूतवाधा से मुक्त किया था।

इतना प्रमाण होने पर भी, पूर्वजों के भविष्यकाल पर शायद कोई ऐसा आक्षेप कर वैठें कि—जैसे कोई फल पक हो जाने पर, फिर वह अपने पूर्वरूप में अर्थात् अपक दशा में नहीं आता—सड़गल कर उस का नाश हो जाता है किन्तु उस का पुनरुद्भव नहीं होता, तो मित्रो, इस का अनुसन्धान करते ही थोड़ी देर में स्पष्ट मालूम हो जायगा कि—फल सड़ कर उस का नाश होता है, यह वात सत्य है, किन्तु भूतकाल का कभी भूतकाल नहीं होता। वृक्ष क़ायम है, फिर वही फल उस से प्राप्त हो सकता है, क्यों कि, कोई भी पदार्थ अपने रूप का शेष रख कर रूपान्तर को प्राप्त होता है। प्रकृति तो इस को प्रत्यक्ष कर दिखाती है कि—दूसरा, तीसरा फल क्या—सव वृक्ष क्यों न नष्ट हो जाय—कालान्तर में फिर उसी वृक्ष का आविष्कार हो के उसी फल की प्राप्ति होती है। सिर्फ़ किसी भूतकाल में वृक्ष का अस्तित्व होना चाहिये। क्यों कि वीज का कभी नाश नहीं होता। वृक्ष तो क्या—जगत् का

प्रलय हो जाने पर भी फिर उस का आविष्कार होता है। किसी विषय, पदार्थ, सत्व का अस्तित्व हो जाने पर उस का कभी अत्यन्ताभाव नहीं होता, वह बीजभूत हो के प्रच्छन्न रहता है। हमारे वेद, शास्त्र, पुराण आदि अनेक सत्य ग्रन्थ विद्यमान हैं और उन में हमारे पूर्वजों का पूर्ण अस्तित्व पाया जाता है, इतना ही नहीं—उन्हीं के बनाये हुए ये सब ग्रन्थ हैं। उन का अस्तित्व न था—ऐसा, जगत् भर का कोई मनुष्य नहीं कह सकता एवं कभी कोई उन के अस्तित्व में शंका ही नहीं कर सकता, तो—फिर हरएक को निश्चयपूर्वक पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि—कभी न कभी हमारे ऋषि, मुनि, महात्मा पूर्वजों का अवश्यमेव फिर आविष्कार होना ही चाहिये। इस का खंडन ज्ञान, विज्ञान, युक्ति, अनुभव इत्यादि कोई नहीं कर सकता। ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त १८ में साफ़ कहा हुआ है कि—" यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु। यथानपूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्।"—जैसे अहोरात्रात्मक दिन क्रमशः परिवर्तित होते हैं एवं विना विपर्यास के क्रमशः ऋतु परिवर्तित होते हैं—वैसे ही पूर्वकालीन पितर अर्वाकालीन पुत्र को नहीं छोड़ता अतएव हे धातः! हे पालक देव! हमारे सब कुलीन जीवों को तू आयुष्यप्रदान कर।

यह बात सब कोई जानते हैं कि—जिस जिस वृक्ष का जो जो बीज होता है, उस से उसी वृक्ष की उत्पत्ति होती है। आमके बीज से कभी नीम का झाड नहीं होता एवं नीम के बीजसे कभी आम का झाड नहीं होता। उसी प्रकार

मनुष्य से पशु नहीं उत्पन्न होता एवं पशु से मनुष्य नहीं उत्पन्न होता । जब ऐसा है और हमारे ऋषि, मुनि, महात्मा हमारे ही जैसे मनुष्य हैं तो उनका आविष्कार हम में ही होना चाहिये—अर्थात् हम ही अपने पूर्वज हैं या पूर्वज हम स्वयं हैं । यही बात हमारी श्रुति कहती है—"अंगादंगात्संभवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रं नामाऽसि सजीव शरदः शतम् ।" अर्थात् तेरा अंग मेरे अंग से बना है, हृदय से तू उत्पन्न हुआ है, मेरी आत्मा ही तू पुत्र है—इस लिये तू पूरे सौ वर्ष जी । वैसे ही स्मृति कहती है कि—"पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यस्यां यो जायते पुनः ।" अर्थात् पति अपनी भार्या में प्रवेश कर के, गर्भरूप धारण कर उत्पन्न होता है, तब, भार्या 'जाया' होती है—क्यों कि पति का फिर उस से जनन होता है । तात्पर्य यही है कि—उन्हीं पूर्वजों की वंशपरम्परा हम हैं एवं हम ही हम अपने पूर्वज हैं—इस में अब भी कुछ शंका है ? यह अटल सिद्धान्त है कि—सर्वत्र सब प्राणिमात्र में परमात्मा निगूढ़ है । उसी की सत्ता से सब का मूर्त्तामूर्त्त स्वरूप बनता है, रूपान्तर होता है एवं स्थित्यन्तर होता है । सारा बाह्य जगत् आन्तर जगत् में भरा हुआ है, आन्तर जगत् ही से बाह्य जगत् का आविष्कार होता है—तो, हम अध्यात्मविद्या के अधिकारी होकर, हम ही हम अपने पूर्वज क्यों नहीं हो सकते ? अर्थात् अधिकारी बनकर हम अपनी अमोघ बलशालिनी, सर्व कामदुघा, अध्यात्मविद्या प्राप्त करलें तो—फिर वे ही हम अपने शापानुग्रहसमर्थ, अतुल

पराक्रमी, श्रीमद्वर्जित ऋषि, मुनि, महात्मा, महापुरुष हैं—निःसंशय हैं ही। सिर्फ़ अभ्यास कर के उनके समकक्ष होने की देर है। अभ्यास करना हमारे हाथ है, अभ्यास की योग्यता सम्पादन करना हमारे हाथ है एवं अभ्यासमय होना हमारे हाथ है। अभ्यास से हम पृथक् नहीं एवं हम से अभ्यास पृथक् नहीं—अर्थात् अभ्यास और हम अभिन्न हैं।

आज कल का अभ्यास, अभ्यास की प्रणाली, अभ्यास की पुस्तकें, अभ्यास का पाठक्रम, अध्यापक, अध्यापकों का पाठ देना, समझाना, लेक्चर देना, छात्रों का अभ्यास करना, समझना, सुनना आदि सब कोई जानते हैं। उस का फल—स्कूलफ़ाइनल, एन्ट्रन्स्, या मेट्रिक होना—८,१० रुपये की क़ीमत कराना है। एफ्. ए. होना—१५,२० रुपये की क़ीमत कराना है। बी. ए. होना—३०,३५ रुपये की क़ीमत कराना है। एम्. ए. होना—४०,५० रुपये की क़ीमत कराना है। और बी. एल्. होना—७५,१०० रुपये की क़ीमत कराना है। पूर्वकाल में बाज़ारों में गुलामों का विक्रय होता था तब भी, बी. एल्. से बढ़ कर हलके से हलके गुलाम की क़ीमत होती थी एवं आज भी हलके से हलका बैल बाज़ार में ४०,५० रुपये से कम क़ीमत में नहीं मिलता! पूर्वकाल में मनुष्य अमूल्य था और गाय या बैल की क़ीमत अधिक से अधिक एक रुपया एवं कम से कम चार आने थी। इसी लिये आज भी हमारा गोप्रदान चार आने में होता है—"गोमूल्यं रजतं पादं अर्धं कृच्छ्रात्मकं यथानुशक्त्या अर्धकृच्छ्रात्मकं पादपादात्मकं गोमूल्यं रौप्यं यथाशक्त्या

निष्क्रियभूतं गोप्रदानं करिष्ये" अर्थात् अब इस का विपरीत भाव होके विपर्यास हुआ है इसका क्या कारण है? केवल हमारी पतितावस्था है! मेट्रिक, एफ्. ए., बी. ए., एम्. ए., बी. एल् आदि पास होना, परदेशों में जाकर उच्च शिक्षा पाना, एवं धन्धे, उद्योग, कलाओं का अभ्यास करना; बहुत श्रेष्ठ, बहुत उत्तम, बहुत उच्च है—इस में किसी का मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु गले में रजतशृंखला—बन्धवाकर या स्वामी के नाम का पट्टा लगाकर श्ववृत्ति के लिये नहीं है—कभी नहीं है! क्षमा प्रार्थी हूं कि—इन मेरे क्षुद्र उद्गारों का कोई बुरा न मानें। इस में किसी का कुछ दोष नहीं है—यह सब समय का प्रभाव है एवं हमारे महत्व का अतिक्रम है। ख़ैर, इतना और ऐसा भी शिक्षाक्रम हो कर—सैंकड़े पीछे कितने लोग शिक्षित हैं? शिक्षितों की क्या दशा है? एवं शिक्षितों का क्या जीवनसंस्कार है?—क्या किसी से छिपा है? ऐसे ये शिष्य, ऐसी यह शिक्षा एवं ऐसे ये शिक्षक—क्या अपना जन्ममरण मिटा सकते हैं? क्या अपना दुख दर्द दूर कर सकते हैं? क्या अपनी क्षुधा, तृषा, दरिद्र हटा सकते हैं? क्या अपनी इच्छा, आशा, लालसा पूरी कर सकते हैं? क्या अपना जीवन सुखमय कर सकते हैं? क्या अपना उद्धार कर सकते हैं? ख़ूब सोचिये, इस त्रिपुटी से क्या लाभ हो सकता है? हर एक देश के हवा, पानी, अन्न, व्यवहार, नीती, नियम शिक्षा के अनुसार जैसी बुद्धी बनती है—वैसे वैसे मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, आचारविचार, रहन सहन होते हैं। यूरप का मनुष्य अपने देश के समान

भारत के खानपान, पोषाक, आचार, विचार, व्यवहार आदिसे अपना निर्वाह नहीं कर सकता एवं भारत का मनुष्य अपने देश के समान-यूरप के खानपान, पोशाक, आचार, विचार, व्यवहार आदिसे अपना निर्वाह नहीं कर सकता-इसी प्रकार पृथ्वी भर के देशों के लिये है इतना ही नहीं-एक ही देश के प्रान्त, प्रदेश में भी, आचार, विचार, व्यवहार में भिन्नता प्रतीत होती है। जिस का भारत में तो कमाल है! इस प्रकार हर एक मनुष्य अपने देश के क़ुदरती नियमों में वद्ध रहता है, प्रायः अपने देश का आचार, विचार, व्यवहार छोडना नहीं चाहता, एवं छोड़ता भी नहीं! जिस देश के लोग सवल होते हैं वे अपने देश का, अपने धर्म का, अपनी जाति का, अपने कुल का एवं आचार, विचार, व्यवहार का कभी त्याग नहीं करते एवं जिस देश के लोग दुर्वल होते हैं वे-अपने देश, धर्म, जाति, कुल, आचार, विचार, व्यवहार का तो क्या-अपना, अपनी आत्माका एवं अपने प्राणों तक का त्याग कर देते हैं!

अव हमारे प्रिय वन्धु सोच सकते हैं कि-हम अपना खानपान, रहन सहन, आचार, विचार, व्यवहार, धर्म, कर्म, नीति, नियम विद्या को छोड़ कर, अपना जीवन, अपना शरीर, अपना कुल, अपना देश सुखमय कर सकते हैं? उन्नत कर सकते हैं? एवं सम्पन्न कर सकते हैं? हमारे कहने का यह भाव नहीं है कि-अध्यात्मविद्या के सिवाय और किसी विद्या का अभ्यास करना ही नहीं-वल्कि हम विनय के साथ कहते हैं कि-हमें अपने धर्म, नीति एवं व्यवहार के साथ साथ ही अन्य भाषा, विद्या,

ज्ञान, विज्ञान, कला, कुशलता, आदि का अभ्यास करना चाहिये। मातापिता आदि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, धर्मवृद्ध गृहस्थों का परमकर्त्तव्य है कि—वे अपनी सन्तान को प्रथम अपने धर्म की शिक्षा दें, धर्म का अभ्यास करावें एवं धर्म पर आरूढ़ करें। मनुष्यमात्र की प्रवृत्ति—चाहे वह वालक हो, चाहे वह युवा हो, चाहे वह वृद्ध हो—हवा, पानी, अन्न, व्यवहार के अनुसार सदसत् की तरफ झुका करती है। पिता, पितृव्य, ज्येष्ठ वन्धु आदि वड़े वूढ़े, वालक के सामने जो जो सदसत्कर्म, व्यवहार, प्रचार करते हैं—वालक तुरन्त ही उस का अनुकरण करने लग जाता है। कोई पिता अपने वालक के सामने वीड़ी, तमाखू, भंग, अफ़ीम, शराव खातापीता है तो—वालक भी खानेपीने लग जाता है। कोई मातापिता अपने वालक के सामने कठोर, असद्वचनों का व्यवहार करते हैं तो—वालक भी वैसे ही करने लगता है। अकसर देखा गया है कि—मनुष्य की वुद्धि पर सदाचरण की अपेक्षा असदाचरण का असर वहुत जल्द होता है—इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—"न वुद्धिभेदं जनये-दज्ञानां कर्मसंगिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।" कर्मसंगी अज्ञानों का कभी वुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। उन पर अपने शुद्धाचरण का प्रभाव डालकर उन के वुरे आचरण को हटाना चाहिये। अर्थात् अपने वालकों के सामने सद्विचार, सद्वर्त्तन, सदाचरण, सद्व्यवहार ही करना चाहिये। हम असद्विचारी, दुराचारी, असत्कर्मी वन कर कभी अपनी

सन्तान को सद्विचारी, सदाचारी, नीतिमान् नहीं बन सकते—इसी लिये हमारा उपदेश है कि—मित्रो, सदाचार, सद्विचार, नीति, नियम, विवेक, सच्चरित्र, धर्म, व्यवहार आदि जो कुछ शुभ, अच्छा, भला जगत् में है—उस का मूलकारण एक मात्र अध्यात्मविद्या है । सब विद्याओं का आदिकारण अध्यात्मविद्या है, सब विद्याओं का सार अध्यात्मविद्या है, सब विद्याओं का बल अध्यात्मविद्या है एवं सब विद्याओं का खज़ाना अध्यात्मविद्या है—उस का विचार करना चाहिये। उस का निरीक्षण करना चाहिये, उस का अनुशीलन करना चाहिये एवं उस का अभ्यास करना चाहिये । उस की जिज्ञासा में सब विद्याओं की जिज्ञासा है, उस की श्रद्धा में सब विद्याओं की श्रद्धा है एवं उस की शिक्षा में सब विद्याओं की शिक्षा है।

इस अध्यात्मविद्या के अभ्यास में प्रथम, ख़ाली श्वास का वहन—श्वास कैसा और कितना चलता है—इस का निरीक्षण, मन का मनन—चित्त किस का और क्या चिन्तन करता है—इस का निरीक्षण, वृत्ति का पतन—चित्त की वृत्ति का कहां और किस में पतन होता है—इस का निरीक्षण, इन्द्रियों का चलन—ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों का किस विषय में और कहां चलन होता है—इस का निरीक्षण, आत्मा का गठन—आत्मा का—परमात्मा जीवात्मा का किस क़दर कितना ऐक्य होता है—इस का निरीक्षण—करते रहना चाहिये । वैसे ही इस पर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये कि—आत्मा, चित्त एवं शरीर—तीनों मिल कर कोई कार्य करते हैं या तीनों के तीन प्रकार हैं या दो

प्रकार हैं । पश्यन्ती देखती है, वही वैखरी बोलती है या नहीं एवं हृदयपट पर–सुहावने सुन्दर चित्र अंकित होते हैं या नहीं ? धीरे धीरे जांचते जांचते त्रिधारा को द्विधारा बना कर झट उस की एक धारा बना दो; पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी की एक धारा बहा दो एवं हृदयभित्ति पर सद्विचारों की सुन्दर चित्रावली लगा दो । अर्थात् मन, वचन, कर्म का एकरूप कर दो, उन की भिन्नता मिटा दो एवं तद्रूप हो के तद्रूप कर दो । मन वचन कर्म का एक-रूप होना ही–कार्य की सफलता है, चित्त की स्थिरता है एवं आत्मा की प्रबलता है । कभी ऐसा अभ्यास मत करो कि–मन में एक, वचन में एक एवं कार्य में एक–किसी के साथ किसी का मेल नहीं । इसी से किसी कार्य की सफलता होती नहीं, विचारशक्ति का विकास होता नहीं एवं किसी कार्य में उत्साह बढ़ता नहीं ।

मनुष्य की दृष्टि के सामने नित्य सैंकड़ों जड़ चेतन पदार्थ आते हैं, और मनुष्य की अन्तराभ्यासवृत्ति का आकर्षण करते हैं । अभ्यासवृत्ति चाहे किसी अवस्था में हो–वे जड़ चेतन पदार्थ, उस को उसी अवस्था में सचेतन कर के अपने कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं । निद्रा में भी यह वृत्ति निरन्तर सुप्तावस्था में नहीं रहती । वहां भी अनुभूत, श्रुत एवं अनुमित पदार्थों के प्रभाव से वृत्ति चंचल हो जाती है–इसी लिये निद्रा के समय संकल्परहित होने के लिये कहा गया है । पदार्थों पर दृष्टि का पतन होते ही–नेत्रों के 'रेटिना' नामक परदे पर, एक पीछे एक चित्र अंकित होते जाते हैं–इस को अमेरिका के

डाक्टर सेण्डफर्ड ने प्रमाणित किया है । किसी पदार्थ को देखने पर चित्त में स्फुरण होते ही—उस का परावर्त्तन आंख में हो के रेटिना पर उस का चित्र आता है और ऐसा यह चित्र मनुष्य के मर जाने पर भी आंख में कुछ समय तक स्थिर रहता है । ऐसे चित्रपर से एक खूनी का पता लगाया गया है । एक मनुष्य ने किसी मनुष्य को शस्त्र से मार डाला था—मृतक की आंखों की जांच करने पर उस की आंख में खूनी का चित्र खिंचा हुआ मिला—जिस पर से खूनी को पकड लिया गया । इसी तत्व पर प्रो० वसु ने अनुसन्धान कर के, सच्ची की आंख नक़ल कर के उक्त डाक्टर के समान अनुभव लिया है । वैसे ही आंखों पर प्रकाश डालकर न्यूनाधिकबुद्धि नापने की कल अमेरिका के जान ग्रे नामक एक वैज्ञानिक ने बनाई है । पदार्थों की धारणाशक्ति के अनुसार जितनी देर रेटिना पर प्रकाश रहता है—उस की न्यूनाधिकता के प्रमाण पर बुद्धि की न्यूनाधिकता का नाप किया जाता है । इस पर से यह सिद्ध होता है कि—आत्मवेग से चलते हुए शरीरयंत्र का नित्य, पदार्थों के अनुभव से परिवर्त्तन होता रहता है । ऐसा कोई भी समय नहीं होगा कि—मनुष्य अभ्यास न करता हो । बिना किसी के सिखाये, बिना किसी के पाठ दिये, बिना किसी के कुछ समझाये मनुष्य स्वयमेव अभ्यास की गति में प्रचलित रहता है । प्रत्येक क्षण, प्रत्येक काल, प्रत्येक प्रसंग—अभ्याससूत्र में पिरोया हुआ रहता है । मनुष्य, उस की सीमा के बाहर नहीं जा सकता । मनुष्य के साथ साथ ही वह अभ्यास

का सूत्र लगा हुआ रहता है और मकड़ी के समान उसी अभ्यासतन्तु पर मनुष्य का चलनवलन होता है। यह अभ्यास क्या है? श्वासप्रश्वास का प्रच्छर्दन विधारण है, विचार का अनुशीलन है, तत्वों का अनुसन्धान है, ज्ञान का मूलकारण है एवं परापराविद्या का अध्ययन है।

मनुष्य के साथ अभ्यास का इतना निकट संवन्ध है तो–उस को बढ़ा कर शक्तिसंपन्न होना मनुष्य मात्र के हाथ है। क्या अभ्यास का सामर्थ्य कम है? क्या अभ्यास का उपयोग कम है? क्या अभ्यास का पराक्रम कम है? उस के वन्धन से कौन छूट सकता है? उस के क़ाबू से कौन निकल सकता है एवं उस के आक्रमण से कौन वच सकता है? सोचने से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि–अभ्यास का सामर्थ्य, उपयोग, पराक्रम अपार है। उस के विना कभी किसी को–सुख, शान्ति, धन, वैभव, सत्ता, अधिकार आदि कुछ प्राप्त नहीं होते। जव ऐसा है और अभ्यास में मनुष्य वद्ध है, अथवा मनुष्य एवं अभ्यास एकरूप है, अथवा मनुष्य अभ्यास है और अभ्यास मनुष्य है तो–फिर क्यों नहीं, हमारा इच्छित साध्य होता? फिर क्यों हम, आज हीनदीन हो कर मारे मारे फिरते हैं? फिर क्यों हम, आज दरिद्री भिखारी हो कर रोग मृत्यु के शिकार वनते हैं? फिर क्यों हम, आज अकालग्रसित हो कर कालग्रसित होते हैं? फिर क्यों हम, आज अन्न के कण कण के लिये तरसते हैं? फिर क्यों हम, आज वात वात के लिये दूसरों का मुंह ताकते हैं?–इस का सिर्फ़ सात ही अक्षरों में उत्तर मिल सकता है

कि-"अभ्यास का अज्ञान"-जैसे, मृग की नाभि में कस्तुरि हो कर भी उसे प्राप्त नहीं होती, हाथी के गण्ड-स्थल में मौक्तिक हो कर भी उसे प्राप्त नहीं होता, गाय के मस्तक में गोरोचन हो कर भी उसे प्राप्त नहीं होता-उसी प्रकार मनुष्यमात्र में आत्मा-शरीर के अणु अणु में विराजमान हो कर भी उसे प्राप्त नहीं होता-यह सब "अज्ञान" के सिवा और क्या है? ज्ञान, विज्ञान, कैवल्य-अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होते हैं। अभ्यास गुरु का गुरु महान् सद्गुरु है, कामधेनु, चिन्तामणि एवं कल्पतरु है। मनुष्य को देव बनाता है, देव को महादेव बनाता है, पत्थर को हीरा बनाता है, चीटी को हाथी बनाता है, एवं राई को परवत बनाता है! अभ्यास की गति अगम्य है, अभ्यास की कृति विलक्षण है एवं अभ्यास की लीला विचित्र है।

प्रिय आत्मज्ञ मित्रो! मनुष्य का देव होना, या पत्थर का हीरा होना-यह खाली कल्पना, शब्दालंकार या गप्प नहीं है। बीज और फल, पत्थर और हीरा, मनुष्य और देव-इन में जो अन्तर है उस को मिटा देना ही अभ्यास का मूल है। उस मूल का, मूल की पद्धति का एवं पद्धति की परम्परा का पूरा रहस्य न जान कर, अपने में अश्रद्धा उत्पन्न कर के मनुष्य भ्रमित होता है और व्यर्थ कल्पनाओं से यत्न का त्याग करके सिद्धि को नष्ट कर देता है। किसी कार्य के सिद्ध करने में, प्रथम उस में के प्रवर्तित नियमों को एवं उन नियमों को प्रचार में लाने की पद्धति को जान लेना-अत्यन्त आवश्यक है।

नियम और पद्धति को जानने सिवाय मनुष्य कभी अभ्यास से लाभ नहीं उठा सकता । शास्त्रविधिरहित अभ्यास–विचार का विरोधाभास है एवं विरोधाभासही अभ्यास का अज्ञान है । भगवान् श्रीकृष्ण ने साफ़ कहा है कि– "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।" अर्थात् शास्त्रविधि–पद्धति का त्याग करके जो अपनी इच्छा के अनुसार चलता है–उसे न तो सिद्धि प्राप्त होती है, न सुख प्राप्त होता है और न परमगति ही प्राप्त होती है ।

संगीत वाद्यादि कला, काव्य कवितादि रचना, गणित भूमिति आदि विवेचना, कोष व्याकरणादि शब्दव्यंजना, शास्त्रविद्यादि भावना–इत्यादि सव विषयों के नियम और नियमों की पद्धति होती है । उनके आधार पर, उन्हीं के द्वारा, मनुष्य का उन में प्रवेश होता है और प्रवेश होने पर उन्हीं नियम एवं पद्धति के साधन ही से उनकी प्राप्ति होती है । उन नियमों के एवं पद्धति के पालन एवं अनुशीलन किये विना वे कभी साध्य नहीं होती । ख़ाली नियम जानने से, या पद्धति समझ लेने से कुछ लाभ नहीं होता । ख़ाली पुस्तकों को पढ़कर, शास्त्र के सिद्धान्तों को जान कर एवं सद्गुरु महात्माओं का उपदेश सुन कर–विना मनन, निदिध्यासन के कोई विद्या प्राप्त नहीं होती । आजकलके जिज्ञासु विद्यार्थी, ख़ाली कोई भी ग्रन्थ, पुस्तक, बुक दिनरात समीप रख कर, उस में के वचनों को घोख कर याद कर लेना–रातको सोते वक़् भी पुस्तक को छाती पर रखकर सोना–स्कूल कालेज में जाकर अध्यापक प्रोफे-

सरों के पाठ लेक्चर सुन कर उन का ऊपर ऊपर विचार करना—एवं 'कब मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो के नौकरी प्राप्त कर लूं' ऐसी भावना रखना—आदि के सिवा और किसी प्रकार के अभ्यास का ज्ञान रखते नहीं एवं इस के आगे कोई अभ्यास है ही नहीं—ऐसा निश्चय कर बैठते हैं। जिस से शरीर खो देते हैं, धर्म खो देते हैं एवं इहलोक परलोक खो देते हैं। इसी से हमारा धर्म, कुल, जाति देशाभिमान नष्ट हो चुका है, इसी से हमारा रोजगार, धन्धा, उद्योग, पराक्रम, व्यापार नष्ट हो चुका है, इसी से हमारा ज्ञान, विज्ञान, कला, कुशलता, अध्यात्मविद्या, आत्मबल नष्ट हो चुका है।

नौकरी—यह नीच श्ववृत्ति है, नौकरी—यह गुलामगिरी है, एवं नौकरी—यह अनिवार्य बन्धन है। अब्राहाम लिंकन ने कहा है—"If slavery is not wrong, nothing is wrong!" 'यदि गुलामगिरी पाप नहीं है तो फिर अन्य कुछ भी पाप नहीं है।' नौकरी धन्धा नहीं, एवं नौकरी व्यापार नहीं एवं नौकरी उद्यम नहीं। "उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः" उद्यम ही से कार्य की सिद्धि होती है, खाली मनोरथ से नहीं। मनोरथ अभ्यास का सूत्रपात है किन्तु उस में पूर्ण उत्साह, प्रबल जिज्ञासा एवं उत्कट श्रद्धा का आविर्भाव होना चाहिये। मनोरथ को कभी मनोराज्य में परिणत न होने देना चाहिये, एवं मनोराज्य का कभी विलय भी न होने देना चाहिये। राजा महाराजाओं को अपना राज्य, धनिक उद्योगी व्यापारियों को अपना कारोबार, पंडित शास्त्री विद्वानों को अपना स्वाध्याय, साधुसन्त

योगियों को अपना अभ्यास—चलने चलाने, करने कराने के लिये मनोराज्य की अत्यन्त आवश्यकता है। जब तक मनोराज्य द्वारा अपने कर्त्तव्यों को मनुष्य, ठीक सूत्रबद्ध न करले तब तक वह कुछ नहीं कर सकता। वह मनोराज्य वृथा होता है कि जो मनोरथ की अवस्था को प्राप्त न होके जिस का कार्य में मूर्त्त स्वरूप नहीं बनता एवं समुद्र तरंगवत्त जहां का तहां मनोरथ के साथ साथ ही विलुप्त हो जाता है। क्षण क्षणमें मनोराज्य मनोवृत्ति का संयोगवियोगीकरण करता है। अकस्मात् किसी विषय पर वृत्ति का संयोग हो कर तत्क्षण ही उस का वियोग हो जाता है— अर्थात् किसी विषय पर मनोयोग हो के झट उस के वियोग की इच्छा होती है। जैसे—किसी पदार्थ को देखने या लेने की खूब प्रबल इच्छा होती है किन्तु, साथ ही, उदासीनता हो के उसपर की रुचि हट जाती है—तो यह क्या है ? जैसे—किसी विषय का निरीक्षण उत्साहजनक हो के तत्काल उस में निरुत्साह हो जाता है—तो यह क्या है ? जैसे— किसी पदार्थ की प्राप्ति में चित्त का तीव्र वेग होता है किन्तु साथ ही उस की तीव्रता कम हो के वेग शिथिल हो जाता है—तो यह क्या है ? जैसे—किसी विषय पर प्रेम की धारा वह निकलती है किन्तु क्षण ही में उसका लोप हो जाता है—तो यह क्या है ?—यही अभ्यास का Repulsive and attractive force संयोगवियोगीकरण है। इस के तत्व को पूर्ण जान कर अभ्यास करनेवाले का कभी ऐसा स्थित्यन्तर नहीं होता एवं उस के अभ्यास का कभी गत्यन्तर नहीं होता। जिन नियमों से एवं पद्धति से

अभ्यास करना चाहिये–उन नियमों का एवं पद्धति का दुर्लक्ष्य कर के ही हमने सब कुछ खोया है । इस का प्रमाण, इस की साक्षी, इस की गवाही–पाश्चात्यों के प्रत्येक आविष्कार दे रहे हैं–कि, यथावत् नियम एवं पद्धति के अनुसार प्रयत्न एवं उद्योग करने से आशातीत, कल्पनातीत अलौकिक लोकोत्तर फल की प्राप्ति होती है एवं विना नियम और पद्धति के कोई कार्य सम्पादन नहीं होता ।

मनुष्य का आन्तर सत्व निर्धारित फल को प्रकट करने में सर्वदा तत्पर रहता है एवं अपने सजातीय सत्व को आकर्षित करने में सर्वदा उद्युक्त रहता है–यह बात अध्यात्म वा मानसशास्त्र द्वारा ही विदित होती है–ऐसा नहीं है। सर्वसाधारण को इस का साहजिक आन्तरभान होता है । किसी कार्य के सम्पादन में जब मनुष्य तत्पर होता है तब उस पर लगातार लक्ष्यवेध जमा कर प्रयत्न करते करते–कवि कुलगुरु कालिदास के कथनानुसार "प्रसाद-चिह्नानि पुरःफलानि" भावी फलको सूचित करनेवाले प्रसादचिह्न पहिले ही दिखाई देने लग जाते हैं । कोई वैज्ञानिक Scientist किसी रसायन या नवाविष्कार के सिद्ध करने में प्रयत्न करता है तो–प्रथम पदार्थों के गुण धर्म या कलपुर्जों के भागविभाग को जान लेता है पश्चात् उन पदार्थ कलपुर्जों को प्राप्त कर के या ईजाद कर के–उन के संयोगवियोग की क्रिया द्वारा प्रथम ही उस के भावी फल को प्रतीत कर लेता है–अर्थात् प्रचलित कार्य के कारण भाव पर से, उपस्थित संस्कारों की धारणा पर से एवं

परिस्थिति के प्रभावपर से सिद्धि असिद्धि का अनुमान हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि–"अभ्यासेऽप्य समर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।"–यदि अभ्यास करने में तू असमर्थ है तो–मेरे कर्मों में तत्पर हो–अर्थात् हे अर्जुन 'कर्मवीर' वन। कर्मवीर होना ही अभ्यास की अथश्री है। कर्मक्षेत्र में पदार्पण होते ही नवीन भाव का उदय होता है, नवजीवन का आरंभ होता है, उत्साह का आविर्भाव होता है, शरीर की नस नस में रक्त का संचार होता है, मानसिक शक्ति का विकास होता है एवं आत्मवल का विस्तार होता है। जैसे जैसे आत्मवल का विस्तार होता जाता है वैसे वैसे चिति-शक्ति का प्रकाश फैलकर आनन्द की वर्षा होने लगती है। संशय, भय, त्रास, बुराई, कुभाव, असद्विचारों पर विजय मिलती है। सुख, शान्ति, आरोग्य, वल, ऐश्वर्य पर पूर्ण अधिकार होता है। कर्म और क्षेत्र एवं कर्म और वीर क्या है? कर्म–विचार है, क्षेत्र–परिशीलन है, एवं वीर अधिकारी, अभ्यासी, साधक है। कर्म की, क्षेत्र की एवं वीर की त्रिमूर्ति का–श्री परम सद्गुरु, दत्तात्रेय स्वामी का–ध्यान कर के, दर्शन कर के, प्रार्थना कर के–चिन्ता, भय, त्रास, शंका, बुराई, भिन्नभाव, विरोध, निराशा, उदासी-नता आदि को अलग करो, बुरे विचारों को हदपार करो, जिला वतन करो, ट्रान्सपोर्ट करो, उनका नामोनिशान तक बाक़ी न रहने दो–यही तुम्हारा सच्चा कर्म है। यही तुम्हारा सच्चा क्षेत्र है एवं यही तुम्हारा सच्चा वीरत्व है। सद्विचारों का चतुरंग सैन्य तैयार करो, जगत् के सब धर्मोंका कवच

धारण करो, विश्वव्यापी प्रेम का धनुष्य सज्ज करो, आत्मा में लक्ष्यवेध करो—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपकार, सदाचार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, श्रद्धा, भक्ति, आदि नानाप्रकार के शस्त्रास्त्र बाणों की वर्षा कर के—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दंभ, दर्प, अभिमान, काठिन्य, संशय, भय, असत्य, दुःख, दारिद्र्य, आधि, व्याधि, चिन्ता, चंचलता, लज्जा, द्रोह, द्वेष, वैर, विरोध, कुभाव, कुटिलता, आदि शत्रुओं का संहार करो, विध्वंस करो, पराजय करो। जगत् भर के धर्मों की एकता की पताका फहरावो। आनन्द मंगल की विजयदुंदुभि बजावो। मूलाधार सिंहासन पर विराज कर, कुंडलिनी को अर्धांगिनी बना के आन्तर जगत् के सम्राट् बनो। "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" एवं "क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।"—कर्मवीर बनने ही से जनकादिकों को सिद्धि प्राप्त हुई है—क्यों कि मनुष्यलोक में, कर्मक्षेत्र में पदार्पण होते ही सिद्धियां उस का स्वागत करती हैं—इस में क्या संदेह है? भगवान् श्रीकृष्ण की इस उक्ति को कभी मत भूलो, कर्मक्षेत्र में पदार्पण कर के—मेरे प्रिय कर्मवीर बन्धुओ! सच्चे कर्मवीर बन के आन्तरजगत् को हिला दो, बाह्यजगत् को जिला दो एवं आन्तर बाह्य जगत् को मिला दो!! "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्" को एकदम मिटा दो एवं कैवल्य अमृत फल को प्राप्त करलो।

अभ्यास की दृढ़ता से, अभ्यास की एकाग्रता से, अभ्यास की परम्परा से—ऐसी विलक्षणता, ऐसी विचक्षणता एवं ऐसी समीक्षणता जब आत्मा के साथ हो जाती है तो—क्या मजाल है, आत्मा, मन, शरीर की भिन्नता हो, क्या मजाल है, मन वचन कर्म की भिन्नता हो, क्या मजाल है, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी की भिन्नता हो, संसार कर्म का क्षेत्र है, धर्म की भूमि है, कर्त्तव्य की वाटिका है। तुम उस के कर्मवीर हो, कर्म के धर्मवीर हो, एवं धर्म के महावीर हो। प्रेम की धारा बहा दो, चितिशक्ति की वर्षा बरसा दो, समुज्ज्वल विचारों की विद्युत् चमका दो, हृदयमन्दिर के कपाट खोल कर **विचार के दर्शन** करा दो! फिर संसार तुम्हारा है, संसार का निधिभांडार तुम्हारा है, संसार का वैभव तुम्हारा है, संसार का राज्य तुम्हारा है। **सरस्वती** तुम्हारी परिचारिका है, **लक्ष्मी** तुम्हारी दासी है, एवं **विजयश्री** तुम्हारी किंकरी है।

देखिये, **रामबादशाह** क्या कहते हैं—"पाठक, बहुत बातों से क्या लाभ? एक ही लिखते हैं आचरण में ला कर परताडलो, ठीक न हो तो लेखक के हाथ काट देना और जिव्हा निकाल देना, ज़रा कान खोल कर सुन लो, और दिल की आंख खोल कर पढ़ लो—प्यारे! कूए में कूद कर नीचे न गिरना तो कदाचित् हो भी सके परन्तु जगत् के किसी पदार्थ की चाह में पड़ कर क्लेश से बच जाना कभी नहीं हो सकता, सूर्योदय हो और प्रकाश न फैले यह तो कदाचित् हो भी जाय, परन्तु चित्त में पवित्रभाव और ब्रह्मानन्द होने पर भी शक्ति श्री आदि

मानो हमारी पानी भरनेवाली दासी न हो जांय—कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं।" आगे चल कर कहते हैं— "संसार के कारणों को आशा की आंख से तकना तो खारी समुद्र में डूबने को तिनके का सहारा है। जब गोपालचन्द्र—कृष्ण को वहां सुदर्शन तो जुड़ा नहीं, रथ का चक्र उठा कर ही अपनी प्रतिज्ञा तोड़ ली तो भीष्म बुड्ढे को भी यह लड़कपन देख बड़ी हंसी आई। अब फिर वही काम न होने पायें। यह चर्मचक्षु से नज़र आनेवाले कारण, आश्रय, सहारे, इनको तकना तो अनुचित् रथ के चक्र को उठाना है। इन से क्या बनेगा? तुम अपने असली रूप को तो याद करो, आंखें खोलो, किस चक्कर में पड़े हो? किस झगड़े में अड़े हो? किस कलकल में फंसे हो? तुम तो वही हो वही! ज़रा देखो, अपने असली सुदर्शन की तर्फ़ तुम्हारे भय से सूर्य कांपता है, तुम्हारे डर से पवन चलती है, तुम्हारे खौफ़ से समुद्र उछलता है, तुम्हारे चाबुक से मौत मारी मारी फिरती है!" और भी—"लक्ष्य तो ब्रह्मतत्व है, ब्रह्मसाक्षात्कार बग़ैर सरेगी नहीं, अनात्मदृष्टि दुःखरूप है। ख़ुशी ख़ुशी चित्त में स्नेह, मोह आदि रखते हो? भैया, काले नाग को गोद में दूध पिला पिला कर मत पालो। सत्यस्वरूप एक परमात्मा को छोड कर और कोई विचार मन में रखते हो? बंदूक़ की गोली कलेजे में क्यों नहीं मार लेते? मार्ग में कहां तक डेरे डालोगे, रास्ते में कहां तक महमानियां खावोगे, यहां दुनिया सराय में मां तो नहीं बैठी हुई है? आराम अगर चाहते हो तो चलो राम के धाम में।" अर्थात्

पूर्व कथितानुसार शरीर मन वचन को आत्मा में सम्मिलित कर के एक रूप वन जावो, अन्तराकाश में ज्ञान-सूर्य का पूर्ण प्रकाश फैला दो, आत्मसमुद्र में गहरे जा कर मुक्तिमौक्तिक प्राप्त कर लो, चित्त पृथ्वी की चट्टानों में घुस कर विचार हीरों को खोज लो, हृदय कालिय ह्रद में कूद कर भगवान् कृष्ण के समान मनोनाग की इन्द्रिय फणाओं को मर्दन कर डालो और भगवान् कृष्ण के समान मधुर आत्मगीत की सुरीली वंसी वजा के सव जड़ चेतन को अपने वश में कर लो—अपान में प्राण, प्राण में अपान एवं प्राण में प्राण को होम कर सौ क्रतु क्या—सहस्रों क्रतु—यज्ञ कर के—शतक्रतु—इन्द्र तो वेचारा कुछ भी नहीं—आन्तर वाह्य जगत् के हजारों इन्द्रों के इन्द्र वन वैठो!!

क्या इतना प्रतिपादन करने पर भी, अव भी, अभ्यास के करने में, अभ्यास के परिशीलन में एवं अभ्यास के परिणाम में कुछ सन्देह है? सुन लो—फिर, रामवादशाह क्या कहते हैं—"यार! मनुष्य जन्म पाकर भी हैरान और शोकातुर रहना वड़ी शर्म की वात है। शोक चिन्ता में वह डूवें जिन के मां वाप मर जाते हैं, तुम्हारा राम तो सदा जीता है, क्या ग़म? ज़रा तमाशा तो देखो, छोड़ दो शरीर की चिन्ता को, मत रक्खो किसी की आस, परे फेंको वासना कामना, एक आत्म-दृष्टि को दृढ़ रक्खो, तुम्हारी खातिर सव के सव देवता लोहे के चने भी चाव लेंगे।"

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥
—शु० यजु० अ० ३१

सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ।
—बृहदारण्यक ।

सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ।
—तैत्तिरीय ।

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् ।
सर्वं ह पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः ।
—छान्दोग्य ।

कोई संदिग्ध शब्दों में तो वेद ने कहा ही नहीं—"जब सर्वात्मदृष्टि हुई तब रोग दुःख और मौत पास नहीं फड़क सकते आत्मा को जाने क्या नहीं जाना जाता और हर प्रकार से हर पदार्थ मिल जाता है।"

च—चरित्र ।

जन्म, कुल, जाति, धर्म, देश, काल, व्यवहार, संस्कार, आचार, विचार के अनुसार मनुष्य मात्र का कर्त्तव्याकर्त्तव्य होता है—इसी को चरित्र कहते हैं । इसी का वर्तमान, भूत, भविष्य बनता है और वर्तमान, भूत, भविष्य का इतिहास बनता है। इतिहास चरित्र है और चरित्र इतिहास है । कोई जानो या न जानो—जन्म होते ही—श्वास के वहन, रक्त के अभिसरण एवं विचार के स्फुरण के साथ ही अभ्यास हो के चरित्र बनता जाता है। मनुष्य को नित्य विवेक द्वारा वैराग्य को, वैराग्य द्वारा निष्कामता को निष्कामता द्वारा शुद्ध चरित्र को एवं शुद्ध चरित्र द्वारा विश्वव्यापी प्रेम

को बढ़ाते रहना चाहिये । संसार में सर्वत्र–ज्ञान और अज्ञान भरा हुआ है, पुण्य और पाप भरा हुआ है, धर्म और अधर्म भरा हुआ है, सच्चरित्र और असच्चरित्र भरा हुआ है–जहां तहां द्वन्द्वों की भरमार है एवं उन की अप्रतिहत गति है । इन द्वन्द्वों का रहस्य विवेक द्वारा जाना जाता है एवं उन की चक्रगति का बोध भी विवेक द्वारा ही होता है। गुणधर्मानुसार विवेकबुद्धि सब जड़ चेतन पदार्थों में है– उस की योजना, उन्नतिक्रम में संगठित हो के क्रमशः उत्क्रान्ति होती रहती है । इस योजना का यथार्थ ज्ञान ही सदसद्विवेक बुद्धि है । यह बुद्धि जब तद्रूप हो जाती है तब विवेकख्याति का उदय होता है । विवेकख्याति का उदय होते ही विश्वदृष्टि होती है एवं विश्वदृष्टि से आत्म-प्रतीति होती है । इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिये कि–परमात्मा एवं जीवात्मा का–चैतन्य, गुणधर्म, एवं जातिरूप एक हैं तो भी जीवात्मा क्षुद्र और मर्यादित है एवं सब जीवात्माओं को और जगत् के सब जड़ चेतन पदार्थों को अपने में समाविष्ट करनेवाला, अखण्ड चैतन्य-घन परमात्मा अनन्त एवं अमर्याद है । अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में जात्येकता है तो भी–प्रमाणभिन्नता बहुत अधिक अर्थात् अपरिमित है । जीवात्मा का चैतन्य समर्याद है एवं परमात्मा का चैतन्य अपार, अमर्याद और प्रमाणातीत है–यह प्रमेय जगत् भर के धर्मों को मान्य है कि–प्राणिमात्र को परमात्मा द्वारा ही चैतन्यशक्ति प्राप्त होती है एवं परमात्मा चैतन्यनिधान है । उसी चैतन्य द्वारा हमारा जीवन है अर्थात परमात्मा ही का अंश हम में है।

उस का चाहे जितना न्यूनाधिक प्रमाण हो, तथापि गुण, धर्म, जाति में भिन्नता नहीं है। जलाशय में के अंजलि भर जल में एवं जलाशय में के शेष जल में—गुणधर्म जाति में कुछ भी भिन्नता नहीं; केवल उस के प्रमाण में भिन्नता है। वही अंजलि भर जल पीछा उसी जलाशय में डाल दिया जाय तो—फिर वह वैसा का वैसा अनन्त एवं अमर्याद हो जाता है—उसी अनुसार परमात्मा में जीवात्मा का ऐक्य होना—उस का अनन्त एवं अमर्याद होना है। ऐसा यह ऐक्य विवेक द्वारा ही होता है। क्यों कि, ईश्वर में एवं मनुष्य में कितना अन्तर है और उस अन्तर को कैसे मिटाना चाहिये इस का ज्ञान विवेक द्वारा ही हो सकता है।

इस भव्य योजना का ज्ञान होते ही—फिर प्राणिमात्र में परमात्मस्वरूप का भान होने लगता है, फिर प्राणिमात्र में निजस्वरूप का भान होने लगता है एवं फिर प्राणिमात्र में जगत्स्वरूप का भान होने लगता है। चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई हो, चाहे जरथोस्ती हो, चाहे बौद्ध हो, चाहे जैन हो, चाहे भारतवासी हो, चाहे यूरपवासी हो, चाहे अमेरिकावासी हो, चाहे आफ़रीकावासी हो, चाहे चीनवासी हो, चाहे जापानवासी हो—भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार—"विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।" विद्याविनयसंपन्न ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में एवं चांडाल में पंडितों की समदृष्टि रहती है—अर्थात् मनुष्य तो क्या—पशुओं तक में पंडितों की भेददृष्टि नहीं रहती।

सत्य असत्य, यथार्थ अयथार्थ एवं सत् असत् का ज्ञान विवेक ही से होता है, आत्मानात्मज्ञान विवेक ही से होता है एवं आन्तर बाह्य जगत् का ज्ञान भी विवेक ही से होता है। विवेक के साथ विचार है एवं विचार के साथ विवेक है। विवेक विचार का एक रूप है। निरन्तर सत असत् विचारों का समालोचन कर के नीच एवं अधम विचारों को चित्त में प्रविष्ट न होने देना एवं श्रेष्ठ और उदात्त विचारों को आकर्षित कर के—उन का चित्त में प्रवेश होने देना ही—विवेक का कर्त्तव्य है, यही विवेक का कार्य है एवं यही विवेक का अन्तिम साध्य है। कुविचारों का पराङ्मुख होना एवं सुविचारों का प्रोन्मुख होना—यही विवेकशक्ति है। विवेक द्वारा ही बुरे भले विचार जाने जाते हैं। नित्य इसी का निरीक्षण होना चाहिये कि—विचारों का प्रवाह किस प्रकार होता है—बुरे विचारों का उद्गम होते ही—उस को रोक कर, इष्ट देव में उस का अन्तर्भाव कर के झट अच्छे विचारों का प्रवाह चला देना चाहिये। कुछ दिन ऐसा लक्ष्य रहा कि—फिर कुविचारों का उद्गम आप ही आप बन्द हो के सुविचारों की धारा बहने लग जायगी एवं कब, और कैसी और कितनी, और कहां बहती है—फिर इस का भान तक न होगा और फिर उस की तरफ़ लक्ष्य देने की आवश्यकता भी न होगी।

उच्च नीच, लघु गुरु, हलका भारी, बुरा भला, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, ग्राह्याग्राह्य आदि गुण, धर्म, जाति, काल, स्थल के अनुसार बने हुए द्वन्द्व अर्थात् जोडों का विवेक ही वैराग्य का मूल है। वैराग्य का यह अर्थ नहीं है—घरबार,

धनदौलत, स्त्रीपुत्रादिकों का त्याग कर के, अंग में वभूत रमा के जंगल जंगल भटकते फिरना एवं घर घर टुकड़े मांगते फिरना । इस वक़ ऐसे ढोंगी, कुटिल, झूँठे, कपट-वेषधारी, निरक्षर, मूर्ख, तमाखू भंग गांजेकश, पेटपाल-तुओं ने—साधु, सन्त, महात्मा आदि पवित्र शब्दों को अपवित्र वना कर—वावन लाख का रूप धारण किया है एवं सालाना पचास करोड़ का संहार करते हैं ! क्या कोई—ऐसे वावन लाख में से, यथार्थ पूर्ण सिद्ध, आत्मज्ञ, जीवन्मुक्त—वावन तो क्या—एकाध भी किसी साधु सन्त महात्मा को कहीं दिखा सकता है या उस का कहीं पता भी दे सकता है ?—इसी से हमारा, हमारे धर्म का, हमारे ज्ञान का, हमारी विद्या का एवं हमारे देश का अधःपतन हुआ है । अगर ऐसे इन वावन लाख में से वावन भी साधु—सच्चे महात्मा प्राप्त हो जांय तो भी, हमारा वहुत उपकार हो सकता है । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण स्वामी **विवेकानन्द** और **रामतीर्थ** हैं जिन्हों ने थोड़े ही समय में इस छोर से उस छोर तक पृथ्वी को हिला डाला, ज्ञानसूर्य का प्रकाश फैला डाला एवं सव को आश्चर्यचकित कर डाला ! आज ऐसे खाली वावन ही **विवेकानन्द** अथवा **रामतीर्थ** वन जांय तो—वात की वात में हमारा, हमारे धर्म का, एवं हमारे देश का उद्धार हो जाय, हम उन्नत हो जांय, हमारा धर्म पृथ्वी भर का धर्म हो जाय, हम सव के शिरोमणि वन जांय और हम सव के नेता नियन्ता वन जांय ।

विवेक के आनन्द की वलिहारी है, विवेक के आनन्द की सद्विचारलहरी है, विवेक के आनन्द की ज्ञानगंगा खूब गहरी है। वहां स्वयमेव राम, तीर्थ वन गया और उस में सव का अवगाहन हो गया। देखते देखते रामतीर्थ-गंगातीर्थ में मिल गया! भारत का भाग्य, भारत का काल, भारत का ज्ञान, भारत का गौरव–सव को दिखा कर विवेक–आनन्द में लीन हो गया और वावन लाख के वदले–इस वक्त पचपन क्या–साठ लाख कर गया!!– "छिद्रेष्वनर्थो वहुली भवन्ति"–एक जगह कपड़े में छेद हुआ कि–फिर जगह जगह छेद होते जाते हैं–इसी का नाम काल का परिवर्त्तन है। विवेक द्वारा वैराग्य को दृढ़ कर के अभ्यास द्वारा ही इस का परिवर्त्तन कर के स्थित्यन्तर करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्ण से योगाभ्यास की रीति सुन कर अर्जुन घवराया और पूंछने लगा कि–"हे मधुसूदन, तुमने जिस योग का वर्णन किया है उस में मन की चंचलता के कारण वृत्ति की स्थिरता होना अत्यन्त ही दुष्कर मालूम होता है।" इस पर भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया है कि–"हे महावाहो! निःसंशय यह मन वहुत ही चंचल एवं दुर्निग्रह अर्थात् क़ाबू से वाहर है।" किन्तु– "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से उस का ग्रहण होता है–अर्थात् मन वश में आ सकता है। भगवान् पतंजली का भी यही

कहना है कि–" अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः " अभ्यास एवं वैराग्य से मन का निरोध होता है । वैराग्य का अर्थ–पदार्थ मात्र में एवं विषय मात्र में त्यागवुद्धि रख कर उदासीन वनना या निरुत्साह हो कर अकर्मण्य वनना–नहीं है । जितनी आसक्ति, जितनी प्रीति, जितनी भक्ति, जितनी आशा, जितनी लालसा, जितनी तृष्णा, जितनी इच्छा–हम जगत् के पदार्थों में, इन्द्रियों के विषयों में, देह, गेह, स्त्री, पुत्र, धनादिकों में रखते हैं–क्रमशः उतनी सव–जिस किसी महाशक्ति द्वारा वे सव, जगत् के पदार्थ, इन्द्रिय–इन्द्रिय के विषय, देह, गेह, स्त्री, पुत्र, धनादिक वनते हैं, उत्पन्न होते हैं एवं प्राप्त होते हैं–उस महाशक्ति में रख कर–संसार के घरवार के एवं अन्तरात्मा के सव कार्य करते हुए–महाशक्तिमय वन जाना, तद्रूप हो जाना तदाकार वन जाना–ही वैराग्य का सच्चा अर्थ है एवं वैराग्य इसी का नाम है ।

इस प्रकार की सच्ची वैराग्यप्राप्ति का चिन्ह पूर्ण निष्कामता है । निष्कामता–सव प्रकार की इच्छाओं का विलय हो जाना है । प्रस्तुत वैराग्य का अर्थ भली भांति समझ जाने पर, भली भांति अवगत हो जाने पर भली भांति कंठाग्र हो जाने पर–हर कोई उस का अनुभव ले सकता है । जैसे जैसे वैराग्य का अभ्यास–वैराग्य के समीप वास–होता जाता है, वैसे वैसे सव इच्छायें वैराग्य में तिरोहित होती जाती हैं और निष्कामता का मूर्त्तस्वरूप दिखाई देने लगता है–अर्थात् उन इच्छाओं का परिवर्त्तन निष्कामता में होता जाता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कितना अच्छा कहा है-"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥" कर्म के फल की इच्छा का त्याग कर के जो आवश्यकीय कर्त्तव्यकर्म करता है-वही संन्यासी एवं वही योगी है । श्रौत स्मार्त्त कर्मत्यागी एवं मन वचन कर्म त्यागी न संन्यासी है और न योगी ही है। वैसे ही-"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" ईश्वर में एकनिष्ठ हो कर जो फल का त्याग कर के कर्म करता है, उस को परमशान्ति प्राप्त होती है । क्यों न हो? "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥" हे कौन्तेय, जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ होम करता है, जो कुछ दान करता है, जो कुछ तप करता है-वह सब मुझे अर्पण कर दे-कर्म और कर्म का फल जिस ईश्वर से प्राप्त होते हैं उसी अखण्ड चैतन्यागार प्रभु को कर्म ही जब हम अर्पण कर दें तो फिर कर्मफल की बाधा ही क्यों होती है? और-"शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" शुभाशुभ फलों से एवं कर्मबन्धनों से मुक्त होने में फिर देर ही क्या है?

यदि हम ईश्वर में अनन्यचित्त हो के सकामता-कर्म के फल की इच्छा को, निष्कामता-कर्म के फल की निरिच्छा में परिणत कर दें तो-"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति"-कितनी गंभीर प्रतिज्ञा है?-हे कौन्तेय मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं कि-मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता-फिर हमें अपने नाश की आशंकाही क्या है? एवं-"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियु-

क्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" अनन्य आन्तरिक भाव से जो मेरा चिन्तन कर के, मेरी उपासना करते हैं—उन के योग-क्षेम का अर्थात्—"योगोऽप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमस्तद्रक्षणम्"—अप्राप्त को प्राप्त कर के उस के रक्षण का भार मुझे उठाना पड़ता है—फिर हमें अपनी जीवनयात्रा की चिन्ताही क्या है? ईश्वर में तद्रूप हो के समय समय जो जो प्रारब्ध-कर्म उपस्थित हों उन का शान्तिपूर्वक उपभोग करते हुए निरभिमान हो जाने पर हमें अपने मनुष्यजन्म का अन्तिम साध्य, इतिकर्त्तव्य, वैराग्य निष्कामता का मूर्त्तिमान् अपूर्व मुक्तिफल प्राप्त होना ही चाहिये । भगवान् रामचन्द्र का भी यही कहना है कि—"प्रारब्धमश्नन्न-भिमानवर्जितो मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः ।"—प्रारब्ध-कर्म को भोगते हुए, निरभिमान हो कर जो वर्त्तन करता है वह साक्षात् मुझ में लीन हो जाता है—अर्थात् परम मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । यही निष्कामता—वैराग्य का फल है एवं फल की इच्छा का त्याग—यही वैराग्य है—दोनों अन्योऽन्याश्रय हैं । वैराग्य का उदय होते ही इच्छा का लय होता है, एवं इच्छा का लय होते ही निष्कामता का प्रकाश फैलता है । निष्कामता यह सकामता का रूपान्तर है । सिर्फ़ 'स' की जगह 'निस्' लगाना होता है । किसी को उद्यान—बगीचा बनाना होता है तो—भूमि, जल, वायु के अनुकूल कौन कौन फलवृक्ष लग सकते हैं—इस का विवेक करना होता है । वृक्षों के लगाने पर फलों की प्राप्ति में दीर्घकाल तथा अनिश्चितता के कारण वैराग्य उत्पन्न हो कर फल की इच्छा पर पूर्ण आधार न रख कर

भी वगीचा लगाया जाता है तो भी उस के लिये आवश्य-कीय कार्य—प्रारब्धकर्म सम्पादन करते रहने पर, समय पाते ही—चाहे फल की इच्छा हो या न हो—वृक्षों पर फल का आविर्भाव होता ही है—उस का उपयोग करना या त्याग कर देना—यह इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर है। यही 'स'—सहकारित्व के उपसर्ग का 'निस्' अभाव है—अर्थात् वैराग्य में इच्छाओं का तिरोहित होना है एवं निष्कामता का मूर्त्तस्वरूप है।

इस प्रकार पूर्ण वैराग्य का उदय हो के निष्कामता हो जाने पर, फिर शुद्ध चरित्र होने में क्या देर है? जब किसी बात की, विषय की, या पदार्थ की इच्छा ही नहीं है तो फिर असच्चरित्र का कारण ही क्या है? सकामता ही अशुद्ध चरित्र है—क्यों कि, सांसारिक इच्छापूर्त्ति के लिये क्या क्या नहीं करना होता?—झगड़े, चोरी, डकैती, खून, खराबी, बुराई, मारपीट, गालीगुफ्ता, फ़र्याद अर्ज़ी, मुक़द्दमे-बाज़ी—यह दुश्चरित्र क्या है? 'सकामता' है। जब इस का तिरोभाव निष्कामता में हो जाता है तो फिर, शेष क्या रहता है?—'निष्कामता' के सिवा और कुछ नहीं। अर्थात् निष्कामता हो जाने पर फिर दुश्चरित्र का पता कहां? सांसारिक कार्यों में, निज के रक्षण में, या निज के निर्वाह में किसी समय असच्चरित्र का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो—भगवान् व्यास के कहने के अनुसार "किमजितो ऽवति नोपसन्नान्" क्या ईश्वर शरणागत का रक्षण नहीं करता? अर्थात् गज के समान, द्रौपदी के समान, प्रल्हाद के समान, मीराबाई के समान, दामाजीपन्त के समान

अवश्यमेव भगवान् शरणागत का रक्षण करता है एवं शुद्धचरित्र ही भगवान् के शरण में ले जाता है। शुद्ध चरित्र ही मनुष्य का आदर्श है, शुद्ध चरित्र ही जगत् का आदर्श है एवं शुद्ध चरित्र ही आत्मज्ञान का आदर्श है। शुद्ध चरित्र से ही इहलोक परलोक की प्राप्ति होती है, शुद्ध चरित्र से ही विश्वव्यापक प्रेम की प्राप्ति होती है एवं शुद्ध चरित्र से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। शुद्ध चरित्र के सम्पादन के लिये ही भगवान् पतंजलि ने, भगवान् व्यास ने, भगवान् शंकराचार्य ने एवं हेमचन्द्रादिक आचार्यों ने—यमनियमों का उपदेश किया है एवं उन को आचार में लाये सिवा योग—जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य नहीं होता।

यम पांच हैं और नियम भी पांच ही हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह,—यम हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—नियम हैं। इन का विस्तारपूर्वक विवेचन जीवात्मा विभाग में होगा ही तथापि, उन का यहां कुछ परिचय कराना अनुचित नहीं होगा—

अहिंसा—प्राणिमात्र पर दया कर के—उन की हिंसा तो दूर, उन का जी तक नहीं दुखाना—अर्थात् किसी प्रकार आत्मा को हिंसक नहीं बनने देना एवं शुभाशुभकर्मों से आत्मा का घात कर के, आत्मघाती नहीं बनना—अहिंसा है।

सत्य—यथार्थ भाषण, प्रिय भाषण, निर्दोष भाषण—विना आत्मा के और किसी पदार्थ को सत्य नहीं मानना एवं "तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत्" उस सत्य आनन्द-निधि का लक्ष्य कर के, उस के सत्य को जानना—सत्य है।

अस्तेय—अचौर्य—चोरी नहीं करना, दृष्ट सांसारिक विषय और पदार्थों का सेवन नहीं करना एवं किसी पदार्थ या विषय की इच्छा नहीं रखना—अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य—युक्ताहारविहार, युक्त आचार विचार, एवं युक्त क्रिया कर्म निद्रादिकों का व्यवहार कर के—'नायमात्मा वलहीनेन लभ्यः'—आत्मा वलहीन को प्राप्त नहीं होती—इस लिये शारीरिक वल खूब वढ़ा के—ब्रह्म—आत्मा में, चर्य—आचरण करना—ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह—नष्ट पदार्थों का संग्रह कर के, उन के संवर्धन में, रक्षण में एवं प्रचार में आसक्त हो के, चित्त का विक्षेप कर के, मूढ़ विक्षिप्त नहीं वनना एवं आलस्य, प्रमाद, संशय को नहीं वढ़ाना—अपरिग्रह है।

शौच—शरीर की अन्तर्वाह्य शुद्धता—स्वच्छता, जिस से शुद्धाचरण में सहायता मिल कर, रोगादिकों का निवारण हो के, दीर्घायु का होना एवं आन्तरवाह्य मल का निरास हो कर, परसंसर्ग का अभाव हो के, शरीर के द्वारा आत्मा का प्रकाश फैलना—शौच है।

सन्तोष—समाधान, स्वास्थ्य, शान्ति—चित्त में समाधान रहना, तृष्णा का विलय हो के पूर्णकाम होना, एवं निज में ईश्वर का दर्शन होना—सन्तोष है।

तप—अनुष्ठान, मंत्रजप, उपासना द्वारा अशुद्धि का नाश होना है। देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञ का पूजन—शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—शारीरिक तप है। उद्वेगरहित भाषण, सत्य प्रिय हित भाषण, स्वाध्याय का अभ्यास—

वाङ्मय तप है । एवं मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह, भावसंशुद्धि—मानस तप है । इन को आचार में लाकर सिद्धियों को प्राप्त करना—तप है ।

स्वाध्याय—पठन पाठन, श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा इष्ट देवता का साक्षात्कार प्राप्त कर लेना, सब जड़-चेतन पदार्थ मात्र—वर्णानुक्रम में ग्रथित हैं—अतएव नियमित वर्णों के उच्चारण में विद्युच्छक्ति उत्पन्न कर के उन का आकर्षण कर लेना एवं अभ्यास द्वारा परापरा विद्याओं का सम्पादन करना—स्वाध्याय है ।

ईश्वरप्रणिधान—ईश्वरार्पण, सब कर्म वा कर्मों के फल—ईश्वर को अर्पण कर के निष्काम होना, कर्मवीर बन कर कर्म के क्षेत्र में निज का प्रणिधान कर लेना, शारीरिक मानसिक सब व्यापार ईश्वरचरणों में समर्पित कर के अनन्यभक्तियुक्त हो जाना एवं साक्षात्कार प्राप्त कर के समाविस्थ हो जाना—ईश्वरप्रणिधान है ।

ये यमनियम क्या हैं? शुद्ध चरित्र की भूमिका हैं, शुद्ध चरित्र की रचना हैं एवं शुद्ध चरित्र की प्रतिमा हैं । इन का पूरा लक्ष्य, इन का पूरा अनुसन्धान, इन का पूरा अभ्यास होने पर ही—सच्चरित्र बनता है । विना सच्चरित्र के—कर्म, उपासना, ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । शुद्ध चरित्र धर्म का बीज है एवं धर्म जगत् का बीज है । पृथ्वी भर के मनुष्यों में साम्यता है—अर्थात् उन की आकृति में, शरीर में एवं मनुष्यत्व में भिन्नता नहीं है । केवल चरित्रभिन्नता ही से उन की उच्च नीच अवस्था होती है । चरित्र ही मनुष्य का मनुष्यत्व है, चरित्र ही मनुष्यत्व का लक्षण है एवं

चरित्र ही मनुष्य के लक्षण का लक्ष्य है । चरित्र कौन सिखाता है ? माता पिता गुरुजन तो सिखाते ही हैं—तथापि प्रत्यक्ष पंचभूतों की प्रतिमा—प्रकृति गोद में लेकर कहती है कि—पृथ्वी के समान धर्मसूर्य को प्रदक्षिणा करते हुए भी, स्थिर एवं क्षमाशील बनो । जल के समान शीतल एवं गहरे बनो । अग्नि के समान प्रभावी एवं तेजस्वी बनो । वायु के समान सुगन्धहारक एवं श्रुतिसम्पन्न बनो । और आकाश के समान विशाल एवं सर्वव्यापक बनो । पुरुष हृदय में ले कर कहता है कि—जड़चेतन को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति है एवं भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—उस की आठ शकलें हैं । वह त्रिगुणात्मिका है, वह दैवी है, एवं वह दुरत्यया है । जो मेरी शरण में आता है उसी का सच्चरित्र बन कर, माया के धोखे से अर्थात् दुश्चरित्र से बचता है ।

दुश्चरित्र मनुष्य से पशुपक्षी अच्छे होते हैं, दुश्चरित्र मनुष्य से कृमिकीटक अच्छे होते हैं । दुश्चरित्र मनुष्य से वृक्षपाषाण अच्छे होते हैं । पशुपक्षी, कृमिकीटक, वृक्षपाषाण—कभी ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते, कभी प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते एवं कभी शरीर के धर्म का उल्लंघन नहीं करते । अत्यन्त दुःख के साथ कहना पडता है कि—मनुष्य, ईश्वर की आज्ञा तो दूर—ईश्वर तक को नहीं मानते ! प्रकृति के नियम तो दूर प्रकृति तक को नहीं मानते ! एवं शरीर का धर्म तो दूर शरीर तक को नहीं मानते ! ! "यान्तिन्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।" नीति से चलनेवाले की पशुपक्षी

तक सहायता करते हैं एवं नीतियुक्त सच्चरित्र का सब अनुकरण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का कहना कितना यथार्थ है "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।" श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है उसी के अनुसार और लोग भी आचरण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की इस उक्ति में 'श्रेष्ठ' शब्द क्या है एक मात्र सच्चरित्र है। सच्चरित्र ही देश का जीवन है, सच्चरित्र ही देश का वैभव है, सच्चरित्र ही देश की सेवा है एवं सच्चरित्र ही देश का इतिहास है। सच्चरित्र ही से जन्ममरण क्लेश का नाश होता है, सच्चरित्र ही से परमसुख शान्ति आनन्द का लाभ होता है एवं सच्चरित्र ही से भक्ति मुक्ति ईश्वर की प्राप्ति होती है। सच्चरित्र 'सत्' का निधान है, सच्चरित्र 'चित्' का निदान है एवं सच्चरित्र 'आनन्द' का निधान है।

"प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चारित्रमात्मनः। किंनु मे पशुभिस्तुल्यं किंनु सत्पुरुषैरिति।"—अर्थात् प्रतिदिन मनुष्य को अपने चरित्र का निरीक्षण करना चाहिये कि—क्या मेरा चरित्र पशुओं को तुल्य है या सत्पुरुषों के तुल्य है?—प्रत्येक को सच्चरित्र का अभ्यास करना चाहिये। यह तुलना और अनुलक्ष्य क्या हैं—केवल श्रेष्ठ पुरुषों के पवित्र चरित्र का निरीक्षण, अनुकरण एवं समीकरण है। अर्थात् निरीक्षण से अपना कितना और किसक़दर चरित्र का अनुकरण होता है एवं अनुकरण से उस का—अपने चरित्र के साथ कितना समीकरण होता है—उसी चरित्र द्वारा इस का पाठ लेके उस का परिशीलन करना चाहिये। परिशीलन क्या है—केवल उस चरित्र का सुन्दर स्पष्ट चित्र हृदय

पट पर अंकित करना है।—"If every one looks after his own reformation, how easily can we reform a nation." अर्थात् अगर प्रत्येक मनुष्य अपने सुधार का अनुलक्ष्य करता रहे तो फिर हम कितनी सुगमता से नेशन—राष्ट्र का सुधार कर सकते हैं।

ग्रीस का जगत्प्रसिद्ध वक्ता डिमास्थनीस् तो कहता है कि—"If occasion be wanting, and we cannot act like our ancestors, let us at least think like them and imitate their greatness of soul." कदाचित समय का अभाव हो, और हम अपने पूर्वजों के समान आचरण नहीं कर सकते हैं तो भी कम से कम उन के जैसे विचार तो हमें करने ही चाहिये एवं उन की आत्मा के महत्व का अनुकरण करना ही चाहिये।

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ज़रथोस्त, शंकराचार्य, ईसा, मुहम्मद आदि को अवतीर्ण हुये आज सैंकडों वर्ष व्यतीत हो गये—उन के चरित्रों ने क्या किया है, उन के चरित्रों ने क्या सिखाया है, उन के चरित्रों ने क्या प्रभाव डाला है, उन के चरित्रों ने क्या रूपान्तर किया है—इस को कौन नहीं जानता? भगवान् रामचन्द्र की नीति एवं योगवासिष्ट को कौन भूल सकता है? भगवान् कृष्ण की रासलीला एवं गीता के उपदेश को कौन भूल सकता है? भगवान् बुद्ध की दया एवं निर्वाण को कौन भूल सकता है? भगवान् महावीर की शान्ति एवं वीतराग को कौन भूल सकता है? भगवान् ज़रथोस्त की पंचभूतोपासना एवं सद्विचार को कौन भूल सकता है? भगवान्

शंकराचार्य के योग एवं वेदान्त को कौन भूल सकता है? महात्मा ईसा के सत्य एवं आत्मसमर्पण को कौन भूल सकता? हयातुन्नवी मुहम्मद के ईमान एवं तलवार को कौन भूल सकता है? शंकराचार्य के सच्चरित्र से बौद्धों का पराजय हुआ, ईसा के सच्चरित्र से यहुदियों का रूपान्तर हुआ, एवं मुहम्मद के सच्चरित्र से बुत परस्ती का नाश हुआ।

व्यास, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, मनु, गौतम, कणाद, सोक्रेटिस, प्लेटो, सिनिका, लूथर, कान्ट, ज्ञानेश्वर, रामदास, फ़िरदोसी, क़लन्दर, सादी, मानतुंग, हेमचन्द्र–इत्यादिकों के चरित्र का, उपदेश का, एवं वचनों का भाव, प्रभाव एवं अर्थ–किसी भाषा में, किसी भाषा के ग्रन्थ में एवं किसी भाषा के वाक्य में न आया हो–ऐसी दुनिया में एक भी भाषा नहीं है, एक भी भाषा का ग्रन्थ नहीं है एवं एक भी भाषा का वाक्य नहीं है।

महात्माओं का सच्चरित्र ही जगत् का सच्चा इतिहास है, महात्माओं का सच्चरित्र ही जगत् का सच्चा व्यवहार है एवं महात्माओं का सच्चरित्र ही जगत् का सच्चा उपकार है। मनु, शिवि, पृथु, भगीरथ, दिलीप, राम, जनक, युधिष्ठिर, विक्रम, भोज आदि राजन्यगण; वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, जैमिनी, याज्ञवल्क्य, अंगिरा आदि ऋषिगण; गार्गी, गौतमी, कात्यायनी, मैत्रेयी, देवहूति, अनुसूया, शकुन्तला, सावित्री, सीता आदि विदुषी कुलस्त्रियां; कालीदास, बाण, दंडी, भवभूति, माघ, श्रीहर्ष, भारवि आदि कविगण,–भारत का सच्चा

इतिहास है । ऐसे महात्माओं का आदर्शचरित्र जगत् का सम्पूर्ण व्यवहार है एवं ऐसे महात्माओं का सदुपदेश जगत् का सम्पूर्ण उपकार है। मनुष्य के जीवन का सार सच्चरित्र है, मनुष्य के जीवन का आधार सच्चरित्र है एवं मनुष्य के जीवन का व्यापार सच्चरित्र है।

प्रसंगवशात् सच्चरित्र पर किसी समय असच्चरित्र का आक्रमण भी हो जाय तो—सच्चरित्र का प्रकाश मन्द होने के बदले अधिक तीव्र होता है । भारवि कहता है कि—"परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोप्युत्सव एव मानिनाम्।" शत्रुजनों से जिन की वीर्यसम्पत्ति का नाश नहीं हुआ है ऐसे मानी पुरुषों का पराभव भी उन के लिये उत्सव है। वैसे ही कारलाइल अपने 'हीरोज़ ऐण्ड हीरोवरशिप' Heroes and Hero-worship में कहता है कि—"In all ways we are to become perfect through sufferings." सर्व प्रकार—सर्व मार्गों में—दुःखों के अनुभव द्वारा हमें संपूर्ण होना है। स्मशान में, कूड़ेकर्कट में, जेल में रहना, सताया जाना, हदपार होना, देश निकाला होना, फांसी पर लटकना, क़त्ल हो जाना, जीतेजी जल जाना, शरीर के टूक टूक हो जाना—उन के लिये कभी कलंक नहीं, कभी अकीर्त्तिकर नहीं, कभी दोपास्पद नहीं। अपने—इसे ऑन मेन Essay on man में पोप का भी यही कहना है कि—"Who noble ends by noble means obtains, Or failing, smiles in exile or in chains, Like good Aureliens let him reign, or bleed Like Socrates, that man is great indeed."

सचमुच महापुरुष वही है जो उच्च साधनों से उच्च पुरुषार्थों का सम्पादन करता है—कदाचित् उस में वह निष्फल हो जाय, हद्पार हों जाय, या वद्ध हो जाय तो भी वह प्रसन्न रहता है। चाहे वह साधु आरेलियस के समान राज्य करे या सार्क्रेटिस के समान प्राण खो दे—चाहे जिस अवस्था में हो, वह महापुरुष है। देखिये—भारवि भी यही कहता है—"विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः।" अपराध के कारण नहीं—केवल, विधि-हेतु अर्थात् दैववशात्—इत्तेफ़ाकन होनेवाला विनिपात—पतन—नीचे गिरना उन्नति के समान है अर्थात् यह ऐसा विनिपात मनुष्य को समुन्नत करता है। सच्चरित्र का आरंभ मनुष्य की सत्कृति का निदर्शन है, सच्चरित्र का मध्य मनुष्य की सत्कीर्त्ति का प्रदर्शन है एवं सच्चरित्र का अन्त मनुष्य की आकृति का अदर्शन है। भगवान् शंकाराचार्य के सच्चरित्र का अन्त होते ही बत्तीस वर्ष की उमर में उन का अन्त हो गया, ज्ञानेश्वर के सच्चरित्र का अन्त होते ही बाईस वर्ष की उमर में उन का अन्त हो गया, विवेकानन्द के सच्चरीत्र का अन्त होते ही चालीस वर्ष की उमर में उन का अन्त हो गया, रामतीर्थ के सच्चरित्र का अन्त होते ही तैंतीस वर्ष की उमर में उन का अन्त हो गया।

सच्चरित्र का प्रकाश उलुओं को सहन नहीं होता—क्यों कि, उन की आंखों में चकाचौंध होती है। वे उस को मिटाने के लिये—अनीति, कुटिलता, कुमार्ग का अव-लंबन कर के कुछ का कुछ करते हैं। किन्तु उन के करने

से क्या होता है? सत्प्रकाश को असत् अन्धकार कभी आवृत नहीं कर सकता। प्रह्लाद का विषपान, अग्निदहन—मीरांबाई, कृष्णकुमारी का विषपान—साक्रेटिस का प्राणहरण—ब्रूनो का सजीवदहन—व्हेसालियस का देशनिकाला—गेलेलियो का सताना—किसी से छिपा नहीं है। सच्चरित्र के सत्व का पार नहीं है, सच्चरित्र के महत्व का अन्त नहीं है, सच्चरित्र के प्रकाश का लोप नहीं है एवं सच्चरित्र के सूर्य का कहीं अस्त नहीं है। प्रह्लाद का विषपान, अग्निदहन—नृसिंहावतार बना, मिरांबाई, कृष्णकुमारी का विषपान—सच्चरित्र का उज्ज्वल रूप बना, साक्रेटिस का प्राणहरण—आत्मा का अमरत्व बना, ब्रूनो का सजीवदहन—मनुष्यत्व का आदर्श बना, व्हेसालियस का देश निकाला—मनुष्य के शरीर की चीर फाड का राजमार्ग बना एवं गेलेलियो का सताना—पृथ्वी का घूना बना।

द्वन्द्वों का दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है—उसी के अनुसार सच्चरित्र एवं असच्चरित्र का भी द्वन्द्व है। जगत् के पदार्थ मात्र के दो प्रकार होते हैं। एक सत् दूसरा असत्—एक अच्छा तो दूसरा बुरा—एक शुद्ध तो दूसरा अशुद्ध—एक शुक्ल तो दूसरा कृष्ण। किसी अच्छे से अच्छे एवं बुरे से बुरे चरित्र की समालोचना की जायगी तो—अवश्यमेव, कहीं न कहीं, थोड़ावहुत समयानुसार, प्रसंगानुसार, कर्त्तव्यानुसार—सद्भाव सच्चरित्र एवं असद्भाव असच्चरित्र का परिचय होगा ही। किन्तु विशेष अनुसन्धानपूर्वक, विशेष ध्यानपूर्वक, विशेष विचारपूर्वक—पूर्ण सावधान हो

कर 'हंसक्षीर' न्याय अशुभ चरित्र पर अलक्ष्य कर के-उसे अग्राह्य जान कर, उसे निरुपयोगी मान कर, उसे अघटित घटना समझ कर, उस का त्याग करना चाहिये। धर्मसंस्थापकों को, कर्मवीरों को, कार्यकुशलों को-इच्छा न होने पर भी, प्रवृत्ति न होने पर भी, कर्त्तव्य न होने पर भी-समयानुसार 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' प्रकृतिवश-"अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः" बड़े बड़े विद्वान् भी रजोगुण में आकर कुमार्ग में पैर रख देते हैं-यह कवि कुलगुरु कालिदास का कहना कितना यथार्थ है ? कभी जान बूझ कर भी-अपने इच्छित कार्य के सम्पादन में, अपने कर्त्तव्यकर्म के सम्पादन में एवं अपने अन्तिम साध्य के सम्पादन में-कार्यवशात्, कर्मवशात् एवं साध्यवशात्-कुटिलता का, कुटिलनीति का कुरीति का-अवलम्ब, आश्रय एवं ग्रहण करना अवश्य होता है-तो भी वह असच्चरित्र नहीं होता । वह एक सच्चरित्र के प्रकाश का परिचय दिलानेवाला अन्धकार होता है, वह एक सत्य का परिचय दिलानेवाला असत्य होता है, वह एक शुभ का परिचय दिलानेवाला अशुभ होता है, वह एक पदार्थमात्र के अस्तित्व का परिचय दिलानेवाला नास्तिकत्व होता है । उस की हमें जरूरत नहीं, उस की हमें परवाह नहीं, एवं उस की हमें चाह नहीं । हमें उन की बुराई ले कर बुरे नहीं बनना हैं, हमें उन की कुटिलता ले कर कुटिल नहीं बनना हैं एवं हमें उन की नीचता ले कर नीच नहीं बनना हैं । दोषों का त्याग कर के गुण ले कर गुणी बनना है, अधर्म का

त्याग कर के सद्धर्म ले कर धर्मी वनना है एवं असच्चरित्र का त्याग कर के सच्चरित्र ले कर सच्चरित्र वनना है ।

छ—विश्वव्यापी प्रेम ।

विश्व को—ब्रह्माण्ड को—जगत् को व्याप्त करनेवाला, विश्वरूप का दर्शन करानेवाला एवं विश्व में विश्वदृष्टि परिणत करनेवाला—विश्वव्यापी प्रेम Universal love होता है । जब प्रेम सकल विश्व में व्याप्त हो के विश्वमय वन जाता है तो, फिर उस का निदर्शन एवं उस के शुद्ध रूप का दर्शन 'स भूमीं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् '—उस के अवशिष्ट दशांगुल में होता है । इस श्रुतिवचन के पवित्र भाव को वही जान सकता है कि जिस को इस दशांगुल का पूर्ण ज्ञान हो चुका है एवं—" पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते "—जिस ने पूर्ण के पूर्ण को ले के पूर्ण को अवशिष्ट रख लिया है । दशांगुल का, पूर्ण का एवं पूर्ण के अवशेष का ज्ञान सच्चरित्र के अभ्यास द्वारा ही होता है ।

ऊपर विवेचन किये के अनुसार—निर्दोष, पवित्र एवं निरुपम सच्चरित्र का सत्य सत्वरूप उन्नत शिखर नगाधिराज वन के, चित्तभूमि का मानदण्ड हो जाने पर—विश्वव्यापी प्रेम का अटूट निर्मल निर्झर उत्पन्न हो के, प्रेम-मन्दाकिनी की प्रेमधारा वह निकलने में—फिर क्या देर है? आवो, मेरे प्यारे मित्रो ! आवो—सव मिल कर उस में खूव गोते लगावें, एवं परस्पर के अन्तर्मल को धो के हृदय से हृदय मिला कर हृदय को पवित्र करें । हे प्रेमगंगे !

हे प्रेमभागीरथी! यह तेरी प्रेममयी प्रेमप्रार्थना है कि–हे भगवति! तेरे प्रेम के तीर पर, तेरे प्रेम का पवित्र जल पान करते हुए, तेरी प्रेम की लहरी देखते हुए, तेरे प्रेम का नामस्मरण करते हुए, तेरे प्रेम के शीतल तुषार लेते हुए, तेरे प्रेम के पवित्र जल में नहाते हुए–हमारा जीवन व्यतीत होवो! हे प्रेमजननी! तेरा प्रेमतीर, तेरा प्रेमजल, तेरा प्रेमतरंग–इतना पवित्र, इतना शुद्ध, इतना सुन्दर है कि–वहां पदार्पण होते ही देहगेहादि सदार्पण हो जाते हैं! भगवती जान्हवी के तीर पर रहनेवाले काक भी सुरनगर की या नन्दनवन की इच्छा नहीं करते तो, फिर–प्रेमगंगे! तेरे किनारे पर पहुंच कर–वहां से कौन लौटने की इच्छा कर सकता है? हे भगवति! तू भगवान् विष्णु के पद-कमल की अभिनव विसवल्ली है, भगवान् शंकर के जटाजूट की मालती पुष्पमाला है, एवं मोक्षलक्ष्मी की जयपताका है! क्यों नहीं? सच्चरित्र की प्रेमधारा, प्रेमधारा की प्रेमजान्हवी, प्रेमजान्हवी का प्रेमावगाहन, प्रेमावगाहन की प्रेमपरम्परा एवं प्रेमपरम्परा का विश्वव्यापी प्रेम–यदि है तो–फिर क्या नहीं है? जो चाहे सो सब कुछ है! प्रेम! प्रेम!! प्रेम!!!–सर्व प्रेम! सर्वत्र प्रेम! जनकजननीप्रेम! बन्धुभगिनीप्रेम! स्त्रीपुत्रप्रेम! गुरुशिष्यप्रेम! सज्जनदुर्जनप्रेम! शत्रुमित्रप्रेम! सजाति विजातिप्रेम! पशुपक्षीप्रेम! कृमिकीटकप्रेम! जड़चेतनप्रेम! प्रकृतिमहाभूतप्रेम! एवं परमात्मप्रेम–जिधर देखें–उधर प्रेम ही प्रेम! सर्वव्यापीप्रेम! विश्वव्यापीप्रेम! एवं ईश्वरव्यापीप्रेम!–प्रेम की धारा, प्रेम की विष्णुपदी बन

कर, प्रेम के सहस्रमुख द्वारा प्रेमसागर को मिल जाने पर–फिर प्रेम का प्रवाह, फिर प्रेम का पूर, फिर प्रेम का तरंग–जिधर देखते हैं उधर, वह रहा है, चल रहा है, और उछल रहा है ! पवित्र प्रेम, निर्मल प्रेम, सत्य प्रेम–सव को तन्मय करता है, विश्व को तदाकार करता है, देह को तत्पर करता है, आत्मा को प्रत्यक्ष करता है एवं ईश्वर को मूर्त्त वनाता है ।

प्रेम क्या है–सव की एकता है, सव की समान्ता है, सव की अभिन्नता है, सव की समीपता है, सव की संलग्नता है, सव की समागमता है, सव की सहायता है, सव की मधुरता है, सव की पवित्रता है, सव की निर्मलता है, एवं सव की तत्परता है । प्रेम सव का मधुरभाव है, सव का सुन्दर स्वभाव है, सव का प्रिय सद्भाव है, सव का श्रेष्ठ प्रभाव है, सव का विरोधाभाव है । वैसे ही सव का एकीकरण है, सव का समीकरण है, सव का समीभवन है, सव का चित्ता कर्पण है, सव का मनोहरण है, सव का दृढ़ वन्धन है एवं सव का आत्मविहरण है ।

प्रेम का अनुभव सुलभ है किन्तु उस का स्वरूप दुर्लभ है । प्रेम के रूप में लीन हो जाना, प्रेम के रूप में रत हो जाना, प्रेम के रूप में प्रेमरूप हो जाना–प्रेम का अनुभव है । प्रेम की मूर्त्ति, प्रेम का चित्र, प्रेम का फ़ोटो, प्रेम का आकार, प्रेम की प्रतिमा नहीं है । प्रेम निराकार है, प्रेम अव्यक्त है, प्रेम अक्षर है, प्रेम अदृश्य है, प्रेम निरंजन है, प्रेम कूटस्थ है । किसी क़दर प्रेम शब्दों से व्यक्त हो सकता है किन्तु प्रेम का भाव कभी व्यक्त नहीं

हो सकता। अत्यन्त मधुर, अत्यन्त गंभीर, अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त शान्त, अत्यन्त उज्ज्वल, अत्यन्त परम, अत्यन्त सत्य, अत्यन्त स्थिर, अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त श्रेष्ठ, अत्यन्त उच्च विचारों के भाव की पराकाष्ठा हीं प्रेम है। जिस से हृदय का विकास होता है, जिस से बुद्धि का प्रकाश होता है, जिस से चितिशक्ति का विलास होता है, जिस से जन्ममरण का विनाश होता है—वही प्रेम का भाव है। प्रेम—मनुष्य का जीवन है, प्रेम—मनुष्य का सौभाग्य है, प्रेम—मनुष्य का पराक्रम है, प्रेम—मनुष्य का उत्कर्ष है, प्रेम—मनुष्य का ईश्वर है। प्रेम की आकर्षणशक्ति अप्रतिहत है, प्रेम की विकासशक्ति अपरिमित है, प्रेम की विचारशक्ति अकुंठित है। जो हर्षित करता है, जो उत्कंठित करता है, जो उत्तेजित करता है, जो प्रचलित करता है, जो स्तब्ध करता है, जो उन्मत्त करता है, जो मुग्ध करता है, जो मूक करता है, जो वधिर करता है, जो अन्ध करता है, जो अस्पृश्य करता है, जो नीरस करता है, जो रुलाता है, हंसाता है, फिराता है, सुलाता है, जगाता है—नहीं नहीं सो करता है—एवं जगत् को हिलाता है, मनुष्य को जिलाता है, अमृत पिलाता है, ज्ञान दिलाता है, सुख को मिलाता है, जागृत को सुलाता है, सुप्त को भुलाता है, भूले को सुध में लाता है, जीते जी जलाता है—चाहे सो कर दिखलाता है। एक को एक के देखने की प्रबल इच्छा, एक को एक के मिलने की प्रबल इच्छा, एक को एक के समागम की प्रबल इच्छा, एक को एक के सहवास की प्रबल इच्छा, एक को एक के मेल-

जोल की प्रवल इच्छा, एक को एक के सद्भाव की प्रवल इच्छा–अन्य के सुख से सुख, अन्य के दुःख से दुःख, अन्य के आनन्द से आनन्द, अन्य के सन्ताप से सन्ताप, अन्य के समाधान से समाधान–जो करता है एवं कराता है–यह सब प्रेम है, प्रेम की लीला है एवं प्रेम की प्रेम-परम्परा है।

प्रेम का भावुक प्रेम का भाव बनाता है एवं प्रेम का भाव प्रेम की भावना बनाता है। इस में यदि किंचिन्मात्र भी विपर्यास हो जाता है तो फिर, एक से एक अलग हो जाते हैं। किसी पदार्थ या विषय का आजन्म स्वीकार कर लेना, किसी पदार्थ या विषय के भाव में आजन्म तद्रूप बन जाना, किसी पदार्थ या विषय की भावना में आजन्म लीन हो जाना–प्रेम का कार्य है। देहगेह, इह-परलोक आदि सब किसी के लिये त्याग देना, या ले लेना या उत्सर्ग कर देना, या वीतराग हो जाना, या आत्मोत्सर्ग कर देना–ही प्रेम का फल है।

प्रेम का त्याग करना उतना कठिन नहीं, जितना उस का प्राप्त करना कठिन है, प्रेम का अभ्यास करना उतना कठिन नहीं, जितना उस का हृदयस्थ करना कठिन है, प्रेम का व्यवहार करना उतना कठिन नहीं, जितना उस का पालन करना कठिन है। प्रेम की ज्योति में, प्रेम की दीपशिखा में, प्रेम की ज्वाला में आत्मसमर्पण किये विना विश्वव्यापीप्रेम की प्राप्ति नहीं होती। प्रेम की ज्योति में मुग्ध हो कर पतंग के समान प्रेमानल में देह का विसर्जन करना ही–प्रेम से मुक्ति है। सादी साहब

कहते हैं—"हे बुल बुल! गुल को तू क्या अपना प्रेम दिखलाता है—अगर तुझे प्रेम सीखना हो तो, पतंग से सीख—जो प्रकाश के लिये प्राणों का विसर्जन करते हुए भी कभी आर्त्तनाद नहीं करता।" इस से भी वढ़ कर क़लन्दरशाह कहते हैं कि—"रू मोहव्वत ता व सोज़े वालो पर, के शवी हमरंग आतश् सरवसर" हे पतंग! मोहब्बत की ओर मुंह कर जिस से तेरे वाल और पर सब जल कर तू—हमरंग—पूर्ण अग्निरूप हो जाय। आर्त्तनाद न करते हुए प्राणों के विसर्जन से वढ़ कर हमरंग होना ही सच्चा प्रेम है। भ्रमर वड़े वड़े काष्टखण्डों को छेद कर देता है किन्तु कमल में वद्ध हो जाने पर निश्चेष्ट हो कर वहीं मर जाता है!

प्रेम की कथा पवित्र है, प्रेम की कहानी रसीली है, प्रेम की लीला विचित्र है एवं प्रेम की कृति विलक्षण है। प्रेम, पति के प्रेत के साथ पत्नी को जला देता है, पत्नी का सतीत्व जगत् को हिला देता है एवं परलोक में पति-पत्नी को मिला देता है। यही प्रेम का प्रेमत्व है, यही प्रेम का अस्तित्व है, यही प्रेम का सत्यत्व है। अपने प्रेम में मातापिता का प्रेम है, अपने प्रेम में वन्धुभगिनी का प्रेम है, अपने प्रेम में स्त्रीपुत्र का प्रेम है, अपने प्रेम में सज्जनदुर्जन का प्रेम है, अपने प्रेम में शत्रुमित्र का प्रेम है एवं अपने प्रेम में सब का प्रेम है। यही प्रेम का अभ्यास है, यही प्रेम का पाठ है, यही प्रेम का मनन है। प्रेम के अभ्यास के लिये—पूज्यभाव, समभाव एवं एकभाव की आवश्यकता है। सब में ईश्वर अंशभूत है, सब में ईश्वर

व्याप्त है, सब में ईश्वर निगूढ़ है—ऐसा पूज्यभाव उत्पन्न कर के और प्राणिमात्र में समभाव—समदृष्टि रख के, एक-भाव को दृढ़ करना चाहिये । अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता का प्रेम में अन्तर्भाव कर के, प्रेमरूपी बन कर विश्वव्यापी प्रेम को प्राप्त करना चाहिये ।

प्रेम स्वाभाविक होने पर भी बड़ा अस्वाभाविक है, प्रेम सुलभ होने पर भी बड़ा दुर्लभ है, प्रेम सुखद होने पर भी बड़ा दुःखद है, प्रेम मीठा होने पर भी बड़ा कड़ुवा है। प्रेम की शिक्षा जगत् की शिक्षा है, प्रेम की लीला ईश्वर की लीला है, प्रेम की उपासना परमात्मा की उपासना है। प्रेम का आदर, प्रेम का विनय, प्रेम का प्रेम, प्रेम की प्रीति, प्रेम की प्रार्थना, प्रेम की स्तुति, प्रेम का प्रणय, प्रेम का पूजन, प्रेम का सत्कार—पृथ्वी भर में सब किसीने किया है। 'अवेकण्ड इण्डियां' में प्रेम से विनय किया है कि—

"Flow gentle Love like moonlight dewy balm,
And drown this wreteched heart! Take me to Thee
Long waited Spirit of universal Love,
Let one be lost in thy embrace."

हे पवित्र प्रेम! तू चन्द्रप्रकाश के शान्तिमय तुषारों के समान वह के, इस मलिन हृदय को उस में डुवा दे और मुझे तू अपने पास ले ले। हे दीर्घकालिक विश्व-व्यापी प्रेमतत्त्व! तू अपने आलिंगन में हर एक को अपना ले। क्यों नहीं?—" पेशलाचारमधुरं सर्वे वांछन्ति तं जनाः। वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव।"—जैसे मधुर ध्वनियुक्त वेणु के नाद से वन के मृग आकर्पित

हो जाते हैं—वैसे मृदु आचरण से मधुर बने हुए मनुष्य को सब चाहते हैं। इस मृदुता ही के मृदुभाव को " Self Sacrifice " स्वात्मसमर्पण कहते हैं। इसी भाव के लिये पतंग दीपशिखा में स्वात्मसमर्पण करता है, भ्रमर कमल में स्वात्मसमर्पण करता है, मृग मधुर-गानमें स्वात्मसमर्पण करता है एवं हाथी जातीयता में स्वात्मसमर्पण करता है! वटुकरूप धारण कर के वलि से त्रिपाद भूमि मांगने पर, दो पाद में सकल भूमि व्याप्त कर के, भगवान् के अवशिष्ट एक पाद भूमि मांगते ही अपने मस्तक पर पाद रखवा कर बलि का पाताल में जाना—किस को आश्चर्यचकित नहीं करता ? वृत्रासुर को मारने के अर्थ, इन्द्र की प्रार्थना से—आयुध करने के लिये दध्यङ् अथर्वण का अपनी अस्थि का प्रदान करना—किस को आश्चर्यमुग्ध नहीं करता ? नरमांस की याचना करने-वाले ब्राह्मण को, उसी की इच्छा के अनुसार अपने मस्तक पर आरा चला कर, मयूरध्वज का मांस दान करना किस को आश्चर्यकम्पित नहीं करता ?—यही पवित्र प्रेम का सात्त्विक दान—आत्मोत्सर्ग है। "अप्य-सुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता।"—रघु के कुल में प्राणार्थियों की भी याचना कभी निष्फल नहीं हुई—यह कवि कुलगुरु कालिदास का कहना कितना उदात्त है ?

क्रौंच पत्ती की क्रूर हत्या से अकस्मात् करुणा का भाव उत्पन्न हो के मुख से प्रेमकविता प्रकट हो कर वाल्मीकि को आदि कवि होना पड़ा। इन्दुमती के प्रेम में मुग्ध

होकर अज को सरयू में अपना शरीर त्यागना पड़ा। सीता के प्रेम में विह्वल हो के रामचन्द्र को वन वन ढूंढना पडा। उर्वशी के प्रेम में मत्त हो के पुरूरवा को आकाश पाताल एक करना पड़ा। निर्वाण के प्रेम में बद्ध हो कर, राजपाट, मातापिता, स्त्रीपुत्र का त्याग कर के बुद्धदेव को वन वन भटकना पड़ा। प्रथम ही अपने भाई के बाण से विद्ध हुए सारस को देख कर हिंसा का निषेध करते हुए निर्वाणमत का प्रचार कर के बुद्धदेव को यज्ञयागादिकों का उच्छेद करना पड़ा। किसी को दुःखित नहीं करना— ऐसा प्रेम का पाठ दे के ऋषभदेव को दयारूप जैनधर्म का प्रचार करना पड़ा। परोपकार की शिक्षा देते हुए, वैरी से भी बदला न ले के उस पर भी प्रेम करने का उपदेश देते हुए ईसा को शूली पर चढ़ना पड़ा। ईश्वर के प्रेम में मस्त हो के, 'अनलहक़्' पुकारते हुए मन्सूर को फांसी पर लटकना पड़ा। संसार में प्रेम के लिये किस को क्या क्या नहीं करना पड़ा; संसार में प्रेम के लिये किस को क्या क्या नहीं भोगना पड़ा एवं संसार में प्रेम के लिये किस को क्या क्या नहीं देखना पड़ा?

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में प्रेम का लक्षण कहा है कि— "सम्यङ्मसृणितस्वान्तः समत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।" जो हृदय को नवनीत समान कोमल बनाता है, जो अतिशय समतायुक्त होता है एवं जो घनीभूत आत्मभाव होता है—उसे पण्डित 'प्रेम' कहते हैं। अर्थात् अनन्यभक्ति, अनन्य आसक्ति अनन्य अनुरक्ति, एवं अत्यन्त दृढभाव, अत्यन्त सान्द्रभाव,

अत्यन्त सत्यभाव ही प्रेम का सच्चा लक्षण है। भीलनी के झूंठे फलों का सेवन, अर्जुन का सारथित्व, विदुर के घर का कणभोजन, सुदामा के तन्दुलभक्षण, गोपियों के साथ रासक्रीड़ा—यह सब प्रेम ही का परिणाम है। "कबीर कबीर क्या करे, जा जमना के तीर । एक एक गोपी के प्रेम में बहते लाख कबीर।" इस में क्या शंका है?—गोपियों का प्रेम ऐसा ही था—"गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् । वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति।" जिस वक्त तेरे अपराध करने पर यशोदा ने तुझे रस्सी से बांधा है, उस वक्त आंखों से आंसू टपकाते हुए भयभीत हो के नीचे मुंह किये हुए, तेरी दशा को देख कर—मोह होता है कि—प्रत्यक्ष भीति जिस से डरती है उस का इस कदर भयभीत होना—आश्चर्य से खाली नहीं!—यह कुन्ती का कहना क्या है? श्रीमद्भागवत में भगवान् व्यास का वर्णन किया हुआ प्रेम का तत्व है।

स्वामी रामतीर्थ बार बार प्रभु से यही प्रार्थना किया करते थे कि—"प्रभो, अब राम तुह्मारा और तुम राम के हो लिये। राम का काम तो, नित्य आप का स्मरण और आपकी मरज़ी पर राज़ी रहना होगा और आपका काम अब राम की सर्व प्रकार की सहायता करना होगा। राम का शरीर उस का अपना नहीं रहा बल्कि सारा का सारा आप का हो गया, हो गया, हो गया! अब चाहे रक्खो, और चाहे मारो।

"कुन्दन के हम डले हैं जब चाहे तू गला ले,
बावर न हो तो हम को ले आज आज़मा ले,

जैसी तेरी ख़ुशी हो सब नाच तू नचा ले,
सब छानबीन करले हर तौर दिल जमा ले,

राज़ी हैं हम उसी में जिस में तेरी रज़ा है,
यहां यों भी वाह वाह है और यों भी वाह वाह है।

या दिल से अब ख़ुश होकर कर हम को प्यार, प्यारे !
ख्वाह तेग़ खैंच, ज़ालम ? टुकडे उडा हमारे,

जीता रक्खे तू हम को, या तनसे सिर उतारे,
अब तो फ़क़ीर आशक़ कहते हैं यों पुकारे—

राज़ी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा है,
यहां यों भी वाह वाह है और यों भी वाह वाह है।"

आगे चलकर स्वामी रामतीर्थ ने प्रेम में निमग्न होकर निश्चयरूप से कहा है कि—

"आसन जमाये बैठे हैं, दर से न जायेंगे,
मजनूं बनेंगे हम, तुम्हें लैली बनायेंगे ?

कफ़न बांधे हुए सिर पर, किनारे तेरे आबैठे—
न उठेंगे तेरे उठाले जिस का जी चाहे—

बैठे हैं तेरे दर पै तो कुछ कर के उठेंगे,
या वस्ल ही हो जायगा या मर के उठेंगे,"

कैसा प्रेम का दृढ़ निश्चय है, कैसी प्रेम की दृढ़ प्रतिज्ञा है, कैसा प्रेम का दृढ़ भाव है ? ऐसे प्रेम से क्या नहीं होता ? ऐसे प्रेम से क्या नहीं बनता एवं ऐसे प्रेम से क्या नहीं प्राप्त होता ? सुन्दर बालक पर सब प्रेम करते हैं—इस का क्या कारण है ? सुन्दर पक्षी पर सब प्रेम करते हैं—

इस का क्या कारण है ? सुन्दर पशु पर सब प्रेम करते हैं—इस का क्या कारण है ? उन का सौन्दर्य नहीं, किन्तु हृदय में भरे हुए सौंदर्य की सजातीय आकर्पणशक्ति का प्रेमप्रवाह है। प्रेम को कौन छोड़ सकता है एवं प्रेम से कौन छूट सकता है ?—मनुष्य, कैसा ही बुरा भला हो, मनुष्य कैसा ही रोगी दोषी हो, मनुष्य कैसा ही विद्रोही द्रोही हो, मनुष्य कैसा ही कठोर निर्दय हो, मनुष्य कैसा ही कृपण लोभी हो, मनुष्य कैसा ही दुराचारी हत्यारा हो—प्रेम से अलग नहीं हो सकता, प्रेम का निरादर नहीं कर सकता एवं प्रेम से विमुख नहीं हो सकता। प्रेम निरन्तर अनावृत एवं अनाच्छादित है। प्रेम की आकर्पण-शक्ति लोहचुम्बक से भी अधिक है। लोह और चुम्बक के बीच कुछ आड़ा आजाता है तो, उसकी आकर्पण-शक्ति कुण्ठित हो जाती है किन्तु प्रेम के बीच में, चाहे सो आड़ा आजाय—बड़े बड़े समुद्र, नद, नदी, वन, पर्वत भी आड़े पड़ जाय तो भी प्रेम की आकर्पणशक्ति नहीं रुकती। हज़ारों कोसों का अन्तर हो, आकाश पाताल का अन्तर हो, इहलोक परलोक का अन्तर हो—जहां प्रेम का निवास है, वहीं, वह चाहे जिस को आकर्पित कर लेता है। कमल का और सूर्य का कितना अन्तर है ? चकोर और चन्द्रमा का कितना अन्तर है ? चातक और मेघ का कितना अन्तर है ? "जो जाहू के मन वसे सो ताहू के पास"—इस में क्या मिथ्या है ? जैसा जैसा, जितना जितना, प्रेम का प्रेम से अन्तर, अवकाश एवं वियोग होता है—वैसी वैसी, उतनी उतनी उस की आकर्पणशक्ति

अधिकाधिक तीव्र होती है। महात्मा मिल्टन ने प्रेम की तारीफ़ की है—"प्रेम विचारों को निर्मल करता है, अन्तःकरण को उदार बनाता है, मनुष्य को तत्पर करता है एवं उस को ईश्वर के पास पहुंचाता है।" बुद्धदेव भी प्रेम को भूले नहीं—"अनागामी अर्थात् मुक्ति के लिये प्रेम की आवश्यकता है। जो प्रेम विशाल, सर्वगत एवं सर्व प्राणियों मे भरा हुआ है—उस का कभी त्याग न करना चाहिये।" जैनधर्म में भी कहा है कि—"मिति मे सव्व भूए सु—सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है।" उन के यहां करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ और मैत्री—इन चार भावनाओं में प्रेम का अन्तर्भाव है। इस्लामधर्म भी प्रेम से विमुख नहीं—"तुम जानो—अल्लाह का क़ायदा मोहोब्बत या प्रेम है, कि जो अल्लाह के अर्शपर से दीख पड़ता है। तुम अपने ईमान में मज़बूत रहो और ईमानदार बन कर अपने घर जावो और हमेशा उस को—ला इलाह इलल्लिहे मोईद—पीछी ज़िन्दगी देनेवाला सुलतान कहो।"

स्वामी रामतीर्थ अपने एक व्याख्यान में कहते हैं—"पुष्पों की वृद्धि तुम कैसे कर सकोगी? प्रेमसे! एक युवती ने पुष्पों के लिये योग्य नहीं ऐसी भूमि में सुन्दर पुष्प उत्पन्न कर दिखाये! तुम ऐसा कैसे कर सकीं? यह पूंछने पर, उस ने उत्तर दिया कि—मैं सिर्फ़ पुष्पों पर प्रेम करने लगी जिस से मुझे उन के उत्पन्न करने के साधन आपही आप मालूम होते रहे। प्रेमजल का सुखमय सिंचन ही सच्चा जीवन है। प्रेम से कलाओं का आविष्कार होता है एवं परिश्रम में सौन्दर्य झलक उठता है।

प्रेम और मोह का गोलमाल मत करो। तुह्मारे स्त्री पुत्र तुह्मारे प्रेम को कुण्ठित करनेवाले न होते हुए विश्व-भर में तुम्हारा प्रेम फैलानेवाले तुम्हारे केन्द्रस्थल होने चाहिये । जीनपाल रिचर ने कहा है—मुझ से स्त्रीपुत्रों पर मेरा प्रेम अधिक है, स्त्रीपुत्रों से देश पर मेरा प्रेम अधिक है एवं देश से सारे जगत् पर मेरा प्रेम अधिक है। ल्युकेस्टर के युद्ध में जाते समय, लव्हलेस का कहना कितना उदात्त था—जिस राष्ट्र के लिये तुम युद्ध करने जाते हो, अगर उस राष्ट्र पर मेरा प्रेम नहीं होता तो—तुम पर मैं कभी इतना प्रेम नहीं करती । जिस प्रकार सूर्य प्रत्येक पदार्थ का संवर्धन करता है इसी प्रकार शुद्ध प्रेम आत्मा का विकास करता है एवं मोहिम के समान आत्मा को जमा देते हैं । मोझेस की प्रथम आज्ञा का अर्थ—सिवाय प्रेम के और कोई तेरा ईश्वर नहीं है—ऐसा ही है। मोह और लोभ का—अपना सिंहासन ले लेना, प्रेम को कभी सहन नहीं होता । एक स्त्री का एकाकी बालक मर जाने पर, उस के लिये वह बहुत शोक करने लगी तब राम ने कहा—किसी हवशी के बालक को तुम अपनी गोद में ले कर प्यार से उस का चुम्बन करोगी?—उस ने कहा 'नहीं'—इसी से तो तुम्हारा बालक मरा! स्वर्ग के द्वार को खोलने की कुंजी विश्वव्यापी प्रेम ही है—विश्व को मोहनेवाला मोह कभी नहीं । आम्रवृक्ष के उपवन में एवं गुलाब के उद्यान में जो अमानुष दिव्यतत्व रहता है, उसी तत्व को—विश्वोद्यान में रहनेवाले नरनारीसमूह में जो देखता है एवं इस विश्व को जो नन्दनवन कर देता है—वह धन्य है ।"

इस प्रकार विश्वव्यापी प्रेम का पाठ लेते लेते—"वसुधैव कुटुम्बकम्" बन कर राष्ट्र की भावना में राष्ट्र का उदय कर के राष्ट्रमय बन जाना चाहिये। कोई देश हो, कोई मनुष्य हो, कोई प्राणी हो, कोई पदार्थ हो—सब के साथ प्रेममय बन के सब को प्रेममय बनाना चाहिये। इडागेटलिंग पेनटे कोस्ट का कहना है कि—"Become So great you can See Love in everything you are passing through." इत ने उदात्त बनो कि—किसी पदार्थ के नज़दीक से जाते हुए भी उस में प्रेम को देखो। मूर्त्तामूर्त्त जड़ चेतन पदार्थमात्र को प्रेमलीन कर के उस में प्रेमलीन होना चाहिये। प्रेमतत्पर, प्रेममय, प्रेमलीन हो जाने पर फिर साधक को प्रेमरूप होने में क्या देर है? प्रेम के अभाव से हमने अपना राष्ट्रीयत्व खोया है, प्रेम के अभाव से हमने अपना देश खोया है, प्रेम के अभाव से हमने अपना धर्म खोया है, प्रेम के अभाव से हमने अपनी जाति खोई है, प्रेम के अभाव से हमने अपना कुल खोया है एवं प्रेम के अभाव से हमने अपना सर्वस्व खोया है! प्रेम को कहीं से लाना नहीं होता, प्रेम को कहीं ढूंढना नहीं होता, प्रेम को कहीं से मंगाना नहीं होता। प्रेम को किसी बाज़ार से ख़रीदना नहीं पड़ता, प्रेम का कहीं से पारसल नहीं मंगाना पड़ता या प्रेम की व्ही. पी. कहीं कभी छुड़ाना नहीं पड़ती। प्रेम की लाक़ीमत है, प्रेम अमूल्य है, प्रेम मुफ़्त है। इच्छा, जिज्ञासा, भावना होने की देर है, चाहे जितना प्राप्त हो जाता है—तुम्हें पूर्ण अधिकार है, फिर चाहे जैसा उस का उपयोग करो।

ज—अभ्यासक्रम।

उक्त क्रमानुसार—सामर्थ्य जान लेने पर, जिज्ञासा दृढ़ कर लेने पर, श्रद्धा पूर्ण कर लेने पर, गुरुकृपा सम्पादन कर लेने पर, अभ्यास का तत्व जान लेने पर, चरित्र बना लेने पर, विश्वव्यापी प्रेम को प्रकट कर लेने पर–साधक को अध्यात्मविद्या के अभ्यासक्रम में उद्युक्त होना चाहिये। सामर्थ्य, जिज्ञासा, श्रद्धा, सद्गुरुकृपा, अभ्यास, चरित्र, विश्वव्यापी प्रेम का पाठ लेने के लिये–किसी पाठशाला में, किसी स्कूल में या किसी कालेज में भरती होने की आवश्यकता नहीं है। इन का प्रारम्भिक, माध्यामिक एवं आन्तिक पाठ का क्रम तुम्हारी हृदयपुस्तक में लिखा हुआ है। उस के पत्र उलटपलट कर उस को नित्य देखते रहने ही से–एक पीछे एक कक्षा में तुम स्वयमेव पहुंचते चले जावोगे। आधुनिक विद्यार्थियों के समान–बुक, काग़ज़्, स्लेट, पेन, पेन्सिलों का भार उठा कर कहीं स्कूलकालेज में दौड़ धूम करने की आवश्यकता नहीं है। और न गणित, भूगोल, जुग्राफ़िया, इतिहास, व्याकरण, लेखन, वाचन सीखने की आवश्यकता है, और न एन्टरेन्स, एफ्. ए., बी. ए., एम्. ए., बी. एल्. पास होने की आवश्यकता ही है। सिर्फ़, बैठते उठते, हिरते फिरते, खाते पीते, सोते जागते, आते जाते, बोलते चालते, काम करते, अपने में अपना लक्ष्य रख के अलक्ष्य का लक्ष्य करना चाहिये। उस का लक्ष्य करने के लिये चश्मे की ज़रूरत नहीं, खुर्दबीन की ज़रूरत नहीं, एवं दूरबीन की भी ज़रूरत नहीं। खाली बहिर्लक्ष्य का

अन्तर्लक्ष्य होना ही काफ़ी है । अन्तर्लक्ष्य क्या है—विचार-संयम में कहे अनुसार परा का स्फुरण पश्यन्ती बन कर मध्यमा वैखरी के अर्थ शब्दों की एकता करता है या नहीं—इस का निरीक्षण करना है । इसी को शाम्भवी महामुद्रा कहते हैं—"अन्तर्लक्ष्यं वहिर्दृष्टिर्निमिषोन्मेषवर्जिता । एषा श्रीशाम्भवी मुद्रा जन्ममृत्युविनाशिनी ।" अन्तर में श्वासप्रवास की चाल पर लक्ष्य रखना चाहिये और वाहर की दृष्टि को निमिषोन्मेपरहित करना चाहिये—अर्थात् श्वास—वाहर का अन्दर जानेवाला वायु और प्रश्वास—अन्दर का वाहर निकलनेवाला वायु, किस क़दर अन्दर जाता है और वाहर आता है—केवल उस पर लक्ष्य—ध्यान—खयाल रखना की काफ़ी है; और, वैसे ही—आंखों की पलकें थांम थांम कर गिरानी चाहिये—वस, यही अभ्यास का पाठक्रम है । यह शांभवी स्वयंभूत कल्याण-कारिणी मुद्रा अर्थात् सिक्का, छाप, चिन्ह, लक्ष्यवेध है । इस से जन्ममृत्यु का नाश होता है ।

जन्ममृत्यु क्या है एवं उस का नाश कैसे हो सकता है ? चरित्र तुम्हारा जन्म है एवं उस का अन्त तुम्हारा मृत्यु है । तुम्हारा विश्वास जगत् में नहीं, संसार में नहीं, पृथ्वी में नहीं, प्रकृति में नहीं, प्रकृति के रूप में नहीं, पुरुष में नहीं, पुरुष के कार्य में नहीं, ईश्वर में नहीं, धर्म में नहीं, जाति में नहीं, कुल में नहीं, देश में नहीं, घरवार, स्त्रीपुत्रधनादिकों में कहीं नहीं—'यद्दृष्टं तन्नष्टम्' जो दृष्टि-गोचर है वह सब नष्ट है—सब को असत्य, असार, इन्द्रजाल मानते हो—किन्तु कहिये, खूब सोच विचार कर कहिये—

क्या वैसे ही जन्ममृत्यु में तुम्हारा विश्वास नहीं है ?—यह तुम विश्वास के साथ, प्रतिज्ञा के साथ एवं साहस के साथ कह सकते हो ? कभी नहीं ! कभी नहीं !! यही तुह्मारा जन्ममृत्यु है एवं उस पर अविश्वास करना—उसको असत्य मानना ही—जन्समृत्यु का नाश है । यह विश्वास, यह लक्ष्यवेध, यह अन्तर्लक्ष्य साध्य होने पर प्रारब्धकर्म का—जन्मजन्मान्तर के चरित्र का क्षय हो जाता है एवं देहाभिमान नष्ट होकर जन्ममृत्यु का कारण ही अवशेष नहीं रहता ।

यह पाठक्रम इतना सुकर, इतना सुगम, इतना सरल, इतना सुसाध्य है कि—इस में लक्ष्य का प्रवेश होते ही आंखों की पलकें आपही आप कम गिरने लग जाती हैं और स्वयमेव श्वास प्रश्वास की गतिका निदर्शन होता रहता है—जिस से शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति होती जाती है, उत्तरोत्तर धैर्य वल उत्साह की अभिवृद्धि होती जाती है एवं कार्यतत्परता प्राप्त होके विजयश्री की प्राप्ति होती जाती है। यह ख़ाली कथा, कहानी, गप्प, गल्प नहीं है। इस के आरम्भ करने की देर है। ' श्रीगणेश ' होते ही—मुखचर्या पर श्री झलक उठती है, प्रवल इच्छा जल उठती है और दिनचर्या में चिति विद्युत् चमक उठती है ! एवं गणेश सव विघ्नों को दूर कर के साधक को सहायता देने में तत्पर हो जाता है। विद्यारण्यस्वामी का कहना है कि—"य एवं ब्रह्म वेदैप ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।" जो ब्रह्म को जानने का अभ्यास करता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। वैसे ही भगवान्

व्यास का कहना है कि—" यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते । यादृगिच्छेत्तु भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ।"
जैसों की संगति हो, जैसों का सेवन हो और जैसा होने की इच्छा हो वैसा ही मनुष्य हो जाता है । अपना जीवन सफल, निष्फल, सुखी या दुःखी कर लेना प्रत्येक मनुष्य के हाथ में है—इस में कुछ भी शंका नहीं । बुद्धिमान् वक्ता बर्क कहता है— " It is prerogative of man to be in a great degree a creature of his own making." अपने कर्म रूप कारण के कार्य—प्राणी होने में सब से बढ़कर मनुष्यों ही का अधिकार है । इसी लिये साक्रेटिस कहता है कि—तुम " Let him that would move the world move himself." जो जगत् को प्रचलित करना चाहता है उसे अपने आपको प्रचलित करने दो । घड़ी दो घड़ी या एक दो दिन के लक्ष्य से कुछ भी अनुभव या परिणाम न जानकर कोई इस पर विश्वास न करे तो, यह उस का मन्द भाग्य है एवं साथ ही लेखक का परिश्रम भी वृथा है ।

अब मेरा यही वक्तव्य, परामर्श और विनय है कि—मेरे आत्मप्रिय भाइयो ! अब वह देश नहीं है, अब वह राज्य नहीं है, अब वह काल नहीं है, अब वह वायु नहीं है, अब वह जल नहीं है, अब वह अन्न नहीं है, अब वह विचार नहीं है, अब वह आचार नहीं है, अब वह प्रचार नहीं है, अब वह व्यवहार नहीं है और अब वह स्थिति रीति भी नहीं है । अगली दुनिया का रूपान्तर हो गया है, अगली दुनिया का स्थित्यन्तर हो गया है एवं अगली

दुनिया का परिवर्त्तन हो गया है, नई सत्ता स्थापित हो चुकी है, नई प्रवृत्ति प्रचलित हो चुकी है, और नई रोशनी चमक उठी है! पश्चिमी विद्या का प्रचार है, पश्चिमी साहित्य का सत्कार है, पश्चिमी सभ्यता का आविष्कार है, फ़ेशन का पुरस्कार है, चमकदमक का प्रस्तार है एवं समय का हेर फेर है! अब कहां तक तुम सोते रहोगे? अब कहांतक नींद के ख़ुर्राटे मारते रहोगे? अब कहां तक तुम कुंभकरण की नींद में पड़े रहोगे?—देश देशान्तर में जाते हो तो, तुम '**निग्रो**' कहलाते हो, '**ब्लेकमेन**' कहलाते हो एवं '**इण्डियन डोग**' कहलाते हो! यहां तक तुह्मारी हालत हो चुकी है कि—जिन का स्पर्श तो दूर, छाया तक पड़ते ही तुम स्नान कर के छूत मिटाते थे आज वे ही तुह्मारा सहवास तो दूर तुह्मारी हवा तक लेना नहीं चाहते! यह केवल बुरे का बुरा और भले का भला बदला है! स्वामी **विवेकानन्द** अपने एक शिष्य को पत्र में लिखते हैं कि—What do our people do, when any of their priests go to India? You do not touch them even. They are Mlechhas! No man, no nation, my son! can hate others and live." जब उनके पादरी भारत को जाते हैं तब उन के साथ हमारे लोग कैसा बरताव करते हैं? तुम उनका स्पर्श तक नहीं करते; क्योंकि, वे म्लेछ हैं। मेरे पुत्र! दूसरों का तिरस्कार कर के कोई मनुष्य, कोई राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। क्या अब भी इस में कुछ संशय बाक़ी है? दिनों दिन क्या तुम्हारी दशा हो रही है? क्या तुह्मारी स्थिति हो रही है, एवं क्या तुह्मारी

भवितव्यता हो रही है ? पैसे पैसे के लिये तुम झूंठ बोल रहे हो, पैसे पैसे के लिये तुम धोखा दे रहे हो, पैसे पैसे के लिये तुम चोरी कर रहे हो, पैसे पैसे के लिये तुम खून खराबी कर रहे हो! झूंठी गवाही, झूंठे मुकदमे, झूंठी फ़रयाद की तो तुम्हें कुछ भी परवाह नहीं, किन्तु अफ़सोस! सद् अफ़सोस !! महा दुःख ! महा परिताप ! !—मां बाप बहन भाई—हाय हाय ! लेखनी कांपती है—पर फ़रयाद, दावा, मुक़द्दमा चलाते हो—हाय भारत ! हाय हाय पुण्य-भूमि मा ! हाय हाय ! मदर लैंण्ड ! क्या तू कर रही है, क्या तू अभ्यास करा रही है, क्या तू पाठ दे रही है ?—बेटे से बाप का खून, बाप से बेटे का खून—भाई से भाई का खून—करवा रही है !! हाय पैसा! हाय पैसा !! हाय पैसा !!! तेरी लीला, तेरी करतूत, तेरी महिमा कौन जान सकता है ? बताइये—अब इस से भी नीचे गिरने की, अब इस से भी अधःपतन की और अब इस से भी मटिया मेट हो जाने की—दुनिया में आकाश पाताल में कहीं भी कोई जगह बाक़ी है ? इतिहास तुम्हें क्या कह रहा है, परिस्थिति तुम्हें क्या दिखा रही है एवं काल का परिवर्त्तन तुम्हें क्या सिखा रहा है ? कभी तुम अपनी सुध संभालोगे, कभी तुम अपने को पहिचानोगे, कभी तुम अपने में अपने को देखोगे ?

इतना होने पर भी फिर वहीं हृदय पट पर—कालान्तर से खिंचा हुआ विचारचित्र तुम्हें संदिग्ध करेगा कि—आजकल हमारा वह समय नहीं है कि—किसी बात की परवाह या चिन्ता न करके हम अपने शरीर की, अध्यात्म-विद्या की एवं आत्मा की उन्नति कर सकें और घरबार

बालबच्चे कुटुम्ब की तरफ़ दुर्लक्ष्य कर के आधे पेट या फ़ाके कशी कर के अध्यात्मविद्या के अभ्यास में काल व्यतीत करें। कोई भी काम, कोई भी विद्या, कोई भी उद्योग, बिना पेट पालन किये, बिना आत्मीयजन पोषण किये, बिना घरबार रक्षण किये—कभी नहीं बन सकता। सृष्टि की रचना, प्रचार एवं नियम—देखने से, जानने से एवं विचारने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि—अणुरेणु से लगा कर महत्तत्व तक जड चेतन सब के सब जीवनसंग्राम में निरन्तर अविरत, अविश्रान्त निमग्न हैं—किसी को एक क्षण की भी फ़ुरसत नहीं। अर्थात् हम को भी अपने पेट भर चरने से कभी फ़ुरसत नहीं है—हम क्या कर सकते हैं? किस का ईश्वर और किस की अध्यात्म विद्या और किस के ग्रन्थ—कैसी उपासना करें कैसी विद्या सीखें और कैसे ग्रन्थ पढें? ईश्वर, अध्यात्मविद्या या ग्रन्थों से हमारा पेट भर सकता है? हमारा निर्वाह हो सकता है? एवं हमारा जीवन हो सकता है?

सचमुचही आज तुम्हारी ऐसी ही दशा है एवं उत्तरोत्तर ख़राब हो रही है एवं कहां तक ख़राब होगी—इस का भी किसी को पता नहीं है। जैसे जैसे तुम गिरते जाते हो वैसी वैसी तुम्हारी नीचे गिरने ही की प्रबल भावना बन रही है एवं वह तुम्हें अधिकाधिक नीचे गिरा रही है। भर्तृहरि का कहना है कि—"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।" विवेकहीन मनुष्यों का सैंकड़ों प्रकार से अधःपात होता है—इस में क्या शंका है? किसी कार्य में प्रवेश न होना, प्रवेश होने पर उस में सफल न

होना या सुलटे का उलटा हो जाना—झट इस को 'दैव' कह कर हताश हो के उस कार्य से तुम अलग हो जाते हो और फिर से उधर मुंह फेर कर भी देखते नहीं—क्या यह दैव है? कभी नहीं! तुम्हारी पुरुषार्थहीनता एवं विवेक-भ्रष्टता है। इसी लिये आज तुम्हारी पैसे पैसे के लिये ऐसी हीन दीन दशा हो रही है, चित्त, बुद्धि, क्रिया भ्रष्ट हो रही है एवं अविचार, कुभाव, कठोरता छा रही है। 'क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति'—क्षीण मनुष्य निर्दय बन जाते हैं—इस में क्या झूंठ है? तुम्हारा महाभाग्य है एवं भारत का पूर्वपुण्य प्रबल है कि तुम्हारी अनुपम, अनर्घ्य, सर्वदात्री, अमोघ अध्यात्मविद्या आज भी विद्यमान है, उस का पठनपाठन, अध्ययन आज भी विद्यमान है एवं उस का विधिविधान अनुभव आज भी विद्यमान है। उस की तरफ़ लेश मात्र भी तुम्हारा चित्त झुक जायगा तो, "मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः। मनागपिकृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम्।"—अल्प मात्र विचार ही से जिसने अपने चित्त का किंचिन्मात्र ही निग्रह किया है—उसने अपने जन्म का फल प्राप्त कर लिया है—इस भगवान् वसिष्ठ की उक्ति में—हम प्रतिज्ञा के साथ पूर्ण विश्वास दिला कर कहते हैं कि—तुम्हारी सब आपदा, आपत्ति, कठिनता, चिन्ता, बुराई, बुरा बरताव, तंगी, मुफ़लसी, बुरी हालत दूर हो के—तुम्हारे सामने इतना बड़ा पैसों का ढेर लग जावेगा कि तुम से समेटे नहीं जावेंगे और जन्मजन्मान्तर में भी फिर तुम्हें कभी पैसे की तंगी न होगी। अगर इस में कुछ भी झूंठ

हो तो–लेखक का चाहे सो कर लेना। लेखक का लिखने कहने का काम है एवं सुनने करने का पाठक का काम है। अध्यात्मविद्या कभी अकर्मण्यता, निरुत्साहता एवं उदासीनता करनेवाली एवं बढ़ानेवाली नहीं है–" उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत" क्या इस कठोपनिषत् की–पूर्ण उत्साहमय, पराक्रममय, पौरुषमय सदुक्ति का गिर-जाना, सोजाना या प्राप्त को प्राप्त न करना–ऐसा कोई अर्थ कर सकता है?

अनुभव, परिस्थिति, काल के अनुसार हम जोर से कहते हैं कि–सिवाय अध्यात्मविद्या के एवं परमात्मा के अब कहीं, कोई तुम्हारा सहायक, रक्षक, मित्र, बन्धु, आत्मजन नहीं है। किसी के आश्रय की, अवलम्ब की या सहायता की आशा करना व्यर्थ है। तुम्हें अपने पैरों खड़े हो कर ही अपनी कमज़ोरी हटाना चाहिये, अपने विचार अच्छे करना चाहिये एवं अपना चालचलन सुधारना चाहिये। चाहे तुम मज़दूरी करो, चाहे तुम नौकरी करो, चाहे तुम अफ़सरी करो, चाहे तुम उद्योग धन्धा करो, चाहे तुम कारीगरी करो, चाहे तुम व्यापार करो, चाहे तुम साहूकारी करो, चाहे तुम सट्टाफाटका करो, चाहे तुम जन्तरमन्तर जादू करो, चाहे तुम झूठ कपट दगा करो, चाहे तुम घातपात–ख़यानत करो, चाहे तुम चोरी डकैती करो, चाहे तुम खून ख़राबी करो–कुबेर, क़ारून, राथ चाइल्ड, कार्नेजी, या Merchant-Prince नवकोटी नारायण तो क्या–सामान्य बूट बेचनेवाले सौटर भी नहीं बन सकते! तुम्हें फिर जर्मन देश की अनुभव-

पूर्ण लोकोक्ति कि–" When pangs are highest, then God is nighest." जब दुःख अधिक होता है तब ईश्वर अधिक समीप होता है–पर पूर्ण विश्वास कर के इसी सर्वशक्तिशालिनी अमोघ अध्यात्मविद्या द्वारा अपने सत्यधर्म पर आरूढ हो के, कर्मवीर बन कर श्री परात्पर सर्वशक्तिमान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा ही के शरण में जाना चाहिये, उस की भक्ति, उपासना, सेवा करना चाहिये एवं सर्वतोभाव तद्रूप बनना चाहिये । सिवाय इस के–तुम्हें और कोई सहारा नहीं है, और कोई चारा नहीं है एवं और कोई गुज़ारा ही नहीं है । उपर्युक्त कठोपनिषत् की उक्ति के अनुसार यूरोप, अमेरिका, जापान की तरफ़ खूब आंखें खोल कर देखो, वे क्या कहते हैं–कान खोल कर सुनो, एवं चित्त को एकाग्र कर के उन की हरएक बात का विचार करो । यूरोप, अमेरिका, जापान की यात्रा करो, उन का सदुपदेश ग्रहण करो एवं उन का अनुग्रह सम्पादन करो । अध्यात्मविद्या कहती है–अब तुम्हारे लिये यही ईश्वर की योजना है, यही ईश्वर की इच्छा है एवं यही ईश्वर की आज्ञा है । भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है–अब तुम्हें अपने गुरुत्व का त्याग कर के इन के छात्र बनना चाहिये, अब तुम्हें अपने महत्त्व का त्याग कर के–इन के कलकारखानों में मज़दूर बनना चाहिये एवं अब तुम्हें अपने अभिमान का त्याग कर के–इन के समान दीर्घोद्योगी कर्मवीर बनना चाहिये । इस वक्त अनुभव यही कह रहा है, परिस्थिति यही दिखा रही है एवं काल भी यही सिखा रहा है । स्वामी रामतीर्थ का भी

यही उपदेश है—"देश में के भूखों मरनेवाले नारायणों की एवं मेहनत मज़दूरी करनेवाले विष्णुओं की पूजा करो। ग़रीब विद्यार्थीयों को उपकारी लाभकारी उद्यम सिखाने के लिये अमेरिका को भेजो। वे यहां लौट आने पर लोगों को अपने पैर खड़ा रहना सिखावेंगे जिस से सैंकड़ों क्या, हज़ारो भूखमरों के प्राण बच सकेंगे।"

"धीरास्तरन्ति विपदं न तु दीनचित्ताः" कवि की इस उक्ति को इस वक्त तुम्हें अपनी हृत्पट्टिका पर खुदवा लेना चाहिये। एवं कवि कुलगुरु कालिदास और पाश्चात्य कवि गोल्डस्मिथ की उक्तियों के कंठमणि बना कर उन को गले में पहनना चाहिये—"यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्। निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः।" दुःख सहन करने पर आया हुआ सुख ही रसवत्तर—मधुरत्तर—बहुत मीठा होता है। ताप से तपे हुए मनुष्य को विश्रान्ति के लिये वृक्ष की छाया ही विशेष सुख कर होती है।—"Thus we lived several years in a state of much happiness, not but that we sometimes had those little rules which Providence sends to enhance the value of its favours." अनुच्च अवस्था में से उच्च अवस्था में जाना ही पराक्रम है। पराक्रम के फल की प्राप्ति—प्रख्यात डा० अर्नाल्ड के कथनानुसार—"How can the present yield fruit, or the future have promise, except their roots be fixed in the past?" भूतकाल में उन के—वर्त्तमान और भविष्यकाल के—मूल दृढ़ हुए विना वर्त्तमानकाल कैसे तो

फल दे सकता है या भविष्यत्काल कैसे आशान्वित हो सकता है ? अर्थात् मूलभूत पूर्वजों की महत्ता के साथ जिस का संवन्ध नहीं उसे वर्त्तमान में और भविष्यत् में सफलता की आशा करना व्यर्थ है । तुम्हारी दीनता, तुम्हारी कमजोरी, तुम्हारी उदासीनता ही—तुम्हें घोर नरक में डाल रही है । धीर, वीर, गंभीर, साहसी, उद्योगी, प्रयत्नी होना ही—तुम्हारा कर्त्तव्य है । प्राचीन ऋग्वेदादि ग्रन्थ देखो—उस वक्त के ऋषि, मुनि, महात्मा, राजा, महाराजा, धनी, कृषक कैसे थे और क्या करते थे । छत्रपति शिवाजी—एक सामान्य मराठे का लड़का था, वालाजी विश्वनाथ पेशवा—एक ग़रीव ब्राह्मण का लड़का मल्हारराव हुल्कर—एक ग़रिव धनगर का लड़का था, नाना फ़ड़नवीस—एक सामान्य कारकुन था—किन्तु सतत उद्योग और परिश्रम द्वारा उन का कैसा उदय हुआ, कितना प्रभाव वढ़ा और कैसी उन्नति हुई—सव कोई जानते हैं । गदाधर को न्यायशास्त्र लिखने में—कितना परिश्रम करना पड़ा होगा ? भट्टोजि दीक्षित को कौमुदी वनाने में—कितना विचार करना पड़ा होगा ? आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य को ग्रहों का वेध कर के गणित करन में कितना तर्कवितर्क करना पड़ा होगा ? नीलकंठ शास्त्री थत्ते, मोरशास्त्री साठे, राममोहनराय, राजेन्द्रलाल मित्र, तारानाथ तर्कवाचस्पति, जन्मान्ध पंडित गट्टूलालजी, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, सर सैयद अहमद, अमीर अली, पंडित अयोध्यानाथ, फीरोज़शाह मेहेता, पेस्तनजी होरमसजी कामा आदि इस जमाने के सैंकडों कर्मवीरों के उद्योग एवं प्रयत्न को कौन नहीं जानता ?

इटली देश के रोम शहर में रहनेवाले ब्रूनो को जीते जी जलाने की आज्ञा सुनाई गई उस वक़् उस ने शान्त चित्त से कहा कि–"मुझे आज्ञा सुनने का जितना भय मालूम होता है, उस से–उस को सुनाने का अधिक भय तुम्हें मालूम होता है।" इंग्लेण्ड के अष्टम. हेनरी वादशाह ने टाम्स मोर को देहान्त की आज्ञा दी, उस वक़् उस ने कहा कि–"मैंने अपने स्वतन्त्र मत पर विजय सम्पादन किया इसलिये मैं ईश्वर का वड़ा भारी कृतज्ञ हूं।" हेन्री व्हेन ने वधस्थान पर जाते हुए वड़े उत्साह के साथ कहा है कि–"सदसद्विचार द्वारा जो काम कर ने लायक़ नहीं है–ऐसा निश्चित हो जाने पर उसे कर के विचारों को मलिन करने की अपेक्षा दस हज़ार मृत्यु का होना वेहत्तर है। सारे जगत् की अपेक्षा अन्तःकरण की पवित्रता एवं निर्मलता को मैं अधिक मानता हूं।" उस ने अपने मरने के पहिले जेल की दीवार पर लिख रक्खा था कि–"जिस को मरने का डर नहीं, वह किसी से भी डरता नहीं।" नास्तिकता के अभियोग के अनुसन्धान के लिये वादशाह ने जर्मन के प्रोटेस्टन्ट मत प्रचारक लूथर को वर्म्स शहर में बुलाया, उस वक़् उस के अनुयायियों ने उस को वहां जाने से रोका तव उस ने कहा कि–"घर पर जितनी मिट्टी की नलियां हैं उन से तिगुने भी अगर वहां भूतप्रेत हों तो भी मुझे वहां जाने में भय नहीं है।" ड्यूक जार्ज नामक एक मनुष्य उस का कट्टर दुश्मन था–'वह वहां है' लोगों के ऐसे कहने पर लूथर ने कहा कि–"एक सौ नो दिन तक भी ड्यूक जार्जों की वर्षा

होती रहेगी तो भी मैं वहां जावूंगा ।" 'नास्तिकता का त्याग न करने से तुम्हारा शिरच्छेद होगा' ऐसा कह कर लोगों ने लूथर को डराना चाहा—उस पर उस ने बड़ी गंभीरता के साथ कहा कि—"मुझे अगर पांच सौ सिर हों और वे सब के सब कट जाँय तो भी मैं अपने धर्म-मतों का कभी त्याग न करूंगा ।" शूर, धीर, उद्योगी, प्रयत्नशील मनुष्य कभी दैववादी होते नहीं, धैर्य का त्याग करते नहीं, संकटों से हारते नहीं, कार्य से विमुख होते नहीं, हानिलाभ से व्याकुल हर्षित होते नहीं, एवं प्रतिकूलता, विघ्न से तो क्या मृत्यु तक डरते नहीं ! !

ड्यूक आफ़ वेलिंगटन ने कहा है—"सीधे मार्ग पर चल कर प्रत्येक को अपना कर्त्तव्य करना चाहिये—जो ऐसा नहीं करता उस का जीना वृथा है ।" ट्राफ़ालगार की रणभूमि पर शूर नेलसन ने अपने सैनिकों को कहा है—"प्रत्येक मनुष्य को कर्त्तव्यतत्पर होना चाहिये—यह इंग्लेण्ड की इच्छा है ।" गोली से आहत होने पर मरते समय नेलसन ने कहा है—"मैं ने अपना कर्त्तव्य किया इस लिये मैं ईश्वर की प्रार्थना करता हूं ।" सिंहगड़ की लड़ाई में तानाजी ने बड़ा पराक्रम कर के विजयसम्पादन किया किन्तु उसी रण में उस का देहपात हुआ—सुन कर शिवाजी ने दुःखित हो कर कहा—"गड़ मिला पर सिंह गया" शूर, वीर, उदार, महात्माओं के वचन कितने गम्भीर, कितने उदात्त एवं कितने उत्तेजक होते हैं—उन को पढ़ सुन कर उन का अनुकरण करना ही हमारा परम अभ्यास है ।

ईश्वर की योजना, इच्छा और आज्ञा का क्या किसी को पता लगता है? मनुष्य सोचता जाता है एक और होता जाता है अन्य। अपने अकर्म का, अपने अविवेक का, अपने अविचार का तनिक भी ख़याल न हो. के-"वलीयसी केवलमीश्वरेच्छा"-कह कर हम झट अलग हो जाते हैं! गिब्बन नामक एक विद्वान् इंग्लिश इतिहासवेत्ता ने लिखा है कि-"नये धर्म का प्रचार करने में अनेक शत्रु बन जाने से मुहम्मद को मक्का छोड़ कर मदिना जाना पड़ा, शत्रु उन पीछे पड़े हुए थे, उस वक़्त रास्ते में शत्रु के आक्रमण से बचने के लिये मुहम्मद एक गुहा में छिप गये और दूसरे रास्ते से मदिना जा पहुंचे।" गिबन् कहता है कि-"उस वक़्त अगर मुहम्मद दुश्मनों के हाथ आ जाते तो एक ही बर्छी के फटकारे में आज मुसलमान दुनिया की हालत निराली हो जाती।" श्रीयुत गोविन्द शंकर बापट अपने सद्वर्त्तन में कहते हैं कि-हिन्दुस्थान में फ्रेंचों का महत्व स्थापित करनेवाले डुप्ली ने अपनी कार्यवाही में जान लिया कि-"हिन्दुस्थान के लोग बड़े ही विश्वासपात्र होते हैं। स्वदेशभक्ति का लेश भी इन के हृदय में नहीं है, अगर इन को युद्धविद्या सिखा के रणशूर किया जाय तो ये लोग अवश्य हमारे राज्यस्थापन में सहायक होंगे। इसी तत्व पर यूरोप के लोगों ने हिन्दुस्थान में अपने राज्य की नींव डाली। यूरोप से सैन्य ला कर हिन्दुस्थान का राज्य प्राप्त करना बहुत कठिन था। देश के लोगों की सहायता से उसी देश में-अन्य देशीय लोगों का राज्य स्थापित होना यह उदाहरण सिवाय

हिन्दुस्थान के पृथ्वी भर में अन्यत्र कहीं नहीं है।" हमारे लिये तो यह डुप्ली का जानना कुछ भी नवीन या अपूर्व नहीं है हमारा इतिहास हमें स्वयं कहता है कि–जयचन्द्र ने शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को बुला कर उस से पृथ्वी-राज का ही नहीं बल्कि भारतीय युद्ध के अनन्तर बचे खुचे भारत का उसी रण की उपान्त भूमि में सर्व नाश कराया है! क्या यह बात परदेशियों की सत्ता स्थापित कराने से बढ़ कर घृणित, क्रूर नीचतम नहीं। अब हमें इस बात का पूर्ण अनुभव हो रहा है कि–हमारे लिये यही ईश्वर की योजना, इच्छा और आज्ञा है। इसी में सन्तोष मान, उस की कृपा के लिये अभ्यास करना चाहिये एवं–" God helps those, who help themselves." जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं उन की ईश्वर सहायता करता है–इस अंग्रेजी शास्त्रीय सूत्रमय वाक्य को कभी न भूलना चाहिये।

झ–दिनचर्या।

अर्थात् दिन भर का आचरण। प्रातःकाल के ५ बजे से दूसरे प्रातःकाल के ५ बजे तक का सब व्यवहार–दिन-चर्या है। यह अभ्यास का पाठ लेने की तख्ती है, अभ्यास का क्रम लगाने की माला है एवं अभ्यास का समय जानने की घड़ी है। अभ्यास ही से दिनचर्या सुखचर्या होती है, अभ्यास ही से दिनचर्या शुभचर्या होती है एवं अभ्यास ही से दिनचर्या शान्तिचर्या होती है। दिनचर्या पर ही शुभाशुभ, हिताहित, सुखासुख निर्भर हैं। हमारी दिनचर्या नष्ट, अपवित्र, समयहीन, विपरीत, दुश्चर्या हो जाने ही

से आज हमारी यह दशा है। परतंत्रता, उदासीनता, पराक्रमहीनता, शिथिलता, उद्योगविमुखता, अनियमिता ने ही हमारे जीवन का हमारे चरित्र का, हमारे अभ्यास का, हमारे व्यवहार का जहां तहां गोलमाल कर रक्खा है। इस लिये हम यहां शुद्ध दिनचर्या की परिचर्या का कुछ परिचय दिलाते हैं जिस से आत्मपदाभिलापी पाठक अवश्य ही लाभ उठावेंगे।

निद्राविसर्जन—प्रातःकाल पांच वजे के पूर्व ही जाग कर, विछोने पर पड़े पड़े इष्ट का स्मरण करते करते अपने शरीर की खूब ऐंचातानी कर के, हाथ पैरों को जोर से तान कर शरीर की नसनस को हिला देना चाहिये। जिस से सुस्ती आलस्य का नाश होके, शरीर प्रफुल्लित होकर फुरतीला वन जाता है। पाठकों ने वहुधा देखा होगा कि—गाय, वैल, कुत्ता, विल्ली आदि जानवर सुस्त वैठे हुए उठ कर खड़े होते हैं तव शरीर की खूव ऐंचातानी करते हैं। पैरोंको फैलाकर पीठ को तानते हैं—फिर चलने, फिरने काम करने लगते हैं। यह एक आलस—सुस्ती मिटाने का क़ुदरती इलाज है। इस से शरीर के स्नायु ठीक हो जाते हैं, रुधिराभिसरण ठीक होता है, थकावट जाती रहती है। यह क्रिया सम्पादित हो जाने पर, विछौने पर ठीक आसन जमा कर सरल सीधे वैठ जाना चाहिये। वायु की गति को—श्वास प्रश्वास को जांच कर, आंखें मूंद कर, ॐ के ऊपर लक्ष्य जमा कर—उस का चित्र सामने लाना चाहिये। चार ॐ के उच्चारण में श्वास को अंदर खैंच कर सोलह ॐ के उच्चारण तक अन्दर रोक कर आठ ॐ के उच्चारण

तक उस को धीरे धीरे छोडना चाहिये। यह क्रिया मुंह वन्द कर के करना, मुंह से कभी श्वास लेना नहीं और छोड़ना भी नहीं। मुंह से श्वास लेने छोड़ने में शक्ति का नाश होता है एवं रोग जन्तुओं का शरीर में प्रवेश होता है। इस प्रकार पांच से इक्कीस तक नित्यनियमपूर्वक प्राणायाम करना चाहिये।

मलोत्सर्जन–प्राणायाम कर लेने पर ठंडे पानी का वड़ा लोटा ले के टट्टी जाना चाहिये। मलविसर्जन के वक्त चिन्ता, भय, बुराई, संशय के बुरे विचार कभी न करना चाहिये। मल विसर्जन हो जाने पर अंगुलीद्वारा त्रिवली तक का अंदर से मल निकाल कर ख़ूब धोके साफ़ करना चाहिये। त्रिवली में मल रहने से पचन क्रिया में वाधा होती है, शिर में दर्द होता है एवं ववासीर पैदा होती है।

मुखमार्जन–हाथ पैर को शुद्ध मिट्टी लगा कर ख़ूब मल के धोना, ठंडे जल के कुल्ले करना, दांतन या दन्त-मंजन से ख़ूब दांतों को साफ़ करना, एवं जिव्हा पर का मैल निकाल कर तालुको अंगूठे से धो के साफ़ करना चाहिये फिर मीठा और ठंडा जल मुंह में भर के खुली आंखों पर, ठंडे जल को हाथ में लेकर ख़ूब ज़ोर से दस वीस छिपके मारना चाहिये। आंखें साफ़ धो कर मुंह को ख़ूब मल कर मुंह में जल हिला कर छोड़ देना चाहिये। इस से कभी दान्त हिलेंगे नहीं, दुखेंगे नहीं, और जड़ों में से ख़ून निकलेगा नहीं। आंख दुखेगी नहीं, लाल होगी नहीं, और रोशनी कम होगी नहीं। इस प्रकार स्वच्छ, मीठे और ठंडे जल से मुखमार्जन हो जाने पर–टुवाल से वा और किसी वस्त्र से मुंह, हाथ, पैर पूंछ कर सुखाना चाहिये।

सूर्यनमन—दर्भ या ऊन का आसन बिछा कर सूर्य-नारायण के सन्मुख उस पर खडे रहकर दोनों हाथ मिलाकर सूर्यनारायण को प्रणाम कर के हाथ जुदे कर ज़ोर से पीछे लेजा के फिर सामने ला कर हाथ जोड कर निम्न लिखित श्लोकों को या उन के भावार्थ को मुख से बोलते हुए या स्मरण करते हुए आसन पर खड़े खड़े सूर्य-नारायण को इकीस नमस्कार करना चाहिये।

आदिदेव ! नमस्तुभ्यं प्रसीद मम भास्कर !
दिवाकर ! नमस्तुभ्यं प्रभाकर ! नमोऽस्तु ते ॥

सप्ताश्वरथमारुढं प्रचण्डं कश्यपात्मजम् ।
श्वेतपद्मधरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥

लोहितं रथमारुढं सर्वलोकपितामहम् ।
महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥

त्रैगुण्यं च महाशूरं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरम् ।
महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥

बृंहितं तेजःपुञ्जं च वायुराकाशमेव च ।
प्रभुंस्त्वं सर्वलोकानां तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥

बन्धूकपुष्पसंकाशं हारकुण्डलभूषितम् ।
एकचक्रधरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥

तं सूर्यं जगत्कर्त्तारं महातेजःप्रदीपनम् ।
महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ।

तं सूर्यं जगतां नाथं ज्ञानविज्ञानमोक्षदम् ।
महापापहरं देवं तं सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥

इस प्रकार स्तोत्र पाठ करते हुए इकीस नमस्कार कर के आसन पर उकडू बैठ कर हाथ जोड कर निम्न लिखित

श्लोकों का घोष करते हुए जमीन पर सिर लगा कर पांच नमस्कार करना चाहियेः—

अग्निमीळे नमस्तुभ्यमिषेत्वोर्जस्वरूपिणे ।
अग्न आयाहि वीतस्त्वं नमस्ते ज्योतिषां पते ! ॥
शं नो देवि ! नमस्तुभ्यं जगच्चक्षुर्नमोऽस्तु ते ।
पंचमायोपवेदाय नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥

किरण सेवन—फिर खड़े होकर शरीर को बिलकुल ढीला कर के सूर्य के किरण शरीर पर लेना चाहिये। किरण लेते वक्त शरीर पर से वस्त्र हटाकर, निम्नलिखित कवच का पाठ करते हुएः—

शिरो मे भास्करः पातु ललाटं मेऽमितद्युतिः ।
नेत्रे दिनमणिः पातु श्रवणे वासरेश्वरः ॥
घ्राणं घर्मघृणिः पातु वदनं वेदवाहनः ।
जिव्हां मे मानदः पातु कण्ठं मे सुरवन्दितः ॥
स्कन्धौ प्रभाकरः पातु वक्षः पातु जनप्रियः ।
पातु पादौ द्वादशात्मा सर्वाङ्गं सकलेश्वरः ॥

सिर, ललाट, नेत्र, कर्ण, नासिका, मुख, जिव्हा, कंठ, कंधे, छाती और पैरों पर दोनों हाथों की हथेलियां फिराते फिराते—दृढ़ भावना करना चाहिये कि—"आरोग्यदायक अमृतमय सूर्य किरण रोमरन्ध्रों द्वारा मैं अपने शरीर में भर रहा हूं एवं यह आरोग्यकारी सुखमय किरण मेरे शरीर में प्रविष्ट हो रहे हैं। जिस से मेरे शरीर में भरा हुआ अशुद्ध सत्व—कूड़ा कचरा साफ हो रहा है। एवं रोग जन्तुओं का नाश हो के शरीर प्रफुल्लित हो रहा है।" ऐसी अनन्य पूर्ण निश्चययुक्त दृढ़ भावना हो जाने पर

निम्न लिखित विचारों का लगातार लगाना चाहिये:—

"हे सूर्य ! हे मित्र ! हे सहस्रकिरण, हे दिनमणे ! तू जगत् का प्रकाशक है, पोषक है एवं परिपालक है। तेरे प्रकाशही से जगत् को जीवन मिलता है, तेरे ही किरणोंद्वारा समुद्रजल का वाष्पीभवन हो के पर्जन्य होता है एवं पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होकर प्राणि मात्र का पोषण होता है। वे ही तेरे आल्हादकारक, चित्तोत्साहक, आत्मप्रसादक किरण मैं अपने शरीर में भर रहा हूं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि—तेरे आरोग्यदायक किरण मेरे शरीर में प्रविष्ट होते ही रोगों का नाश हो जावेगा, रोग जन्तु नष्ट हो जावेंगे एवं फिर उन का प्रादुर्भाव न होगा। अहाहा ! कितने सुन्दर, कितने मधुर, कितने सुखकर, कितने पवित्र किरण हैं? मेरे रोम रोम में प्रविष्ट हो के मुझे आरोग्य प्रदान कर रहे हैं, मुझे सुखशान्ति आनन्द दे रहे हैं, मुझे उत्साह बल ऐश्वर्य प्रदान कर रहे हैं। मेरे आन्तर मल को नष्ट कर के शरीर की नाड़ी नाड़ी में शुद्ध रक्त का संचार कर रहे हैं। मेरी जठरक्रिया को ठीक कर के अन्न का उत्तम परिपाक कर उदर को साफ़ कर रहे हैं। मेरे अस्थि, मज्जा, मांस, रक्त में मिश्रित हो कर उन्हें बलवान् कर रहे हैं। हृदय और फेंफड़ों को ताक़त देके श्वसनक्रिया द्वारा खूब परिष्कृत रक्त का अभिसरण कर रहे हैं। किरणों की उष्णता से वात, पित्त कफादिकों का नाश हो रहा है, मेरी आधिव्याधि दूर हो रही है एवं मेरे विचार सुन्दर हो रहे हैं। भगवान् सूर्य में और मुझ में कुछ भिन्नता नहीं है। उस के किरण मैं अपने शरीर में

लेकर उस के सदृश तेजस्वी बन रहा हूं। सूर्य के सदृश मैं जगत् का प्रकाशक हूं। मेरे शरीर से प्रकाश और किरण निकल रहे हैं।"

इत्यादि विचारों के प्रवाह में तदाकार होके वृत्तिशून्य हो जाना चाहिये। श्वास प्रश्वास की तरफ़ पूरा लक्ष्य रख कर अन्त में ग्यारह पूरक, कुम्भक, रेचक—ऊपर निर्दिष्ट किये अनुसार कर के आसन पर बैठ जाना चाहिये। भगवान् सूर्य को प्रणाम कर के 'ॐ' का १०८ बार जप कर के प्रातःकाल की क्रिया समाप्त करना चाहिये। अगर यह सब क्रिया बाहर खुले मैदान में व्यायाम के साथ की जायं तो हम जोर के साथ कहते हैं कि शुद्ध वायु की प्राण शक्ति प्राण वायु में मिलकर शरीर का स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा रह के खूब दीर्घायु हो सकता है। व्यायाम के साथ शुद्ध वायु का सेवन ही प्राणवायु का संवर्धन करना है।

अन्य धर्मियों के लिये—चाहे कोई धर्म हो, सूर्य के लिये तो किसी का मतभेद है ही नहीं। किरण लेते वक़्त अपने अपने धर्म के अनुसार प्रार्थना, जप, स्तोत्र, स्तुति करते हुए, उपर्युक्त यथा विधि क्रिया सम्पादन करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। अगर कोई नास्तिक भी हो तो—उस को भी विज्ञान Science के द्वारा मानना होगा कि—सूर्य के प्रकाश—किरणों द्वारा सब का जीवन होता है और सूर्य का प्रकाश एवं किरण प्राणि मात्र के पोषक, बल-वर्धक, और आरोग्यदायक हैं—तो, इसी तत्वपर उस को किरण सेवन करने में कोई बाधा नहीं है। पारसियों के

यहां तो, सूर्य की उपासना विशेष रूप से होती है। उस को 'खोरशेद की नियाएस' कहते हैं–उस में का सार यह है कि–" अमर; तेजोमय, तेज घोड़ेवाले सूर्य की हम तारीफ़ करते हैं। जिस वक्त सूर्य का प्रकाश तपता है, जिस वक्त सूर्य का प्रकाश चमकता है–उस वक्त सैंकडों क्या, हज़ारों मीन यम्द खड़े रहते हैं। वे मीन यम्द रोशनी को इकट्ठा करते हैं और उस को नीचे भेजते हैं। फिर उसे होरमझ की ज़मीन पर फैला देते हैं और अमर, तेजोमय घोड़ेवाला सूर्य उस की वृद्धि करता है।"

श्रीयुत **भोगीलाल** महाशय अपने धन्वन्तरि में लिखते हैं कि–" ईश्वरने मनुष्य को नग्न पैदा किया है। प्रारम्भ में दीर्घकाल तक नग्नावस्था रहती है। बाईवल में कहा है कि–पूर्वकाल में स्त्री पुरुष नग्नावस्था में थे। क़ुदरत–प्रकृति की भी यही इच्छा है कि–हो सके वहां तक मनुष्य को अपना शरीर खुल्ला रखना चाहिये क्यों कि, नग्नावस्था स्वाभाविक है। यह प्रत्येक मनुष्य जानता है कि–हवा और प्रकाश में रहनेवाले जीव, पौधे, प्राणी अंधकार में रहते हैं तो निःसत्व होके बिल्कुल निस्तेज हो जाते हैं। यदि उन को फिर प्रकाश में लाया जाता है तो वे जाग्रत होके सतेज हो जाते हैं। मानो–मनुष्य को अपने उदाहरण द्वारा सचेत करते हुए पौधे अपना रंग रूप बदल देते हैं एवं जानवर तो प्रकाश में चंचल बनकर इधर उधर दौड़ने लगते हैं।

आजकल के सभ्य लोग नानाप्रकार के वस्त्र पहन कर शरीर का बहुत सा भाग अन्धकार में रखते हैं। अगर वे

अरण्य में या एकान्तस्थान में शरीर पर के सब कपड़ों को अलग फेंक कर कुछ देर के लिये नग्न हो जांय तो तुरन्त ही—शरीर में नवजीवन का संचार हो रहा है—ऐसा उन्हें मालूम होने लगेगा एवं तत्काल शरीर के सब अवयव सशक्त हो के अपने अपने कार्य उत्साह से करने लग जावेंगे । पचनशक्ति जाग्रत् हो के—उन के निर्जीव एवं निरुत्साही शरीर में परम हर्षद सुख का भान होगा। नग्न जानवरों की अपेक्षा वस्त्रावगुण्ठित मनुष्यों को अन्धकार में बहुत नुक़सान पहुंचता है, क्यों कि, जानवरों की त्वचा कपड़ों से ढकी हुई नहीं रहती—इस लिये उन को अन्धकार में भी हवा मिल सकती है। सिर्फ़ प्रकाश नहीं मिलता । किन्तु मनुष्य तो अपनी त्वचा कपड़ों से ढक रखते हैं जिस से अंधेरे में उन की त्वचा को हवा और प्रकाश दोनों नहीं मिलते । अगर पशुओं को अन्धकार पूर्ण जगह में रक्खा जाता है तो भी उन के शरीर नग्न होने से त्वचा अपना विजातीय द्रव्य—अंदर से बाहर निकाल देने का आवश्यकीय कार्य करती रहती है। व्याधि के समय में अधिक उत्पन्न होनेवाली गरमी को निकालती रहती है । एवं नग्न त्वचा बाहर के शीतल वायु को आकर्षित कर के शरीर को शान्त करती है । वस्त्र से ढकी हुई त्वचा ऐसा कार्य नहीं कर सकती । क्यों कि, त्वचा पर वस्त्र का आच्छादन होने से, त्वचा से बाहर निकला हुआ विजातीय—दूषित द्रव्य वहीं रह कर पीछा रोमरन्ध्र द्वारा त्वचा में प्रवेश कर जाता है । जिस से आरोग्य का नाश हो के व्याधि उत्पन्न होती है। इतना ही

नहीं, स्वच्छ शीतल प्राण वायु त्वचा पर लगने से रुक जाता है—जिस से व्याधि में वढ़ी हुई गरमी कम नहीं होती एवं शरीर को चाहिये जितना प्राणवायु प्राप्त नहीं होता। हवादार खुले कमरे में या जंगल में, अगर थोड़ी देर के लिये भी मनुष्य नग्न रहेगा तो, उस का फल उसे वहुत जल्द मिलेगा और वह अन्य किसी साधन की अपेक्षा अधिक वलवान् प्रतीत होगा। जो शरीर वस्त्र से ढका हुआ नहीं रहता, जिस को दूषित वायु शोषण करना नहीं होता एवं जिस को स्वच्छ हवा अधिक प्रमाण में मिलती है—उस शरीर में प्रकाश—जीवनशक्ति को जागृत करता है। यही कारण है कि—हवा और प्रकाश के सेवन से, तत्काल असाधारण वल प्राप्त हो के आश्चर्यकारक परिवर्त्तन हो जाता है।"
इस वक्त के अच्छे अच्छे वैज्ञानिक डाक्टरों का कहना है कि—मनुष्य का श्वासोच्छ्वास खाली मुखनासिका द्वारा नहीं वल्कि शरीर के प्रत्येक रोमरन्ध्र से होता है। हम शरीर में तंग कपड़े पहन कर उसके छिद्रों को रोकते हैं—यह तो है ही, किन्तु, इस से भी एक वड़ी ख़तरनाक वात करते हैं कि—श्वासोच्छ्वास की क्रिया Solar Plexus मणिपूर चक्र अर्थात् नाभिस्थान से होती है और वही हमारा जीवन है। उस को हम इतने ज़ोर से वान्ध डालते हैं कि वहां से नीचे ऊपर वायु का जाना आना रुक जाता है। हम पूर्ण श्वासोच्छ्वास नहीं कर सकते जिस से हमारी जीवन-क्रिया में वड़ी वाधा उत्पन्न हो के हम निरुत्साह निर्वल और निरुपयोगी वन जाते हैं सार यह है कि—

पहिले तो हमें वस्त्र पहनना न चाहिये, अगर पहना है तो वस्त्रों से तंग न होना चाहिये और धोती, पायजामा, तुमान या पटलोन से कमर को कस कर अपने जीवन की हानि न कर लेना चाहिये ।

इस पर से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि-इसी लिये सिद्ध पुरुष, योगी, महात्मा, साधु, सन्त कपड़ा रखते नहीं, शरीर नग्न रखते हैं एवं यतिधर्म में नग्न रहने के लिये कहा गया है । परमहंस दीक्षा-नग्नावस्था है । बौद्ध जैनियों के क्षुल्लक, ऐलक, त्यागी-क्षपणक, भिक्षु एवं वली, मस्त फ़क़ीर नग्न रहते हैं । शरीर का नग्न रहना-आरोग्य-कारक है एवं आरोग्य शरीर द्वारा हीं सब कुछ हो सकता है-क्यों कि-"शरीरमाद्यं खलु सर्वसाधनम्"-यह कवि-कुलगुरु कालीदास की उक्ति यथार्थ है-अतएव आरोग्य प्राप्ति के लिये हरएक को प्राकृतिक नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है ।

"आरोग्य आणि व्यायाम" नामक मराठी भाषा की पुस्तक में बहुत ही गवेषणा के साथ प्रमाणित किया है कि-"सिवाय सूर्य किरणों के पृथ्वी में किसी प्रकार के जीवन का अस्तित्व ही-शक्य नहीं है । जीवनशक्ति के लिये सर्वथा हम सूर्य किरणों द्वारा संचालित वायु पर निर्भर हैं । सूर्य किरणों द्वारा प्राप्त होनेवाली जीवनशक्ति की 'प्राण'-संज्ञा है । यह संजीवित करनेवाली प्राणशक्ति सर्वत्र व्याप्त हो के अवशेष रहती-है । सूर्य किरण-जीवनशक्ति के तरंग हैं । इन तरंगों का हम आमरण उपयोग करते हुए भी उन से चाहिये जितना लाभ उठा सकते

नहीं। आजकल के लोग वहुधा—सूर्य किरणों से—हो सके वहां तक दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। कमरे की खिड़कियां वंद कर के, सारा शरीर कपड़े से लपेट के—वे अपने को सूर्य किरणों का स्पर्श तक नहीं होने देते! हरएक को चाहिये कि—वह सूर्य किरणों से लाभ उठावे। अपने घर में, घर के कमरे में—आ सके जितना प्रकाश आने दे। सूर्योदय के साथ ही घर के दरवाज़े और खिड़कियां खोल कर सूर्य के कोमल किरणों को अन्दर आने दे। ऐसा नित्य करते रहने से—रोग, निर्वलता एवं निरुत्साह का नाश हो के शीघ्र ही तुम आरोग्य, वलवान् और आनन्दी हो जावोगे। ऐसी एक कहावत है कि—जहां सूर्य का प्रकाश पड़ता है वहां वैद्य नहीं जा सकता—दिन भर में थोड़ी देर भी तो सूर्य किरण अंग पर लो। प्रातःकाल ज़रा जल्द उठ कर, अपने शरीर पर के कपड़े उतार दो, फिर खिड़की के पास कम्वल या दरी विछा कर औंधे लेट जावो। दस पंधरह मिनट के वाद चित्त होकर सारे शरीर पर सूर्य किरण लो—इसे 'सूर्यस्नान' कहते हैं। शरीर के किसी अशक्त अवयव पर सूर्य किरण लेने से—वह रोग रहित होके सुदृढ़ होता है। इस पर से मालूम हो जायगा कि—सूर्यस्नान कितना लाभकारी है। जो मनुष्य नित्य सूर्यस्नान करते हैं वे इस पृथ्वीपर निःसंशय धन्य हैं। सूर्यस्नान से प्राण शक्ति का संचार होके, सव शरीर आनन्दित एवं उत्साहित होता है। नित्य सूर्यस्नान करनेवाले को कभी रोग नहीं होते।

सूर्य के कोमल किरण अंग पर लेने से बहुत कुछ लाभ हो सकता है । संभवतः ग्यारह से लगा कर पांच बजे तक उत्तरोत्तर सूर्यकिरणों में का आरोग्यतत्व धीरे धीरे कम होता जाता है । जिन पुष्पों को प्रातःकाल के कोमल सूर्यकिरण मिलते हैं वे शीघ्र प्रफुल्लित होते हैं किन्तु जिन पुष्पों को ग्यारह बजने के अनन्तर सूर्य-किरण मिलते हैं वे उतने शीघ्र और अच्छे प्रफुल्लित नहीं होते । धूप और हवा दोनों रामबाण और अद्भुत शक्ति-वर्धक औषधियां हैं—उन से लाभ नहीं उठाना—यह बड़ा दुर्भाग्य है । जिस प्रकार पूर्णश्वसन करने पर, हवा में से अधिक प्राणतत्व मनुष्य ले सकता है, उसी प्रकार सूर्यकिरणों में से भी अधिक प्राणतत्व मनुष्य ले सकता है । सूर्योदय होते ही वायुसेवन के लिये बाहर निकल कर शिर और छाती सरल सीधी समान कर के कुछ देर श्वासोच्छ्वास लेकर कोमल किरणों से भरी हुई प्राणशक्ति-वर्धक हवा सब शरीर पर लेना चाहिये । शिर खुला कर के शरीर पर के कपड़े हटा कर प्रातःकाल की कोमल धूप सिर पर लेने से मस्तिष्क उत्तेजित हो के दिन भर अच्छा काम करता है । इस प्रकार सूर्यकिरणों का उपयोग करने से क्या लाभ होता है—इस का अनुभव हर एक को लेना चाहिये । प्रखर ग्रीष्मऋतु में एवं मध्यान्हकाल में सहन न होनेवाली धूप शरीर पर लेने की आवश्यकता नहीं है । चाहे जिस ऋतु में प्रातःकाल की धूप लाभकारक है—इस में किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है । हमारे आरोग्य ही के लिये प्रकृति ने हमें सूर्यकिरण दिये हैं तो,

हमारा कर्त्तव्य है कि-हम उन से लाभ उठा कर अपनी उन्नति करलें।"

सूर्य, सूर्यकिरण एवं सूर्यप्रकाश द्वारा ही सम्पूर्ण स्थिरचर जगत् को जीवनशक्ति, गतिशक्ति एवं उत्क्रान्ति-शक्ति प्राप्त होती है-यह पाश्चात्यों ही की या और कहीं किसी की गवेषणा या खोज नहीं है। जगत् की प्रथम पुस्तक ऋग्वेद के सौर सूक्त में-जो नित्यकर्म में नित्य पाठ्य है-देखिये क्या कहा है—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्।
उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।
शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं नि दध्मसि।

सूर्य के दर्शन सब को हो इस लिये इस सर्वज्ञ सूर्यदेव को उस के किरणरूप घोडे ऊपर ला रहे हैं। हे अनुकूलतेजा सूर्यदेव! तू आज उदित हो के और परम उच्च द्युलोक पर चढ़ के मेरे हृदयरोग एवं शरीर को फीके करनेवाले वाह्य रोग का नाश कर दे। हमारा शरीर फीका करने-वाला रोग हम शुक और शारिका पक्षियों में रखते हैं, एवं हमारा शरीर फीका करनेवाला रोग हारिद्रव (कदम्ब) वृक्ष में रखते हैं। इस का निष्कर्ष क्या है-सूर्यदेव रोग-हारक तो है ही किन्तु विशेषरूप से हृदयरोग और क्षय-रोग का नाशक है। उदय होने पर मध्यान्ह तक सूर्य के किरण सेचन करना चाहिये। और भी विशेष यह है कि—

उस वक्त शुक शारिका द्वारा भी इन रोगों का नाश होता हो इसी कारण आज तक उन को पींजरों में वन्द कर पालन किया जाता है। और हारिद्रव–कदम्ब वृक्ष भी क्षयरोगनाशक होना चाहिये। शायद इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने इस को प्रिय माना हो।

स्नान–इस प्रकार मुखमार्जन सूर्यकिरणसेवनादि क्रिया पूर्ण होते ही–या कुछ देर से, जैसी आदत, वक्त और सुभीता हो–गर्म या ठंडे पानी से स्नान करना चाहिये। खाली शरीर पर पानी डाल लेने ही को स्नान नहीं कहते है। स्नान घर में, नदी में या अन्य जलाशय में करने के पहिले, शरीर पर सब जगह हाथ फिरा कर खूब मलना चाहिये। हथेलियों के घर्षण से विद्युत् उत्पन्न हो के त्वचा के अन्तर्गत रहे हुए मल को दूर कर के रोमरन्ध्रों के मुंह खोल देती है। शरीर के सब अवयवों में से पैरों पर अधिक मैल जमता है–इस लिये उन को पत्थर या खंगर से साफ़ करना चाहिये। आजकल सब जानते हैं कि प्लेगादि रोगों के जर्मस्–जन्तु पैरों द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। वहां मैल जमा रहने से रोगजन्तुओं को शरीर में प्रवेश करने में वड़ी आसानी रहती है क्यों कि त्वचा मलयुक्त रहने के कारण दूषित सत्व को बाहर निकाल कर शुद्ध हवा को अन्दर ले के रोगजन्तुओं को रोक सकती नहीं। पैरों को साफ़ कर लेने पर हाथ धो के मुख पर जल फिरा के खूब मलना चाहिये–जिस से मुंहासे, दाग़, झुरियां मिट जाती है। "जल जीवन है, सिवाय जल के जीवन नहीं, शरीर में सब से अधिकांश जल है।

शरीर जल ही का पुतला है! जल ही से शरीर की उत्पत्ति है।" ऐसे विचारों को दृढ़ करते हुए–शरीर पर पानी डालना चाहिये या शरीर को पानी में डालना चाहिये। "स्नान से आरोग्य प्राप्त हो के आयु का वर्धन होता है, धर्म-प्रवृत्ति होती है, इष्टदेव का स्मरण होता है, सन्ध्यावन्दन जपपाठ के लिये उत्साहवृद्धि होती है"–इत्यादि भावना करते हुए शरीर के कांवों पर पानी डाल कर खूब मलना चाहिये। शरीर के किसी भाग में या जोड़ में दर्द हो तो–वहां पानी डाल कर हथेली से ज़ोर के साथ घर्षण करते हुए–" जल से मैं इस दर्द को मिटा रहा हूं, निकाल रहा हूं, भगा रहा हूं"–ऐसी भावना करना चाहिये। दर्द जल्द नाबूद हो जायगा और फिर कभी न होगा।

अन्नपचन हो के उस का रक्त बन कर रक्त में से बचा हुआ अशुद्ध विजातीय द्रव्य, नित्य रोमरन्ध्रों द्वारा श्वसन-क्रिया के साथ साथ ही बाहर निकलता रहता है। वह स्निग्ध अर्थात् तेल के समान चिकना होता है–उस की चिकनाहट मिटाना ही–स्नान करना है। ऐसे स्नान से शरीर प्रफुल्लित होता है, रोगों का नाश होता है, रोमरन्ध्र खुले हो कर उन में स्वच्छ वायु का संचार होता है एवं बलवृद्धि हो के आयुष्य दीर्घ होता है। इस प्रकार खूब हाथों से शरीर को मल मल कर नित्य स्नान करना चाहिये। स्नान के वक़ इष्टदेव, गुरुदेव, कुलदेव का स्मरण एवं स्तोत्र मंत्रादिकों का पाठजप करते करते स्नान पूरा करना चाहिये। आजकल डा० कुन्हे, जस्ट, स्काथ, नीय आदि वैज्ञानिकों ने पानी के उपयोग द्वारा ही अर्थात् शीत उष्ण

वाष्प स्नान द्वारा ही सब रोगों की चिकित्सा का अनुसन्धान किया है और उस का अनुभव भी ठीक आया है। इसी लिये हमारे यहां स्नान को धार्मिक स्वरूप दे के शीतल पवित्र जल से त्रिकाल स्नान की योजना कर के उस को आचार का प्रधान अंग माना है। उस का परिणाम खाली शरीर पर ही नहीं—चित्त पर हो के मानसिक उन्नति होती है। इसी मानसिक उन्नति के लिये ही मानसिक—स्नान का वामनपुराणमें कितना अच्छा विधान कहा है—"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं मानसं स्नानमाचरेत्। इड़ा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी ॥ तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्णाख्या सरस्वती। ध्यानह्रदे ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे ॥ यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥" अन्दर बाहर सब मानस स्नान करना चाहिये अर्थात् अन्तःकुम्भक एवं बहिःकुम्भक करना चाहिये। इड़ा—वामनाड़ी भागीरथी गंगा है, पिंगला—दक्षिणनाड़ी यमुना है और इन दोनों के बीच सुषुम्णा—मध्यनाड़ी सरस्वती है। रागद्वेष मल के नाश करनेवाले ज्ञानरूपी जलके ध्यानरूपह्रद गहरेजलाशय में,—मानस तीर्थराज में जो स्नान करता है वह परमगति को प्राप्त होता है। योगीजनों का यही बहिरन्तर्मल नाश करनेवाला सच्चा स्नान है।

हमारा आचार वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा हमें सूचित करता है कि—एक इंच सम चौरस त्वचा में एक हज़ार के क़रीब छेद रहते हैं। स्नान के अनन्तर भी शरीर में से दूषित निरुपयोगी तत्व बाहर निकलने की क्रिया मामूली तौर पर होती रहती है एवं वह तत्व त्वचा के छिद्रों में

लिप्त होता ही रहता है। स्नान करने को छः घण्टे हो जाते हैं तो एक इंच सम चौरस त्वचा में दस हज़ार से भी अधिक सूक्ष्म कीटक उत्पन्न हो के मल का प्रसार करते है एवं रात्रि में निद्रा लेने पर तो, शरीर के छिद्रों में लाखों कीटक भर कर त्वचा के छिद्र बन्द हो जाते हैं। जिस से रोमरुओं का श्वासोच्छ्वास रुक कर रोगजन्तुओं की प्रवलता हो के आयुष्य का नाश होता है। इस के लिये तो यहां तक सावधान रहने की आवश्यकता है कि-जिस मनुष्य ने स्नान नहीं किया है उस का स्पर्श तक नहीं करना चाहिये, क्यों कि उस के स्पर्श से उस की त्वचा पर के कीटक अपने शरीर की त्वचा पर आने का विशेष सम्भव है। इसी लिये त्रिकाल स्नान की व्यवस्था रक्खी गई है एवं स्नान कर लेने पर पाठ, जप, पूजादि करने तक एवं भोजन करने तक किसी से स्पर्शास्पर्श नहीं करना—कहा गया है। कइ दिनों तक स्नान न करनेवाले या मुतलक़ स्नान न करनेवाले—इधर अवश्य लक्ष्यप्रदान करें। वड़ा ही आश्चर्य है कि-ऐसे स्नान न करनेवालों का जीवन ही किस प्रकार एवं क्यों या कैसा व्यतीत होता है?

इस पर कोई आक्षेप लेगा कि-शीतप्रधान देश में या जलरहित देशों में—जो लोग महीनों क्या, बरसों स्नान नहीं करते, उन का शरीर हम से पुष्ट नीरोग एवं दीर्घजीवी होता है—इस का क्या कारण है? तो मित्रो! यह प्रकृति-देवी की अपूर्व कुशलमयी योजना है कि—उन को उन के वस्त्र पहनने को दिये हैं। जिस से विद्युत् उत्पन्न हो के स्नान का कार्य सम्पादित हो कर शरीर का दूषित द्रव्य

आकर्षित हो के बाहर निकल जाता है एवं बाहर की स्वच्छ हवा का अन्दर प्रवेश हो के तनदुरुस्ती अच्छी रहती है, इतना ही नहीं–शरीर पुष्ट नीरोग एवं दीर्घजीवी बनता है, तो भी उन देशों में स्नान नहीं किया जाता–ऐसा नहीं है। वहां स्नान की प्रथा बहुत ही अच्छी आरोग्यदायक है। स्टीम बाथ, टर्किश बाथ आदि के बड़े बड़े स्नानगृह है जहां वैज्ञानिक रीति से स्नान कराया जाता है। जिस देश में जल नहीं है वहां मिट्टी, वायु और सूर्य के द्वारा स्नान का कार्य सम्पादित हो जाता है। हमारे यहां भी तो–मृत्तिकास्नान, वायुस्नान सूर्यस्नान, मानसिक स्नान आदि का विधान कहा गया है।

सन्ध्यावन्दन—स्नान के बाद स्वच्छ कपडे से शरीर को ठीक पोंछ कर सुखाना चाहिये। कपडे से घर्षण कर के शरीर के सब अवयव सूख जाने पर स्वच्छ ऊनी, रेशमी या सूती धोती पहन कर आसन पर बैठ कर अपनी सम्प्रदाय या कुलपरम्परा के अनुसार चन्दन, केशर, कँकू आदि का तिलक कर के यथावकाश, यथानियम, धर्म, जाति, कुल के अनुसार–सन्ध्यावन्दन, पूजन, जप, ध्यान, नमन, गायत्रीमंत्रादि जप, स्तोत्रपाठ, नामस्मरण–यथा-संभव, यथार्थ हो सके उतना–पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण विश्वास, पूर्ण निष्ठा, पूर्ण भक्ति के साथ करना चाहिये। अन्त में ईश्वर पर पूर्ण लक्ष्य रख कर भगवान् शंकराचार्य के निर्वाण-षट् का पाठ करना चाहिये एवं उस का अर्थ समझ कर उस की दृढ़ भावना करना चाहिये।

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं नच श्रोत्रजिव्हे नच घ्राण नेत्रे।
नच व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥
नच प्राणसंज्ञो न वै पंचवायुर्न वासप्तधातुर्न वा पंचकोशः।
न वाक्पाणिपादं न चोपस्थपायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥
न मे द्वेपरागौ न मे लोभमोहौ मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥
न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता च जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥
अहंनिर्विकल्पी निराकाररूपी विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।
न चासंगतं नैव मुक्तिर्न मे यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

इस में भगवान् शंकराचार्य का कहना है कि—पंचभूत, दशेन्द्रिय, शरीर के धर्म, संस्कार, सम्बन्ध आदि मैं नहीं हूं केवल चिदानन्दरूप शिव अर्थात् चैतन्य का आनन्दमय मंगलरूप हूं। कितनी उच्च भावना है?

भोजन—नित्यनियम, भगवान् की प्रार्थना आदि हो जाने पर कम से कम आध घण्टे के बाद भोजन करना चाहिये। भोजन में बड़ी ही सावधानी की आवश्यकता है। क्यों कि, भोजन ही मनुष्य का जीवन, बल, आयुष्य—सब कुछ है। "यादृशं भक्षयेदन्नं बुद्धिर्भवति तादृशी"—भोजन के अनुसार बुद्धि होती है—इस में क्या शंका है?

रुचि के अनुसार—सात्विक, मधुर, सुगन्ध, परीपक बना हुआ भोजन हो, बिलकुल ठंडा या बहुत गर्म नहो, मिरची, खटाई, तीखा गर्ममसाला, राई, अचार आदि

विदाही पदार्थों से युक्त न हो, तेल का, मिरची का छौंक न हो—मिरची, राई, तेज़ गर्ममसालों से होंट, जिव्हा, तालु आदि में जलन होती है तो—उदर के परदे इतने नर्म और नाज़ुक होते हैं कि—वे सामान्य उष्णता से व्यथित हो जाते हैं, इतना ही नहीं—ख़ाली उष्ण श्वास तक से उन को तकलीफ़ होती है—तो मिरची, राई मसालों की तीक्ष्णता से उन का क्या हाल होता होगा ? ईश्वर के बड़े उपकार हैं कि—उसने मुख के समान उन में स्पर्श-ज्ञान नहीं रक्खा वरना अंजहद तकलीफ़ होती, किन्तु एक हिसाब से अच्छा भी होता कि जो अभक्ष्य का भक्षण हो कर प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं होता। यद्यपि कण्ठ गुदद्वार द्वारा किसी वक़्त जलन हो के उन के बुरे परिणाम का ज्ञान हो जाता है तो भी हम उन का त्याग नहीं करते एवं रोगी बन कर भी उन के सेवन की अधिक इच्छा रखते हैं ! ऐसे पदार्थों का बहुत जल्द त्याग करना चाहिये।

तले हुए, बासी पदार्थ, रायते, तेज़ नमकीन पदार्थों को कभी छूना तक नहीं। साग भाजी बहुत थोडी खाना चाहिये, उन की निवेड़ जैनशास्त्रानुसार करना चाहिये एवं उन में मिरची मसाला बहुत कम डालना चाहिये। छोटे बच्चों की तरफ़ देखिये—वे ऐसी मिरची मसालोंवाली साग भाजी कब पसन्द करते हैं ? उन के मुंह में उस का ग्रास देते ही वे अपनी मुखचर्या बदल कर उसे झट उगल देते हैं। अफ़सोस है कि—हम बच्चों से भी बच्चे बन बैठे हैं।

गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा, दाल आदिके सात्विक पदार्थ—अर्थात् रोटी, भात, पतली गाढ़ी दाल बना कर सेवन करना चाहिये। 'को रसो गोरसं विना' घी, दूध, दही, छाछ का विशेष उपयोग करना चाहिये—'तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्' इस में क्या शंका है? छाछ भोजन के अन्त में बहुत ही हितकर होती है। किन्तु अत्यन्त दुःख का विषय है कि—हमारे दुर्लक्ष्य के कारण कहीं—दूध, दही, घी, छाछ अब थोड़े ही समय में औषधि के लिये भी मिलना दुश्वार न हो जांय! येही हमारे आयुरारोग्यवर्धक पौष्टिक पदार्थ हैं, किन्तु हमारी अज्ञानता एवं अकर्मण्यता के आगे किसी का क्या उपाय है?

खैर, समयानुसार रूखे सूखे चाहे जैसे भोजनको भी—पंच पक्वान्न, षड्रस की दृढ़ भावना द्वारा, सुसिद्ध, स्वादिष्ट एवं पौष्टिक बना कर आसन पर बैठ कर, अग्निकुण्ड में अग्निनारायण को आहुतिप्रदान करते समय अग्नि के नारायणस्वरूप की प्रार्थना करना चाहिये कि—

> त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट्।
> त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत्॥
>
> त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः।
> त्वया सर्वं जगदिदं सद्यो नश्येद्धुताशन!॥
>
> कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम्।
> गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्॥
>
> त्वमेवाग्ने! हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः।
> यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह !
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति—
स्त्वमेवाग्ने ! भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥
त्वामग्ने ! जलदाना हुर्विद्युतश्च मनीषिणः।
वहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥

हे अग्ने ! तू हवि को धारण करनेवाला सब देवों का मुख है। तू सब प्राणियों के अन्दर निगूढ़ रह कर साक्षि-वत् आचरण करता है। ज्ञानी तुझे एक कहते हैं एवं त्रिविध भी कहते हैं। हे हुताशन ! तू जगत् को छोड़ देगा तो तत्काल जगत् का नाश हो जायगा। पत्नी और पुत्रों के साथ विप्र तुझे प्रणाम कर के अपने कर्म से शाश्वत सद्गति को प्राप्त होते हैं। हे अग्ने ! तू हवि को लेनेवाला है। तू ही परम हवि है। उत्तम अध्वर में सत्र और यज्ञों से तेरा यजन होता है। हे हव्यवाह ! तू इन तीन लोगों को उत्पन्न कर के समय पाते ही प्रज्वलित हो के फिर पोषण करता है। तू भुवनों का जन्मदाता है। हे अग्ने ! फिर तू जगत् की प्रतिष्ठा करता है। हे अग्ने ! विद्वान् तुझे जलप्रदान करनेवाले मेघ कहते हैं। एवं विद्युत् कहते हैं। तुझ से ज्वाला निकल कर के सब प्राणियों के धारण करती हैं।

इस प्रकार प्रार्थना कर के अग्नि को आहुति देके वैश्व-देव करना चाहिये। क्यों कि—भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है—" भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् " जो अपने ही भोजन के लिये अन्न का पाक करते हैं अर्थात्

वलि, वैश्वदेव, आहुति आदि नहीं करते वे दुराचार पापी केवल पाप का भक्षण करते हैं—इस लिये अग्नि में आहुति दे के भोजन का आरम्भ करना चाहिये ।

भोजन करते करते जठर पर लक्ष्य कर के भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार—“ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणाऽपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।”— मैं अग्निरूप हो के प्राणियों के देह का आश्रय कर के, प्राण और अपान से युक्त हो कर चतुर्विध अन्न का पचन करता हूं—ऐसी वैश्वानर अग्नि की तीव्र भावना कर के— अर्थात् पचनशक्ति को उत्तेजित कर के अनन्यचित्त हो कर विचारों का लगातर लगाना चाहिये कि—“ हे ईश्वरस्वरूप अग्निनारायण ! प्रत्यक्ष तुझ को हवि— आहुतिप्रदान कर के वायु द्वारा उस के सुगन्ध का अवघ्राण कर रहा हूं—जिस से मेरे जठर में—अन्नसेवन के लिये उत्साह वढ़ कर तीव्र पचनक्रिया हो रही है एवं भोजन में विशेष रुचि उत्पन्न होकर मधुरता प्राप्त हो रही है । तेरा वनाया हुआ, तेरा दिया हुआ, तेरा पकाया हुआ—कितना रुचिर, मधुर एवं सुन्दर भोजन वना है कि जिस के सेवन से आरोग्य प्राप्त हो कर शरीरवल वढ़ के दीर्घायु हो रहा है । मैं अमृत सेवन कर रहा हूं, अमृतमय हो रहा हूं एवं मेरे शरीर के अणु अणु में अमृतरस का प्रवाह फैल रहा है । भोजन से शान्ति मिल रही है, तृप्ति मिल रही है एवं पुष्टि मिल रही है । हे अग्निनारायण ! यह तेरी कृपा का फल पवित्र भोजनरूप हवि—मैं तेरा तुझे अर्पण कर रहा हूं, तू प्रेमपूर्वक इस को ग्रहण कर रहा है । ”

इत्यादि पवित्र विचार करते हुए मुख में ग्रास लेकर खूब वारीक चाव के निगलना चाहिये। भोजन के प्रत्येक पदार्थ की रुचि लेते लेते कम से कम २०।२५ वार ग्रास को घोल कर धीरे धीरे कंठ से नीचे उतारना चाहिये–जिस से खूब लाला–मुखरस मिश्रित हो कर प्राकृतिक नियमों से उस का पचन हो जाय। आवश्यकता के अनुसार भोजन के वीच स्वच्छ, शुद्ध, शीतल जल पीना चाहिये। कभी किसी के आग्रह से कोई भी पदार्थ अधिक न लेना चाहिये एवं कोई पदार्थ वहुत अच्छा मधुर रुचिकर हो तो भी अधिक न सेवन करना चाहिये। भोजन समाप्त हो जाने पर, दान्तों को साफ़ कर के हाथ मल के धो के वैसे ही नेत्रों पर से फिरा के फिर हाथ मुख को पोंछ कर सुखाना चाहिये।

भोजनोत्तर मुखशुद्धि के लिये तुलसीपत्र या इच्छा हो तो थोड़ी सुपारी, इलायची या पान का वीड़ा लेना भी कुछ वुरा नहीं है। तमाखू, गांजा, भंग, अफ़ीम, शराव, चाय, काफ़ी आदि उत्तेजक मादक पदार्थों का, कभी न सेवन करना चाहिये, वल्कि–इन के सेवन करनेवाले मनुष्यों का संग तो दूर–स्पर्श तक न करना चाहिये।

कभी इस वात को न भूलना चाहिये कि–एक दिन धन्वन्तरि जंगल में किसी जड़ी वूंटी की खोज करते करते एक झाड के नीचे वैठ गये। झाड पर कौवा वैठा हुआ था। वह अपना स्वाभाविक शब्द–"को रुक्, को रुक्, को रुक्" वोलने लगा–धन्वन्तरि महाराज औषधि के विचार में निमग्न थे–झट उन के मुंह से निकल पडा कि–"हित

भुक्, मित भुक्, अशाक भुक्"—अर्थात् कः अरुक्? कः अरुक्, कः अरुक्?—कौन नीरोग है? कौन नीरोग है? कौन नीरोग है?—अनुकूल भोजन करनेवाला, परिमित भोजन करनेवाला, शाकरहित भोजन करनेवाला है। तात्पर्य यह है कि—पचे जितना खाना, थोडा खाना, शाक भाजी न खाना चाहिये। क्षुधा के दो हिस्से अन्न, एक हिस्सा जल ले के, वायु के लिये एक हिस्सा बाक़ी रखना चाहिये। जिस से जठर में वायु का ठीक संचार हो के नियमितरूप से पचनक्रिया होती रहे एवं कभी अजीर्ण की शंका भी नहो।

भोजन के समय कभी संशय, बुराई, भय के विचार न करना चाहिये। घृणित पदार्थ, विषयस्थान का कभी स्मरण न करना चाहिये एवं अपशब्द, शोक, दुःख, रुदन आदि के स्वर भी न सुनना चाहिये। जिस पदार्थ के लिये कुछ संशय हो, जिस के लिये प्रकृति अनुकूल न हो, या जिस पर रुचि न होती हो—कभी उस का सेवन न करना चाहिये। क्रोध, उद्वेग, चिन्ता का त्याग कर के, शान्तिपूर्वक बालबच्चों के साथ, बड़े प्रेम से भोजन करना चाहिये। भोजन के समय कभी बुरे शब्द नहीं बोलना, किसी के साथ वादविवाद नहीं करना एवं लड़ना झगड़ना भी नहीं। बुरी बात, बुरा बरताव या बुरे विचार करना नहीं और किसी प्रकार की शीघ्रता भी करना नहीं।

अन्यधर्मीय-सज्जनों के लिये एवं नास्तिक जनों के लिये कि जो समग्र भारतवर्ष में केवल १७ सतरह हैं!!—ऊपर स्नानक्रिया में कहे अनुसार—अपने अपने धर्म के

एवं मत के अनकूल सब कोई क्रिया कर सकते हैं। अग्नि के लिये किसी का मतभेद नहीं हो सकता एवं न भोजन के करने कराने ही में हो सकता है। भोजन सब का आवश्यकीय कर्म है एवं उस से सब का जीवन, स्वास्थ्य, बल, दीर्घायु होता हैं। दुनिया में जो कुछ करना कराना होता है—वह सब भोजन ही के लिये है। दुनिया भर के सब जड चेतन पदार्थ अपने अपने भोजन ही में व्यस्त हैं। सिवाय भोजन के, उस की उपलब्धि के एवं उस के सम्पादन के—किसी का कुछ कार्य ही नहीं है।

व्यवसाय—भोजनोत्तर अवकाश हो तो, आधा घण्टा—नहीं तो, १०—१५ मिनट तो अवश्य ही स्वस्थ बैठ कर फिर अपने नित्य उद्यम, व्यापार, नौकरी या व्यवसाय में लगना चाहिये। शुद्ध विचार, शुद्ध भावना, शुद्ध क्रिया करते करते कार्य सम्पादन करने से अवश्यमेव विजय प्राप्त होती है। महात्मा इमरसन कहता है कि—" Great men are they who see that spiritual force is stronger than material force that thoughts rule the world." जो भौतिक शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति को अधिकतर जानते हैं—वे श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। विचार ही जगत् का नियमन करते हैं।

विचार के लिये अब यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। उस का बहुत कुछ प्रतिपादन हो चुका है तो भी—मनुष्य यह विचार ही का आरगन Organ बाजा और इन्स्ट्रूमेन्ट Instrument औज़ार, कल है। इस की दो कुंजियां है। एक Subjective mind आन्तर मन

और अन्य Objective mind बाह्य मन है । भगवान् वसिष्ठ ने कहा है–"सर्वं हि मन एवेदमित्थं स्फुरति भूतिमत् । जलं जलाशयस्फारैर्विचित्रैश्चक्रकैरिव ।"–जिस प्रकार पानी जलाशय के विचित्र आन्दोलन से चक्राकार होता है उसी प्रकार सर्वत्र मन का स्फुरण होता है–इस में क्या शंका है ? जो कुछ है, सब मन ही पर निर्भर है । मन ही विचार है और विचार ही मन है–इस के लिये बार बार कहने की ज़रूरत नहीं है । किसी भी–व्यवसाय में, उद्योग में कार्य में–जयपराजय, सिद्धि असिद्धि, सफलता निष्फलता, सुधारबिगाड, लाभअलाभ, नफ़ानुक़सान–होता ही रहता है–इस लिये मनुष्य अपने शरीर आर्गन–बाजे को सब्जेक्टिव् मन की कुंजी लगा कर उस का स्वर क़ुदरती षड्ज स्वर–परा में से निकाल कर वैखरी द्वारा परात्पर परम जगत्पिता परमेश्वर के स्वर में मिला दे । स्वर में स्वर मिलाना क्या है–जैसे बालक अपने मातापिता की गोद में बैठ कर जो चाहे सो मांगता है–ख़ुशामद कर के लेता है, ख़ुश कर के लेता है, बिगड़ कर के लेता है, रोरो कर लेता है, हठ कर के लेता है, पल्ला पकड कर लेता है, सिर पटक कर लेता है और मावाप को उसे समझा कर डरा कर, मारपीट कर, बुरा भला कह कर, आख़िर प्रेम कर कर उस का हठ पूरा करना होता है । स्वामी रामतीर्थ ने क्या ख़ूब कहा है–" बच्चा अपने मातापिता को अनन्त शक्तिमान् मानता है और उन के बल को अपना बल समझ कर माता की गोदमें बैठा हुआ शाहन्शाही करता है; रेल को भी धमका लेता है, पवन और

पत्तियों पर भी हुकुम चलाता है, दरया को भी कोसने लगता है। और कोई चीज़ असंभव जानता ही नहीं। चन्द्रसूर्य को भी हाथ में लिया चाहता है—

चांद खिलोना ले देरी मैया, चांद खिलोना ले दे।

धन्य हैं वे पुरुष उच्च भाग्यवाले, जिन का इस ज़ोर का विश्वास सचमुच सर्वशक्तिमान् पिता में जम जाए, जो कुछ भी दरकार हुआ, झट देव का पल्ला पकड़ा और करवा लिया। दूध मांगना हो तो देव से, भोजन वस्त्र मांगना हो तो देव से। क्या अच्छा कहा है—

जग जांचये, कोउ न जांचये, जिया जांचये, जान की जान ही रे।
जहिं जांचत जांचकता जारहिं, जाहिं जोर जोर जहान ही रे॥

दुःखी दुष्ट में और रंगीले मतवाले मस्त में फरक़ सिर्फ़ इतना है कि—एक के चित्त में कामना अंश ऊपर है और भक्ति अंश नीचे। दूसरे के चित्त में राम ऊपर है और काम नीचे। एक यदि साक्षर है तो उलट पलट से दूसरा राक्षस है।"

सार यही है:—

१ ईश्वर सर्वत्र समान व्यापक है।

२ हमारा कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य, कार्याकार्य, विचाराविचार, अन्तर्वहिर्व्यापार सब ईश्वर ही के समक्ष होता है।

३ ईश्वर सर्वज्ञ है—उस से कोई बात छिपी है न छिप सकती है।

४ ईश्वर हमारा उत्पन्नकर्त्ता, मातापिता है।

५ हम ईश्वर के अंश हैं—इस लिये हमारा उस से अभेद है।

६ ईश्वर में पूर्णरूप चैतन्यशक्ति है, हम में अंशरूप चैतन्यशक्ति है। किन्तु उस के जाति, गुण, धर्म, शक्ति में कुछ भी न्यूनता या भिन्नता नहीं है।

७ जो कुछ मांगना मंगना है, लेना देना है, बोलना चालना है, पूंछना है, कहना सुनना है—सब कुछ ईश्वर के साथ होना चाहिये।

८ कभी दीनता, कमज़ोरी, उदासीनता का भान तक न होने देना चाहिये।

९ सब पर प्रभुता, शक्तिमत्ता, सत्ता, स्वाधीनता, श्रीमत्ता, प्रमुखता का निरन्तर सद्भाव प्रतीत होना चाहिये।

१० सर्वकाल ईश्वर के कृतज्ञ, उपकृतज्ञ एवं आभारी रहना चाहिये।

११ साठ घडी, चोवीस घण्टे ईश्वर का स्मरण करना चाहिये, उस में चित्त लगाना चाहिये एवं उसी का गुणगान करना चाहिये।

१२ प्राण पण से धर्म का आचरण करते हुए 'परमसत्य' का अन्वेषण करना चाहिये।

इस प्रकार दृढ़ भाव, दृढ़ विश्वास, दृढ निश्चय से ईश्वर में लक्ष्य लगा कर तन मन धन ईश्वर के चरणों में समर्पित कर के नित्य अपना उद्योग धन्धा व्यवसाय करते रहना चाहिये। अश्रद्धा, संशय, व्याकुलता, निर्बलता, उदासीनता, अकर्मण्यता, आदि दोषों का प्रादुर्भाव होते ही—ॐ का जप, या अपने अपने धर्मानुसार ईश्वर की प्रार्थना, या थोड़ी देर के लिये कार्य से विराम पा कर चित्त को Blank— कोरा अर्थात् संकल्परहित कर देना

चाहिये और शान्त हो कर विचारों का लगातार लगाना चाहिये कि—कार्य में क्यों नहीं सफलता होती, इच्छित क्यों नहीं साध्य होता, साध्य में क्यों नहीं सिद्धि मिलती, क्यों संकट दिखाई दे रहा है, क्यों विपत्ति हो रही है, क्यों आफ़त आ रही है, क्यों बुरा हो रहा है, क्यों विगाड़ हो रहा है, क्यों नुक़सान हो रहा है—इन के कारणों की खोज करते करते विचार में लीन हो जाना चाहिये—एका एक अन्तर्ध्वनि होगी एवं स्वयमेव उस कार्य की सफलता का मार्ग दिखाई देगा—उस के अनुसार चलने से, सब विघ्न दूर हो के अवश्यमेव सफलता प्राप्त होगी, विजय उपस्थित होगा एवं लक्ष्मी वशीभूत होगी।

सायंकृत्य—सायंकाल के समय सूर्यास्त के पूर्व ही अगर टट्टी जाने की आदत हो तो निमट कर हाथ पैर धो के सूर्य-नारायण को प्रणाम कर के मन ही मन आनन्द का भान कर के स्वस्थ होना चाहिये। सन्ध्यावन्दन, या देवदर्शन या इष्टस्मरण कर के फिर, यथा समय सायंकाल का भोजन—'लघुकुर्यादशनं दिनात्यये'—दिन के अन्त में लघु भोजन करना चाहिये—इस वाक्य पर लक्ष्य कर के—करना चाहिये। शान्तवृत्ति द्वारा प्रातःकाल के ही भोजन के समान अग्नि का चिन्तन करते करते इष्टमित्र वालबच्चों के साथ प्रेमपूर्वक सायंकाल का भोजन समाप्त करना चाहिये। भोजनोत्तर आवश्यकीय कार्य कर लेने पर—आनन्द से इष्टमित्रादिकों के साथ, मातापिता बन्धुओं के साथ, या स्त्रीपुत्रादिकों के साथ—अच्छी, शुभ, समाधानकारक बातें कर के, या साप्ताहिक, मासिकपत्र अथवा और कोई

अध्यात्मिक, उपदेशक, नीतिज्ञानप्रदायक पुस्तक पढ़ के चित्त को समाहित करना चाहिये। शारीरिक मानसिक श्रम को मिटाना चाहिये एवं दिन भर के लिये कृत्य का हिसाब लगाना चाहिये।

शयन—सब कार्यों से निवृत्त हो के दस बजे के क़रीब सोने के लिये बिस्तर पर चले जाना चाहिये। अंग्रेज़ी में कहावत है कि—"Early to sleep, and early to rise, makes healthy, wealthy and wise." अर्थात् जलदी सोना और जलदी उठना—मनुष्य को नीरोग, श्रीमान् एवं बुद्धिमान् करता है—इस में क्या शक है? डाक्टर ओ. एस्. मारडन अपने 'पीस, पावर एण्ड सेन्टी' में कहते हैं कि—"Hang up in your bedchamber, in a conspicious place where you can always see it, a card bearing in bold illuminated letters this motto 'no Thinking Here.'" अपने सोने के कमरे में जहां नित्य देखने में आ सके—ऐसी स्पष्ट जगह पर—एक बोर्ड पर—"यहां विचार नहीं करना है" अच्छे मोटे अक्षरों में—ऐसा वाक्य लिख कर सामने लटका दो—अर्थात् बिस्तर पर पैर रखने पर कुछ भी विचार न करना चाहिये।

बिस्तर पर बैठ कर इष्ट का चिन्तन कर के, ॐ का चित्र सामने ला के ॐ ॐ करते हुए लेट जाना चाहिये चित्त सो कर हाथ पैर बिलकुल ढीले कर के, सारे शरीर को मिट्टी का ढेरसा बना के स्वस्थ पड़ जाना चाहिये। फिर श्वासोच्छ्वास की तरफ़ लक्ष्य लगा कर, ॐ का

चिन्तन करतें हुए, खूव जोर से वायु को पेट में भर कर कुछ देर नाभिस्थान में रोक कर, हृदय पर ला कर धीरे धीरे छोड़ना चाहिये । ऐसे पंधरह प्राणायाम कर के सीधे हाथ की हथेली कोई एक सौ के क़रीव पेट पर चक्राकार फिराना चाहिये-"मैं जठर को उत्तेजित कर रहा हूं, मेरे भोजन का अच्छा परिपाक हो रहा है, जठर में आमांश नहीं है, पचनक्रिया जोर से हो रही है, अपान का प्राण के साथ संयोग हो कर समान अन्न का परिपाक कर के अपान की सहायता से मल को नीचे हटा रहा है-जिस से प्रातःकाल उठते ही मलविसर्जनक्रिया वहुत ठीक होगी ।" इत्यादि भावना करते करते पेट पर हथेली फिरा ले ने पर-वड़ी शान्ति के साथ, वड़ी उत्कंठा के साथ, एवं वड़ी प्रीति भक्ति के साथ कहना चाहिये कि-"इस जगत् में सर्वत्र एक ही प्रेम, एक ही ज्ञान, एक ही वल, व्याप्त हो रहा है-वही प्रेम, ज्ञान, एवं वल परमात्मा है । मैं केवल उस समर्थ परमात्मा का अंश हूं । उस के साथ मेरा निरन्तर सम्वन्ध है । मैं सव कुछ करने के लिये समर्थ हूं । क्यों कि, मैं परमात्मा का रूप हूं । जैसे काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है वैसे मैं भी परमात्मा से प्रकट हुआ हूं । इसी लिये परमात्मा का सामर्थ्य मुझ में है, जिस से मैं सव कुछ कर सकता हूं । इसी से मैं नीरोग, वलवान् एवं चिच्छक्तिमय हूं । मैं रम्य, शुद्ध एवं कल्याणरूप हूं । मैं अखण्ड यौवनयुक्त हूं, मैं श्रीमान्, सुखी एवं मुक्त हूं । परमात्मा मेरा विश्रान्तिस्थान है, परमात्मा मेरा शान्तिनिकेतन है, एवं परमात्मा मेरा सत्, चित्, आनन्द है । प्रातःकाल उठते ही मेरे शरीर में उत्साह, वल, वुद्धि का असाधारण आविर्भाव होगा ।

ईश्वर की शरण में, ईश्वर की गोद में एवं ईश्वर के चरण में पड़ा हुआ हूं।" ऐसा चिन्तन करते करते, इष्टदेव के स्मरण में निमग्न हो के, निद्रादेवी की आराधना में तन्मय हो कर सो जाना चाहिये। विचार की एकाग्रता, वृत्ति की स्थिरता, एवं भावना की गंभीरता से उसी वक़्, सुखपूर्वक स्वस्थ निद्रा आ जायगी। स्वप्नदशा में आकर सुषुप्तिदशा न होती हो तो, चेतन होते ही उसी इष्ट का स्मरण करते हुए बांई करवट पर फिर जाना चाहिये। लघुशंका की शंका हो तो उस के मिटाने में देर न करना चाहिये। फिर बिस्तर पर लेट कर इष्ट—स्मरण ही के साथ निद्रा लेनी चाहिये।

निद्रा मनुष्य को शान्त करती है, नव जीवन प्रदान करती है, उत्साह, बल, वीर्य आरोग्य देती है, शरीर की थकावट, चित्त की व्याकुलता, एवं मस्तिष्क का परिश्रम दूर कर के मनुष्य को पूर्ण विश्रान्ति देती है। कम से कम छः घण्टे और अधिक से अधिक आठ घण्टे निद्रा लेनी चाहिये। आलसी बन कर कभी घण्टों तक बेकार पड़े रह कर सोने में व्यर्थ समय न खोना चाहिये।

आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणां।
ज्ञानं हि तेषामधिकं विशेषं
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशु और मनुष्य को समान हैं। केवल एक ज्ञान अधिक है। जो मनुष्य ज्ञान से हीन हैं वे पशु के समान हैं। अर्थात् उन में और पशु में फिर क्या भिन्नता है?

यह दिनचर्या बहुत ही संक्षेप से कह कर—अभ्यास-प्रणाली का 'श्रीगणेश' बीजस्वरूप व्यक्त किया है। आगे चल कर इस का बहुत बड़ा वृक्ष बन कर, इच्छित फलों के भार से यह 'श्रीगणेश' गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार नीचे झुक जावेगा । इस का विस्तारपूर्वक विवेचन द्वितीय तरंग के जीवात्माविभाग में होगा ।

विचार-दर्शन ।

आन्तर जगत् ।

विचार-द्योतन ।

"विजयने प्राप्त करवाना रहस्यनो अटलामांज समावेश थाय छे: यथार्थ चित्र रचाय तेवी भावना करवी, अने श्रद्धा राखवी."

—विश्ववन्द्य श्रीछोटालाल।

९-विचार-द्योतन.

द्योतन—Suggestion—संकल्प—सूचना,—प्रबोधकता, व्यंजकता, प्रेरणा, भावना, धारणा, प्रार्थना, विधान, क्रिया, आज्ञा, आर्डर, हुक्म है। इसी का रूपान्तर आत्मद्योतन Auto Suggestion अपने पर अपनी भावना—आज्ञा है। विचारशक्ति में लिखे अनुसार विचारों की रंगरूपाकृति होती है और उसी के अनुसार उन का परावर्त्तन हो के Aura तेजोवलय बनता है, जिस का आदिकारण द्योतन ही है—सूर्य के किरण हमें शुभ्र दिखाई देते हैं किन्तु उन में जुदे जुदे सात रंग होते हैं—यह न्यूटन ने सिद्ध किया है। एक पहलूदार Prism कांच का टुकड़ा ले कर उस पर किरणों का परावर्त्तन किया जाय तो—किरणों का वक्रीभवन हो के झट उन का पृथक्करण हो जाता है और लाल, हरे, पीले, नीले, अस्मानी रंग के प्रतिबिम्ब प्रकट हो जाते हैं। इन्द्रधनुष्य का भी यही तत्व है। विशेषता यह है कि—नीले रंग के साथ लाल रंग के किरण घिरे हुए रहते हैं और सप्तरंगमिश्रित चित्रविचित्र आकृतियां दृष्टिगोचर होती हैं—यह दीपशिखा पर दृष्टि जमाते ही प्रत्यक्ष हो जाता है। इस का पता हमारे ऋषिमुनियों ने पहिले ही लगा रक्खा है। ऋग्वेद के मंडल १ सूक्त १६४ में एक मन्त्र है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकोऽश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रे मा विश्वा भुवनाधितस्थुः॥

जैसे अनेक रंग के सात घोड़े किसी श्वेतवर्ण के रथ में युक्त हों या उस शुभ्र रथ के अवयव सात घोड़ों के समान चलते हों—वैसे ही आदित्यमण्डल श्वेतरूप है और अनेक रंगवाले सप्तविध किरण ही उस रथ के सात घोड़े हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि—तैजस तत्त्वरूप आदित्य ही सप्तविध किरणरूप है और उस का शीघ्रगामित्व ही अश्व का रूपक है। सूर्य के गमनागमन से ही शीत उष्ण और वर्षारूप तीन ऋतु होते हैं और उसी से अविनाशी कालचक्र निरन्तर प्रवृत्त हो रहा है। उसी कालचक्र के प्रवाह में परमाणु से लगा कर महत्तत्त्व तक सब पड़े हुए हैं एवं सब उसी के अधीन हैं। उस का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर कालचक्र की अधीनता नष्ट हो जाती है। इस वेदमंत्र में केवल शुभ्र किरण और उन किरणों ही का प्रतिपादन नहीं है किन्तु सूर्यमण्डलान्तर्गत हिरण्मय पुरुष रथी, मण्डलरथ, सप्तविध किरण सात दिव्य अश्वरूप हो कर मण्डलरथ को निरन्तर चला रहे हैं—जिस को योगी अपनी ज्ञानदृष्टि से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इसी लिये ईशावास्योपनिषत् में कहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

हे भगवन् सूर्य! सुवर्ण के समान प्रकाशमान—ऐसे आच्छादनभूतपात्र से अर्थात् अपने तेजोमय बिम्ब से—सूर्यमण्डल में रहनेवाले ' परमसत्य ' के मुख को तू ने ढक

रक्खा है। उस मुख को मेरे लिये खोल दो। मैं 'सत्य-धर्मा' हूं—अर्थात् मैं सत्स्वरूप का उपासक हूं, जिस से मैं अपने धर्म के साथ सत्यस्वरूप वना हुआ हूं। हे पूषन्—जगत्प्रतिपालक! वह मुख—सत्यस्वरूप अनावृत्त कर के मुझे अपना रूप दिखा दो। या सत्य धर्म आचरण करने-वाले मुझे—तुम्हारी सत्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये—उस मुख को खोल दो। अर्थात् भगवन् सूर्य! तुमने अपने मणिपूर चक्र में परम सत्य को आवृत्त कर रक्खा है उस आवरण को दूर कर के 'परमसत्य' की प्राप्ति कर दो।

उस मुख का खोलना क्या है—विचारद्योतन है और वह भगवान् सूर्य के चक्रद्वारा अर्थात् मणिपूर—Solar plexus—परावाणी द्वारा ही प्रकाशित होता है। वहीं से—नाभिस्थान से—मूलकन्द से स्फुरण हो के विचार उत्पन्न होते हैं और उस के रंग रूप आकार वनते हैं—इस का विवेचन **विचारशक्ति** और **विचारसंयम** में पूर्णतया हो चुका है। विचार की शक्ति, विचार का सामर्थ्य, विचार का पराक्रम अपूर्व है, अद्भुत है और अपरिमित है—इस के लिये यहां विशेष कहने कि कोई आवश्यकता नहीं है। इस का मनुष्य के आरोग्य, सुख एवं उन्नति पर वहुत वडा परिणाम होता है। इस विषय की गवेपणा पाश्चात्यों ही ने की है—ऐसा आजकल के नव-पठित मानते हैं और इस के लिये पाश्चात्य भी अपने प्रत्येक लेख में साभिमानता प्रदर्शित करते हैं। किन्तु यह उन का मानना और साभिमान होना सर्वथा भ्रम है। वेद, अवस्था, वाइवल, क़ुरान, शास्त्र, मन्त्र, विधिविधान,

आवाहन, स्तोत्र, कवच, भजन, कीर्त्तन, प्रार्थना, उपासना, भावना क्या है—स्पष्ट स्पष्ट, द्योतन Suggestion है। जिन में—अपने इष्ट से कहा गया है, अपना हाल सुनाया गया है, प्रार्थना की गई है, आज्ञा की गई है। प्रेमपूर्वक, मित्रभाव से, भक्तिभाव से या सद्भाव से—सब कुछ मांगा गया है। हमारे यहां तो—तृण से लगा कर कुबेर के धन तक को केवल प्रार्थना द्वारा ही अपने इष्ट से मांगा जाता है और हमें जो कुछ प्राप्त होता है वह सब उसी का दिया हुआ है ऐसा हम मानते हैं। "शंनो मित्रः शंवरुणः शंनो भवत्वर्यमा शंन इन्द्रो बृहस्पतिः शंनो विष्णुरुरुक्रमः॥" नमस्तेत्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु। नमस्ते दिक्षु सर्वासुत्वं हि सर्वमयोनिधिः।"—"रक्षन्तु देवताः सर्वा ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः"—"विश्वतोमुख! सर्वतो रक्षरक्षमां, ज्वल ज्वल महामृत्युभय मृत्युभयं, नाशय चोरभय मुत्सादयोत्सादय, विषसर्पभयं शमय शमय"—आदि सब द्योतन ही है। द्योतनव्यापारक्रिया से विद्वानों को आज अधिक स्पष्ट विदित होने लगा है कि—पहिले जो निगूढ़, अगम्य, अद्भुत, अज्ञात जान पडता था—वस्तुतः वैसा नहीं है किन्तु निसर्ग के अनुसार ही सब कुछ होता है। इस का पूर्ण विवेचन विचारसिद्धि के अन्त में सम्यक्तया किया गया है—इस के अवलोकन से पाठकों को इस के मूल-कारण का अवश्य ही ज्ञान हो सकता है।

"कारण ते कारज कठिन, होय दोष नहिं मोर। कुलिश अस्थिते उपलते, लोह कराल कठोर।"—इस गोस्वामी तुलसीदासजी के कथनानुसार और—"दिखरावा

मातहिं निज, अद्भुत रूप अखण्ड । रोम रोम प्रतिराजहिं, कोटि कोटिं ब्रह्मण्ड ।"–भगवान् रामचन्द्र का अपनी माता को रोम रोम में ब्रह्माण्ड का दिखानां क्या था ? वैसे ही–' तृण ते कुलिश कुलिश तृण कर हीं '–अथवा कवि कुलगुरु कालीदास के कथनानुसार–' विषमप्यमृतं कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया '–ईश्वर की इच्छा से कभी विष का अमृत हो जाता है और कभी अमृत विष हो जाता है–यह क्या है ? किसी के सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देना, या हाथ में जल ले कर शाप देना क्या है ? चरणामृत के पान करने से, मन्त्रित भस्म के लगाने से, या तावीज़ अथवा धागा वान्धने से क्या होता है ? तीर्थादि किसी विशिष्ट स्थान पर जाने से, रहने से, स्नान करने से या दर्शनादिकों से क्या होता है ? देवी देवताओं के पाठपूजन से, जपध्यान से, होम-हवन से, वलिदान से क्या होता है ? मंत्रतंत्रों के अनुष्ठान से, प्रयोग से, विधिविधान से क्या होता है ? मेस्मरिझ्म, हिप्नोटिझ्म, मेन्टल साइन्स, मेन्टल हीलिंग, मेन्टल ट्रीटमेन्ट, अॅवसेन्ट ट्रीटमेन्ट आदि अनेक, समयानुसार प्रचलित–देशदेशान्तरों की जुदी जुदी रीतियों से, प्रयोगों से, पृथाओं से, विधिविधानों से एवं जारण, मारण, उच्चाटन, स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, विद्वेषण आदि से क्या होता है ? प्रभाव होता है, परिणाम होता है, अनुभव होता है, इच्छित साध्य होता है, आरोग्य होता है, भूतप्रेतादिकों का पलायन होता है और सांप विच्छू का ज़हर उतर जाता है । द्वेष में प्रेम होता है और प्रेम में

द्वेष होता है। धनसम्पति पुत्रप्राप्ति होती है एवं अनेक संयोग वियोग होते हैं–जिन को हम कभी दैव कहते हैं, कभी घटना कहते हैं, कभी चमत्कार कहते हैं, कभी जादू कहते हैं और कभी ईश्वर की लीला कहते हैं–ये सब क्या हैं–सिवाय विचारद्योतन के और कुछ भी नहीं।

किसी के साथ बुराई करने से, किसी का बुरा करने से, किसी को दुख देने से, किसी को सन्ताप पहुंचाने से, किसी को सताने से, किसी जीवजन्तु को त्रास देने से, किसी जीवजन्तु की हिंसा करने से, किसी झाड़ घास पात को तोडने से, किसी के साथ द्वेष करने से, किसी को अपशब्द बोलने से, किसी को बुरा भला कहने से एवं किसी स्थिरचर जडचेतन के लिये बुराई या बुरा विचार करने से–"तुलसी 'हाय' गरीब की, कभी न निष्फल जाय। मुए ढोर के चाम से, लोह भसम हो जाय।"–जिसे शाप, आह, बद्दुवा, कोसना कहते हैं–द्योतन का प्रभाव बढ़ कर तत्काल अनुभव आता है। चाहे इस में किसी को कुछ भी संशय हो तो वह इस का अनुभव ले ले। वैसे ही दुखी को सुखी करने से, बुराई करनेवाले के साथ भी भलाई करने से, किसी को तनिक भी भीति, त्रास, सन्ताप न पहुंचाने से, सब की भलाई करने से, सब पर दया करने से उपकारवृत्ति रखने से, प्रेम की धारा बहाने से–"तुलसी 'दुवा' गरीब की, कभी न निष्फल जाय। मुए ढोर के चाम से, धरणीतल छा जाय।"–गोस्वामीजी का कितना अनुभव-पूर्ण कहना है–चमडे का भाता बन कर उस की 'आह'

हवा से भट्टी में धरा हुआ लोहा जल बल कर खाक हो जाता है, वैसे ही उसी चमड़े का जूता बन कर पैरों के नीचे पृथ्वी का तल चमड़े से छा जाता है—ये सब क्या है—सिवाय विचारद्योतन के और कुछ भी नहीं ।

यह विचारद्योतनक्रिया स्वयमेव कार्य को, कार्य के विधान को, कार्य की गति को, कार्य के काल को, कार्य की स्थिति को एवं कार्य के व्यवहार को प्रतिकुलानुकूल करती है, सुधारती बिगाड़ती है और बनाती बिखेरती है । इसी विचारद्योतन द्वारा आन्तर जगत् बनता है, आन्तर जगत् का उदय होता है एवं आन्तर जगत् का भान होता है । हेनरीवुड का कहना है कि—"There is but one real world for any one, and that is his thought world ... ... The kingdom of heaven is within, and should be created upon an exact or Scientific bases. Thinking creates its own distinctive environment."—प्रत्येक के लिये एक ही सच्चा जगत् होता है और वह उस का विचार—जगत् है । स्वाराज्य—स्वर्गीय राज्य अन्तःकरण में है और यथार्थ या शास्त्रीय पद्धति द्वारा उस का सृजन करना चाहिये । विचार अपनी आप भिन्नतादर्शक परिस्थिति उत्पन्न कर लेता है ।

विचारद्योतन की सत्ता सर्वतोपरि है और वह इतनी सूक्ष्म है कि—उस का स्थूल दृष्टि से निरीक्षण, परीक्षण या परिशीलन नहीं हो सकता । उस की क्रिया अप्रतिहत, अकुण्ठित, ज्ञाताज्ञात भाव से, रीति से चक्रगतिन्याय प्रचलित रहती

है। यह विचार की ज्ञाताज्ञात क्रिया केवल द्योतन ही के स्वरूप में होती है। सूक्ष्मता से, गम्भीरता से, मधुरता से, कठोरता से, नम्रता से, प्रबलता से—चित्त पर आघात हो के क्रमशः, क्षण क्षण या अकस्मात् किसी भाव का, भान का या परिस्थिति का संगठन, उद्घाटन, संस्थापन, प्रकाशन, विकसन होना ही द्योतन है। महात्मा ज़रथोस्त ने कहा है—"सम्पूर्ण विचारशक्ति से दुनिया को आबाद करनेवाले लोग सच्चे विचार के करनेवाले होते हैं और ऐसे लोगों को होरमज़द सदा आनन्द में रखता है।" बुरी भावना-धारणा करनेवाले हेरेमन, आशमोग और अन्य देव को ज़रथोस्त मार के हटाता है। "हुमत—पवित्र विचार, हुखत—पवित्र भाषण, हुवरशत—पवित्र कर्म करने से यह जहान्, जहान् की नेकी और जहान् की रियादत हासिल होती है—उन को अखतियार करने से बड़ाई नेकी और भलाई मिलती है।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने—'दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता'—कहा है। दैवी सम्पत्—उच्च वासना—सुन्दर विचारद्योतन और आसुरी सम्पत्—अधम वासना—मलिन विचारद्योतन है। दैवी सम्पत् मोक्षप्रदान करती है और आसुरी सम्पत् बन्धन करती है। यह सम्पत्, यह भाव, यह भान अनादि काल से चला आ रहा है। देव—असुर, इन्द्र—वृत्र, अहुरमज्द—अन्हिमान, ख़ुदा—शैतान, बुद्ध—मार—ये ही दैवी और आसुरी सम्पत् के रूपक हैं। तत्वदर्शी शास्त्रवेत्ताओं ने शास्त्र, पुराण, काव्यों में दोनों की योजना कर के उन के द्योतन का चमत्कार दिखाया है। वाल्मीकि

का रामायण, व्यास का महाभारत, इटालियन कवि डान्टे का डिवाइन कामेडी, अंगरेज़ कवि मिल्टन का परैडाइझ लास्ट और परैडाइझ रिगेण्ड—उसी सुन्दर विचारद्योतन का फल है ।

द्योतन ही सधनता निर्धनता का कारण है, द्योतन ही सुख दुःख का कारण है, द्योतन ही विद्वता मूढता का कारण है, द्योतन ही सच झूंठ का कारण है, द्योतन ही पुण्य पाप का कारण है, और द्योतन ही शुभाशुभ का कारण है! द्योतन ही इहलोक परलोक है, द्योतन ही विचारपरम्परा है, द्योतन ही विचारमधुरता है, द्योतन ही विचारसुन्दरता है, द्योतन ही विचारमूढ़ता है एवं द्योतन ही विचारस्तब्धता है । द्योतन ही साध्य, साधक, साधन है, द्योतन ही ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान है, द्योतन ही कर्त्ता, कर्म, कारण है । जगत् भर के द्वन्द्व और त्रिपुटी द्योतन में भरी हुई हैं । सिवाय द्योतन के हम कुछ भी नहीं कर सकते । हमारा कार्य—अकार्य, हमारा ज्ञान—विज्ञान, हमारा स्फुरण—आन्दोलन, हमारी गति—अगति, हमारी युक्ति—प्रयुक्ति, हमारी प्रवृत्ति—निवृत्ति, हमारी स्थिति—रीति—जो कुछ वाह्यान्तर जगत् में कर्त्तव्याकर्त्तव्य, कार्याकार्य, कर्माकर्म भरा हुआ है वह सब विचारद्योतन पर ही निर्भर है, अवलम्बित है और निर्धारित है ।

हमारा जीवन, जीवनकाल, जीवनव्यवहार,—परिस्थिति, देश, काल, पात्र के अनुसार सुखी दुःखी, रोगी नीरोगी, स्थिर चंचल, म्लान प्रफुल्लित, सरल वक्र, चक्रगतिन्याय होता रहता है । उस को अनेकानेक आघातों से गति मिलती रहती है । एक अंगरेज़ Pallasas कवि कहता है कि—

"This wretched life of ours is Fortune's ball:
Twixt wealth and poverty the bandies all.
These, cast to earth, up to the skies rebound;
Those, tossed to heaven, come tumbling to
the ground."

हमारा यह दुःखित जीवन भाग्य देवी का Ball गेंद है। वह सम्पति और विपत्ति के बीच में इस को इधर उधर दौड़ाती है। उन में से कितने ही पृथ्वी पर फेंकने से वे आकाश में उछलते हैं और कितने ही आकाश में फेंके हुए नीचे नीचे पृथ्वी पर आ गिरते हैं। तथापि द्योतन उन को पृथ्वी के अन्दर घुसेड़ देता है या आकाश ही में स्थिर रख देता है। वह आर्य को अनार्य बना देता है, अनार्य को आर्य बना देता है, ग़रीब को श्रीमान् बना देता है और श्रीमान् को ग़रीब बना देता है, मूढ़ को विद्वान् बना देता है और विद्वान् को मूढ़ बना देता है एवं अमूर्त्त को मूर्त्त बना देता है और मूर्त्त को अमूर्त्त बना देता है।

शाप—अनुग्रह, आशीष्—दुराशीष्, दुवा-बद दुवा, भला चाहना—बुरा चाहना, कोसना—खुश होना, मुंह से गरम आह निकलना—ठंडी सांस खिंचना—सिवाय विचारद्योतन के कैसे कार्य में परिणत होते हैं और उन का परिणाम ही क्या होता है?

इब्राहीम ख़लीलुल्लाह का इसाइल नाम का ९।१०साल का लड़का था। अल्लाह को खुश करने के लिये हज़रत इब्राहीम ने उस की क़ुरबानी करना चाहा। उस वक़्त इब-लीस—शैतान ने इसाइल को बड़ा फ़रेब दिया पर उस ने

एक न मानी-साफ़ कहा कि-एक दिन मरना है अगर यह शरीर ख़ुदा के काम में आ जाय तो मैं अपना वड़ा भाग्य समझूंगा-इसी द्योतन में उतने ही में-फ़रिश्तों की दुवा से जन्नत से एक दुम्वा आया और इस्माइल को हटा कर वह जिवह हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण के आशीर्वाद से द्रौपदी की थाली में वचे हुए भाजी के पत्ते से-सहस्रों का भोजन हो के दुर्वासा जैसे मानी ऋषि का सन्तोप हुआ। शुक्राचार्य के पुकारते ही कच ने उन्हीं के पेटमें से उत्तर दिया किन्तु उन की आज्ञा से वह पेट फाड कर वाहर निकल आया और उसी संजीवनीविद्या से शुक्राचार्य को पुनर्जीवित किया। ज्ञानेश्वर के आज्ञा करते ही दीवार चली। आरफ़ियस के वीणारव से-वीणा के शब्द से आपही आप पत्थर जुड़ कर दीवार, कोट, मकान वग़ैरेह वन के ग्रीस के थिवेस शहर की रचना हुई। किसी सभाध्यक्ष की लड़की मर जाने पर ईसा के "Talitha cumi" टालिथा कुमी-लड़की उठ-कहते ही, लड़की जीती हो के उठ वैठी। वादशाह का लड़का मर जाने पर, वड़े वड़े आलिम, वली, पीरों के-"कुम् वैजन अल्लाह" 'उठ हुक्म से अल्लाह के' वार वार कहने पर भी कुछ न हुआ, इतने ही में-शमस्तव्रेज़ के-"कुम् व इज़्नी"- 'उठ मेरे हुक्म से'-कहते ही लड़का उठ खड़ा हुआ। यहीं द्योतन का सच्चा रहस्य है कि जिसके आगे अल्लाह का हुक्म कोई चीज़ नहीं। तुम अलग रहकर अल्लाह को आगे रख कर उस से-हुक्म कर के, या इवादत कर

के, या माफ़ी मांग के, या दुआ कर के, कोई काम करना चाहते हो तो—ऐसी जुदाई में अर्थात् ऐसे भिन्न भाव में कैसे किसी कार्य का सम्पादन हो सकता है?

ख़ूब दृष्टि फैला के, ख़ूब विचार कर के, ख़ूब अन्वेषण कर के—पृथ्वी भर के धर्मों की खोज करिये, गवेषणा करिये, विचार करिये—तुम्हें उस का तात्पर्य, सार, मर्म यही देख पड़ेगा कि—सब जगत् के धर्म में चरित्र, विचार और द्योतन का अन्योन्य सम्बन्ध है। वेदों में—'संवोमनांसि जानताम्' बाइबल में—'So he becomes' अवस्था में—'हुमत, हुख़्त, हुवरश्त' क़ुरान में—'ले क़ुल्ले क़ौमिन् हाद'—कहा है। धर्मप्रचारकों ने द्योतनभाव से ईश्वरत्व की प्राप्ति कर के जहां तहां द्योतन द्वारा ही धर्म का प्रचार किया है, सब का उद्धार किया है एवं अपने को ईश्वर का अवतार कहाया है। ईश्वर निराकार है, व्यापक है, निगूढ़ है एवं सर्वत्र भरा हुआ है। वह कभी मनुष्य का अवतार धारण नहीं करता या मनुष्यरूप हो कर कहीं कुछ करता नहीं। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है की—"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।"—ईश्वर कर्त्ता नहीं, कर्म नहीं और कर्मफल का संयोग ही नहीं! सब स्वाभाविक—Natural—प्रधानशक्ति द्वारा ही सम्पादन होता है। और वह प्रधानशक्ति—चिति जगत् में सर्वत्र ओत-प्रोत भरी हुई है—उस को साध्य कर लेने पर—हाथ में लेने पर—द्योतित करने पर फिर, जगत् में क्या नहीं साध्य होता, क्या नहीं सम्पादित होता एवं क्या नहीं प्राप्त होता?

धर्म का तत्व क्या है, धर्म के प्रचारक कोन हैं, धर्म में ईश्वर का भान क्यों है एवं विश्व भर के धर्म की एक-वाक्यता कैसी है ? धर्मप्रचारक, धर्मगुरु, अवतार, तीर्थंकर, पैग़म्बर कोन थे, क्यों हुए थे और फिर क्यों होंगे ? दुनिया भर में वैदिकधर्म, बुद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म और इस्लामधर्म के—वेद, सूत्र, गाथा, अवस्था, वाइवल, क़ुरान ही धर्मग्रन्थ हैं और वे ईश्वरप्रणीत ईश्वर-कथित एवं ईश्वरप्रेरित ही क्यों है—इस के लिये जो कुछ अनुमान, प्रमाण, प्रवचन, निर्धारण, कथन है—वह सब द्योतन है। सिवाय विचारद्योतन के जगत् भर में कुछ भी कार्य, कर्म, क्रिया और व्यवहार नहीं हैं । और उस द्योतन का प्रयोजन

"The purpose of his life–its end and aim–
the search of hidden truth. Careless of fame,
Of empty dignities, and dirty pelf,
Learning he loved, and sought her for herself."

उस के जीवन का प्रयोजन, अन्त और लक्ष्य गुप्त सत्य के अन्वेषण के लिये है । कीर्त्ति, खाली पदाभिमान और मलिन तुच्छ धन के लिये तो उस को अपेक्षा ही नहीं । वह विद्या में प्रेम रखता है और विद्या के लिये ही विद्या का सम्पादन करता है । इस अंगरेज कवि के कहने के अनुसार उपयोगी हैं ।

किसी समय किसी की महत्वाकांक्षा प्रबल हो कर विचारद्योतन में धर्म की भावना बढ़ कर—ईश्वरत्व का भान होते ही द्योतन की गति चक्राकार हो के भाग्य के कन्दुक को अपने हाथों में ले के उस को उपर्युक्त पालासस

कवि के कथनानुसार इधर उधर खूब नचाता है, कुदाता है एवं घुमाता है। शायद, उसी का टेनिस, फ़ुटबाल, क्रिकेट–रूपान्तर हो–क्यों कि आजकल उन्हीं में हमारी कीर्ति, विख्याती एवं इतिश्री है। Plutarch प्लुटार्क के कहने के अनुसार–

"The wheel of life is ever on the round
While one side's up other's on the ground."

यह जीवनचक्र चक्राकार फिरता है। कभी एक तरफ़ ऊपर रहता है तो, कभी दूसरी तरफ़ नीचे ज़मीन पर रहता है। कविकुलगुरु कालिदास का भी यही–"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"–कहना है।

इस द्योतन के अभ्यास में हमें अपने को–सर्वसत्ताधीश, सर्वतोपरि सामर्थ्यवान मानना चाहिये। कभी कमज़ोरी, दीनता, लघुता, नीचता का भान तक न होने देना चाहिये। सदासर्वकाल हम अपने को हाकिम मानें, सारे जगत् को हम अपना महकूम मानें और हम अपने प्रत्येक अक्षर, शब्द, वाक्य को हुक्म मानें। इस पर कोई कहेगा कि–यह तो कोई चीज़ ही नहीं–हमें अपने को ईश्वर, God, खुदा मानने में क्या दिक्कत हैं? मानते रहेंगे। किन्तु हमारा ईश्वरत्व, Godliness और खुदाई तो जगत् में कोई मान ले! बाहर तो रहने दीजिये–हमारी प्यारी स्त्री तक तो हमारा हुक्म नहीं उठाती तो औरों के लिये कहने की ज़रूरत ही क्या है? सच है–हम ज़ोर के साथ कहते हैं–ईश्वर, ईश्वरीय सत्ता, सामर्थ्य, हुक्म को मानना, विचार करना या लक्ष्य करना सहज बात नहीं है। हम

तुम्हें कहते हैं कि–' New thought is new life '– अर्थात् नया विचार नया जीवन होता है तो, तुमने, दिन भर के चोईस घण्टों या साठ घडियों में किन किन घण्टों घडियों में कौन कौन से पुराने विचारों का त्याग किया और कौन कौन से नये विचारों का संगठन किया–इस का एक ही घण्टे या घड़ी का हमें तुम हिसाव दो। उस में कितने अक्षर, शब्द और वाक्य मुख से उच्चारण किये या विचार में लाये एवं उन सब में कितने अक्षर सत्य थे और कितने अक्षर झूंठ थे–इस का नित्य हिसाव रक्खो। जिस दिन, जिस घण्टे या घड़ी में, एक भी अक्षर पुराना या एक भी अक्षर झूंठ न वोलो सोचोगे या मुतलक़ अक्षर ही तुम्हारे मुख से या हृदय से न निकलेगा या न उत्पन्न होगा–हम प्रतिज्ञा से कहते हैं–तुम हाकिम तो क्या प्रति ईश्वर वन जावोगे। क्या मजाल है–फिर तुम्हारा कोई हुक्म न माने या उस की तामील नहो !

जव तुम इस अवस्था को पहुंच जावोगे तो आगे तुम को अपनी चित्तभूमि पर फ़ोटो उतारना, उस का डिवेलप करना, उस का टचिंग करना आदि सीखना होगा। अगर तुम अपनी चित्तमित्ति पर अपने विचार के फ़िक्स फ़ोटो वना के लटका दोगे तो हम सत्य प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कि–फिर तुम्हें नानाप्रकार की पुस्तकें, कविता, हिसाव, इतिहास, जुग्राफ़िया, साइन्स–विज्ञान आदि को वार वार घोखना न होगा, देखना न होगा और न उन के प्रयोग करना होंगे। एक दो वार ही के देखने, रटने, घोखने, करने ही से–सहज ही–सहज ही में, वे सव जहनशीन

हो जावेंगे और जब उन से काम पड़ेगा तब वे हाज़िर आकर तुम्हारा हुक्म उठावेंगे। उन का हुक्म उठाना हुक्म की तामील करना और दिल के मुताबिक़ कोई काम होना तो सहज बात है किन्तु ऊपर अभ्यास के पृष्ठ में महात्मा स्वामी रामतीर्थ के कहने के अनुसार—"तुम्हारी ख़ातिर सब के सब देवता तक लोहे के चने भी चाब लेंगे।"

विचारशक्ति, विचारसंयम, विचारसंस्कार, विचारसिद्धि आदि का तत्व समझ कर उस के अनुसार विचारद्योतन किया जायगा तो निःसंशय महासिद्धियों की प्राप्ति हो के अलौकिकता प्राप्त होगी। भगवान् मनु ने कहा है कि—

> संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
> व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥
> अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।
> यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥
> तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
> यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते॥

'अमुक इष्ट फल अमुक कर्म से सिद्ध होगा'—इस भावना विषयक बुद्धि को 'संकल्प' कहते हैं—उस में काम—इच्छा उत्पन्न हो के प्रयत्न में लगना—संकल्प का उदय है—उसी से—"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च—"—द्रव्य, तप, योग, स्वाध्यायज्ञान आदि यज्ञ होते हैं, व्रत होते हैं, यमनियमादिक होते हैं। सब कार्य—संकल्प ही से सम्पादन होते हैं। कोई भी क्रिया सिवाय काम—इच्छा के कभी सम्पादन नहीं होती। जो जो कुछ मनुष्य कार्य, क्रिया, कर्म, व्यवहार, उद्योग उद्यम, व्यापार करता है वह सब काम—संकल्प—इच्छा ही

का विवेष्टित है । उस काम में—संकल्प में—इच्छा में—भावना में—कामना में—द्योतन में सम्यग्विधि पूर्वक—भली भाँति प्रवृत्त होने से मनुष्य अमरलोक—मृत्यु का जय कर के ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है और वह जिन. जिन विषय, पदार्थ या और किसी की कामना करता है—वह वह उस को प्राप्त होते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि—" यं यमन्तमभि कामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ।"—अर्थात् अन्तर में जो जो कामना होती हैं या मनुष्य जिस की इच्छा करता है—संकल्प मात्र ही प्राप्त हो के वह सम्मानित होता है। मिल्टन ने कहा है—"The mind is its own place and in itself can make a heaven of hell, a hell of heaven." मन स्वयं स्वर्ग को नरक बनाता है एवं नरक को स्वर्ग बनाता है—यह स्पष्ट है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।'—मनुष्य के बन्ध मोक्ष के लिये मन ही कारण है । विचार ही मन है एवं मन ही विचार है । मन अर्थात् विचार की शक्ति अद्भुत है । सेक्सपीयर ने कहा है—

" A man ... ... Can hold a fire in his hand
By thinking on the frosty Caucasus;
Or close the hungry edge of appetite,
By bare imagination of a feast;
Or wallow naked in December snow;
By thinking on a fantastic summar heat."

अर्थात्—हिम की भावना कर के मनुष्य अपने हाथ में

अग्नि को धारण कर सकता है । भोजन सामग्री की भावना कर के मनुष्य अपनी तीव्र क्षुधा का शमन कर सकता है । ग्रीष्मऋतु की भावना कर के डिसेम्बर के बर्फ़ में खुले शरीर मनुष्य लेट सकता है !

जैन धर्म में बारह भावना कही हैं और वे बहुत ही यथार्थ हैं । इन भावनाओं से मनुष्य की बुद्धि का विकास हो के शील बनता है ।

१ अनित्यभावना—सिवाय आत्मा के सब पदार्थों में अनित्यत्व जानना है ।

२ अशरणभावना—सिवाय आत्मा के और कोई रक्षणकर्त्ता नहीं जानना है ।

३ संसारभावना—संसार को अनित्य और आत्मा को नित्य जानना है ।

४ एकत्वभावना—अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा को एक जानना है ।

५ अन्यत्वभावना—आत्मा को शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप जानना है ।

६ अशुचित्वभावना—शरीर को अशुद्ध—मलिन जानना है ।

७ आस्रवभावना—आत्मकर्म के उदय को और उस की ग्राहकशक्ति को जानना है ।

८ संवरभावना—सम्पूर्ण आस्रव—कर्मोद्भव के निरोध में तत्पर होना है ।

९ निर्जराभावना—अनादि बीजरूप कर्मों से आत्मा का सम्बन्ध छुड़ाना है ।

१० धर्मभावना—धर्म के समान धारण करनेवाला अन्य कोई नहीं जानना है।

११ लोकभावना—मृत्युलोक की ममता छोड़ कर आत्मा में लीन होना है।

१२ बोधिदुर्लभभावना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र—इन तीनों का प्रचार कर के अपना सच्चा कल्याण कर लेना है।

इन सब भावनाओं का मूलकारण विचारद्योतन है, विचारद्योतन का मूलकारण संकल्प है और वह संकल्प भगवान् मनु के कहने के अनुसार—"अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्"—इच्छा—कामना है।

किसी कार्य के सम्पादन में मनुष्य की शुभही भावना रहती है अर्थात् वह नित्य अपना भला ही चाहता है। कार्य—चाहे जैसा बुरा भला, घृणित प्रणित, उत्तमाधम हो वह उस के शुभफल ही की इच्छा करता है और उस से अपना कल्याण चाहता है। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि—"संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।"—संकल्पों से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं का त्याग कर के—'शनैः शनैरुपरमेत्'—धीरे धीरे शान्ति को प्राप्त करना चाहिये। यह संकल्प क्या है—मनोराज्य—मन की व्यर्थ चिन्ता, व्यर्थ कामना, व्यर्थ लालसा, व्यर्थ दौडधूप है। परा में स्फुरण होते ही पश्यन्ती में संकल्प उठ कर मध्यमा में उस का रूप बन कर वैखरी में द्विधारा हो के उस के शब्द और अर्थ का भेद, अन्यभाव, भिन्नता हो कर विकल्प बन जाता है—जिस से उस का कुछ भी

उपयोग या कार्य नहीं होता–इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि–'बुरे भले संकल्पों से उत्पन्न होनेवाली कामनाओं का बिलकुल त्याग कर दो।' अर्थात् चित्त को साफ़ कोरा–स्फटिक–पारदर्शी–ग्राहक–सुघरा बना के फिर उस में से ज्ञानसूर्य के किरणों का द्योतन करो–विचारों का प्रवाह बहने दो–सुन्दर विचारों का लगा तार लगा दो; क्यों कि, 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा'–मनुष्यलोक में किसी भी कार्य की सिद्धि तत्काल होती है। अर्थात् भले काम का भला और बुरे काम का बुरा नतीजा निकलता है–इस में कुछ भी शंका नहीं है। इसी लिये भगवान् रामचन्द्र को 'तात' सम्बोधन कर के बड़े प्रेम से भगवान् वसिष्ठ ने कहा है कि–

इत्थं यदेव परिकल्पयतीन्द्रजालं
क्षिप्रं तदेव परिपश्यति तात! चेतः।
नाऽसज्जगन्न च सदित्यवगम्य नूनं
दृष्टिं दृशं विविधभेदवतीं जहीहि॥

इस प्रकार जिस इन्द्रजाल की कल्पना की जाती है चित्त उस को बहुत शीघ्र देखता है। अर्थात् चित्त में जिस का संकल्प होता है उस का मूर्त्तस्वरूप बन कर वह प्रत्यक्ष हो जाता है। यह जगत् सत्–सत्य नहीं और असत्–मिथ्या भी नहीं–यह जान कर छिन्नभिन्न विविधभेदवती दृष्टि का त्याग करना चाहिये।

श्री गौडपादाचार्य ने भी यही कहा है 'यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं सतु पश्यति'–जिस में जिस भाव का उदय होता है वह उसी भाव को देखता है। इस का सार

यही है कि–संकल्प को विकल्प में कभी परिणत नहीं होने देना–अर्थात् उस का मनोराज्य बन जाने पर उस को सत्स्वरूप बनाना चाहिये न कि इन्द्रजाल। इन्द्रजाल–माया–कपटस्वरूप है जिस का विकल्प में रूपान्तर होता है और सत्स्वरूप–शुद्धरूप है जिस का कार्य में रूपान्तर होता है। इसी लिये महासाधु तुकाराम महाराज ने कहा है कि–'सत्यसंकल्पाचा, दाता भगवान। सर्व करी पूर्ण, मनोरथ।'–सत्यसंकल्प का दाता भगवान् है और वह सब मनोरथ पूर्ण करता है।

इस शरीररूपी यन्त्र में स्थूल सूक्ष्म दो प्रकार का विचार-द्योतन होता रहता है। जो बुद्धिपूर्वक–भानपूर्वक होता है–वह स्थूलद्योतन है और जो अज्ञात–भान–रहित होता है–वह सूक्ष्मद्योतन है। भानपूर्वक स्थूल-द्योतन विज्ञानवृत्ति के प्रदेश में–बाह्य भान की मर्यादा में होता है एवं भानरहित सूक्ष्मद्योतन आन्तर वृत्ति के प्रदेश में–आन्तर भान की मर्यादा में होता है। इस विचार-द्योतन की यांत्रिक कार्यपरम्परा में हमें सैंकड़े पांच विचारों का भान होता है और पंचानवे विचार मनोराज्य में इन्द्रजाल का रूप धारण कर के पानी के बुलबुले समान वहीं के वहीं नष्ट हो जाते हैं। जीवन का जीवन, जीवन का विचलन एवं जीवन का रूपान्तर करनेवाली यही विचार की यान्त्रिक कार्यपरम्परा है।

हमारें शरीर में यन्त्र के समान विचारों का प्रवाह होता रहता है–यह अब विज्ञानद्वारा सिद्ध हो चुका है इस के यन्त्र बन चुके हैं और उन के द्वारा उस की गति का नाप

हो सकता है इस के लिये अब किसी को भी शंकित होना व्यर्थ है। इस का अनुभव लेना बहुत ही सुगम है–विचारों पर केवल लक्ष्य रखना ही पर्याप्त है। ऊपर लिखे अनुसार–सैंकड़े पांच भी वा मुश्किल–विचार के अक्षरों का हिसाब या गणना लगाना क्या है–उस के शुभाशुभ का परिणाम निकालना है और जीवनसंग्राम का अन्त करना है। विचारों की यांत्रिक क्रिया अप्रतिहत गतिमान् रहती है–वह कभी रुकती नहीं। उस की गति निद्रा में या और किसी भी बेहोशी में या क्लोरोफार्म आदि के प्रयोग में भी–एक क्षण के–निमिष के लिये भी बन्द नहीं होती; क्यों कि, विचार का प्रवाह ही जीवन है और उस का अवरोध ही मरण है!

आन्तर प्रदेश में चलनेवाली विचार की यांत्रिक क्रिया–एक प्रकार की पचन क्रिया एवं भूमिति के समीकरण की क्रिया के समान है। जैसे जठरस्थित आहार का परिपाक हो के उस का शरीर में समीभवन–Assimilation होता है–अर्थात् वह शरीर की नस नस में सम्मिलित हो के शरीर को चैतन्यता देता है वैसे ही विचारों का आन्तर-भान प्रदेश में परिपाक हो के उस चैतन्य को उत्तेजित कर के उस का विचलन करता है। जैसे बुरे भले आहार से शरीर पर बुरा भला परिणाम होता है वैसे ही बुरे भले विचारों का परिणाम हो के हानिलाभ होता है। सुन्दर विचार सौन्दर्य की वृद्धि करता है, बलवान् विचार बल की वृद्धि करता है; आनन्द विचार आनन्द की वृद्धि करता है, शान्त विचार शान्ति की वृद्धि करता है एवं बुरा विचार

बुराई की वृद्धि करता है, विरोधी विचार विरोध की वृद्धि करता है, मलिन विचार मलिनता की वृद्धि करता है और क्लिष्ट विचार क्लेश की वृद्धि करता है। जिन जिन विचारों का—आन्तरभान प्रदेश में परिपाक होता है—वे वे विचार चित्त के अणुओं के अंश हो के तद्रूप हो जाते हैं।

वाह्य जगत् के स्थूल यन्त्र—एंजिन, वेटरी, मोटर, हाइड्रोलिक, एयर पम्प, आदि मशिन्स् हम अपनी इच्छा से चला सकते हैं या वन्द कर सकते हैं। उन का कार्याकार्य सर्वथैव हम पर निर्भर है किन्तु आन्तर जगत् के सूक्ष्म यन्त्र को हम वैसे न चला सकते हैं और न वन्द ही कर सकते हैं। उस का चलना रुकना हमारे हाथ नहीं, इसी लिये उस से हम कोई भी काम नहीं ले सकते। यह वात स्पष्ट है कि—जव हम किसी यन्त्र को चला नहीं सकते या चला कर वन्द कर नहीं सकते तो, उस से हमारा क्या कार्य, क्या उपकार, क्या लाभ हो सकता है? पहिले तो वह यन्त्र क्या है, कैसा है और उस को कैसे चलाना चाहिये या वन्द करना चाहिये—हम मुतलक़ जानते नहीं और मुतलक़ उस का हमें ज्ञान ही नहीं। तो—हम उस को कैसे चलावें या रोकें? मेरे परम प्रिय आत्मीय सज्जनो! इसी लिये तो—यह इतना वडा ग्रन्थ लिख कर तुम्हारा समय लिया गया है। अगर तुम को—'ऐसा कोई यन्त्र है'—इतना खाली भान ही होता तो फिर, तुम्हें इतने वडे ग्रन्थ के पढ़ने में इतना समय ही क्यों खोना पडता? तुम्हारा महत्सद्भाग्य है कि—पाश्चात्य कर्मवीरों की सहायता से तुम्हें कुछ कुछ यान्त्रिक रचना का, यान्त्रिक

क्रिया का एवं यान्त्रिक गति का ज्ञान हुआ है और हो रहा है—तो, मित्रो, तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि—उस स्थूल यंत्रविद्या के अभ्यास के साथ साथ ही इस आन्तरिक सूक्ष्म यंत्रविद्या का भी अभ्यास कर के, उस के कल पुरज़ों को ठीक जान कर, उस को कार्य में लेने की पद्धति को—तुम्हें अवश्य जान लेना चाहिये—जिस से स्थूल यन्त्रों की अपेक्षा अनन्त, असंख्य, अगणित—जिस के लिये आज तक जगत् में कोई संख्या ही निर्माण नहीं हुई—लाभ होगा ।

भानपूर्वक—यथानियम—पद्धतिपूर्वक चलनेवाले विचार, श्रेणीवद्ध होते हैं । तर्कवितर्क, संकल्पविकल्प, भयसंशय, भ्रमसंभ्रम, लघुदीर्घ, उत्तमाधम, आदि विकारों में उन की परम्परा—शृंखला—Link टूट जाती है । जैसे रुई के गोले में से—पूणी में से यथानियम—पद्धति के अनुसार समान गति में तार निकाला जाता है तो वह वेखटके यथाक्रम, निकलता हुए चला जाता है । किन्तु गति में या उस की क्रमपद्धति में विपर्यास होते ही धागा टूट जाता है । वैसे ही हृद्यन्त्र में विचारद्योतन का लगातार चलना या टूट जाना या रुक जाना होता है—"खेदोल्लास-विलासेषु स्वात्मकर्तृतयाऽनया । स्वसंकल्पे क्षये याते समतैवावशिष्यते ॥ समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥"—खेद, आनन्द, विलास आदि में कर्त्तव्य के अनुसार अपने संकल्पों का क्षय हो जाने पर—शेष समता ही रहती है । वह समता सर्व भाव में 'सत्यपरा' अवस्था है । अर्थात्

वही 'परम अमृत' नामक समता बाक़ी रहती है। इस का अर्थ क्या है—जब सर्वकाल, किसी भी अवस्था, परिस्थिति, कार्य में, समविषम भावना में, शान्तिक्षोभ में—चित्त की साम्यावस्था रहती है—तब ही हृद्यन्त्र साम्यावस्था में—बहत्तर से लगा कर अस्सी तक Stroke—स्पन्द में नियमित चल कर कार्य में सुव्यवस्थित रहता है और पांच से पंचान्नवे अंश में उस का परिवर्त्तन हो के उस आन्तरिक सूक्ष्म यन्त्र का परिचय होते होते उस को चलाना रोकना या इच्छानुरूप उस से कार्य लेना साध्य होता है।

हेमिल्टन आदि कितने ही मानसशास्त्रियों ने मानसिक व्यापारों को—विचारद्योतन को बिलियर्ड के बाल—कन्दुक—गेन्द की उपमा दी है। हमारे यहां तो भगवान् वसिष्ठ ने आज हज़ारों वर्ष पूर्व ही—मन को कन्दुक की उपमा दे कर उस की क्रीड़ा का वर्णन किया है। बिलियर्ड के प्रथम गोल को उस की लकड़ी से आघात किया जाता है। अर्थात् उस में गति उत्पन्न होते ही वह गति बीच को गोल के आघात पहुंचा के आखिर के गोल को प्रचलित कर देती है। बीच का गोल अपने ही स्थान पर रहता है। इस में लकड़ी का आघात परावाणी का द्योतक है—क्यों कि उस के आघात से गति उत्पन्न होती है। प्रथम गोल पश्यन्ती का द्योतक है—क्यों कि आन्तरभान का द्योतन हो के आघात के साथ ही मध्यमा को गतिमान् करता है और मध्यमा में गति प्राप्त हो के वैखरी में विज्ञानवृत्ति का द्योतन होता है।

यह हृद्यन्त्र या मानसचक्र अनादि बीजभूत है और

वह नित्य अप्रतिहत गतिमान् है । उस का मूलबीज–अनादि गतिमान् केवल संकल्प ही है । संकल्प ही से सब सृष्टि का आविष्कार है । जैसे जैसे मनुष्य का विचार-द्योतन बढ़ता जाता है वैसे वैसे वह संकल्पविकल्पों के क्षयवृद्धि करने में समर्थ होता जाता है । यदि मनुष्य नियमित पद्धति के अनुसार विचारद्योतन की क्रिया सम्पादन करता है तो उस से ज्वलन्त इच्छाशक्ति Burning willpower उत्पन्न हो के वह पूर्व संकल्पों की अनेकता मिटा के विकल्पों को हटाने में पूर्ण सहायक हो कर विचारद्योतन के अनुसार कार्य का मूर्त्तस्वरूप बना देती है । जितना निरन्तर, जितना गहरा, जितना सूक्ष्म, जितना एकान्त, जितना सम्यक–विचारद्योतन होगा उतना ही उस के मूर्त्तामूर्त्त बनने में, सबल निर्बल बनने में, हानि लाभकारी बनने में और पराजयविजयी बनने में विलम्ब होगा या शीघ्रता होगी । क्यों कि–ओलिवर वेंडल होम्स के कहने के अनुसार–" The creating and informing spirit which is within us and not of us, is recoginzed everywhere in real life. It comes to us as a voice that will be heard; it tells us what we must believe; it frames our Sentences and we wonder at this visitor who chooses our brain as his dwelling place." उत्पादक और सूचक तत्त्व हम में होते हुए भी वह हमारा नहीं होता। यथार्थ जीवन में उस का सर्वत्र अनुभव होता है । हम सुन सकते हैं–ऐसे ध्वनि रूप से वह हमारे पास आता है । हम

क्या विश्वास करें—यह वह हमें कहता है, वह हमारे वाक्यों की रचना करता है और हम, इस अपने Visitor मुलाक़ाती—मिलनेवाले से आश्चर्यान्वित होते हैं कि जो अपना बसतिस्थान हमारे मस्तिष्क को पसन्द करता है। अर्थात् क्रमरहित, पद्धतिहीन, अविधिपूर्वक, अनियमित, विपरीत संकल्पों से यह दशा होती है। जैसे जैसे इस दशा का विलय हो के भानपूर्वक नियमित पद्धति के अनुसार विचार—द्योतन होता है वैसे वैसे उस का अनुभव होता है—' Hoping for the best and providing for the worst.' उत्तम संकल्प करना चाहिये और साथ ही कष्ट सहन करने के लिये तैयार भी रहना चाहिये।

सब का सार यह है कि—' Plain living and high thinking '—साधु जीवन के साथ ही उच्च संकल्प होना चाहिये जिस से महत्फल की प्राप्ति ' To effect highest end by the fewest means'—स्वल्प साधन द्वारा ही होती है। अर्थात्—' Man is good, or bad, great or small, rich or poor, according to what he has.'—मनुष्य का भला या बुरा, बड़ा या छोटा, श्रीमान् या दरिद्री होना उस की बाह्य उपाधि—विभूति—उपकरण पर निर्भर नहीं किन्तु उस के स्वस्वत्व, स्वगुण, स्वभाव पर निर्भर है और विचारद्योतन द्वारा मनुष्य को—"To the really great not only nothing is impossible but nothing is unattainable or unobtainable."—कुछ भी अशक्य नहीं किन्तु कुछ भी असाध्य वा अप्राप्य ही नहीं—इस का गूढ़ इतना ही है कि—' With true

manliness or spirit man is—"as having nothing yet possessing all things; while without it man though possessing all things really has nothing." विचारद्योतनरहित मनुष्य सर्व पदार्थसम्पन्न होने पर भी निःसम्पन्न दरिद्री है एवं विचारद्योतनसहित मनुष्य असम्पन्न होने पर भी सर्व वस्तुसम्पन्न श्रीमान् है क्यों कि—' Right is might' सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं—सब कुछ सत्य में भरा हुआ है । इस के सिवाय—'नान्यःपन्था विद्यते अयनाय '—कल्याण के लिये अन्य कोई मार्ग ही नहीं है और—'Righteousness is the best policy'-सम्यग्ज्ञान, सत्यज्ञान, विवेकख्याति ही सब सिद्धियों का मूल कारण है । महात्मा ईसा का भी यही कहना है—" Blessed are they which are persecuted for rightousness' sake for their's is the kingdom of heaven." वे पुरुष धन्य हैं जो सत्यता के लिये अन्य की ओर से परिताप सहन करते हैं । स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है ।

इस ग्रन्थ को आद्योपान्त लक्ष्यपूर्वक कई वार पढ़ जाने पर और जगत् के वाह्य जगत्—जगत् की अभिव्यक्ति और जगत् के व्यवहार को जान लेने पर—आन्तर जगत् के विचार—विचारशक्ति, विचारसंयम, विचारसंस्कार, विचारसिद्धि से ज्ञात हो जायगा कि विचार क्या है एवं आगे विचारपरिशीलन के सामर्थ्य, जिज्ञासा, श्रद्धा, सद्गुरु, संगति, अभ्यास, चरित्र, विश्वव्यापीप्रेम, अभ्यासक्रम, दिनचर्या आदि के सम्यगवलोकन से विचारद्योतन स्वयमेव सिद्ध हो जायगा । हम प्रतिज्ञा के साथ कहते हैं कि—

खाली इस ग्रन्थ का पठन ही तुम्हें अपने हृद्यन्त्र का परिचय करा के, उस की कुंजी तुम्हारे हाथ में दे देगा और तुम यत्परोनास्ति सामर्थ्यशाली वन कर सर्वतोपरि इहलोक में वैभवशाली वन जावोगे एवं स्वाराज्य के सम्राट वन जावोगे ।

ग्रन्थों का परिचय 'संगति' में पूर्णतया हम दिला चुके हैं तो भी—विचारद्योतन की सिद्धि के लिये—अपनी इच्छा के अनुसार तुलसी कृत रामायण, श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीसप्तशतीचण्डीदुर्गा का पाठ तुम्हें नित्य करना चाहिये । पूरा पाठ तो कहां से—किन्तु भक्तियुक्त श्रद्धापूर्वक जितना हो उतना नियमपूर्वक करना चाहिये । अथवा एक आध दोहा चोपाई, श्लोक, श्लोकार्ध का हो सके उतना पाठ अवश्य करना चाहिये । पाठ करने की शक्ति न हो या उस में के एक अक्षर को भी जानने की शक्ति न हो या तुम कुछ भी पढ़े लिखे न हो और अक्षर किस चिड़िया का नाम है यह भी तुम्हें मालूम न हो तो भी—उक्त तीन पवित्र ग्रन्थों में से किसी एक का छोटा गुटका नित्य अपने पास रखना चाहिये । वैठते उठते, फिरते हिरते, खाते पीते, सोते जाते, लेते देते, वोलते चालते—वह नित्य निरन्तर तुम्हारे पास रहना चाहिये । उस के नित्य निरन्तर तुम्हारे पास रहने ही से—तुम्हारे विचारद्योतन की शक्ति वढ़ने में और तुम्हारे इच्छित कार्यसम्पादन में वड़ीभारी सहायता प्राप्त होगी और सव कुछ शुभ ही शुभ एवं कल्याण ही कल्याण होगा ।

अब इस विचारद्योतन के लिये नियमित पद्धति के अनुसार आकर्षणशक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता है और उस की प्राप्ति के लिये—

१ प्राइवेसी—Privacy—अन्तरंगता, खानगीपन।

२ सेक्रेसी—Secrecy—एकान्तता, रहस्यपालन।

३ मिस्ट्री—Mystery—भेद, रहस्य, मर्म।

४ माडरेशन—Moderation—मृदुता, संयम, मिताचार।

५ कान्सेन्ट्रेशन—Concentration—एकाग्रता।

६ सजेस्टिव्नेस—Suggestiveness—द्योतनक्रिया, सूचनापद्धति।

७ फिक्स्ड गेज़—Fixed gaze—स्तब्धदृष्टि।

प्राइवेसी और सिक्रेसी—अन्तरंग एकान्तता और गुप्तमार्मिकता—अन्तरंग गुप्त खानगी मन रखकर गुप्त रीति से हर एक कार्य का, विषय का और बात का मर्म, भेद, भाव जानना चाहिये, कभी अधीर न होना चाहिये और शीघ्रता भी न करना चाहिये। हर एक विचार गुप्त रखना चाहिये। बहुत सुनना, थोड़ा बोलना, दूसरों का भेद लेना किन्तु अपना न देना चाहिये। भविष्यत् में क्या करना है यह कभी न प्रकट करना चाहिये, कार्यक्षेत्र को गुप्त रखना चाहिये किसी वक़्त भी ज़ोर में आकर या धैर्यहीन हो कर या उदासीन बन कर कभी आत्मभाव, आत्मभान और आत्मद्योतन का प्रकाश न करना चाहिये—अर्थात् अपना मनोराज्य, मनोरथ, मनोभाव जहां तहां हर किसी के पास व्यक्त न करना चाहिये।

विचार पर पूरा क़ाबू रखना चाहिये जिस से तुम लोह-चुम्बक के समान बन सकते हो—और जो मनुष्य डरपोक, जल्दबाज़, शक्की, अविश्वासी, धर्म-कर्महीन, असत्यवादी, लोभी लालची होते हैं—उन्हें लोह समान तुम अपनी तरफ़ खैंच सकते हो और उन्हें गुलाम बना सकते हो। क्यों कि तुम विचारद्योतन से बलवान् पाज़िटिव Positive बन जाते हो और वे विचारद्योतनरहित होते हैं इस लिये वे निर्बल नेगेटिव Negative बन जाते हैं जिस से वे निरन्तर Passive तृष्णायुक्त निष्क्रिय रहते हैं।

मिस्ट्री और माडरेशन—अपना भेद किसी को देना नहीं। जो अपना भेद मर्म—रहस्य गुप्त रखता है—प्रसंगवशात् हर किसी को उस के जानने के लिये, समझने के लिये—अधिक इच्छा या प्रबल उत्कण्ठा होती है और हर कोई उस को खोलने के लिये बहुत कोशिश करता है। यह उस का कोशिश करना—भेद न देनेवाले को पाज़िटिव Positive सबल बनाता है और निज की विचारशक्ति को खो कर उस का नेगेटिव Negative निर्बल बनाता है। इसी लिये अपने दुखदर्दों का कभी किसी के पास उच्चारण तक नहीं करना, न किसी से प्रशंसा प्राप्त करना और न किसी का सहायही चाहना। इच्छाशक्ति का बलाबल जान कर तुम्हें अपने ही को बलवान् जानना चाहिये—'Don't air your grievances, seek not sympathy or flattery. Recognize the force in every desire and make that force your own.'—तुम्हें अपने हरएक विचार, इच्छा, कार्य को इतना गुप्त रखना

चाहिये कि–उस की सिद्धि, फल, परिणाम ही उस को प्रकाशित करे–उस के पहिले उस का भेद कोई न जान सके। नेपोलियन, वेलिंगटन, नेलसन, ग्लेडस्टन, चाणक्य, शिवाजी, नानाफ़डनवीस और ऐसे कितने ही महापुरुष अपने भेदों को इतने गुप्त रखते थे कि–समय आने पर औरों पर अपना विचारप्रवाह Thought current चला कर उन्हें आकर्षित कर के उन पर विजय प्राप्त करते थे। आइरिश महात्मा चारलस स्टुवर्ट पारनेल–इसी अपने विचारप्रवाह में सारी पार्लियामेन्ट को हिला देता था। एडमण्ड वर्क और लार्ड मेकाले का सब को हिलाना सभी जानते हैं। गंभीरता और गुप्त एकान्तता औरों को अपनी तरफ़ खैंचनेवाली अद्भुत लोहचुम्बक शक्ति है किन्तु उस को प्रथम Moderation मृदुता से अर्थात् शान्ति के साथ वढ़ाना चाहिये। किसी कार्य में शीघ्रता न करनी चाहिये और विलम्ब भी न करना चाहिये। अपने कार्य में पूरा विश्वास रख कर उस में तदाकार होना चाहिये–'One who knows exactly what he wants and is in no hurry, because he is confident that he will get it.'

कान्सेन्ट्रेशन और सजेस्टिवनेस—एकाग्रता और द्योतनपरता। इच्छाशक्ति–Willpower–पूर्व संकल्प को धीरे धीरे Burning desire ज्वलन्त उत्कण्ठा का रूप दे कर–बढ़ा कर उस को एकाग्र–एक ही विषय पर स्थिर करना चाहिये, जिस से द्योतनक्रिया में वलवृद्धि हो के उस का मूर्तस्वरूप वन कर कार्यसिद्धि सम्पादन हो।

'Every desire is a mental current leden with power'–प्रत्येक इच्छा में आत्मशक्ति ओतप्रोत भरी हुई रहती है–उस को एकाग्रता द्वारा ख़ूब वढ़ाना चाहिये। प्रकृति का नियम है कि–जिस विषय या पदार्थ की जिस को विशेष आवश्यकता, चाहना, दरकार रहती है वह उस से दूर दूर होता जाता है और जिस विषय पदार्थ की जिस को मुतलक़ आवश्यकता, चाहना, दरकार नहीं रहती है वह उस के नज़दीक नज़दीक आता जाता है। जो मनुष्य धन मान के लिये विशेष लोभी होता है उस को वहुत थोड़ा धन मान प्राप्त होता है–यही प्रकार सव पदार्थों के लिये है–'Those who seek flattery most eagerly get the least, because they do not retain and conserve the force which attracts that form of mental current.' विचारद्योतन द्वारा मानसिक शक्ति वढ़ने ही से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि का सुख, शान्ति, निरिच्छा, ज्ञान, निरभिमान प्रीति आदि में परिवर्त्तन हो के, उन का रूपान्तर हो जाता है और सच्ची इच्छा का वल वढ़ कर सव पर विजय की प्राप्ति होती है। वाल्टर डिहो Walter De Voe का कहना है कि–"You are a magnet for whatever you desire and things gravitate toward you and you toward them by law of attraction."–तुम स्वयं आकर्षक हो–जो कुछ तुम चाहते हो उस को गुरुत्वाकर्षण द्वारा तुम अपनी तरफ़ खेंचते हो और आकर्षण के नियमानुसार तुम उस तरफ़ खिंचते हो।

फ़िक्स्ड गेझ़—स्तब्धदृष्टि—जब विचारद्योतन सूत्रबद्ध हो के कार्य में परिणत होता जाता है तब स्वयमेव ही मनुष्य की आंखों की पलकें बहुत कम गिरती हैं। ॐ ऐं, ह्रीं या क्लीं या इष्टमूर्त्ति, या आइने में अपनी आंखों पर या अपने फ़ोटो पर या और कोई पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करना चाहिये या चलते फिरते, बैठते उठते इस पर लक्ष्य रखना चाहिये। आंख की आकर्षणशक्ति बहुत ही प्रबल होती है। मनुष्य तो क्या—मनुष्यभक्षक प्राणियों को भी उस का छोटा सा आघात आकर्षित कर के ग़ुलाम बना लेता है। इसी के द्वारा मेस्मेरिझम्, हिप्नोटिझम्, आदि वशीकारविद्यायें साध्य होती हैं। अपने अपने धर्म के एवं इष्ट के अनुसार किसी आलम्बन, मन्त्र, मूर्ति, पुस्तक, चित्र, सत्पुरुष आदि को प्रत्यक्ष या मानसिक सामने ले कर—"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।"—यह आलम्बन श्रेष्ठ है, परम है ऐसा जान कर मनुष्य ब्रह्मलोक में पूज्य होता है—इस कठोपनिषत् की उक्ति के अनुसार दृढ़ भावनापूर्वक—जिस किसी कार्य को साध्य करना हो उस में विचारद्योतन का लगातार लगाना चाहिये अर्थात् दिनरात, समय समय उस को प्रत्यक्ष या मानसिक सामने ले कर उस पर लक्ष्यवेध करना चाहिये—"By connecting thought and act by an appropriate mechanical sign or symbole; you are doing consciously and purposefully what nature causes every one to do instinctively and unconsciously."—किसी

योग्य—अनुरूप धार्मिक—स्वस्तिक ओंकारादिक चिन्हों के आलम्बन द्वारा विचार और उस की क्रिया को संयुक्त कर के—जो वात प्रकृति, हरएक से अज्ञात और स्वाभाविक रीति से कराती है, वही वात तुम जान वूझ कर और अस्वभाविक रीति से करते हो । किसी मनुष्य से कोई काम लेना हो तो—रात्रिसमय में उस का या उस के फ़ोटो का आलम्वन कर के उस की निद्रावृत्ति में विचारों की प्रेरणा करना चाहिये । मनुष्य जिस वक्त निद्रावृत्ति में होता है उस वक्त उस के विचार भी निद्रित अवस्था में रहते हैं इस लिये तुम्हारे जाग्रत् विचारों का उस के निद्रित विचारों में झट प्रवेश हो कर उस को नेगेटिव—निर्वल वना के वे पाझेटिव—सवल वन के उस से जाग्रत् अवस्था में इच्छित कार्य करा सकते हैं ।

किन्तु नित्य स्मरण रखना चाहिये कि—जैसा वोवोगे वैसा पावोगे । भला चीतोगे तो भला होगा । बुरा चीतोगे तो बुरा होगा । तुम किसी का धिक्कार करोगे तो तुम्हारा धिक्कार होगा । किसी को दुख दोगे तो तुम दुखी होगे । किसी को बुराभला कहोगे तो तुम्हें बुरा भला सुनना होगा । इत्यादि वातों पर खूब लक्ष्य रख कर—दूसरे को बुराई, नुक़सान, दुःख, त्रास देनेवाले विचार तुम्हें ही बुराई, नुक़सान, दुःख, त्रास देंगे । बुरे विचार बुराई का आकर्षण कर के तुम्हें ही बुरा करेंगे । पहिले ही तुम में इतने बुरे विचार भरे हुए हैं कि—तुम्हारे मस्तक में वाल वरावर भी कहीं जगह खाली नहीं है । फिर वार वार उन्हीं का संचय करोगे तो—शायद

तुम्हारा मस्तक टूट फूट कर तुम्हें उस के नीचे दब कर सदा के लिये मर जाना होगा!

विचारद्योतन के तीन प्रकार हैं–

१ पेसिमिज़्म्–Pessimism–अर्थात् निराशाभिभूत–निर्वेदात्मक–निरुत्साहजनक, अशुभवाद।

२ अप्टिमिज़्म् Optimism अर्थात् आशाशियुक्त–अनिर्वेदात्मक–उत्साहजनक, शुभवाद।

३ अग्नोस्टिसिज़्म् Agnosticism अर्थात् यह भी नहीं और वह भी नहीं–अज्ञेयवाद।

प्रथम श्रेणी के विचारद्योतन से द्योतक का अशुभ होता है अतएव अशुभ विचारों का निषेध किया गया है–उन का द्योतन कभी न करना चाहिये। अर्थात्–'मैं कुछ नहीं कर सकता' 'मेरे कुछ करने के लायक़ नहीं,' 'जो होना होगा सो होगा' 'मैं कुछ चीज़ नहीं,' 'मेरे बुरे दिन हैं'–आदि निरुत्साह–जनक विचार–निराशामिवाद का करना स्वाभाविक शरीरधर्म है और प्रत्येक मनुष्य का हृद्यन्त्र इसी कुंजी से शुरू होता है।

द्वितीय श्रेणी के विचारद्योतन से द्योतक का शुभ होता है अतएव शुभ विचारों को ग्राह्य किया गया है–उन का द्योतन नित्य करना चाहिये। अर्थात्–'मैं सब कुछ कर सकता हूं,' 'मैं सब कुछ करने लायक़ हूं' 'सब कुछ होना जाना मेरे हाथ है' 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूं' 'मेरा नित्य मंगल है' आदि उत्साहजनक विचार–आशामिवाद का करना–अस्वाभाविक शरीरधर्म है और प्रत्येक मनुष्य

का हृद्यन्त्र निराशाभिवाद कुंजी से खुलता है किन्तु उस को आशाभिवाद से फिर बन्द कर के उसी से उस को प्रचलित रखना चाहिये ।

तृतीय श्रेणी के विचारद्योतन से द्योतक का कुछ भी शुभाशुभ नहीं होता अर्थात् वहां द्योतन का द्योतन ही बन्द हो जाता है । प्रथम और द्वितीय श्रेणी के द्योतन का स्वयमेव लय हो जाता है—"आत्मसंस्थः मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्" आत्मा में मन को लीन कर के कुछ भी चिन्तन करने का नाम ही अग्नोस्टिक विचारश्रेणी है । इस में मन निर्विकल्प—कोरा रखना होता है । यह 'नेति नेति' भावना है, और निर्विकल्पसमाधि का महासाधन है ।

इन तीनों अवस्थाओं में से प्रथम अवस्था में तो मनुष्य का जन्म होता है, द्वितीयावस्था में मनुष्य का जीवन होता है और तृतीयावस्था में मनुष्य का लय होता है । प्रथम श्रेणी अनियमित है, द्वितीय श्रेणी नियमवद्ध है और तृतीय श्रेणी सब नियमानियमों से अतिक्रान्त है ।

विचारद्योतन के आरम्भ ही में द्योतन का रूपान्तर आत्मद्योतन Anto suggestion अपने पर अपनी भावना—आज्ञा है—कहा है । आत्मद्योतन से शरीर के प्रत्येक अवयव पर अपनी सत्ता—क़ाबू हो सकता है । अर्थात् हम चाहे जिस प्रकार अपने अवयवों का उपयोग कर सकते हैं । शारीरिक मानसिक शक्ति वढ़ा सकते हैं । हम अपनी वुरी आदतें, वुरा वरताव असभ्य वर्त्तन को हटा सकते हैं एवं दवा—औषधि के सिवाय रोगों को मिटा सकते हैं । इस के लिये कोई ऐसी वड़ी कठिन क्रिया या विधिविधान

नहीं है। शरीर के किसी भाग में कुछ भी दुखदर्द हो तो–वहां लक्ष्य जमा कर उस दुःख या दर्द को सम्बोधन कर के जैसे किसी मनुष्य के साथ बोल रहे हैं–उसी प्रकार मन ही मन उस को आज्ञा–हुक्म करना चाहिये कि–'तुम यहां से निकल जावो, चले जावो–वरना हम तुम्हें जबरन् निकाल देंगे,–आदि वार वार हुक्म करना चाहिये। उस दुःखदर्द की जगह पर इस प्रकार का विचारप्रवाह होते ही आप ही आप वह कम होते होते नावूद हो जायगा। इस का कारण यह है कि तुम्हारे हृद्यन्त्र में विद्युत् की वेटरी है–यह तुम जानते ही हो–तुम्हारा हुक्म करना उस का करन्ट Current चलना है। पीछे इस का वहुत वर्णन हो चुका है। जिस जगह पर विचार का द्योतन वार वार जोर के साथ होता है उस जगह पर रक्ताभिसरण वहुत तेजी के साथ होता है। रक्त का तेजी के साथ वे रोकटोक वहुत सरल सीधा घूमना ही 'आरोग्य' है। वस यही–आत्मद्योतन है। इस का दिनचर्या में वहुत कुछ विवरण हो चुका है और विशेष विवरण द्वितीय खण्ड के 'जीवात्मा' विभाग में होगा।

ऊपर की तीन श्रेणीयों में से प्रथम के लिये तो विशेष कहने की आवश्यकता ही नहीं है क्यों कि, वह तो स्वभाव-सिद्ध है उस को वनाना नहीं होता वल्कि मिटाना होता है, द्वितीय श्रेणी को वनाना होता है उस के मिटाने की आवश्यकता ही नहीं है और तृतीय श्रेणी के लिये तो साफ है कि उस को न तो वनाना होता है और न विग-ड़ना ही होता है। इन तीनों श्रेणियों में विचारद्योतन का

रूपान्तर आत्मद्योतन में हो सकता है जिस में व्यावहारिक कार्यों में विशेष उपयोगी द्वितीय श्रेणी Optimism है क्यों कि, सब जगत् का व्यवहार आशावाद–अनिर्वेद–औत्सुक्यजनक क्रिया पर निर्भर है–सिवाय किसी आशा के, सिवाय किसी उत्साह के, सिवाय किसी प्रेरणा के किसी भी कार्य में, किसी भी कर्म में, किसी भी क्रिया में गति, विगति, प्रगति होती नहीं और न उस का उपयोग ही होता है । इसी लिये उस को साध्य करने में कुछ प्रारम्भिक नियमों का यहां दिग्दर्शन करते हैं । पाठकों को उन पर अवश्य लक्ष्यप्रदान करना चाहिये—

१ कुल, जाति, देश, काल, धर्मानुसार चलना चाहिये ।

२ अपने कुल, जाति, देश, धर्म को पूरा जान लेना चाहिये ।

३ अपने धर्म, आचार, विचार पर पूर्ण आरूढ़ रहना चाहिये ।

४ माता, पिता, ज्येष्ठ बन्धु, पितृव्य–गुरु जनों की शरण में रह कर दिनचर्या का दृढ़ पालन करना चाहिये ।

५ गुरु शास्त्र के वचनों को नित्य सुनना चाहिये, उन का अभ्यास करना चाहिये और उन पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये ।

६ उन के वचनों को, प्रमेयों को, भावों को–त्रिकालवाधित सत्य आप्तवचन मानना चाहिये ।

७ इस ग्रन्थ के समान अनेक ग्रन्थों को पढ़ सुन कर उन का सार ग्रहण कर के खूब मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ।

८ सर्व काल सत्संगति में रह कर अध्यात्मविद्या की उन्नति के साथ अपनी शारीरिक और आत्मिक उन्नति करना चाहिये।

९ कभी निराश न होना चाहिये, धैर्य का त्याग न करना चाहिये और ईश्वर को क्षण भर भी न भूलना चाहिये।

१० किसी भी काम को यत्नपूर्वक दृढ़ता से करना चाहिये और उत्साह से उस में चित्त को लगा रखना चाहिये। सिवाय सफलता और विजय के किसी संशय की कल्पना या भान तक न होने देना चाहिये।

११ जिन को निश्चय, श्रद्धा, उत्साह नहीं होते हैं वे वहुधा हर एक काम में, विषय में, वात में गिर जाते हैं। उत्साहहीन मनुष्य का कभी कल्याण नहीं होता। लक्ष्मी, सन्मान, विजय प्राप्ति के लिये ईश्वर की सहायता लेकर पूर्ण उत्साह से प्रयत्न करना चाहिये।

१२ चारों ओर निरीक्षण करते हुए, अपने उद्योग की वृद्धि करते हुए, उन्नति में पैर रखते हुए—उस में नित्य नया आविष्कार करने की दृढ़ भावना करना चाहिये और तन मन धन से उस की खोज़ में लगे रहना चाहिये।

१३ नवीनता का चित्त में भाव जम जाने पर—पूरी खोज, अन्वेषण, गवेषणा आप ही आप हो के नवाविष्कार हो कर कार्य की सफलता होती है इस लिये चित्त पर नित्य नवीनता का भान हो के उस का उदय होना चाहिये।

१४ किसी काम के करने की इच्छा होने पर उस के योग्यायोग्य, साध्यासाध्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर के आरम्भ से लगा कर अन्त तक निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये कि—'यह कार्य मैं अवश्य करूंगा।' अर्थात् कार्य की सफलता, सिद्धि, कामयावी का ही हृदयत्र में भान, संवेदन, स्फुरण होता रहना चाहिये ।

१५ अपने किसी भी काम के लिये—किसी को भी किसी की सिफ़ारिश पहुंचाना या किसी की ख़ुशामद करना या किसी की गुलामगिरी करना—यह बिलकुल कमज़ोरी है, नाताक़ती है और ना कामयावी है। ऐसा करने से ईश्वर कभी सहायक होता नहीं और न कभी इच्छित ही साध्य होता है। इस लिये ऐसा कभी न करना चाहिये।

१६ किसी वक्त कोई तुम्हारी निन्दा करे या तुम्हें बुरा कहे या तुम से बुराई करे तो—

" तू भला है तो बुरा हो नहीं सकता, ऐ जौक़ !
है बुरा वह ही जो तुझ को बुरा जानता है,
और अगर तू ही बुरा है तो वह सच कहता है—
क्यों बुरा कहने से तू उस के बुरा मानता है ?"

इस जौक़ के कहने के अनुसार तुम्हें शान्ति रख कर अपनी समालोचना करना चाहिये और अपने उपर के आरोपों को मिटाना चाहिये।

१७ समागम—किसी के साथ सहवास होने से—इच्छा प्रबल होती है, इच्छा की पूर्त्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से संमोह होता है, संमोह से बुद्धिभ्रम होता है और बुद्धि में भ्रम होने से मनुष्य का मरण होता है—इस लिये—किसी बुरी भली सोहवत से बचना चाहिये और सावधानी के साथ किसी के साथ वर्त्तन करना चाहिये।

१८ आजकल जीवनसंग्राम में अनेक कठनाइयां, अनेक झंझट, अनेक उलझनें अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं—इस लिये अपने कुलधर्म पर आरूढ़ रह कर ईश्वर को निरन्तर अपने साथ रख कर, नित्य अपने कर्त्तव्य में सावधान रह कर, विश्वधर्म का निरीक्षण करते हुए, विश्वप्रेम की भावना करते हुए—दृढ़ता के साथ विश्व का विजय सम्पादन करना चाहिये।

१६ पृथ्वी भर के धर्म ईश्वर के हैं और ईश्वर पृथ्वी भर के धर्मों का है—इस लिये किसी धर्म की निन्दा, बुराई या द्वेष न करना चाहिये। कभी कहीं किसी धर्माधर्म मतमतान्तर के वादविवाद में न पड़ना चाहिये। चाहे किसी का कुछ भी धर्म हो, मत हो और व्यवहार हो—सहायता करना चाहिये, एकता करना चाहिये, प्रेम करना चाहिये, सहानुभूति सम्पादन करना चाहिये और विश्वप्रेमी बनना चाहिये।

२० विश्वधर्म, विश्वप्रेम और विश्वविजय का पाठ, अभ्यास और मनन नित्य करना चाहिये । दिनरात 'शान्तिरस्तु, पुष्टिरस्तु, तुष्टिरस्तु'—का पाठ घोखते घोखते—हृदयत्र में से सब का कल्याण, सब का सुख, सब का आनन्द, सब का आरोग्य, सब का ऐश्वर्य, सब का कुशल प्रवाहित कर के निरन्तर उस का शुभद्योतन करना चाहिये । किसी भी समय किसी के साथ—किसी के बुराई करने पर भी असद्विचारों का Current प्रवाह नहीं बहाना चाहिये ।

संक्षेप में सार यह है कि—विचार ही से जगत् की उत्पत्ति है और विचार ही से हमारा जन्म स्थिति मरण है तो विचार ही को हमें शुद्ध, पवित्र, उत्साहित कर के सद्विचारी बनना चाहिये । अश्रद्धा, संशय, आलस, स्तब्धता, औदासिन्य, मूढ़ता आदि आसुरी सम्पत्ति का उदय होते ही—तत्काल—कैसा ही क्यों न कार्य हो—क्षणभर के लिये अलग कर के, बिलकुल, शिथिल हो के ॐ, ह्रीं, क्लीं, श्रीं का जप या अपने धर्म के अनुसार या सद्गुरु के दिये हुए उपदेश के अनुसार या अपनी मनोवृत्ति के अनुसार किसी अक्षर, चिन्ह, नाम का स्मरण करते हुए भगवान् की तरफ़ लक्ष्य लगाना चाहिये । यह बिलकुल निश्चित, बिलकुल सिद्ध, बिलकुल तथ्य हो चुका है कि—कोई भी अक्षर, आकृति, चित्र, फ़ोटो सामने रखने से या उस का ध्यान में लक्ष्य करने से बुद्धि, तर्कशक्ति, विवेचकशक्ति, पृथक्करणशक्ति, अवधारणशक्ति एवं मूल-तत्वों को जानने की शक्ति का विकास होता है । सि०

ब्रायन्ट D. D. Bryant लिखते हैं कि—"Meditation upon the form and meaning of a single letter has often started a train of thought in my mind utterly foreign to anything I had ever read or heard of thought that was recorded as fancy, but afterwards verified by philological and archeological research."—एक ही अक्षर की आकृति पर और उस के अर्थ पर मन को एकाग्र करने से पहिले मैं ने कभी न पढ़े थे या न सुने थे—ऐसे विचारों की श्रेणी मेरे मन में कई वार प्रेरित हुई है । इन विचारों को मन के तरंग जान कर मैं ने लिख रक्खे थे किन्तु वे सब विचार सत्य सत्य थे—ऐसा भाषासंबन्धी और प्राचीन वस्तु संशोधनसम्बन्धी शोध—अन्वेषण होने पर सिद्ध हुआ था।

हमारे यहां आज प्राचीन काल ही से हमारे प्राचीन पूर्वजों ने ऐसे कई अक्षर, शब्द, वाक्य, अंक आदि से मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र बना रक्खें हैं और उन में सामनी अपार विद्युच्छक्ति भर के उन को सिद्ध बना रक्खा है। हम अपने दुर्भाग्य से उस का रहस्य, उस का गूढ, उस का भाव नहीं जानते अर्थात् आजकल प्रत्यक्ष हमारे सामने विद्युत् हमारे हाथों पर नाच रही है तो भी हमारा लक्ष्य उधर आकर्षित नहीं होता जिस वक्त हम पार्मेटिव नेगेटिव—सबल निर्बल दोनों तारों की क्रिया को जान लेंगे उसी वक्त हमें मंत्र, तंत्र, यन्त्रों का तत्काल दृश्य दिखाई देने लग जायगा। पार्मेटिव नेगेटिव अलग अलग हैं तब तक कोई कार्य है ही नहीं उन का संयोग—समीकरण—एकी-

करण ही विद्युत्प्रवाह Current चलता है । जब तक मंत्र-तंत्रयंत्रादिक हम से अलग हैं, हमारा उन का—समीकरण, एकीकरण नहीं है तो—ऐसे मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र सैंकडों क्या हज़ारों हमारे पास होते हुए भी उन का हमें यत्किंचित् ही उपयोग या अनुभव नहीं होता । इसी लिये उन पर हमारी अश्रद्धा हो के उन का उपयोग करना तो दूर हम उन की तरफ़ लक्ष्य देते नहीं और उन का स्मरण तक करते नहीं ।

हम यहां एक अक्षरांकयुक्त यन्त्र का उद्धार करते हैं और साथ ही प्रतिज्ञा भी करते हैं कि—ऊपर लिखे अनुसार इस पर दृष्टि स्तम्भित करने से या ध्यान में लक्ष्य-वेध करने से—विचारद्योतन में इस का नित्य आवाहन करने से—रोगनिवारणादिक शारीरिक और पठनपाठनादिक मानसिक और धनकनकादिक सांसारिक अनेक कार्य—बहुत सरलता से—बहुत सुगमता से सम्पादित होते हैं—

ॐ ऐं ॐ

ॐ				ॐ
ॐ	१	९	१०	ॐ
ह्रीं	१४	७ २ ॐ ३ ८	६	श्रीं
ॐ	५	११	४	ॐ

ॐ क्लीं ॐ

इस यन्त्र को बहुत ही शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक अच्छे काग़ज़ पर लाल स्याही से लिख कर, कार्डबोर्ड पर

चिपका कर कुछ दिन नित्य सामने रखना चाहिये अनन्तर दृष्टि जम जाने पर फिर इस का ध्यान ही में लक्ष्यवेध कर के द्योतन द्वारा सब कामनायें पूर्ण कर लेनी चाहिये। इस में 'ॐ' तो–'ॐ कार एवेदं सर्वम्'–है ही। 'ऐं' वाक्सिद्धिमन्त्र है, 'ह्रीं' चिन्तामणिमन्त्र है, 'क्लीं' संकल्पसिद्धिमन्त्र है और 'श्रीं' सौभाग्यसिद्धिमन्त्र है। ॐ का वास, सारे शरीर में है, ऐं का वास कण्ठ में है, ह्रीं का वास हृदय में है, क्लीं का वास–नाभि में है। और श्रीं का वास मुख में है। ॐ, ऐं, ह्रीं, क्लीं, श्रीं–अक्षरों ही के सदृश–शरीर, कंठ, हृदय, नाभि और मुख की रचना है और समान आकृति है। परा का उदय क्लीं से है, पश्यन्ती का उदय ह्रीं से है, मध्यमा का उदय ऐं से है, वैखरी का उदय श्रीं से है और इन सब का उदय, प्रकाश, प्रसार और कार्य ॐ से है। जब इन बीजाक्षरों का लक्ष्यवेध हो कर जिस उस उन के स्थान पर उन का संयम हो के एकाग्रता हो जाती है तब फिर किसी कार्य के सम्पादन में विलम्ब और संशय ही क्या है?

वैसे ही इस के प्रथम खाने में एक है–वह ब्रह्म–'आत्मा' का द्योतक है, दूसरे खाने में नौ है–वह नवनिधियों का द्योतक है, तीसरे खाने में दस हैं वह 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'–अर्थात् अनन्तत्व का द्योतक है, चौथे खाने में चौदह हैं–वह चौदह भुवन के द्योतक हैं, पांचवें खाने में ओं के चहुं ओर प्रथम–सप्त–'सप्त व्याहृति', दो–बाह्य और आन्तर जगत्, तीन–सत्व रज तम, और आठ–पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार घिरे हुए हैं,

छटे खाने में छ हैं–वह आन्तर जगत् । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का द्योतक हैं, सातवें खाने में पांच हैं–वह पंचतत्व के द्योतक हैं, आठवें खाने में ग्यारह हैं–वह दश इन्द्रिय और मन के द्योतक हैं । इस का मर्म–सार यह है कि–आत्मा में नवविध–धनमाल खजाना भरा हुआ है और वह चौदह भुवनों में व्याप्त हो कर भी दश अंगुल बाक़ी है अर्थात् अनन्त है । वहीं ॐ है एवं उस के चारों ओर 'सप्त व्याहृति' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से बना हुआ आन्तरवाह्य जगत्, त्रिगुणात्मक अष्टधा प्रकृति से घिरा हुआ है–जिस के जानने से कामक्रोधादिक षड्रिपुओं का नाश हो कर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पंचतत्वों पर सत्ता होती है और धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है । साधक जब इस यन्त्र का पूरा अर्थ जान कर उस में द्योतन का भाव पूर्णतया स्थिर कर लेगा तो फिर किसी कार्य के सम्पादन होने में क्या देर है ।

अ–द्योतनक्रिया ।

यह क्रिया विविध प्रकार के बने हुए विचारचित्रों द्वारा सम्पादित होती है । इस के अनेक प्रकार हैं । वे सब यहां नहीं लिखे जा सकते हैं तो भी उस का कुछ दिग्दर्शन किया जाता है जिस से हमारे प्रिय पाठक बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं–इस का सविस्तर विवेचन द्वितीय-खण्ड के जीवात्माविभाग में होगा और वह बहुत ही सुन्दर, रमणीय और उपादेय होगा ।

मैं परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर का अंश हूं।

ø ø ø

उस के और मेरे अस्तित्व में कुछ भी भेद नहीं।

ø ø ø

मैं सर्वत्र प्रकाशमान् परिपूर्ण हूं।

ø ø ø

मैं सब का उत्पादक, परिपालक और संहारक हूं।

ø ø ø

जलाशय के जल में और अंजलि में लिये हुए उसी जल में सिवाय सीमा के—उस के तत्व, स्वभाव, गुण, शक्ति में कुछ भी भिन्नता नहीं है।

ø ø ø

मैं अपने जीवनपोषक द्रव्य का नियमित आकर्षण करता हूं जिस से मेरा शरीर और मानसिक बल खूब बढ़ रहा है।

ø ø ø

मुझ में सुखशान्ति का खूब भान हो रहा है। मैं अपने मानसस्वरूप का ईश्वर के स्वरूप में रूपान्तर कर रहा हूं—इस लिये मैं प्राणिमात्र को उदारभाव से देखता हूं।

ø ø ø

मैं सर्वत्र प्रकाश को देख रहा हूं। प्रत्येक जीवजन्तु प्राणि को शुभदृष्टि से देखता हूं, उन में ईश्वरभाव व्यक्त करता हूं एवं प्रेम, पूजा, भक्ति को बढ़ाता हूं।

ø ø ø

मैं नित्य हूं, आत्माराम हूं, सुखमय हूं, अनिर्वेद हूं, उत्साह पूर्ण हूं, और सर्वत्र शान्त हूं। मैं उन्नत हूं और सब को उन्नत

कररहा हूं। सब पर प्रेम कर रहा हूं। सब का आनन्द-मंगल कर रहा हूं और सब को ईश्वर का भान करा रहा हूं।

ø ø ø

मैं स्वयं प्रसन्न रह कर सब को प्रसन्न कर रहा हूं, मैं स्वयं आनन्दित रह कर सब को आनन्दित कर रहा हूं, मैं स्वयं परिपूर्ण रह कर सब को परिपूर्ण कर रहा हूं एवं मैं स्वयं अव्यक्त रह कर सब को व्यक्त कर रहा हूं।

ø ø ø

मेरी प्रसन्नता, आनन्द, प्रेम, सद्भाव, भक्ति, भावना, शुभप्रेरणा, शुभाशीष, सम्यक्चरित्र, सम्यग्दर्शन, साम्यावस्था, सम्यगालोचन—मुझ में स्फुरण पाकर समानाकर्षण-पद्धति द्वारा मुझ में विशेष संचित होते हैं, संचालित होते हैं और सम्यक्प्रवाहित होते हैं।

ø ø ø

मैं सब वस्तुओं का, अत्यन्त शुद्धाचरणों का, पवित्र साधुसन्तों का, सब सत्यतत्व का, परम सच्चिदानन्दस्वरूप का, एवं अपने निजरूप का—निजरूप में सम्मेलन कर रहा हूं, सत्य सम्पादन कर रहा हूं, सर्वमय कर रहा हूं, अभेद कर रहा हूं और आनन्दमंगल कर रहा हूं।

ø ø ø

स्थिरचर, आन्तरबाह्य जगत् मुझ में लीन है और मैं उस में लीन हूं। जगत् को मैं ब्रह्ममय, ब्रह्मभूत और ब्रह्मलीन समझता हूं, देखता हूं और विचारता हूं। सब जड़चेतन ब्रह्म है, जड में चेतन है और चेतन में जड़ है। ब्रह्म सिवाय कोई स्थल रिक्त नहीं। वह सर्वव्यापक है और अन्तर्बाह्य परिपूर्ण है।

मेरा जठर बलवान् है, उसकी क्रिया बलवान् है, और उस का परिणाम बलवान् है। मेरे भोजन का खूब अच्छा परिपाक हो रहा है, उस का रक्त बन रहा है और रक्ताभिसरण हो रहा है। शरीर की नस नस में उस का संचार हो रहा है और उस का मुझे भान हो रहा है।

ø ø ø

मेरे शरीर पर किसी रोग का आक्रमण नहीं होता। रोगों को आने के लिये, रहने के लिये मेरे शरीर में स्थान ही नहीं है। मैं कभी उन का संचार नहीं होने देता, कभी उन का निवास नहीं होने देता, कभी उन का प्रवेश नहीं होने देता और न कभी उन का भान ही होने देता।

ø ø ø

मैं कभी वृद्ध नहीं होता हूं, कभी मुझे वृद्धत्व का स्मरण तक नहीं होता है और न कभी उस का स्मरण ही करता हूं। मेरे शरीर में कभी आलस नहीं आता, कभी सुस्ती नहीं होती, कभी उदासीनता नहीं छाती, कभी निर्बलता नहीं होती और न कभी देहाभिमान ही होता है।

ø ø ø

मैं सत्यसंकल्प और सत्यान्वित हूं एवं प्रत्येक को उसी रूप में देखता हूं। जो कुछ योग्य होता है वही मैं करता हूं—इस लिये मैं अमर हूं। मुझे मृत्यु का कभी भय नहीं है क्यों कि मैं किसी के साथ बुराई नहीं करता और न किसी का बुरा चाहता हूं। मैं सदासर्वकाल युवावस्था में रहता हूं। मेरे अवयव कभी निर्बल नहीं होते। और न कभी निर्बलता का भान ही होता है।

मैं बलवान्, निरामय, दृढ, आग्रही—कार्यतत्पर हूं। मैं सदा निर्भय, निःशंक और स्वस्थ हूं। मैं शान्तिपूर्वक सुन्दर विचार करता हूं। उन विचारों के सुन्दर चित्र बनाता हूं और उन की चित्रावली बना के अपनी चित्त—भित पर लटकाता हूं। उन के भाव भरे मनोहर चित्र—विचित्र स्वरूप का रूपान्तर मेरे आन्तरभान में होता है और वे चित्र मुझमें अन्तर्हित होते हैं।

ø ø ø

विचारों के चित्रों में कल्पना के चित्रविचित्र रंग भरे हुए हैं उन में प्रेम का संवेदन, कोप का निर्वेदन, मधुरता का द्योतन भरा हुआ है। चित्रों में अनेक भावनाओं की चित्ररेखायें अंकित होती हैं, विराम पाती हैं और विलीन होती हैं वे प्रत्यक्ष होते हैं, क्रीडा करते हैं और अपना भाव प्रकट करते हैं। उन में चित्त रममाण होता है, स्थिर होता है और लीन होता है।

ø ø ø

मैं विचारचित्रों द्वारा चित्रित हो रहा हूं, विचारचित्र मुझे मोहित कर रहे हैं, मुग्ध कर रहे हैं और स्तम्भित कर रहे हैं। विचार के चित्रों में से अग्नि—वायु और आकाश का रूप प्रकट हो रहा है, विद्युत की धारा वह रही है और विद्युत्कण चमक रहे हैं। मेरे रोम रोम में और रक्त के कण कण में उन का भान हो रहा है।

ø ø ø

मेरी सत्ता अमोघ है, मेरी आज्ञा अनुलंघ्य है, मेरा निश्चय दृढ है, मेरा कार्य सफल है, मेरी आशा प्रबल है,

मेरी इच्छाशक्ति ज्वलन्त है, मेरी कृति विलक्षण है, मेरी भावना भावमयी है, मेरी प्रतिज्ञा अटल है, मेरी प्रतिभा अद्भुत है, मेरी कल्पना विचित्र है, मेरा स्वभाव स्वतन्त्र है, मेरा हृदय पवित्र है, मेरा जीवन सुखमय है और मेरा व्यवहार सत्य है।

ø ø ø

पराक्रम, प्रयत्न, उद्योग मेरे दास हैं, विजयलक्ष्मी, जयपताका, धनसमृद्धि मेरी दासी हैं, सुख, शान्ति, आनन्द, उत्साह, आरोग्य, वैभव पर मेरा अधिकार है। मैं सब का चालक, द्योतक और पालक हूं। मेरे सिवाय जगत् का परमाणु नहीं और मैं परमाणु के सिवाय नहीं मैं सब का सम्राट, मैं सब का महाराजा, मैं सब का धनी, मैं सब का मालिक हूं।

ø ø ø

मुझ में ईश्वर है मैं ईश्वर में हूं, ईश्वर और मैं अभिन्न हूं, ईश्वर जीव की भिन्नता नहीं। मैं ईश्वर के समान हूं, 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं' शक्तिमान् हूं और सबप्रेरक, सब का भारवाही, सब का संरक्षक हूं। मेरी आज्ञा में पंच महाभूत हैं, मेरी आज्ञा में चन्द्रसूर्य ग्रहतारका हैं और मेरी आज्ञा में स्थिरचर जड़चेतन हैं।

ø ø ø

इस प्रकार समय समय आवश्यकता के विचारद्योतन का संकल्प बना कर उस का पाठ, उस का चित्र, उस का

द्योतन नित्य नियमित पद्धति से करना चाहिये । किसी भी कार्य के लिये उस अक्षर को, शब्द को और वाक्य को उसी कार्य के अर्थ में परिणत कर के लगातार उस का उच्चारण करना चाहिये । कार्य के स्वरूपानुसार, कार्य के कर्तव्यानुसार एवं कार्य के भवितव्यतानुसार उस की सफलता में विलम्ब या शीघ्रता होगी । तथापि कार्य अवश्य सफल होगा ।

क—द्योतनफल ।

द्योतन का फल अमोघ है, उस के लिये वारवार कहना पिष्टपेषण है । तो भी यहां फलाभिसन्धि का किंचिन्मात्र परिचय होने के लिये उस के परिणामों का कुछ उल्लेख किया जाता है—उस को जान कर उस के फलाफल का अनुभव प्राप्त करना चाहिये । यह खूब स्मरण रखना चाहिये कि—कार्य का दृढ़ निश्चय, दृढ प्रयत्न और दृढ विश्वास ही अमोघ फल है और उसी से कवि कुलगुरु कालिदास के कहने के अनुसार 'प्रसादचिन्हानि पुरः-फलानि' का साक्षात्कार होता है और साथ ही फल की प्राप्ति होती है ।

१ विचार का सुधार होना ।
२ विचार में माधुर्य, गांभीर्य और सौंदर्य उत्पन्न होना ।
३ श्वास प्रश्वास का कम चलना और सरलता से प्रवाह होना ।
४ मन की चंचलता का दिनोदिन ऱ्हास हो के स्थैर्य प्रतीत होना ।

५ शरीर का हलका होना और मलमूत्र कफ का अल्पत्व होना ।

६ शरीर में आरोग्य, लघुता, सुवर्णता, ओजस्विता और चपलता प्राप्त होना ।

७ आहार कम होना, खानपान नियमित होना, ' हित भुक्, मित भुक्, अशाक भुक्'—होकर अच्छा परिपाक हो के बलकी वृद्धि होना ।

८ अन्न की पचन क्रिया, निद्रा, चित्त कि स्वस्थता, क्षुधा तृषा की सहनता, शीत उष्ण की सहिष्णुता आदि शारीरिक धर्मों का नियमित होना ।

९ निर्भयता, निःशंकता, निरामयता, निःसंगता, निरिच्छता का आविर्भाव होना, चित्त में शान्ति का उदय हो के चित्त का प्रकाश फैलना ।

१० वर्त्तमान काल का भविष्य काल में परिवर्तन हो के उस का भूतकाल होना अर्थात् किसी कार्य के वर्तमानत्व के भविष्य का भान हो के कार्य का साधन स्वयमेव व उपस्थित होके उस का सम्पादन होना ।

११ परोपकार, दया, प्रेम, उदारता, समवेदन, मैत्री, करुणा, मुदिता का उदय होना, धर्म में प्रवृत्ति होना और सब के साथ सहानुभूति प्रकट होना ।

१२ यम नियमादिकों का स्वयमेव पालन होना, चित्तवृत्ति का स्थिर होना, ईश्वरभक्ति में चित्त रममाण होना, धार्मिकग्रन्थों के पढ़ने में प्रवृत्ति होना, भजनपूजन ध्यान में चित्त लगाना ।

१३ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का शमते होना, स्वभाव में माधुर्य, मार्दव, आर्जव, प्राप्त होना, किसी के साथ वैर विरोध द्वेष का भाव न जमना, चित्त पर नित्य आनन्द का संचार होना।

१४ शोक, दुःख, चिन्ता, अज्ञान, अविश्वास, उद्वेग, व्याकुलता, आदि विकारों का दिन दिन विलय प्रतीत हो के उन की जगह सुख, शान्ति, आनन्द, उत्साह, आरोग्य,बल, ओजस का प्रकट होना।

१५ ईश्वर का भाव, ईश्वर की भावना, ईश्वर की भक्ति, ईश्वर का अस्तित्व, ईश्वर का विश्वास, ईश्वर का पूजन, ईश्वर का भजन, ईश्वर का दर्शन—अभेद दृष्टि से, विश्वधर्म में, विश्वप्रेम में दिन दिन सर्वत्र समभावना से विचार-दर्शन में द्योतित हो के विश्वविजय का निरन्तर भान होना।

अर्थात् शनैः शनैः दैवी सम्पत् का सम्पादन हो के उन्नति का सम्यगालोचन हो कर उस का प्रत्यक्ष दिखाई देना और उस से पद पद विश्वविजय का अनुभव आना ही सच्चा द्योतनफल है और वह केवल उस के लगातार अभ्यास पर, विश्वास पर और सद्विचार पर निर्भर है।

इतना विवेचन, प्रतिपादन, निरूपण करने पर भी अब हम अन्त में—हृद्यत्र द्वारा किस क़दर और कितनी उन्नति हुई है—इस का अनुभव किसप्रकार हो सकता है—इस का ठीक परिचय "ब्रह्मविद्या प्रचारक" के—मानसिक उन्नति की परीक्षा—शीर्षक लेख में दिया हुआ है उस को हम यहां अविकल उद्धृत कर के, प्रिय पाठकों को उस का निदर्शन कराते हैं—

"स्थूल अवस्था से निकल सूक्ष्म अवस्था में प्रवेश करने का नाम उन्नति वा ऊर्ध्वगति है; वा जड़ जगत् की सीमा को तोड़ कर चेतन में वास करना ही उन्नति है; वा स्वत्व की परिधि से बाहिर हो एकता के जीवन को प्राप्त करना उन्नति है। इस लक्ष्य का लाभ करने के लिये मन एक प्रधान साधनयन्त्र है। मन का शान्त समाहित हो कर उन्नतिपथ में चलना ही मनुष्य के लिये उपयोगी है। यह मन प्रायशः चंचल, प्रमाथी और विषयवासना में आसक्त रहता है और बहुत ही बलवान् है। इस मन का बहुत कर के अभ्यास बाह्य पदार्थों के चिन्तन में रहता है, इस का साधारणतः प्रवाह संसार की ओर बहता है। परन्तु जब मनुष्य उन्नतिमार्ग में प्रवेश करता है तब उसे मन को उस संसार प्रवाहित अभ्यास से निवृत्त करना पड़ता है, बहिर्मुख वृत्ति को अन्तर्मुख करना होता है। इस के लिये उसे मन पर सर्वदा दृष्टि रखना पड़ती है, उस की चाल को देखते रहना होता है, उस की प्रवृत्ति को शनैः शनैः निरोध करना पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि—कैसे प्रतीत हो कि—मन उन्नति अवस्था में जा रहा है वा अवनति अवस्था में? इस का उत्तर यह है कि—मन की उन्नति की तीन प्रकार से परीक्षा की जा सकती है—

(१) प्रथम ध्यान के समय मन की परीक्षा हो सकती है। यदि मन ध्यान करते हुए शान्त और समाहित हो कर स्थित रहे, एक घण्टा के दो घण्टें बैठना चाहे, तो जानना चाहिये कि मन उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ है और यदि ध्यान के समय मन चंचल अशान्त और क्षोभ करनेवाला

रहे और बैठते ही उठने को चाहता रहे तो निश्चय करना चाहिये कि मन अवनत अवस्था में पतित हुआ है ।

(२) द्वितीय परीक्षा मन की स्वप्नद्वारा हो सकती है । स्वप्न मन की अवस्था को पूर्ण प्रकार से दरसाता है । जैसी अवस्था मन की जाग्रति में रहती है उस का पूरा चित्र स्वप्न में खिंच जाता है । यदि स्वप्न में मन सत् चिन्ता करता हुआ, साधुओं महात्माओं के निकट बैठता हुआ, भगवद्गुण श्रवण–कीर्त्तन करता हुआ, परोपकार के किसी काम में लगा हुआ वा किसी गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों को विचारता हुआ–इत्यादि दीख पड़े तो जानना चाहिये कि मन उन्नत अवस्था में है । और यदि इस के विरुद्ध जान पड़े तो स्मरण रखना चाहिये कि मन अवनत अवस्था में पड़ा है । परन्तु स्वप्न की लीला प्रायः मूर्तियों और दृष्टान्तों द्वारा होती है जिस का पूरा पूरा समझना बहुत कठिन है । स्वप्न को जागते ही तत्काल विचार लेने से कुछ पता लग जाता है ।

(३) तृतीय परीक्षा मन की बाह्य पदार्थों की वितृष्णा से हो सकती है । यदि मन अनेक प्रकार के भोग ऐश्वर्य को इस लोक के वा परलोक के न पा कर भी उन से तृप्त रहता है, उन से वितृष्ण और निरपेक्ष रहता है, कभी कोई सूक्ष्म स्फुरण भी नहीं होता कि अमुक पदार्थ किसी प्रकार प्राप्त हो जाय, तो जानना चाहिये कि मन उन्नत अवस्था में है । यदि इस के विपरीत मन प्रतिक्षण बाह्य पदार्थों की लालसा में डूबा रहता है, छोटी छोटी बात के लिये मरता रहता है, चिन्तनीय वस्तु को न पाकर

चिन्तातुर रहता है तब प्रमाण करना चाहिये कि मन अवनत अवस्था में है।

इन तीन परीक्षाओं द्वारा जिज्ञासु अपने मन की अवस्था को पूर्ण प्रकार से जान सकता है और यह तीन परीक्षा प्रतिदिवस हो सकती हैं। प्रथम परीक्षा ध्यान के समय हो सकती है, द्वितीय स्वप्नपरीक्षा सो कर उठते ही विचारने से हो सकती है और तृतीय परीक्षा सोने से पूर्व कुछ काल चिन्ता करने से हो सकती है कि मन में सारा दिन किस किस प्रकार के चिन्तन चित्त वता रहा है। इन परीक्षाओं में सफलता लाभ करने के लिये जिज्ञासु को क्या करना चाहिये? अभ्यास ही सफलता की कुंजी है। प्रयत्न करने से बहुत कुछ सिद्धि प्राप्त हो सकती है। तीन परीक्षाओं के लिये तीन प्रकार का प्रयत्न करना उचित है। प्रथम ध्यान की परीक्षा को सफल करने के लिये जिज्ञासु को चाहिये कि शब्द, अर्थ, ज्ञान में मन को क्रमपूर्वक नियुक्त करे। जैसे ॐ शब्द का सूक्ष्म जप करते हुए प्रथम उस शब्द में ही वृत्ति को जोड़े—यहां तक कि मन शब्द को छोड़ कर कहीं न जा सके। जब यह अभ्यास परिपक्व हो जावे तब उस के अर्थ सत्, चित्, आनन्द में मन को लगावे, वहां भी जब सम्यक् दृढ़ हो जावे कि उस रूप को त्याग अन्यत्र न जा सके तब केवल ज्ञान में उपयुक्त करे जिस में जप ध्यान सर्व विस्मरण हो कर एक आत्मसत्ता परिपूर्ण प्रकाशमान भासने लगे। तब जानना चाहिये कि, ध्यान की परीक्षा सिद्ध हुई।

द्वितीय स्वप्नपरीक्षा में सफलता लाभ करने के लिये जिज्ञासु को योग्य है कि वह सोने से कुछ काल पूर्व अपने इष्टदेव वा गुरुदेव का इस प्रकार ध्यान करे कि—उन के चरणों में बैठा हुआ जप करता है। ध्यान पूरा जम जाने से वह देखेगा कि स्वप्न उत्तम उत्तम आने लगेंगे, कुसंस्कारजन्य स्वप्न कभी नहीं आवेंगे।

तृतीय परीक्षा वाह्य विषयभोग की तृष्णा से मुक्त होने के लिये यह विचार करना चाहिये कि, यह संसार अस्थायी, क्षणभंगुर और अनित्य है, इस के पदार्थ भी वैसे ही अस्थायी, क्षणभंगुर, और अनित्य हैं। इन के ग्रहण, इन के भोग में सुख नहीं, सुख तो केवल अपने स्वरूप में है। स्वरूप को आनन्दरूप के आनन्दरूप का आभास पदार्थों में पड़ने से वह भी सुखरूप प्रतीत होते हैं। सुख का स्रोतस् आत्मा है, संसार के पदार्थ नहीं। यही कारण है कि, अनेक महाराजाओंने संसार के अनेक और विविध पदार्थ प्राप्त कर के भी उन से सुख नहीं पाया और राजपाट को छोड़ कर त्यागी हो गये, उन्हों ने केवल आत्माभ्यास में तत्पर आनन्द हो परम आनन्द का लाभ किया। इस प्रकार संसार को आनन्द का हेतु न जान आनन्दरूप आत्मा के जानते और उस में स्थित होने का अभ्यास करने से तीसरी परीक्षा सिद्ध हो सकती है।

इन तीन प्रकार के साधन से तीनों उपाधियां शुद्ध होंगी और अज्ञान का आवरण निवृत्त हो के ज्ञान का उज्वल रूप प्रकाशित होगा।"

इस प्रकार "आन्तर जगत्" का यथाशक्ति उस परात्पर परमानन्द सच्चिदानन्द परमात्मा की प्रेरणा, प्रभाव, शक्ति के अनुसार यथासम्भव, यथासमय, यथाशक्ति–विचारशक्ति, विचारसंयम, विचारसंस्कार, विचारसिद्धि, विचारपरिशीलन एवं विचारद्योतन का विवेचन कर के छान्दोग्य उपनिषत् की परमपवित्र उक्ति के साथ इस को पूर्ण करते हैं—

> " यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय
> आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव
> समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसा–
> वुभौ विद्युन्नक्षाणि । यच्चास्येहास्ति यच्चनास्ति
> सर्वं तदास्मिन् समाहितमिति । "

जितना बाह्य आकाश है उतना ही हृदय के अन्दर आकाश है । हृदयाभ्यन्तर आकाश का अर्थ यहां ब्रह्म है । बाह्य आकाश की उपमा देने से ब्रह्म को परिच्छिन्नता दोष की संप्राप्ति होती है–ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न है फिर यह कैसे घट सकता है–तो यहां 'तावान्' शब्द से आकाशतुल्य परिणाम का ग्रहण नहीं है । ब्रह्म की उपमा किसी के साथ नहीं हो सकती इसी से दृष्टान्त मात्र बाह्याकाश लिया गया है । तो फिर आकाश के तुल्य ही ब्रह्म क्यों न समझा जाय–तो, वेदान्त का सिद्धान्त है कि–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस के अल्पावयव के समान है–फिर आकाश के परिणाम जैसे ब्रह्म कैसे हो सकता है ?–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः'–उस परमात्मा से आकाश का भी आविर्भाव होता है । पुनः ' तस्मिंस्तु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति '–हे गार्गी ! उसी ब्रह्म में यह

आकाश ओतप्रोत है । अतएव उपमा के अभाव के कारण आकाश के साथ आन्तर जगत् के दिग्दर्शन के लिये खाली उपमा दीगई है । इस से इस का अर्थ यह है कि—"जितना वड़ा यह आकाश है उतना वड़ा यह आन्तर में हृदयाकाश है । दोनों द्यौ एवं पृथ्वी इस के अन्दर समाहित है । दोनों अग्नि, वायु दोनों सूर्य एवं चन्द्रमा, विद्युत नक्षत्र इस के अन्दर समाहित हैं । जो इस प्राणी में है और जो नहीं है वे सव ही इस में समाहित हैं । इस में 'विद्युत्' शव्द पूर्णतया स्पृहणीय, लक्षणीय एवं विचारणीय है—

जो हो—ॐ तत्सत् । सव के अन्त में–सव के आखिर में वह सच्चिदानन्द जगदीश्वर–इस वक्त जीवनसंग्राम में पड़े हुए मेरे सारे–मेरे समस्त पृथ्वी भर के वन्धुभगिनियों को–इस ऋग्वेद के आशीर्वाद के अक्षर में कहे अनुसार—

साग्रं वर्षशतं जीव पिव खाद च मोद च ।
दुःखितांस्त्वद्विजांश्चैव प्रजां च पशु पालय ॥
यावदादित्यस्तपति यावद्भ्राजति चन्द्रमाः ।
यावद्वायुः प्रवायति तावज्जीव जयाजय ॥
येन केन प्रकारेण कोहि नाम न जीवति ।
परेषामुपकारार्थं यज्जीवति स जीवति ॥

तथास्तु । एवमेवास्तु । शुभं भवतु ।

उपसंहार ।

(श्लोक)

ग्रन्थोपसंहार विचार-सार,
है एक ही खण्ड सदर्थ-भार ।
वाणी परा के उदयास्त-भा में—
हुआ प्रसिद्ध प्रतिभा-प्रभा में ॥

हैं अन्य दोनों उस की प्रभा में,
बने हुए हैं हृदयस्थ भा में ।
होंगे प्रसिद्ध प्रभु की कृपा से,
हैं बिम्ब बिम्बान्वित जो सदा से ॥

सदा प्रतिज्ञा दृढ़ है हमारी,
मुन्हिग है फिंगर सृष्टि-कारी ।
जहां कहीं भी फिरती परा में—
हो वज्रलेपा रहती धरा में ॥

माला ग्रहों की यदि टूट जाय,
वा सूर्य नीचे गिर फूट जाय ।
पृथ्वी गिरे, वा यम रूठ जाय,
प्रत्यक्ष वा ईश्वर टूट जाय ॥

दुर्भाग्य कोई यदि मेट जाय,
कालाग्नि में वा वह लेट जाय ।
सर्वस्व कोई यदि लूट जाय,
चाहे किसी की तनु छूट जाय ॥

होता कभी अक्षर का न लोप,
चाहे किसी का कुछ हो प्रकोप ।
कभी नहीं है क्षर नाश-मान,
है नित्य, है अक्षर, है प्रधान ॥

है अक्षरों की यह दिव्य-माला,
जहां बसी है प्रतिभा विशाला ।
विचार का दर्शन है अगम्य,
जहां हुआ है वह भाव-गम्य ॥

होता कहीं भी उस का न अन्त,
भरा हुआ है उस में अनन्त ।
विचार का दर्शन ही वही है,
सच्चित्कला–छा जिस में रही है ॥

विचार का दर्शन है अनूप,
वही सभी है, सब का स्वरूप ।
विचार की शक्ति अमोघ होती,
संसार का दुःख दरिद्र खोती ॥

विचार का दर्शन लो सदैव,
रक्खो उठा दूर अकर्म दैव ।
विचार का दर्शन सद्विचार–
होता मिटा के कुविचार–भार ॥

सद्भाग्य वा पुण्य विना न देता–
कोई इसे वा कर में न लेता ।
प्रत्यक्ष आगे सब के धरा है,
पाता वही जो सुकृती खरा है ॥

वंश-वर्णन ।

(दोहा)

दादा गंगारामजी, जिन का पुण्य अपार ।
जन्मे सुत बलदेवजी, कुल का कर विस्तार ॥
उन का सुत शिवचन्द्र है, कुल में शास्त्रप्रवीन ।
सामाजिक कितने लिखे, जिसने ग्रन्थ नवीन ॥
करने सब की एकता, भिन्न भाव सब दूर ।
फैलाने निज देश में, विश्वधर्म भरपूर ॥
पूरब पश्चिम शास्त्र का, मन्थन कर यह सार ।
देता तुमको प्रेम से, करने आत्म-सुधार ॥
ऐसी पुस्तक आजतक, बनी नहीं अनमोल ।
भावपूर्ण उपदेशमय, लिखी हुई दिल खोल ॥
पढ़िये, सुनिये सज्जनो, देशभक्ति चित्त आन ।
चलिये हिलमिल देश में, सब को मान समान ॥
बार बार है प्रार्थना—यह मेरी जगदीश !
दया करो इस देश पर, देवो शुभ आशीस ॥

(गीति)

आकाशचन्द्रनिधिभू—वर्ष श्रीविक्रमार्कमधुमास ।
सितपक्षसप्तमी को, जन्मा यह कवि कवित्व चिति.भास ॥
देता सब के कर में, करने वह विश्वधर्म—संचार ।
विश्वप्रेमी बन के, विश्वजयी हो सदैव संसार ॥

(श्लोक)

उन्नीस सौ सत्तर पौषमास,
है बद्य की चौदस सत्प्रकाश ।

समाप्ति का है दिन शुक्रवार,
जो चित्कला का करता प्रसार ॥

विनय।

है पुत्र 'केसर-विलास' बड़ा हमारा—
दे खूब बोध जिस ने सब को सुधारा।
'जंजाल' है लघु सुत प्रिय 'फाटके' का,
गम्भीर रम्य उपदेशक है टके का ॥

जो गर्भ में 'कनकसुन्दर' था अधूरा—
तो भी हुआ प्रकट, किन्तु बना न पूरा।
ढाई बने सुत, हुए न किसे अगाड़ी,
ऐसे समाज उपदेशक मारवाडी ॥

छोटी बड़ी उमर में करता सगाई—
कन्या हुई यह बड़ी हितबोधदायी।
'कंठी' बनी जन सुधारक मोतियों की,
'पद्यावली कुसुम' की, गणपंक्तियों की ॥

वृद्धापकाल जिस से सुखशान्ति सार—
होता, सुपुत्रजनमा अब होन हार।
जो है सुदर्शक महासुख सद्विचार—
देता महाचितिकला करने सुधार ॥

है वंश नष्ट मम आज, तथापि सच्चे—
हैं ग्रन्थ ये अमर सुन्दर बाल बच्चे।
देता इन्हें करसरोरुह में तुम्हारे—
स्वीकार शीघ्र कर के जिन को सुधारें ॥

(दोहा)

तीनों पुत्र चले गये, छोड़ शोक में लीन।
उन के बदले ये बने, साढे तीन नवीन ॥

येही कुल के स्तम्भ हैं, पढ़े लिखे कुलदीप।
दया करो इन पे सभी, ले कर नित्य समीप ॥

सुखदुख समान मान के, करना सत्य विचार।
क्या भार्या, क्या पुत्र हैं, सब धन माल असार ॥

जय जय हो जयकार हो, सब की जय चहुं ओर।
विश्वधर्म की विजय हो, पूरबपश्चिम छोर ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥
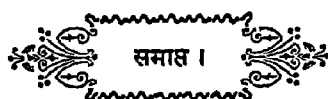
विचार-दर्शन ।

परिशिष्ट ।

काल-प्रभाव ।

स्वदेश, जाति, प्रिय धर्म, वंश,
कर्त्तव्य हैं उन्नत सत्सदंश ।
जन्मा वही जो कर मातृ-सेवा-
पाता सदा मंगल मिष्ट मेवा ॥

काल-प्रभाव

अथवा

दुःखाश्रुपात ।

श्लोक ।

(मन्दाक्रान्ता)

सर्वव्यापी, सकल जग में जो भरा है न ख़ाली,
कर्त्ता हर्त्ता अखिल जग का पूर्ण ऐश्वर्य-शाली ।
माया छाया प्रकृति जिस की प्रेरक प्राणं-सारा,[1]
मन्दाक्रान्ता[2] हृदयगत जो पंचभूतं-प्रसारा[3] ॥ १ ॥

स्वामी ऐसा सकल जग का सूक्ष्मगंभीर भारी,
छोटा मोटा सरल तिरछा है न जो मूर्त्ति-धारी ।
स्वामीभाव प्रकट जिस का दास भावानुकारी,[4]
हो के लीन प्रणति उस को भक्ति से है हमारी ॥ २ ॥

देवो देव प्रभु वह हमें मुक्ति शान्ति-प्रदात्री,
आना जाना इस जगत् का नष्ट हो कालरात्री[5] ।
माया मोह प्रवल हट के, चित्त हो के प्रशान्त,
आत्माराम-स्थिति वन सदा पूर्ण होवो भवान्त ॥ ३ ॥

---

१ प्राण है सार जिस में । २ धीरे धीरे चलनेवाली, एक गणवृत्त का नाम । ३ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचभूतों का प्रसार करनेवाली । ४ दासभाव का अनुकरण करनेवाला । ५ काल की रात्रि-प्रलयकाल ।

मेरा जन्म प्रथित कुल के वैश्य के वर्ण में है,
वासस्थान प्रिय मरुधराधीश[1] के राज्य में है।
डिड्वाना है नगर जिस में पूर्वजों का विशाल,
पाढ़ा[2] माता, कुल भरतिया, जाति है अग्रवाल ॥ ४ ॥
कैसा ख्यात प्रतिसुरपुर[3] श्रेष्ठ था आगरोहा[4]?
कैसी भूमि प्रवर वह थी अग्रवाल-प्ररोहा[5]?।
सारे भाई हिलमिल जहां खूब उत्साह से वा,
हो के प्रेम-प्रवण[6] करते वास थे श्रीश-सेवा ॥ ५ ॥
कैसा किन्तु प्रबल सब से काल है दण्ड-धारी?
राई का जो परवत करे, अद्रि[7] की धूल भारी!।
भूसी को जो जलनिधि करे, अब्धि[8] को भूमि पूरी,
ऐसे काल प्रबल वर को हैं नमस्कार भूरि ॥ ६ ॥
ऐसा भारी नगर जग में एक था आगरोहा,
विद्या, श्री, थीं जनमति जहां त्यागपूर्णा, विमोहा।
मिट्टी के हैं पर अब वहां ढेर सर्वत्र टीले,
लीला कैसी कुटिल जग में काल की है हठीले! ॥ ७ ॥
सारे साढ़े सतरह हुए गोत्र वंशानुसारी,
पीछे कोई पुरुष न हुआ अग्रसेनानुकारी[9]।
आघातों[10] से यवन नृप के छोड़ के भूमि[11] प्यारी,
न्यारे न्यारे रह कर हुए भिन्न-भावार्थ-कारी[12] ॥ ८ ॥

---

१ जोधपुर राज्य, मारवाड। २ कुलदेवी। ३ इंद्र की अमरावती के समान। ४ पंजाब में हिसार के पास एक शहर था। ५ अग्रवालों की उत्पत्ति करनेवाली। ६ प्रेमलीन। ७ परवत। ८ समुद्र। ९ अग्रसेन जैसा। १० हमलों से। ११ आगरोहा। १२ जुदाई से धन कमानेवाले।

वैश्यों में हैं प्रथित सब से आज भी अग्रवाल,
दानी मानी, पर अब नहीं धर्म, सीधा न काल।
खो बैठे हैं इस समय वे पूर्वजों की सुचाल,
लक्ष्मी विद्या अब चल बसी, हो गया गोलमाल!॥९॥
गंगाराम[1] श्रवण-सुख था, पुण्य था पुण्य-नाम,
दादाजी का चरित शुभ था, शुद्ध था शुद्ध काम।
भोलेभाले सरल मति थे, पूर्ण थे पूर्ण धाम,
व्यापारी थे अतुल, मुख में राम था राम राम ॥१०॥
सेठ श्रीमान् सुखद् "वल" के अग्र में "देव" नाम[2],
वे थे मेरे जनक, उन के पाद नम्र प्रणाम।
पुण्यात्मा थे, जनकजननी भक्त थे, पूर्ण भाव—
सूर्यार्चा में, प्रभु भजन में, साधु-सेवा-स्वभाव ॥ ११ ॥
उद्योगी थे, वचन जिन का एक था एक भाव,
लेना देना सरल, सब से पूर्ण था सत्प्रभाव।
साहूकारी अटल जिन की श्रेष्ठ दूकानदारी—
थी प्रख्यात प्रकृति सब को खूब ईमानदारी ॥ १२ ॥
सच्चा धन्धा अविरत किया पूर्वजों के समान,
लक्षाधीश त्वरित बन के पालिया खूब मान।
होता धन्धा सफल न बिना झूठ, ऐसा विधान—
मिथ्या जानो, अटल जग में सत्य है सन्निधान ॥१३॥
सारी आयु श्रम कर सदा योग्यता से बिताई,
धर्मश्रद्धा अचल रख के पुण्य की की कमाई।
शुश्रूषा की अतिथि गुरु की, खूब मातापिता की,
दान ध्यान प्रतिदिन किया, चित्त की शुद्धता की ॥१४॥

---

१ मेरे दादाजी का नाम। २ बलदेव।

प्यारी भार्या, तनय, तनया छोड़ के तीन तीन,
दोनों पौत्र—प्रभुचरण में हो गये शान्त लीन ।
वृद्धा माता सिर पर अभी छत्र सी है हमारी,
रक्षो दे के कुशल कुशला नित्य आशीस भारी ॥१५ ॥
मा के जैसी इस जगत में कौन है प्रेममूर्त्ति ?
माता ही है शिशु तनय की रक्षका सर्व पूर्त्ति ।
मा की चिन्ता तनय हित में मग्न है जीव चित्त,
होता मा को शिशु, सब वही सार, सर्वस्व, वित्त ॥१६॥
दुःखी प्यारा शिशु निरख के दुःख मा को अपार,
आंसू मा के क्षण न रुकते देख के वार वार ।
आनन्दी हो शिशु तब उसे खूब आनन्द होता,
मा को प्यारा शिशु सम नहीं अन्य, सन्ताप खोता ॥१७॥
ऐसी मा से उऋण जग में कौन होता सुपूत ?
मा से कोई बढ़ कर नहीं देवता, देव—दूत ।
मा है साक्षात्प्रिय भगवती जन्मदात्री भवानी,
क्या क्या मा की स्तुति कर सके पुत्र की अल्प वानी ?॥१८
ऐसी मा के शुभ उदर में पूर्ण नौ मास वास—
हो के पाई, विमल कुल में मानवी देह खास ।
संवद्व्योमात्र्यि[1]ज निधिधरा, चैत्र का शुक्ल पक्ष,
नक्षत्रार्द्रा, जनम दिन का, सप्तमी का सुलक्ष ॥ १९ ॥
सीखी भाषा प्रथम सरला शुद्धरूपा मराठी,
अंग्रेजी भी कुछ कुछ पढ़ी, संस्कृता की त्रिपाठी ।
उर्दू, वंग, प्रकृति नियमा गुर्जरी, मारवाड़ी,
हिन्दी भाषा, सरल लिपि की नागरी खूब गाढ़ी ॥ २०॥

---

1 संवत् १९१० ।

भाषाओं में इन सब रचे गद्यपद्यादि नाना,
देखे ग्रन्थ प्रचुर, कविता काव्य सीखे बनाना।
की है सेवा बहुत लिख के पुस्तकें भावपूर्ण,
इच्छा मेरी शुभ सफल हो सत्य संकल्प तूर्ण ॥ २१ ॥

भाषा द्वारा प्रकट कर के भावना हृद्विकार–
जाने जाते, उस विन वृथा सर्व होते विचार।
भाषा होती यदि सकल की हिन्द में एक मात्र,
क्यों ना होते सब जन सुखी प्रेम से प्रेमपात्र ? ॥२२॥

देखा दुःखी, अवनत बड़ा मारवाड़ी समाज,
भारी गन्दा, रहन सहन भ्रष्ट है काम काज।
हो के बोधप्रचुर उन को शीघ्र होने अगाड़ी,
छापी मैं ने सरस कितनी पुस्तकें मारवाड़ी ॥ २३ ॥

होती भाषा सरल मधुरा आज हिन्दी हमारी,
देशव्यापी, श्रम न करता सीखने अन्य भारी।
भाषा ही है सकल जन की एकता का उपाय,
हो जाने से पथ विषम, हैं आज सारे अपाय ॥ २४ ॥

काव्यों से वा प्रचलित कथावृत्त[1] पत्रादिकों से,
होती भारी उपकृति सदा लेखकों के भरोसे।
वे ही धन्य, स्थिर, अमर हैं कीर्त्तिमान्सच्चरित्र,
काव्यों में है चरित जिन का, ग्रन्थकर्त्ता पवित्र ॥ २५॥

होते काव्यादिक न यदि वा ग्रन्थ सारे हमारे,
वैसे व्यास प्रभृति, कवि वा कालिदासादि सारे।
होता नष्ट–प्रलय फिर था–भारत प्राण प्यारा,
कैसा होता प्रबल सब से आज का काल न्यारा ?॥२६॥

---

1 मासिक और साप्ताहिक समाचार पत्र आदि।

देखा होगा गुरुकुल कहीं पाठशाला न ? पाया–
विद्यार्थी वा गुरु न कवि का, वा न जाता वनाया।
पैदा होते कवि जगत में आप से आप भावी,
होते ख्यात प्रकृति–वल से, काव्य से सत्प्रभावी ॥२७॥
जो हो, छोड़ी पर न सुकृती पूर्वजों की सुचाल,
व्यापारी ही रह कर किया खूब धन्धा विशाल।
पीछे भारी हि अनवन हुई वन्धुओं में बुराई,
भारी हानि प्रवल विधिने दुःख दे के कराई ॥ २८ ॥
मैं था थोड़े दिन सफ़र में, रेल का मार्ग था न,
पीछे मांदा प्रिय सुत हुआ, मृत्यु का था निदान।
भारी दुःखी व्यथित कर के, खूब मा को रुला के,
त्यागे प्राण, प्रिय चल वसा, अश्रु में हा ! वहा के ॥२९॥
होके भार्या सुत–मरण से शोक-सन्तप्त भारी,
खाना पीना त्यज कर सभी, स्वर्ग को हा ! सिधारी।
पीछे कन्या शिशु चल वसी ! मा विना कौन होता–
रक्षाकारी व्यथित शिशु का, कौन सन्ताप खोता ?॥३०॥
संवद्वीपाम्बुधि निधिधरा[1] घोर हृत्पात–कारी,
कैसा शोक-प्रद अशुभ हा !, हा ! हुआ दुःखकारी ?।
एकाएक प्रखर गिर के वज्र संहारकारी—
हा हा ! कैसा प्रलय ! गृह का हो गया ध्वंस भारी ३१
होता नाश स्वकुल जन का–हाय हा ! सर्व नाश !
होता सारा जग विपिन सा, अंधकार–प्रकाश !।
हा हा ! कैसे हृदय रुकता ? क्यों न हो टूक टूक !
रो रोके हा ! विकल वनता ? स्तब्ध होता न मूक॥३२॥

1 संवत् १९४७।

ऐसे दुःख-श्रम-समय में एक ही है उपाय,
नेत्रों द्वारा सलिल वहना, दूर होने अपाय ।
जैसे पानी अधिक रुकते-तोड़ना बन्ध होता,
वैसे शोक-क्षुभित मन को रोकता अश्रु-सोता ॥ ३३ ॥

त्यागा अन्न प्रकृतिवश हो मृत्यु की दी दुहाई,
तो भी दुःखी हृदय न हुआ शान्त वा मृत्यु आई ।
रोने से वा अनुमरण से कौन देता दिखाई ?
जीवों की है पथगति जहां भिन्न, सीमा न पाई !॥३४॥

दोनों कन्या—प्रथम जिन का हो चुका था विवाह,
वैसे दोनों सुत अब रहें शेष अश्रु-प्रवाह ।
चिन्ता भारी विकल करती थी गृहस्थी चलाने,
मानो विन्दु-क्रम[1] तज वनी, देह जीती जलाने !॥३५॥

होने शान्ति व्यथित मन की दूर एकान्तवास—
चाहा मैं ने सुखद, कर के तीर्थयात्रा प्रवास ।
देखे सारे अमृत सर से हिन्द की राजधानी—
कल्कत्तादि, प्रथितमथुरा, श्री अयोध्यापुरानी ॥ ३६ ॥

गंगाद्वार, श्रम-अघ-हरा जान्हवी, नीलधारा,
देखा चंडी गिरिवर, कुरु-क्षेत्र, लाहोर सारा ।
आया काशी, प्रथम कर के तीर्थराज प्रयाग,
तीनों को दे सलिल विधि से की गया, श्राद्धयाग,॥३७॥

ढूंढा सारा भ्रमण कर के देश, दुर्भाग्य से वा,
कोई दीखा किधर न मिला, ना वनी साधु-सेवा ।
काव्यार्थों से अधिक भटका शोक के काननों[2] में,
हा हा ! किन्तु प्रबल विधि का फेर था दुर्दिनों में ॥३८॥

---

१ चिता । २ दैवदुर्विलास वा शोककानन नामक पुस्तक ।

आया पीछा गृह विपिन सा देख सर्वत्र सूना,
कार्यासक्त क्षण न रहता चित्त, हो दुःख दूना।
धीरे धीरे स्थिर कुछ हुआ हाथ ले कार्य-भार,
होती कालावधि सब भुला नाम की यादगार ॥३६ ॥
राज्यों में है प्रमुख सब में हैदराबाद[1] भारी,
जन्मग्राम प्रकट उस में "कन्नड़" क्षेमकारी।
जो है प्रायः गिरिशिखर पे, दक्षिण प्रान्तवर्त्ती,
चित्ताकर्षी मधुर-सलिला ब्राह्मणी[2] पार्श्ववर्त्ती ॥४० ॥
एलोरे की अनुपम गुहा, दौलताबाद दुर्ग,
पृथ्वीख्यात, प्रवर जिन से हिन्द का शिल्पिवर्ग।
ये हैं सारे निकट उस से, रुद्र घृष्णेश लिंग—
ज्योतिर्लिंग[3] प्रतन[4] यह है पाप-घास-स्फुलिंग ॥ ४१ ॥
तीर्थ-स्थान प्रकृति-रचना, मन्दिर श्री अतुल्या,
धन्या पुण्या यह सब बना स्तुत्य हैं श्री अहल्या।
ऐसा कोई स्थल न बहुधा तीर्थ वा तीर्थराज,
देवी का है भवन न जहां अन्न सत्रादि आज ॥ ४२ ॥
चाहा मैं ने अब भवन को तोड़ खासा बनाना,
वैसे जन्म—स्थल पर शिला लेख अच्छा लगाना।
चूना गिट्टी उपल—रचना खब की शिल्पकारी,
होते होते पर रह गई जन्म की यादगारी ॥ ४३ ॥
सच्ची होती स्मृति जगत में लोक-सेवा प्रधान,
भाषा द्वारा विविध रचना बोधदात्री निदान।
देखेंगे ही मम कृति सभी झोंपड़ी वा अधूरी—
मेरे पीछे स्वजन उस को क्या करेंगे न पूरी? ॥ ४४ ॥

---

१ निज़ाम हैद्राबाद। २ नदी का नाम। ३ द्वादशज्योतिर्लिंगों में से एक। ४ पुरातन।

लाया योग प्रबल विधि ने चित्तसंक्रान्तिकारी[1],
भार्यादुःख क्षणिक करने था पुनर्लग्नकारी ।
संवन्नेत्राऽशुगनिधिधरा[2] साल हो के विवाह–
पत्नी आई फिर, कुछ घटा शोकचिन्ता-प्रवाह ॥ ४५ ॥
काटे ऐसे अब दिन घने, दुःख सारा बिसारा,
छप्पन्ना ने पर कर दिया घोर संहार सारा ! ।
डूबी खेती जलविन, वृथा हो गया लेन देन,
औरों की क्या–जनकजननी पुत्र को लें न दें न ॥ ४६ ॥
था दुर्भिक्ष्य प्रखर, उस में प्लेग संहारकारी,
भारी उग्र प्रचलित हुआ भारत-प्राणहारी ।
कैसे कैसे नर हर लिये–क्या कहें ? हैं हताश !
दोनों ने हा ! मिल कर किया देश का सर्व नाश ॥४७॥
दानापानी विन सब हुए तंग, छोड़ा स्वधर्म,
हड्डी हड्डी नस नस रही सूख के मांस चर्म ।
छोड़ा प्यारा वतन अपना वा ज़िला, गांव, गेह,
त्यागी भूखों मर कर कई मानवों ने स्वदेह ॥ ४८ ॥
सूखे सारे वन, गिरि, नदी ना रही घास पात,
ढोरों का हा ! अतिशय हुआ नाश सर्वत्र पात ।
हड्डी सींगों सह लग गये चर्म के ढेर भारी,
कैसी लीला अदय विधि की ? ना लिखी जाय सारी ?
कैसा प्लेग प्रबल रिपु है ? क्रूर भारी रुलाता,
आते ही जो सदन करता शून्य, ताला लगाता ! ।
रोने को भी रख कर किसे छोड़ता ना पिछाड़ी,
ऐसा होगा प्रलय न कभी, ना हुआ था अगाड़ी ॥५०॥

---

१ चित्तसंक्रामक । २ संवत् १९५२ ।

आता कोई निकट न कभी पूंछने रोग हाल,
कोई देते स्वजन न दवा, ठीक लेते संभाल।
रोगी से हा डर कर सभी भागते दूर दूर,
आवे ऐसा सुन कर न क्यों आंख में अश्रुपूर? ॥५१॥

कोई जाता दहन करने ना उसे है उठाता,
कैसा काल प्रबल? मन के धर्म को भी मिटाता!।
ऐसे प्रेत प्रतिदिन गये गाड़ियों में असंख्य,
कैसी बातें कठिनतर हैं–लेखनी को अलेख्य!! ॥५२॥

ऐसी देखी अगर न सुनी हृद्विदारा कुवार्त्ता,
भागी होगी तनय पति को छोड़ मा स्त्री भयार्त्ता।
शय्या पे ही रह कर मरी, साथ छोड़ा न भागी,
होती भर्त्ता सुत बिन सुखी कौन नारी अभागी? ॥५३॥

ये बातें हैं अब तक यहां आज भी विद्यमान,
ऐसा नारी चरित–जिस से हिन्द है साभिमान।
है अन्यत्र प्रणय पति का, एक खाली क़रार,
होते कैसे अनुपम वहां श्रेष्ठ ऐसे विचार? ॥ ५४ ॥

होता धर्म-क्षय जगत का नाश-हेतु प्रधान,
रक्षा होने सदय विभु के जन्म का है निदान।
होने से ही विलय उस के आज ऐसा ज़माना–
आया भारी कठिन सुतरां हा किसी ने न जाना ॥ ५५॥

धर्म द्वारा सकल जन का जन्म उद्धार होता,
पापों का भी विलय उस से, दुःख दारिद्र्य खोता।
रोगाक्रान्त क्षुधित हम हैं, आज दुःखी हमारा–
सारा देश प्रलयगत है, पापने खूब मारा!! ॥ ५६ ॥

कैसा धर्मी, अटल जिस की सत्य की थी दुहाई ?
प्राणों से भी अधिक जिस को धर्म था सौख्यदायी ।
कैसा अच्छा चरित जिस का शुद्ध था पुण्य-कर्म ?
हा हा ! कैसा पर अब हुआ भारत क्षीण-धर्म ? ॥५७॥

धोखेबाज़ी, छल, कपट हैं जाल विश्वासघात,
झूठी बातें पद पद जहां आज हैं घात-पात ! ।
व्यापारादि क्षण न चलते झूठ बोले सिवाय,
कैसे आते शुभ दिन वहां ? सर्व ही हैं अपाय ! ॥५८॥

देखा मैं ने जब अधिक ही काल का हेर फेर,
छोड़ी भूमी, गृह अनुज को त्यागने की न देर ।
बम्बै आया, अधिक न रहा, अन्नपानी वहां का-
थोड़ा ही था, सफल न हुआ कार्य, था काल बांका ॥५९॥

आया पीछा अब निरख ने मालवा राजधानी,
है इंदोर प्रथित जिस का नाम, बस्ती पुरानी ।
नव्या भव्या नगर-रचना, खूब अच्छा सुधार-
देखा मैं ने अधिक तर ही कालमानानुसार ॥ ६० ॥

हैं साहित्य प्रिय, सरलधी, राजमंत्री प्रधान,
हिन्दी भाषा रसिक, विजयी, नीतिविद्यानिधान ।
पक्षाऽपक्ष, स्वजनरिपु को-मान सारे समान,
पाया सम्राट् निज नृपति से खूब सन्मान मान ॥६१॥

ऐसे अच्छे नृप सचिव को देखने चित्त चाहा,
हिन्दी ही में झट कुछ बना पद्य मैं ने सराहा ।
मांगा चाहा कुछ न, पर भी सज्जनों के विचार-
अच्छे होते, प्रकृति सरला, चित्त होता उदार ॥ ६२ ॥

आया याद त्वरित मुझ को आगरोहा, न भूला,
पाई वैसी कृति कुछ यहां जाति-धर्मानुकूला।
इच्छा ही से निरख इन की वैश्यमेला, हिसार,
देखी भूमी, जनन जिस से—है हमारा प्रसार ॥ ६३ ॥

होता जाति प्रिय जगत में धन्य मान्याग्रगण्य,
औरों को है सकल जनता, मातृभूमी अरण्य !।
चक्रोंकार क्षणिक जग में कौन आता न जाता ?
आना होता सफल उस का—वंश को जो बढ़ाँता ॥६४॥

सोचा मैं ने समिति कर के ठीक धन्धा चलाना,
छापे पत्र प्रकट कर के हेतु सद्भाव नाना।
भेजे—कैसी शरम—न मिला एक का भी जवाब
खोया स्वार्थी मिल कर सभी हिन्द का यों रुवाब ॥६५॥

चिन्ता व्यापी अब हृदय में—क्या किया जाय काम ?
कैसा होगा गुज़र अपना, वा रहेगा स्वनाम ?।
आता काम प्रभुवर बिना आपदा में न कोई,
हा हा कैसी स्वजन-ममता हिन्दने आज खोई ? ॥ ६६ ॥

ऐसे ही में प्रखर उभरा लेग संहारकारी,
ले ले के जी सब जन लगे भागने दूर भारी।
दो दो सौ से अधिक मरते नित्य, चेता स्मशान,
हा हा ! सारा शहर उजड़ा, दृश्य भारी भयान !! ॥६७॥

बाबूजीने किशनगढ़ के, तार देके बुलाया,
एका एक—क्षण न गुज़रा—लेगने आ सताया।

---

१ वैश्य कान्फ़रन्स। ३ भ्रमण करनेवाला। ४ उन्नत करता। ५ कंपनी। ६ बाबू श्यामसुन्दरलाल दीवान किशनगढ।

भार्यो मांदी अतिशय हुई किन्तु थी आयु शेष,
भारी यत्न श्रम कर बची औषधों से विशेष ॥ ६८ ॥
सारों को ले किशनगढ़ जा शीघ्र डेरा जमाया,
देखी मैंने नृप-सचिव की अद्भुत प्रेम माया ।
सोचा साचा कुछ दिन, हुआ काम कोई न पूरा,
पीछा आया सफ़र कर के, हो गया खूब चूरा ॥ ६९॥
जाना चाहा अब निरखने हिन्द की राजधानी,
कल्कत्ता है अधिक सब से श्रेष्ठ जो रत्नखानी ।
रस्ता काट त्वरित पहुंचा "राम" के "लाल" पास,[1]
देखा सारा नगर फिर के नित्य ही आसपास ॥ ७० ॥
कल्कत्ते में रह कर हुआ चित्त तो भी न शान्त,
होता था क्यों–अगर उस का हो न चाहा नितान्त ।
आ के जा के मिल कर सदा स्नेह जोड़ा सभी से,
भावी होता प्रबल, न हुआ मुक्त दुर्दैव-भी से ॥ ७१ ॥
लौटा पीछा सकुशल यहां फेर इंदोर आया,
आते ही तो शहर भर में प्लेग का जोर पाया ।
छोड़ा स्थान अमित बन के जा बसा कुंड[2] काला,
विन्ध्य-श्रेणी, शिखर बन को देख के वक़्त टाला ॥७२॥
होने से ही दिन विषम वा वक्र दुर्दैव भारी,
आकाशस्थ ग्रह, जन, सभी शत्रु होते विकारी ।
होती सीधी प्रकृति उलटी, कार्य होता अकार्य,
हो के बुद्धि-भ्रम सुमति का, आर्य होता अनार्य ॥७३॥
श्रीमान्मंत्री प्रवर जन जो अग्रवालातपत्र,
भेजा मैं ने लिख कर उन्हें प्रार्थनायुक्त पत्र ।

---

१ रामलाल नेमाणी । २ काला कुंड, रेलका एक स्टेशन है ।

देके भारी उपकृत किया उत्तर प्रेम-पूर्ण,
आज्ञा भेजी, समय पर दे कर्मचारित्व तूर्ण ॥ ७४ ॥
भाषा विद्याध्ययन जग में पूर्ण हैं लाभकारी,
खाली द्रव्यार्जन-कर नहीं किन्तु सर्वार्थकारी ।
होता नामी पुरुष इस से पूज्य सन्मान्य भारी
इच्छा होती सफल सब, है कल्पवृक्षानुकारी ॥ ७५ ॥
ऐसा हो के पर अब हुआ मात्र सेवार्थकारी,
होती विद्या अब फलवती नौकरी में सुखारी ।
कैसा आया समय उलटा, हो गये हानिकारी,
सारे धन्धे उस बिन हुए व्यर्थ ही कष्ट-कारी ! ॥७६॥
ऐसा होता अगर मुझ को ज्ञात गुह्यार्थ सार,
विद्याभ्यास क्षण न करता, मूढ़ होता अपार ! ।
पक्का होता इतर सब के तुल्य मैं मारवाड़ी,
क्यों होता था विमुख विधि से सीख विद्या अगाड़ी ? ७७
सेवा स्वार्थी परवश हुआ चार्ज ले नौकरी का,
काव्य ग्रन्थादिक लिख बना दास मैं हुल्करी[1] का ।
तो भी इच्छा कुशल न तजी खोलने की स्वतंत्र-
कोई धन्धा, पर नहिं बना-दैव कैसा कुतंत्र ? ॥ ७८ ॥
आये ऐसे समय फिर भी खोलने कारखाने,
मैं ने भी तो अविरत किये यत्न आगे बढ़ाने ।
उद्योगी ही सफल बनते, दैव है न प्रधान,
विद्वानों का पर सब हुआ व्यर्थ ऐसा विधान ? ॥७९॥
आगे का मैं लिख न सकता हाल, जी कांपता है,
कैसा भावी प्रबल उस का पार वा क्या पता है ? ।

---

1 हुल्कर राज्य (इंदोर) का ।

हो के शान्त प्रकृति लिखता लेख नाना-प्रकार,
ऐसे ही में प्रतिहत हुआ, वज्र का हो प्रहार? ॥ ८० ॥
एकाएक ज्वरित सुत हा ! हो गया वंशकेतु,
जो था छोटा बहुत गुणवान्मंगलानन्द-हेतु ।
दो ही वर्ष प्रथम जिस का हो चुका था विवाह,
धारावर्षी निरख उस को अश्रु का था प्रवाह ॥ ८१ ॥
दौड़ादौड़ी अति कर किये औषधादि प्रयोग,
होते थे हा! श्रम सकल ही व्यर्थ, था मृत्युयोग ।
हा हा! दुःखी कर चल बसा, हाय! भारी रुला के,
हा! शोकाश्रु-प्रवह सरिता पूर में वा बहा के!! ॥८२॥
हा हा! मृत्यो! कठिन तर तू, दुष्ट है तू दुरात्मा,
हा हा! कैसी व्यथित कर के छीनती जीव आत्मा ।
इच्छा तेरी प्रबल जग में, खूब तू है कठोर,
हाहाकार प्रलय करती, प्राण को तू बटोर ॥ ८३ ॥
रोते रोते सुध नहिं रही, हो गई शून्य देह,
सूना सूना निबिड़[1] वन सा हो गया सर्व गेह ।
सूखी आंखें, मुख, हृदय ही, छा गया अंधकार,
छाती फाटी हृदय गिर के, वेदना का न पार!! ॥८४॥
हा हा! क्यो मैं गिर कर उसे भूमि में खोजता हूं?
क्या मैं रक्षा तनय-तनु की अश्रु में घोलता हूं?
हा हा! क्या मैं निज हृदय के टूक को चीनता हूं?
हा हा! किंवा प्रिय तनय को मृत्यु से छीनता हूं? ८५
हा! भूमी, हा! जल, पवन हा! तेज, आकाश तत्व!
क्या सारों ने तनयतनु को बाट ली छीन सत्व?

---
१ गहरा, घना ।

प्रार्थी हूं मैं विनय करता, फेर दो चीज़ मेरी,
दे दो, दे दो–हठ मत करो, ना करो अल्प देरी॥८६॥
होती आत्मा सुत जनक की, देह से देह होती,
आत्मा मेरी जब चल बसी–देह तू क्यों न खोती?।
कैसी मृत्यो! अदय शठ तू, है हठीली कराल?
छाया तूने अखिल जग का मोह में अन्तराल!॥८७॥
क्या था? कैसा अब बन गया? हो गया गोल माल
हा हा! कैसे हृदय रुकता? शोक की है कमाल?।
पत्नी कन्या प्रथम सुत को मैं अभी था न भूला,
हा हा! कैसी यह गति हुई–घोर सन्ताप-मूला?॥८८॥
होती मृत्यु क्रमरहित क्यों? आज संसार सारा–
दुःखी क्यों है? पथ धरम का है सभीने विसारा।
कैसी अच्छी द्विजतनय की मृत्यु की है कहानी?
देखो, रामायण कथित है शूद्र की प्राणहानि ॥ ८६ ॥
थोड़ासा ही क्रम बिघड़ के वर्णधर्मापमान–
होते ही तो द्विजसुत मरा, मृत्यु का हो निदान?[1]।
क्यों ना होगा इस समय में वर्णधर्म-प्रणाश–
सारे दुःख श्रम मरण का मूल, सर्वार्थ-नाश?॥६०॥
पीछा होगा जब तक नहीं वर्णधर्म-प्रचार,
ऐसा ही हा! बढ़ कर सदा लेंग दुर्भिक्ष्य-भार।
होगी मृत्यु प्रलय-घटना, काल है दुर्निवार,
छोड़ो धर्म क्षण न अपना, कर्म शास्त्रानुसार॥ ६१ ॥
संवन्नेत्रागमे[2] निधिधरा वर्ष था प्राणहारी,
भारी दुःखी कर चल दिया शोकसन्तापकारी।

---

१ शंबूक नामक तपस्वी शूद्र की।   २ संवत् १९६२।

कैसी की थी जनम अगले कौन जाने कमाई ?
पापों की हा ! कठिण जिस से आयु यों ही बिताई ॥६२॥
थोड़ा थोड़ा अब मन लगा काम में, वक़ जाता,
ग्रंथो के ही अधिक लिखने सोचने में बिताता ।
मैं ने पूरा कर कर लिखी "फाट का जाल"[1] कापी,
क्या ये जन्मे अपर उन के स्थान पुत्र प्रतापी ? ॥६३॥
सच्चे होते अमर जग में ग्रन्थ, भार्या कुमार–
राज्यैश्वर्यादिक न कुछ भी काम आते असार ।
कैसे कैसे नर जगत में हो गये हैं प्रतापी ?
ख़ाली नामस्मरण तक भी ना किसे है तथापि ! ॥६४॥
होता जन्म अब कर वृथा कीटकों के समान,
कोई भी जो नर न करता वंश जाति प्रधान ।
एवं आत्मोन्नति, न लिखता ग्रन्थकाव्यादि लेख,
आया वैसा बस, चल दिया ! भाग्य पे मार मेख॥६५॥
ऐसा हो के पर चुप न था शत्रु दुर्दैव जाली,
भावी वर्षे व्यय बजट में हो गया स्थान ख़ाली ।
ख़ाली बैठा बहुत कर के यत्न भी बारबार,
ढूंढा धन्धा पर नहिं मिला, हो गया ज़ेरबार ! ॥६६॥
आज्ञा पा के सचिववर की मैं गया था हिसार,
पीछे मांदा प्रिय सुत हुआ, मृत्यु थी दुर्निवार ।
जैसा तैसा अब सुत यही एक था वंशधारी,
हा हा ! किन्तु प्रलय उस का हो गया हृद्विदारी ! ६७
ऐसे भारी कठिन दुख का एक का भी न पूरा–
आता अन्त, प्रखर दुसरा सामने है अधूरा ! ।

[1] फाटका जंजाल पुस्तक ।

ऐसे हम्ले कठिन जब हो एक पे एक नित्य,
कैसी काया सहन करती मृत्युशीला अनित्य ? ॥९८॥

कैसे रोवूं, गिर कर मरूं वा कहीं भाग जावूं ?
रो रो के हा ! हृदय जलती आग कैसे बुझावूं ? ।
ज्वाला में वा अब जल मरूं ! देह कैसे जिलावूं ?
ढूंढूं, देखूं विपिन, गिरि वा सिन्धु में डूब जावूं !॥९९॥

कैसी मेरे कुल विपिन में आग भारी लगी है !
एका एक प्रखरतर वा तोप भारी दगी है ! ।
कैसी डूबी भवजलधि में नाव मेरी विशाल
पृथ्वी घूमी, परवत गिरा ! क्या हुआ गोल माल !१००

तीनों मेरे कुलजलधि के रत्न थे होनहार,
शोभा मेरे कुल सदन की, वंशविस्तार-सार ।
हा हा ! छीने अदय विधि ने लाल दुर्लभ्य जान,
क्या क्या बोलूं, कब तक लिखूं दुःख का मैं बयान?१०१

हा हा ! मेरा कुल अकुल है, वंश निर्वंश आज,
कैसी होगी सुगति अब हा ! क्या रहा काम काज ? ।
होगा मेरा दहन किस के हाथ ! वा कौन देगा-
पानी ? कर्म श्रुतिविहित हा ! कौन मेरा करेगा ?१०२

लोगों का है कथन,—कवि वा चित्रकार प्रसिद्ध,
दोनों होते तनय धन से हीन सर्वत्र सिद्ध,
क्या ये बातें कर कर मुझे आज सची दिखाई ?
कैसा फेंका अदय विधिने दुःख की खोद खाई ? १०३

पीछा श्रीमान्सचिववर ने नौकरी पे लगाया,
क्यों न होगा अधम जिसने सद्गुणों को न गाया ? ।

देता हूं मैं निज हृदय से नित्य ही धन्यवाद,
आता काम प्रियजन वही दुःख में निर्विवाद ॥१०४॥
होता था क्यों हृदय तनु का शोक सन्ताप दूर ?
लाता था हा स्मरण उनका नेत्र में अश्रुपूर ! ।
जैसा तैसा अब गुजरता वक्त, था दैव वक्र,
स्वेच्छाचारी प्रकृति बल से घूमता कालचक्र ॥ १०५ ॥
मेरे जैसे श्रम कठिन वा दुःख सन्ताप भारी—
देवो ईश प्रभु न, मुझ सा हो दुखी देहधारी ।
है संसार प्रकृतिवश वा मोहमाया अपार,
कैसा होता भवजलधि के चक्र से कौन पार ? ॥१०६॥
आत्मा होती अमर, मरती जन्मती है न ऐसी,
होती शश्वत्, तनु बदलती मात्र, है नित्य वैसी ।
योगायोग प्रकृति भव से देह का हो विकास,
होता जाता सब कुछ, वृथा हर्षशोकादि भास ॥१०७॥
चारों आत्मा परमपद को प्राप्त होवो, प्रशान्त—
हो के नित्य प्रभुचरण में लीन होवो नितान्त ।
दे के शान्ति प्रभुवर मुझे शीघ्र लेवो समीप,
मेरे ग्रन्थ प्रिय बन सदा पूर्ण हो वंशदीप ॥ १०८ ॥
सेवा में है प्रिय सुजन की नम्र विज्ञप्ति मेरी;
वैसी हिन्दी रसिकजन से प्रार्थना है घनेरी ।
मेरी प्यारी भरत वसुधा, आप की भी वही है,
तारो सेवा दृढ़ कर उसे दीन जो हो रही है ॥ १०९ ॥
छोड़ो स्वार्थ, स्वजनहित की बात सोचो अखंड,
होवो श्रीमान्, कुशल, कर के देश-सेवा प्रचंड ।

त्यागो मिथ्या वचन, कटुता, शत्रुता वा कुभाव,
सारे भाई हिलमिल चलो, हो सदा सत्स्वभाव ॥११०॥
ऐसी मेरी उमर भर की दुःखपूर्णा कहानी—
हो ली, होनी पर—वह करो दुःख दारिद्र्यहानि ।
लेवो सारे पढ़ कर इसे पूर्ण कालोपदेश,
होली संवत् सद्सठ करो शीघ्र सम्पन्न देश ॥ १११ ॥

(मालिनी)

प्रभुवर ! यह मेरी प्रार्थना बार बार,
मुझ सम न किसी को दुःख दे तू अपार ।
कठिन कर न ऐसा देव ! कालप्रभाव,
अनिश तव अनन्या भक्ति दे शुद्धभाव ॥ ११२ ॥

॥ इति ॥